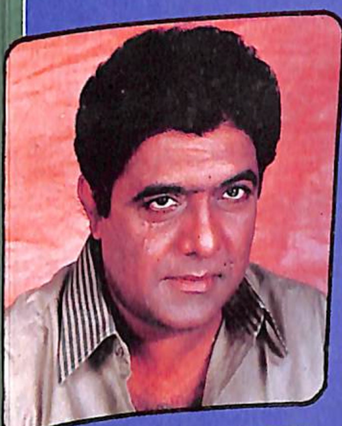
परदानि सिनेमा

नईदुनिया

महाविशेषांक १९९३

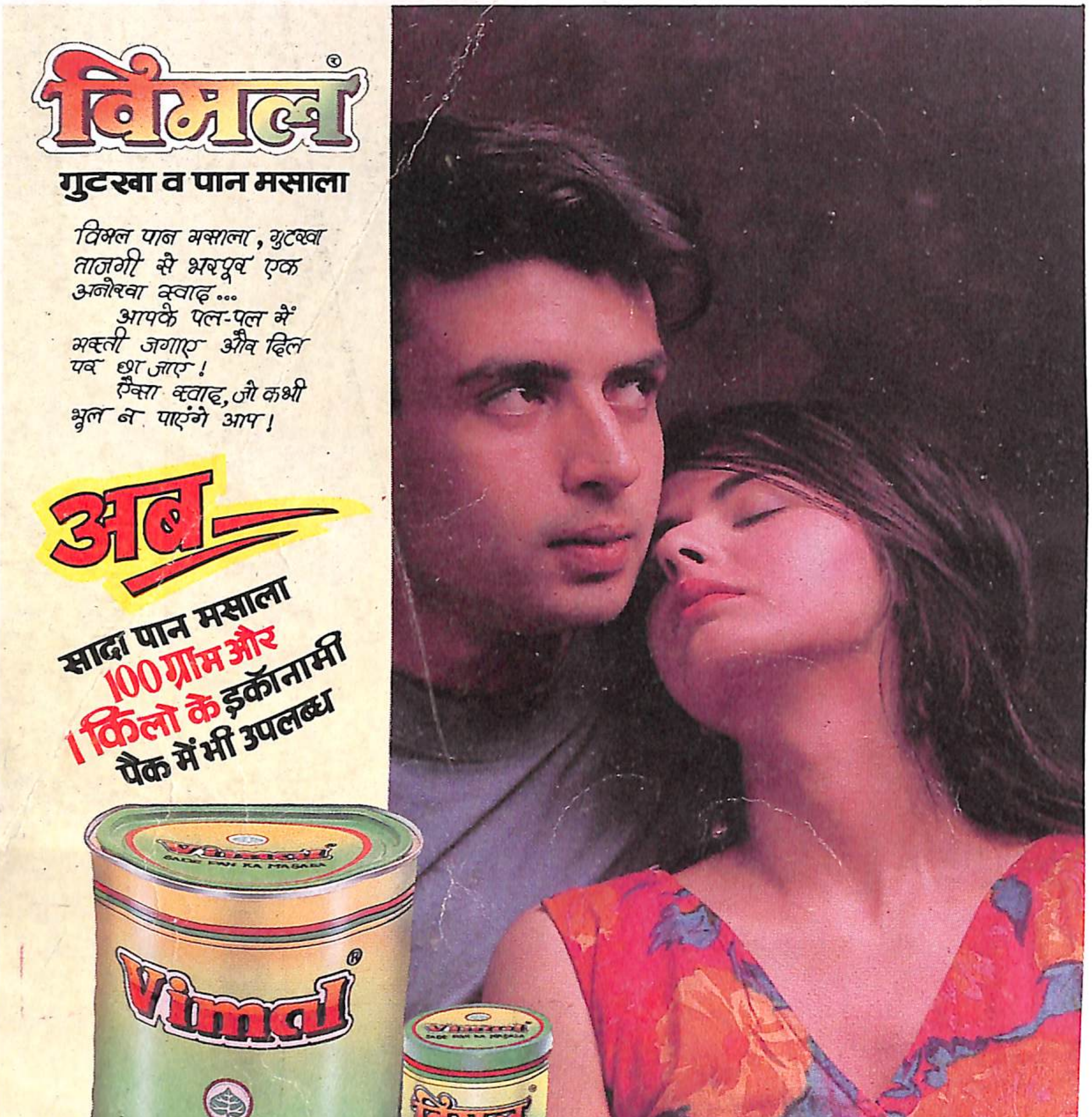








मूल्य ३५/-



विमल
गुटखा व पान मसाला
विमल पान मसाला, गुटखा ताजगी से भरपूर एक अनोखा स्वाद... आपके पल-पल में मस्ती जगाए और दिल पर छा जाए! ऐसा स्वाद, जो कभी भूल न पाएंगे आप!
अब
सादा पान मसाला 100 ग्राम और 1 किलो के इकॉनामी पैक में भी उपलब्ध
Vimal
SADE PAN KA MASALA
विमल
सादे पान का मसाला
विमल
पान मसाला
केसर युक्त
विमल
गुटखा
मस्ती की बहार...स्वाद मजेदार!!
वैधानिक चेतावनी :
तम्बाकू चबाना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।
पान मसाला चबाना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो सकता है।
VIMAL / 59 HIN



धारावाहिक 'चन्द्रकांता' का एक दृश्य

दूरदर्शन सिनेमा

भारतीय दूरदर्शन तथा सिनेमा पर केन्द्रित महाविशेषांक १९९३

नईदुनिया *प्रकाशन इंदौर की पाँचवीं प्रस्तुति*

मूल्य : पैंतीस रुपए

☐ प्रधान सम्पादक
अभय छजलानी

☐ सौजन्य सम्पादक
श्रीराम ताम्रकर

☐ सहयोगी सम्पादक
महेन्द्र सेठिया

☐ अभिकल्प
दिलीप चिंचालकर

■ खण्ड : एक

कैसा हो दूरदर्शन का चेहरा

■ खण्ड : दो

□ दूरदर्शन □ सिनेमा □ साहित्य

■ खण्ड : तीन

□ दूरदर्शन : □ इतिहास-विकास



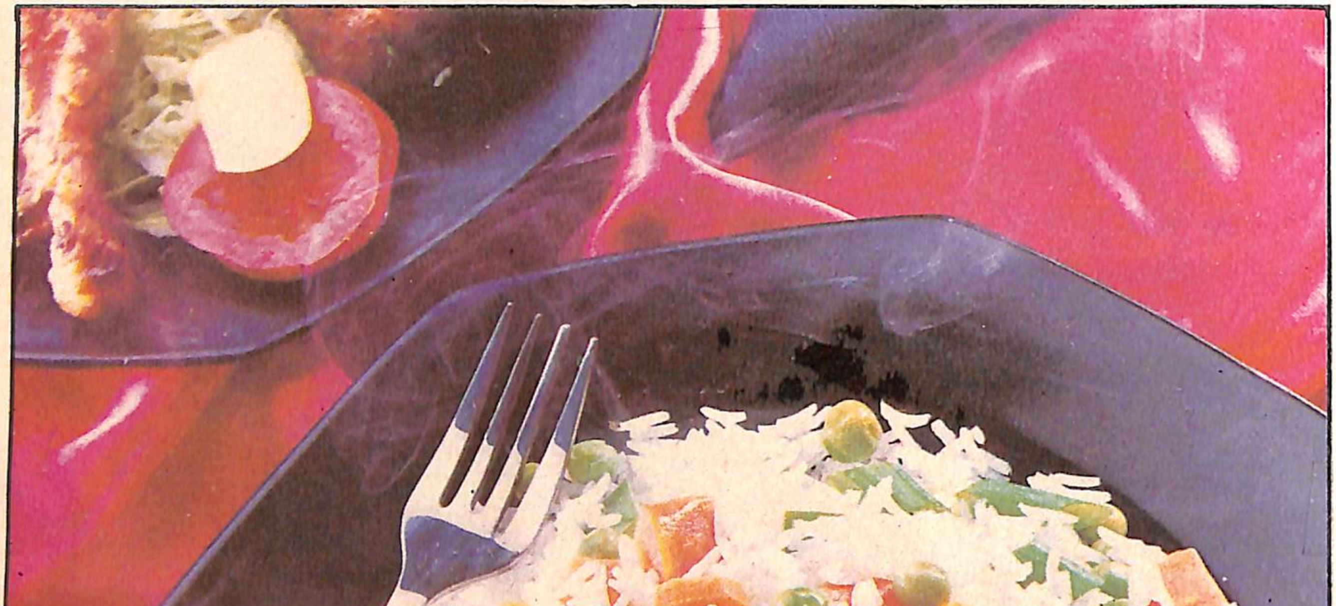
इस महाविशेषांक के साथ सोलह पृष्ठीय रंगीन अलबम मुफ्त

■ खण्ड : चार

□ टी वी कल्चर

■ खण्ड : पाँच

टी.वी. सितारों की आकाश-गंगा



● मुखपृष्ठ : माधुरी दीक्षित
● फिल्म : हम आपके हैं कौन!
● सौजन्य : राजश्री प्रोडक्शन (बंबई)

खण्ड : छः

चित्र तथा सामग्री सौजन्य :
□ अनिल त्रिपाठी (बंबई) □ नईदुनिया संदर्भ □ फिल्म-कल्चर (इंदौर) □ अलबम के छायाकार : ☆ राजू उपाध्याय □ हरिओम पालीवाल और ☆ सुरेशचंद्र भाचावत (बंबई)

इस विशेषांक में प्रकाशित रचनाकारों/समीक्षकों के विचार, विश्लेषण और समीक्षात्मक टिप्पणियाँ उनकी निजी अभिव्यक्ति हैं। उनसे सम्पादक अथवा प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है।

—प्रधान सम्पादक

□ **सम्पादकीय**

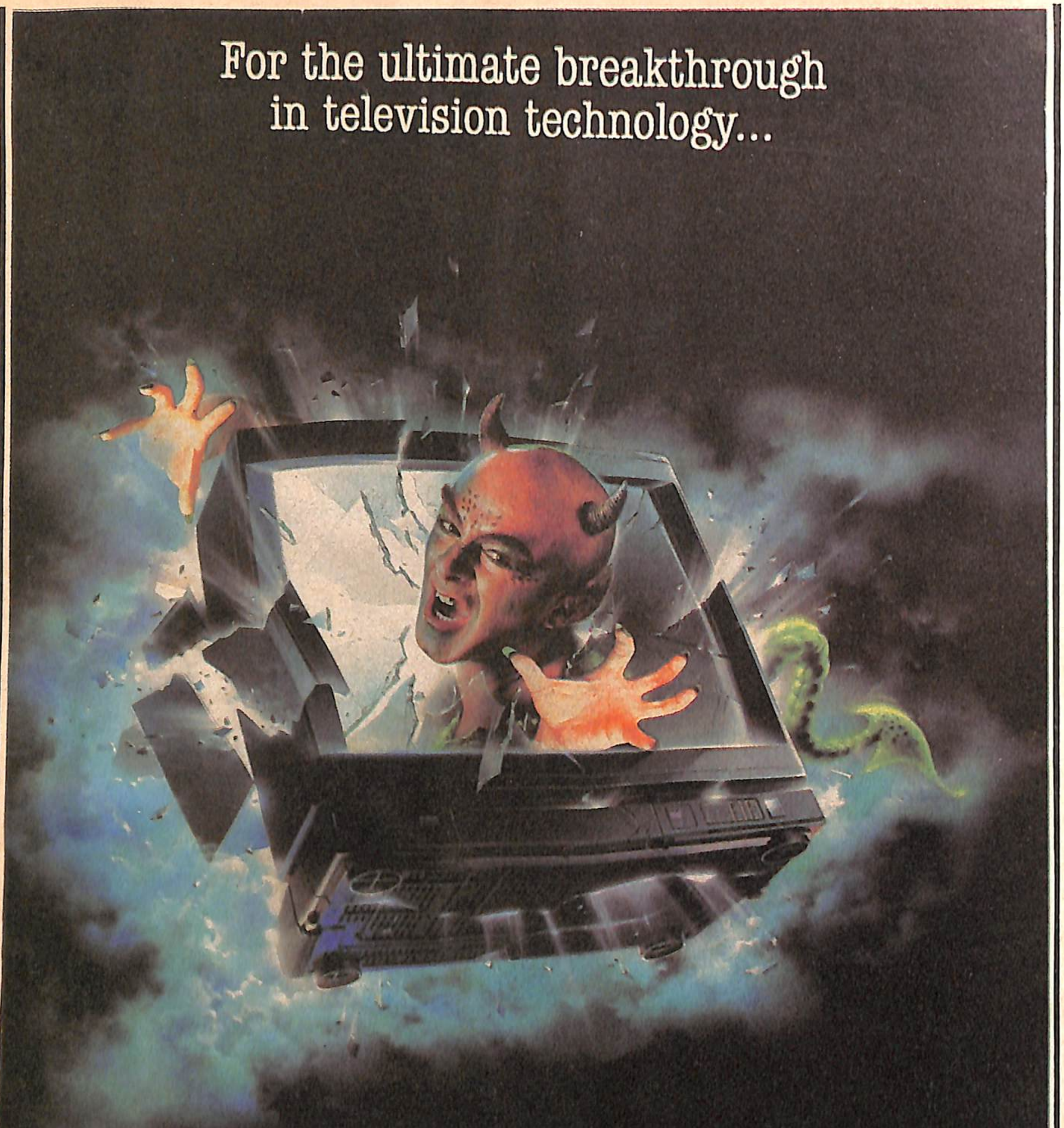
समस्या है रोचकता और विचार के संतुलन की

आज से ग्यारह वर्ष पहले जब भारत में पहली बार अपने व्यापक प्रसार क्षेत्र के साथ टीवी का पदार्पण हुआ तो इसके प्रति एक अजीब कौतूहल का वातावरण था। एक बड़ी घटना-एशियाई खेल चैंपियनशिप की-सामने थी और वही टीवी का पहला आकर्षण बनी। फिर 'हमलोग', 'यह जो है जिंदगी', 'खानदान','बुनियाद' और 'रजनी' जैसे श्रृंखलाबद्ध कार्यक्रमों के माध्यम से दूरदर्शन ने भारतीय जनमानस के मन का कोना चुरा लिया। इसके बाद प्रदर्शित होने वाले 'रामायण' और 'महाभारत' की श्रृंखलाओं ने तो जैसे दूरदर्शन को भारतीय नागरिक के जीवन का एक अंग ही बना दिया। फिर आई बारी इतिहास को ताजा करने वाली श्रृंखला- टीपू सुलतान और चाणक्य की। हालाँकि इनकी लोकप्रियता 'रामायण' और 'महाभारत' से कम थी। ये तो कुछ शीर्षक हुए, इनके अलावा भी दूरदर्शन पर कई दिलचस्प, रोचक और शिक्षाप्रद कार्यक्रम चलते रहे। किंतु अचानक भारतीय दूरदर्शन को केबल टीवी ने नई चुनौतियों के सामने खड़ा कर दिया और आज भारत सरकार का यह संगठन केबल टीवी की छोटी-छोटी घरेलू तश्तरियों के सामने पराजित सा खड़ा है। क्यों? तकनीकी कारणों के अलावा भी इसके कारण हैं। मनोरंजन, दूरदर्शन के प्रति सहज आकर्षण का क्षेत्र है। किंतु इसके अलावा शिक्षा, समाज सुधार, नैतिकता आदि अनेक जटिल क्षेत्रों के दायित्व-बोध को विकसित करने के लिए भी यह सशक्त माध्यम है। किंतु इन सबको भी प्रस्तुत करना पड़ता है एक विशिष्ट रोचकता के साथ। बोझिल, उबाऊ प्रस्तुतियों को देखने के लिए कोई भी दूरदर्शन के पर्दे के सामने घंटों बैठना पसंद नहीं करता। भारतीय दूरदर्शन की पीड़ा यह है कि इसने रोचकता और ताजगी से मानों परहेज ही कर लिया है। और शायद इसीलिए, इस छोटे पर्दे पर भारत सरकार छोटी तश्तरियों के आगे स्वयं को लाचार-सी महसूस कर रही है।

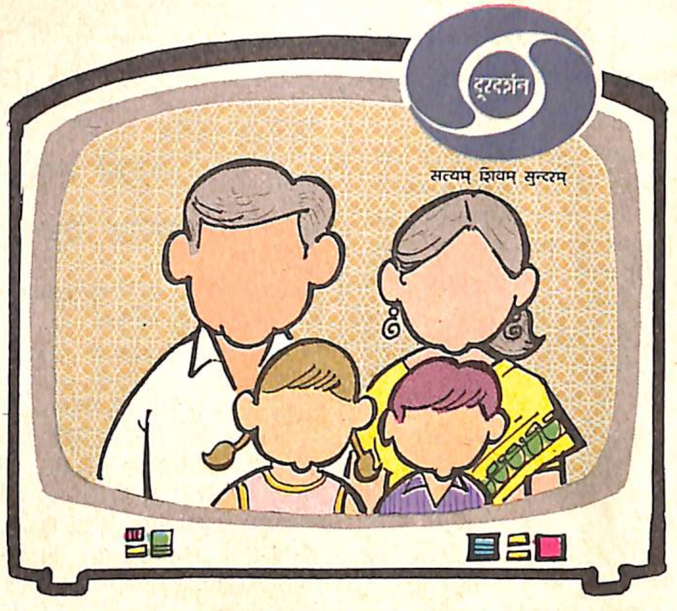
परंपरागत समाज जो अपेक्षित गति से भीतर से नहीं बदल रहा है, उसे बाहर से- 'परिवर्तन की आकस्मिकता' से-चौतरफा घेरने की असफल कोशिश दूरदर्शन की पीड़ा है। गहराई से देखा जाए, तो अभी तक भारतीय समाज अनेक निषेधों से भरे अपने कस्बाई- संस्कारों को धरोहर मानकर उनके संरक्षण में ही लगा हुआ था कि दृश्य माध्यमों की लगभग हतप्रभ करने वाली सांस्कृतिकता ने उसके संकल्पों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। उसके सामने से परिवर्तन की सहज- उत्सुकता को हटाकर परिवर्तन की सर्वग्रासी- बाध्यता खड़ी है। यही वह सांस्कृतिक- अवसाद है, जिसके चलते लगभग हर संवेदनशील नागरिक, सत्ता के आधिपत्य में बने रहने वाले इस 'जन-माध्यम' से सवाल करना चाहता है कि हमारे सामाजिक जीवन में आखिर दूरदर्शन कैसे 'सांस्कृतिक - उद्योग' (कल्चर-इंडस्ट्री) की भूमिका अदा कर रहा है? वह उसे महज उपभोक्ता मानता है अथवा इस राष्ट्र का नागरिक? वह दर्शकों से भक्ति-भाव वाली मुद्रा चाहता है अथवा उससे संवाद करने की इच्छा भी रखता है? वह सत्ता की इच्छा लादने की जवाबदारी निभाता रहेगा अथवा सामाजिक-इच्छा को जन्म देगा, अपेक्षा की पूर्ति करेगा और आशाओं को फलीभूत करेगा या बस स्वयं को उन पर लादता रहेगा। ये तमाम सवाल हमें निरंतर अशांत बनाए हुए हैं। इन्हीं और इनसे जुड़े अन्य सवालों के उत्तर तलाशने की कोशिश के रूप में ही संयोजित किया है, हमने इस बार का हमारा यह **महाविशेषांक**। इसमें समाज, सत्ता, साहित्य, संस्कृति, कलाओं और जनरंजन के सिनेमा माध्यम के साथ-साथ सूचनाओं के संसार की आपाधापी पर गहरे विश्लेषणपरक तथा चिंतनपरक आलेख सम्मिलित करने की कोशिश हमने की है।

दूरदर्शन और सिनेमा के बीच एकदम स्पष्ट लक्ष्मण-रेखा खींचना संभव नहीं है। इसलिए इस महाविशेषांक में यत्र-तत्र-सर्वत्र सिनेमा भी बिखरा हुआ मिलेगा। बीसवीं सदी के इन बिदा होते वर्षों में नए-नए संकटों से घिरने के कारण सिनेमा भी अपने उस सार्वदेशीय सम्मोहन को अपनी ही आँखों के सामने ध्वस्त होते देख रहा है। जबकि वह अपनी विराट छवि के कारण अब तक अपराजेय लग रहा था। हमारा सोचना है कि सिनेमा-दूरदर्शन का द्वंद्व किसी हद तक 'मनोरंजन और विचार' का द्वंद्व भी है। इसीलिए हमने इस अंक-दूरदर्शन-सिनेमा- को उभयपक्षीय बनाकर प्रस्तुत किया है। अंक आपके हाथों में है। किसी भी भारतीय भाषा में संभवतः यह प्रथम अवसर है, जब 'दूरदर्शन' पर इतनी विविध, विशद और विचारों को ऊर्जा देने वाली सामग्री एक साथ संयोजित की गई है। दूरदर्शन के जिस चेहरे को हमने देखने/ समझने/ परखने की जो बहस आरंभ की है, विश्वास है, सुधि-जन उसे सही दिशा में आगे ले जाकर सार्थक बनाएँगे।


शृंगारंग छटा बिखेर रहें ये जड़ाऊ आभूषण राजस्थान में
मन भा गये! भला यहाँ जलगांवमें क्यों खरीदा इन्हें?
सीधा एवं सरल कारण....
आर.सी. बाफना ज्वेलर्स!
अब तो पुश्तैनी अलंकारों से भी जी भर गया!
वही पुरानी डिजाइनों से, वही हर जगह
दिखाई देने वाली कलाकारी से अगर
तंग आई हो तो.... सीधा जलगांव पहुँचना....
हां, आर.सी. बाफना की नयनरम्य
'नयनतारा' शोरूम तक!
बम्बई में भी अप्राप्य ऐसे जडाऊ अलंकारों का
अवश्य पधारिएगा....
मद्रास, कलकत्ता, जयपुर दिल्ली ही क्यों
अपूर्व समागम है वहां!
पूरे विश्वास के साथ.
खान्देशका मुकुटमणी
रतनलाल सी. बाफना ज्वेलर्स
'नयनतारा', सुभाष चौक, जलगांव ४२५००१ महाराष्ट्र. फोन: २३९०३, २५९०३ इतवार को बंद.
सर्वोत्कृष्ट आहार शाकाहार
BEEJ-203-101-H


For the ultimate breakthrough
in television technology...
... blame ONIDA.
ONIDA
KY SERIES
ONIDA SAKA LIMITED
9, INDRAPURI COLONY, INDORE. PHONE : 67701, 68607

Swift 93



खण्ड : एक

कैसा हो दूरदर्शन का चेहरा

परिचर्चा प्रस्तुति
● रमेश निर्मल

कैसा हो दूरदर्शन का चेहरा? यह सवाल भले ही देर से उठाया जा रहा हो, लेकिन आज पहले से अधिक सामयिक और बहस के लिए तीखे तेवर लिए प्रस्तुत है। पिछले एक वर्ष में जितनी तेजी से भारतीय दूरदर्शन के समक्ष चुनौतियाँ खतरे बनकर खड़ी हुई हैं, वैसा पहले एक दशक में कभी नहीं हुआ। अपनी अथाह सामर्थ्य के सहारे दुनिया भर में दूरदर्शन 'एक विराट सांस्कृतिक उद्योग' के रूप में विकसित हुआ है। सैटेलाइट टीवी/ केबल टीवी और डिश-एंटेना के जरिए हवाई मार्ग से सीधे घर के 'लीविंग-रूम' में दुनिया भर के चैनल चहकने लगे हैं। ऐसे में अप-संस्कृति के प्रसार को रोकना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य हो गया है। दरअसल सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि सरकारी हाथों में संचालित होने से दूरदर्शन ने 'जी-हुजूर' की भूमिका भले ही बेहतर अंदाज में निभाई हो, मगर वह अपनी भाषा, अपना मुहावरा और अपना व्याकरण आज तक गढ़ नहीं पाया। इसी वजह से आज 'भारतीय दूरदर्शन' के सामने पहचान का संकट बना हुआ है। इस रोचक परिचर्चा में मीडिया से संबद्ध विशेषज्ञों ने अपने तईं दूरदर्शन के चेहरे को तलाशने की कोशिश की है।

दूरदर्शन के सामने है अपनी पहचान का संकट

☐ **आकलन**

चुनौतियों को स्वीकार करने का समय

□ बी. आर. चोपड़ा

(फिल्मकार-पत्रकार-प्रस्तोता : महाभारत)

भारतीय दूरदर्शन को एक कल्चर इंडस्ट्री के रूप में विकसित होना चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि उसकी शुरूआत हो चुकी है। सूचना, शिक्षा और मनोरंजन की सीढ़ियों से गुजरती यात्रा संस्कृति तक पहुँचनी ही थी। अगर दूरदर्शन अंततः भारतीय संस्कृति को प्रोत्साहित न कर पाश्चात्य संस्कृति को प्रधानता देगा तो भारतीय संस्कृति अवश्य दुष्प्रभावित होगी। यहीं से अप-संस्कृति के प्रश्न का जन्म होता है। दूरदर्शन को यह समझना चाहिए। नए चैनलों के आक्रमण से जो सांस्कृतिक खतरा जन्म ले रहा है, वह धीमा हो सकता है किंतु उसे अनदेखा करना उचित नहीं।

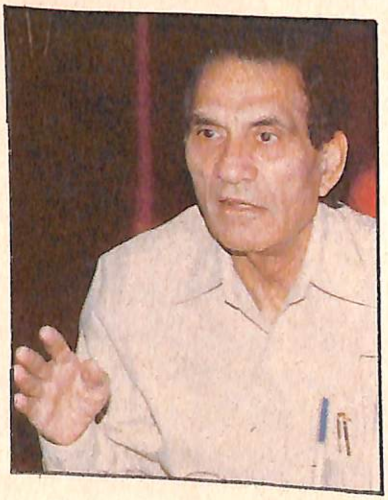
भारतीय दूरदर्शन को चौतरफा हमले से बचना होगा। उसे अपने चेहरे की रक्षा कर अपनी पहचान बनाए रखने का प्रण पालना होगा। यह गर्व की बात है कि उसके दर्शकों की संख्या बहुत बड़ी है। एटीएन और जी टी.वी. स्टार टी.वी. की तुलना में भारतीय दूरदर्शन लीविंग रूम में बैठे पूरे परिवार को ध्यान में रखकर कैसा कार्यक्रम पेश करे, कैसा नहीं? यह विचारणीय प्रश्न है। प्रतिस्पर्धा कड़ी है किंतु चुनौतियों को स्वीकार करना ही एकमात्र विकल्प है। एक तरफ खुलापन और दूसरी तरफ बंधन, स्वाभाविक रूप से अप-संस्कृति और संस्कृति के बीच संघर्ष पैदा करके रहेंगे। दूरदर्शन को श्रेय तभी मिलेगा जब वह भारतीय संस्कृति का पोषक बने।

भारतीय दूरदर्शन ने कई अच्छे प्रोग्राम देकर अपने चेहरे की आभा को कायम रखने की कोशिश की है, किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से एक बात समझ लेना अति आवश्यक है कि संस्कृति विचारों और मान्यताओं के अधिक नजदीक है जबकि सभ्यता भौतिकता के समीप मानी जाती है। भारतीय दूरदर्शन को अपने प्रचारित विचारों पर विशेष ध्यान देना होगा, उनका हिसाब रखना होगा। समस्या यह है कि हमारे समाज में विचारों का संक्रमण चल रहा है। गाँधी-नेहरू युग की बातें पुरानी पड़ गई हैं। क्लासिकल संगीत के श्रोता कितने कम हैं। किंतु पॉप और रैप संगीत की लहरें युवा वर्ग पर हावी हो रही हैं। एम. टीवी का आक्रमण दूरदर्शन सहने में कितना सफल होगा? हेवी मेटल, हॉर्ड रॉक, फंक और रैप युवा मन को मोड़ कर रहेंगे - यह आशंका निर्मूल नहीं। भारतीय संगीत बुरी तरह से प्रभावित हो चुका है।

वास्तव में यह प्रहार किसी संस्कृति का नहीं बल्कि पाश्चात्य अप-संस्कृति का है। संस्कृति का प्रभाव सुंदर हो सकता है। अप-संस्कृति की मार से संस्कृति नष्ट होगी और अप-संस्कृति पैदा होगी। आशा की किरण प्रोग्राम के चुनाव अथवा नियंत्रण से पैदा हो सकती है। भारतीय परिवारों को ध्यान रखना होगा कि पारिवारिक मापदंड, सामाजिक सीमाएँ, उन्मुक्त माहौल में विलीन होने न पाएँ। अगर दूरदर्शन अधिकारी यह काम नहीं करते तो परिवार प्रमुख को सजग रहकर नई पीढ़ी को इन खतरों से बचाना होगा।

समस्या तब और गंभीर बन जाती है जब जी टी.वी. या एम. टी.वी. दर्शकों में अपना स्थान बनाना शुरू करते हैं और भारतीय प्रायोजक उन्हें विज्ञापनों के जरिए प्रोत्साहित करते हैं। यह खतरा संगीन बनता जा रहा है। एम टी.वी. अमेरिकी अप-संस्कृति का वाहक है, किंतु इसके साथ-साथ वह व्यावसायिक भी है। इसकी इस दोहरी शक्ति में अप-संस्कृति ही काम कर रही है। इस शक्ति ने भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों को जड़ से झकझोर दिया है।

मैं एक सवाल पूछना चाहता हूँ- भारतीय दूरदर्शन ने मेट्रो चैनल चालू किया है, किंतु क्या वह पाश्चात्य अप-संस्कृति के आक्रमण को रोकने के लिए खुद कोई अनोखा प्रोग्राम पेश करने की योजना बना रहा है? ■



पहले दर्शक की नब्ज पहचानिए

□ पं.सत्यदेव दुबे

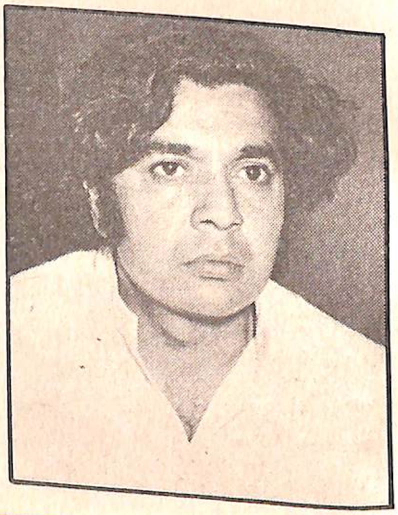
(रंगकर्मी)

भारतीय दूरदर्शन से संस्कृति और जीवन-मूल्यों को बरकरार रखने की आशा हम भले करें, किन्तु विगत वर्ष हमें निराश ही करते रहे हैं। इसलिए संस्कृति, अप-संस्कृति का नाम लेकर सिर्फ निजी चैनलों को दोष देना उचित नहीं है। हमें संतुलित समीक्षा करनी चाहिए। नयापन ये नए चैनल भी नहीं दिखा पाएँगे।

दर्शक पुराना ही है- वही परिवार है और वही परिवार के सदस्य हैं। उनकी रुचि-अरुचि का विश्लेषण भूल से कभी भारतीय दूरदर्शन ने किया हो तो मैं नहीं जानता। लेकिन उसे दर्शक को ध्यान में रखना होगा। उसकी आवश्यकताओं के अनुसार चलना होगा। कभी-कभी वह भी देना होता है, जिसे विचारक या बुद्धिजीवी उचित समझता है, परंतु उसमें भी सामाजिक सुधार, प्रगति या उन्नति का ध्यान रखना होगा।

जो नए आकाशीय चैनल आए हैं- क्या वे यह दम भर सकते हैं कि उन्हें दर्शकों की नाड़ी पढ़ने का सही ज्ञान है। जो नाड़ी की सही स्थिति ही न जाने उसे वैद्य कहना उचित नहीं।

मेरा यह मत है कि जब तक दर्शक की पहचान नहीं होगी, कोई भी चैनल अपनी सही और शुभ पहचान नहीं बना सकता। ■



जागरूक बने रहिए

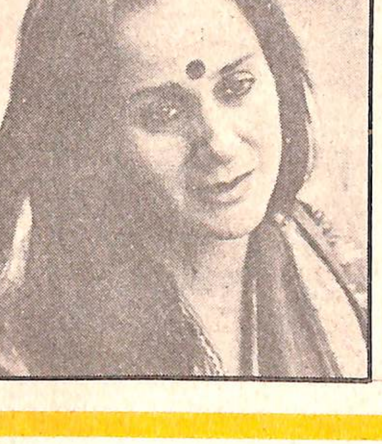
□ नलिनी सिंह

(दूरदर्शन पत्रकार)

यदि दर्शकों की संख्या पर किसी चैनल की सफलता का निर्णय किया जाए तो भारतीय दूरदर्शन के पास अत्यधिक दर्शक हैं। उसका वह स्थान कोई नहीं ले सकता। फिर दूरदर्शन आजकल काफी सजग है। फिर भी उसे अपने कार्यक्रमों का स्तर ऊँचा करना होगा और भारतीय संस्कृति को प्रधानता देकर ही वह आगे बढ़ सकता है।

प्रतियोगिता में विजय तभी मिलती है, जब गुणवत्ता में कोई दूसरों से आगे होता है। भारतीय दूरदर्शन को एटीएन, जी टीवी, स्टार टीवी, एम टीवी आदि से टक्कर लेने में हिचक क्यों हो? जो कुछ जहाँ भी श्रेष्ठ है उसे अपनाना बुरा तो नहीं? प्रतियोगिता में विचारों की अवरुद्धता बाधक होती है। इसी प्रकार अस्वस्थ प्रतियोगिता अपने आप में उचित नहीं। प्रतियोगिता के भी नियम होते हैं। स्वस्थ प्रतियोगिता से भय क्यों। मैं समझती हूँ हममें इतनी क्षमता है कि हम हर खतरे को झेल जाएँगे। यही नहीं, एक कदम आगे बढ़ने की महत्वाकांक्षा प्रतियोगिता में विजय की प्रेरणा देती है। यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

भारतीय दूरदर्शन का चेहरा कैसा हो? यह प्रश्न दूरदर्शन का हर व्यक्ति अपने आप से पूछे तो फिर किसी अन्य के पूछने का सवाल ही नहीं रहता। संस्कृति और अप-संस्कृति के मुद्दे पर मैं अधिक न कह कर इतना ही कहूँगी कि दर्शक को जागरूक होना चाहिए। तब भला अप-संस्कृति की आँधी अपने घर में कोई क्यों घुसने देगा?



लाल फीते में कैद भारतीय दूरदर्शन

□ डॉ. चंद्रप्रकाश

(निर्माता-निर्देशक -अभिनेता : चाणक्य)

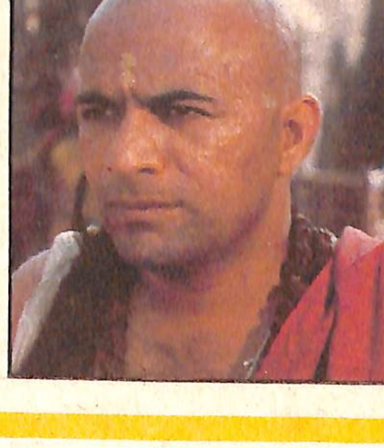
एटीएन, स्टार, एम टी.वी., जी टी.वी. को कौन नहीं जानता। भारत गाँवों का देश है। किंतु इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय दूरदर्शन सिर आई प्रतियोगिता की तरफ से आँखें मूँदे बैठा रहे। वह जाग तो रहा है, पर गति धीमी है। एम चैनल जवाब नहीं है अन्य हमलावर टीवियों का। वहाँ निर्णय जल्दी होते हैं। जबकि दूरदर्शन लालफीताशाही का शिकार है। जी टी.वी. प्रायवेट सेक्टर में होने के कारण उसका विकास जल्दी होगा और वह दूर-दूर तक पहुँचेगा।

जहाँ तक फिल्मों के प्रदर्शन का सवाल है भारतीय दूरदर्शन मध्यरात्रि के करीब 'ए' सर्टिफिकेट वाली फिल्मों, कम से कम ऐसी अँगरेजी फिल्मों के प्रदर्शन पर पाबंदी तोड़ चुका है। इसलिए खुलेपन का सवाल भी उतना गंभीर नहीं कहा जा सकता। फिर भी विदेशी अप-संस्कृति का हमला या खतरा बड़ा तेज और घातक हो सकता है। लेकिन इन खतरों का मुकाबला दर्शकों की जागरूकता से संभव है।

भारतीय दूरदर्शन के परदे पर वीडियो फिल्में भी देखी जाती हैं। वहाँ 'भारतीय दूरदर्शन की संस्कृति' का सवाल ही कहाँ आता है। दर्शक ब्ल्यू फिल्में भी देखता है- बंद कमरों में। भला कोई क्या कर लेगा। कई बाजारों में ऐसे अड्डे हो सकते हैं, जो ऐसी सुविधाएँ दर्शकों को देते हैं। वहाँ क्या संस्कृति को अप-संस्कृति होने का दोष नहीं दिया जा सकता? ऐसे दर्शकों का दूरदर्शन वाले क्या कर लेंगे? मेरा मतलब है, जो लोग अश्लीलता की बात करते हैं, उन्हें मालूम होना चाहिए कि दर्शक अश्लीलता चाहता है। इसीलिए, वह ऐसे दृश्य देखता है और ऐसे गीतों में रस लेता है।

इस सबसे हटकर मैं एक टेकनिकल मुद्दे पर बात करना चाहता हूँ। अगर प्रोग्राम बढ़िया हों, किंतु प्रसारण क्षमता बढ़िया न हो, चित्र धुँधले हों, धब्बों से भरपूर हों तो कोई दर्शक अपनी आँखों को फोड़ना क्यों चाहेगा? भारतीय दूरदर्शन को इस पहलू पर गंभीरता से सोचना होगा।

युद्ध तो होंगे- संघर्ष का लंबा रास्ता है। प्रतियोगिता का युग है किंतु घबराने की जरूरत नहीं है। समय के प्रवाह में वह बह जाएगा, जो निरर्थक है।



◆ ◆ ◆

अमृत-मार्ग खोजना होगा

□ सईद अख्तर मिर्जा

(फिल्मकार)

यह संक्रमणकाल है। ऐसे हालात हैं जब दिशा भूलना संभव है। जो लोग यह मानते हैं कि नए नेटवर्क शुरू होना तरक्की की निशानी है, वे अपने मन बहला लें। नए युग की शुरुआत की निशानी टेक्नोलाजी है। वह भारतीय दूरदर्शन के पास भी कमोबेश है।

यदि एटीएन, जी टीवी, एम.टीवी आदि पर नएपन को तरजीह नहीं दी गई, तो इनका जादू टिकेगा नहीं। फिल्मों से आदमी ऊब जाएगा। यह पाश्चात्य आँधी हमारी संस्कृति पर हमले के बराबर है। हमारी विचारधारा को बदलने की यह एक छिपी हुई कोशिश है। इससे जीवन शैली भी बदल सकती है।

भारतीय दूरदर्शन को जागना होगा। प्रतियोगिता में सिमटकर बैठने से काम नहीं चलेगा। हमें सावधान रह कर देखना होगा कि वे हमारी समझ को, सोच को, कहीं बदलने में कामयाब तो नहीं हो रहे हैं।

एक जहर धीरे-धीरे असर करता है- तो दूसरा बड़ा तेज। अप-संस्कृति का जहर धीमा और मीठा जहर है। जानबूझकर जहर खाने वालों की चिकित्सा मुश्किल होती है। अमृत, मंथन से मिला था। हमें विचारों का मंथन कर अमृत-मार्ग निकालना होगा।

कम कार्यक्रम नएपन के साथ

□ गुलजार

(गीतकार तथा फिल्मकार)

जहाँ तक भारतीय दूरदर्शन के चेहरे का सवाल है, वह पहले से ही श्वेत-श्याम और रंगीन है, किन्तु जहाँ तक चेहरे पर दिखाए जाने वाले प्रोग्राम का सवाल है वह मेरी दृष्टि में मनोरंजन प्रधान है। किस टीवी को पहला स्थान दिया जाए, किसको दूसरा और किसको तीसरा और किसको चौथा यह तो उनके प्रोग्राम पर ही निर्भर है। परंतु सभी मनोरंजन पर जोर दे रहे हैं। कोई ढँक कर तो कोई खुलकर। भारतीय दूरदर्शन, एटीएन, जी टी और एम टी सभी तो व्यावसायिक हैं- कोई विज्ञापन के बिना नहीं चलता। कोई नयापन नहीं। यह और बात है कि बीच-बीच में कोई फिल्म कोई कहानी, कोई सीरियल नएपन की सीमाएँ छू लेता है। अश्लीलता या नग्नता या सैक्स के प्रतीक शब्द जो नए टीवी से, अमेरिकी प्रभाव से आ रहे हैं, उनसे हमारा युवा वर्ग आज सम्मोहित हो सकता है परंतु वह जीवन का पाथेय नहीं बन सकता।

अमेरिकी अप-संस्कृति, संपन्नता या फिर पिपासा और फ्रस्ट्रेशन से जन्मी है। भारत में ऐसी परिस्थितियाँ शहरों में हो सकती हैं विशेष रूप से महानगर में। किन्तु सुदूर गाँवों में अभी रंगीन टीवी सेट ही नहीं पहुँचे हैं। इसलिए चेहरा बिगड़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता। हमारे गाँव इतने गरीब हैं कि वे अप-संस्कृति फैलाने वाले एंटीना ही नहीं खरीद सकते।

कोई भी टीवी दर्शकों से दूर नहीं जा सकता। सब कुछ दर्शकों पर निर्भर करता है। सच तो यह है जी टीवी या मेट्रो टीवी को भी यह बात मालूम है। वे भी अपने दर्शकों की पसंद का विश्लेषण करते रहते हैं। वे प्रायः जिस वर्ग के लिए प्रोग्राम बनाते हैं उसके प्रति ईमानदार रहने की कोशिश करते हैं। दर्शक पत्र लिखकर उन्हें प्रभावित कर सकते हैं।

कई टीवी चौबीस घंटे का प्रोग्राम पेश करने का गर्व पालते हैं। उनसे भारतीय दूरदर्शन टक्कर नहीं ले सकता इसलिए उसे अपने चेहरे को बचाना ही चाहिए। घटिया कार्यक्रमों को रद्दी की टोकरी में फेंक कर नयापन लाने से वह अपने चेहरे को घायल होने से बचा सकता है। एक ही रास्ता रहता है कम प्रोग्राम दे किन्तु नयापन हो।

नयापन भारतीय संस्कृति का दुश्मन तो नहीं हो सकता। परिस्थितियाँ तो बदलती ही रहेंगी। इस बदलाव को अपनी पहचान दीजिए। यह जमाने का तकाजा है। ■

◆ ◆ ◆

यथार्थ से जुड़े रहें

□ राजेन्द्र यादव

(कथाकार एवं सम्पादक)

आकाशीय चैनल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समान आक्रामक हैं। बना बनाया माल परोसने से अप-संस्कृति का माहौल ही पैदा होगा। उत्पादन, रचनात्मकता अनुसंधान-विकास को देखने का दृष्टिकोण विदेशी कंपनियों का कुछ और ही होता है।

अनेक बार प्रमाणित हो चुका है कि ये कंपनियाँ वही बेचती हैं, जो उनके यहाँ नहीं बिकता। प्रतिबंधित दवाइयाँ भी भारत में बिकती पकड़ी गई हैं। क्या यही नीति इन चैनलों की नहीं होगी।

भारतीय दूरदर्शन को सजग रहकर हास्यास्पद मनोरंजन से बचना होगा, उसे संस्कृति पर ध्यान देना होगा। उसे इस बात पर ध्यान रखना होगा कि भारत के गाँव आज भी शहरों से बहुत पीछे हैं। यदि ये चैनल गाँवों तक पहुँच गए, तो उनकी कमाई उसी में फूँक उठेगी। हमारी जीवन पद्धति, हमारी समस्याएँ पाश्चात्य देशों से भिन्न हैं। हमारी आकांक्षाएँ भी उनसे भिन्न हैं। भारतीय दूरदर्शन को अपने कार्यक्रमों में इस यथार्थ से दूर जाने की जरूरत नहीं है। ■

◆ ◆ ◆

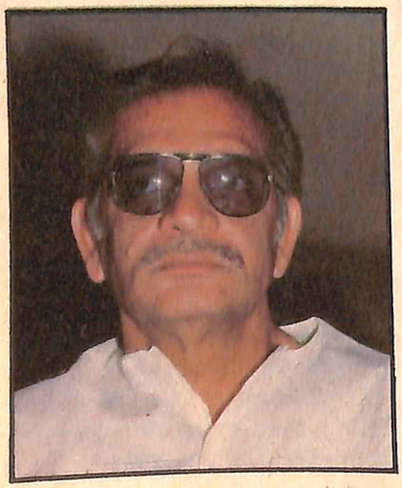
अपेक्षाएँ कम कीजिए

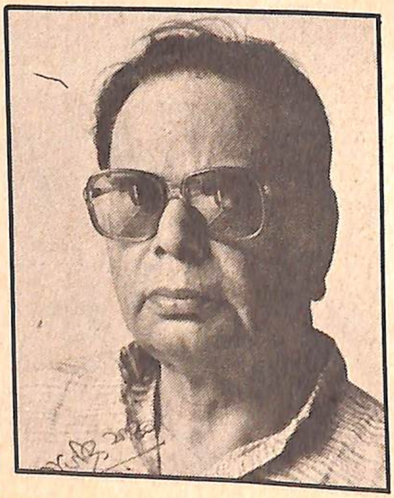
□ रामानंद सागर

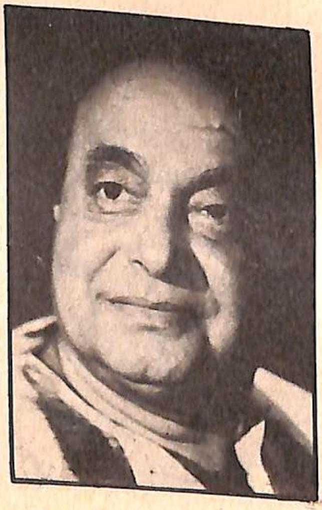
(निर्माता-निर्देशक-लेखक : रामायण/कृष्णा)

कोई भी नेटवर्क हो अगर वह भारतवासियों के लिए है तो उसे भारतीय संस्कृति को याद रखना होगा, क्योंकि कहावत है जैसा देश वैसा वेश। अप-संस्कृति का खतरा तभी पैदा होगा जब सब कुछ विदेशी संस्कृति में डूबा होगा। किन्तु यह स्थिति कभी नहीं आएगी। निर्माता अलग-अलग होंगे। आयातित प्रदर्शन से ही खतरा हो सकता है या उस देशी प्रदर्शन से भी गंभीर परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं जो जानबूझकर विलासिता का प्रचार करती हैं। किन्तु इस प्रकार विलासिता या ऐशो-आराम पसंद जीवन की प्रेरणाएँ समाचार पत्रों के विज्ञापनों के जरिए भी तो जनता तक पहुँच रही हैं। भारतीय दूरदर्शन ही क्यों खटकता है आँखों में। फिर अब तक तो वह बहुत साफ-सुथरा है।

प्रतियोगिता के युग में रह कर प्रतियोगिता से डरना कैसा? प्रतियोगिता







आगे बढ़ने की प्रेरणा भी तो देती है। वह सिर्फ कमजोरों को खतरा लगती होगी। भारतीय दूरदर्शन कमजोर नहीं है। उसे अपनी शक्ति का सही एहसास है। चैनल कितने भी चलें, किसी से किसी को खतरा होगा यह मैं नहीं मानता। विदेशों में तो यह प्रमाणित हो चुका है। महत्वपूर्ण है दर्शकों की रुचि।

दूरदर्शन का चेहरा कैसा हो? मेरा एक ही उत्तर है- गुणात्मक। उसका हर कार्यक्रम गुणवत्तापूर्ण होना चाहिए। तभी वह प्रतिस्पर्धा में टिक सकता है। महालिक समिति की सिफारिश के अनुसार दूरदर्शन में कई सुधार हुए हैं। नयापन भी दर्शक के लिए हमेशा आकर्षण का केंद्र नहीं रह पाता। विविधता आवश्यक है। बहुत सी बातें नीतिगत होती हैं। भारतीय दूरदर्शन को सरकारी नीति का पालन करना पड़ता है, इसलिए उससे वे अपेक्षाएँ नहीं की जा सकती जो दर्शक अन्य से करते हैं।

◆ ◆ ◆

हम भी किसी से कम नहीं हैं

☐ सुधीश पचौरी

(लेखक एवं मीडिया समीक्षक)

अपःसंस्कृति का खतरा हो सकता है, किसी अन्य टी.वी. या चैनल का नहीं। वे फिल्म दिखाते हैं, तो भारतीय दूरदर्शन ने भी अब फिल्मों की संख्या बढ़ा दी है। गीतों में भी बढ़ोतरी हुई है। मेट्रो चैनल काम करने लगा है। इस प्रकार चुनौती स्वीकार कर ली गई है। खतरा, खतरा, खतरा कहने वालों को वस्तु-स्थिति समझना चाहिए।

चुनौती में दम है वह वास्तविक है। यह सही है पर दूरदर्शन मिट्टी का माधव नहीं रह सकता; यह भी आपको समझना चाहिए, तकनीकी क्रांति सबके लिए हुई है। आर्थिक पहलू मजबूत चाहिए।

चंद वर्षों में २१ वीं सदी शुरू हो जाएगी। उसमें सिर्फ मनोरंजन ही नहीं, सूचना और संस्कृति की लड़ाई भी लड़ी जाएगी। भारतीय दूरदर्शन को यह ठीक समझना होगा।

यदि हमारी सरकार खुले मन से इस आकाशीय प्रतियोगिता का सामना करना चाहती है तो उसे बनियापन से मुक्ति पाना होगी अथवा उसे वे साधन जुटाने होंगे जो प्रतियोगिता में हमें आगे बढ़ा सकें। रही बात प्रोग्राम की, हमारे लोग कुछ कम नहीं हैं। मैं किसी का नाम न लेकर सिर्फ अंतर्निहित क्षमता की ओर संकेत करना चाहता हूँ।

परिवर्तन से घबराइए मत

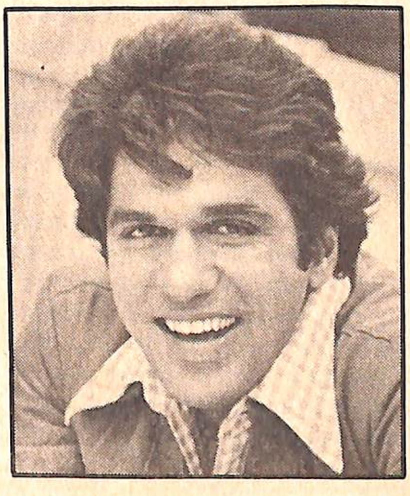
☐ मुकेश खन्ना

(अभिनेता)

सोते हुए चेहरे की रक्षा कौन कर सकता है? कोई आक्रमण कर रहा हो और कोई सो रहा हो तो चेहरा क्या- अंग प्रत्यंग पर वार हो सकते हैं और परिस्थितियाँ पहचान की सीमा को पार कर अधिक गंभीर रूप भी ले सकती हैं।

भारतीय दूरदर्शन को उस समय ही जाग जाना था, जब एटीएन और जी टीवी ने आक्रमण की तैयारी की थी। यह प्रतिस्पर्धा का जमाना है। दौड़ ही दौड़ है। जाग जाने पर दौड़ना जरूरी है। व्यापक और रचनात्मक प्रतियोगिता में विजयी होने पर ही भारतीय दूरदर्शन अपने चेहरे पर लिखे 'दूरदर्शन' शब्द को चमका सकता है।

भारतीय दर्शक की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर भारतीय दूरदर्शन जो कुछ परोसेगा उसका स्वागत क्यों नहीं होगा। उससे उसका चेहरा कदापि नहीं बिगड़ सकता। सवाल यह है प्रायोजक दूसरी तरफ घूम रहे हैं इसलिए परिवर्तन जरूरी है। कार्यक्रमों का स्तर सुधारना होगा। यह एक खुली लड़ाई है, जो कमजोर है वह हार जाएगा। भारतीय संस्कृति कितने ही आघात सह चुकी है, वह एम टीवी का आघात भी सहेगी, परंतु मरेगी नहीं। जो परिवर्तन से घबराता है वही मरता है। कुछ दिनों के बाद भारतीय दर्शक को ऐसी स्थिति से गुजरना होगा जिसे 'चॉइस' कहते हैं। पहले तय कीजिए आपको क्या देखना है। फिर रिमोट कंट्रोल से चैनल बदलिए। दर्शक की इसी चुनाव शक्ति पर हमें भरोसा रखना होगा।



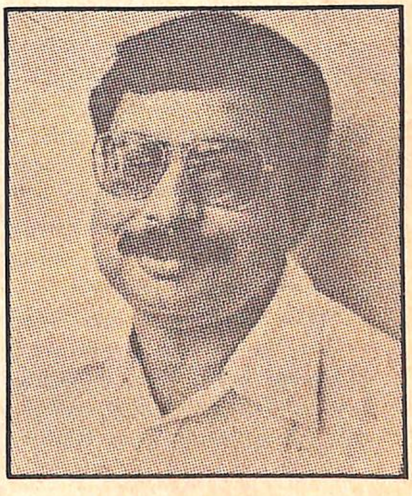
आती रहती हैं आँधियाँ तो

☐ विनोद दुआ

(दूरदर्शन पत्रकार)

किसी भी नेटवर्क के मुकाबले भारतीय दूरदर्शन को मैं प्राथमिकता देता हूँ। मैं उसका हूँ और उसका रहना चाहता हूँ। मुझे उससे लगाव है। जो अपना है, जिससे हमें अपनत्व लगता है, उसके चेहरे की बात करने का क्या मतलब है? यदि इसका तात्पर्य उसके कार्यक्रम से है तो बेहतरीन कार्यक्रम देने का सत्प्रयास करने और समर्पित भाव बनाए रखने की भूमिका से सही दिशा का संकेत मिलता है। देश के प्रति और उसकी संस्कृति के प्रति जागरूकता ही भारतीय दूरदर्शन के चेहरे को कभी मलिन नहीं होने देगी।

आँधियाँ आती हैं। समय बीतता है। धूल थम जाती है। दुष्प्रभाव दूर होने लगते हैं। परिवर्तन प्रक्रिया अपना रंग दिखाती हैं। किंतु भारतीय दूरदर्शन को प्रायोजकों की जरूरत हमेशा रहेगी। दूरदर्शन के सरकारी होने के बावजूद, विज्ञापनदाताओं से अर्जित राशि का महत्व है। यदि विज्ञापनदाता अन्यत्र खिसकने लगें, तो परिस्थितियाँ गंभीर बन जाती हैं। सवाल उठता है- दूरदर्शन कितनी क्षति उठा सकता है? आर्थिक पहलू पर मजबूर होकर सरकार विचार करती है। क्षति सहना मुख्य बात है। दूरदर्शन से कई सवाल जुड़े हुए हैं- पर उसके चेहरे से वे संबंधित नहीं हैं। अप-संस्कृति का मुकाबला दर्शकों को करना होगा, सिर्फ दूरदर्शन को ही नहीं। हम तो अपनी तरफ से पूर्ण सजग हैं।



केवल दोष मत देखिए

अमिताभ बच्चन तथा
जया बच्चन से बातचीत
सुमंत मिश्र द्वारा

अमिताभ बच्चन पिछले आठ माह से फिल्म की जगह अपने भाई अजिताभ बच्चन और उनके मित्रों द्वारा स्थापित टी.वी. एशिया से जुड़े हुए हैं। इन दिनों टी.वी. एशिया ने इंग्लैंड, योरपीय देशों के साथ ही अमेरिका और कनाडा तक अपना विस्तार किया है। अमिताभ कहते हैं कि मैं व्यक्तिगत तौर पर इससे नहीं जुड़ा हूँ, न ही इसमें मेरा धन लगा है और न ही इसके प्रबंधन में मैं हूँ। बस आता-जाता रहता हूँ। परिवार का ही व्यापार है इसलिए राय-मशविरा देता रहता हूँ।

आज दूरदर्शन के बढ़ते दायरे के बारे में उनकी मान्यता है कि सैटेलाइट के माध्यम ने देशों के बीच की दूरी मिटा दी है। सैटेलाइट ऐसा माध्यम है जो भौगोलिक और राजनीति सीमाओं से परे है। दूरदर्शन को लेकर उनके विचार–

क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि जी टी.वी. और स्टार टी.वी. के सामने दूरदर्शन अपनी भूमिका ठीक से नहीं निभा पा रहा है, दिन-प्रतिदिन उसके दर्शकों की संख्या तथा उसका महत्व कम होता जा रहा है?

नहीं, ऐसा कहना गलत होगा। दूरदर्शन की पहुँच बहुत बड़ी है। उसके दर्शक भी बहुत बड़ी संख्या में हैं। उसकी तुलना में स्टार टी.वी. या जी टी.वी. या जितने भी प्राइवेट चैनल हैं उनकी पहुँच सीमित है, लेकिन ये धीरे-धीरे फैलते जा रहे हैं। इसलिए आने वाले वर्षों में दूरदर्शन को अपना महत्व बनाए रखने के लिए ध्यान रखना होगा। यह कहना गलत होगा कि इन प्राइवेट चैनल के आ जाने से दूरदर्शन कोई नहीं देखता या उसका महत्व खत्म हो गया है। दूरदर्शन करीब ५० से ६० करोड़ लोगों तक पहुँचता है, जबकि प्राइवेट चैनलों की पहुँच अभी दस करोड़ लोगों तक भी नहीं है।

विदेशी चैनलों के माध्यम से जो कार्यक्रम दिखाए जा रहे हैं उससे हमारी संस्कृति और संस्कार को खतरा उत्पन्न हो गया है। विशेषकर एम.टी.वी. पर दिखाए जाने वाले कार्यक्रम से हमारे बच्चों पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ रहा है?

यह गलत है या सही कहना मुश्किल है। इन विदेशी चैनलों का प्रभाव बुरा पड़ रहा है या नहीं यह तो वो ही लोग बता सकते हैं, जो इससे प्रभावित हो रहे हैं। यदि आप मानते हैं कि इन कार्यक्रमों को देखने से आपके संस्कार नष्ट होते हैं, बच्चों पर बुरा असर पड़ता है, तो मत देखिए। लेकिन इसको रोकना बहुत मुश्किल होगा। क्योंकि यह एक वैज्ञानिक खोज है। सैटेलाइट फ्री चीज है। इसकी न तो कोई राजनीतिक सीमा है, न ही कोई भौगोलिक सीमा है। यह तो अंतरिक्ष से आता है, इसे कोई कैसे रोक सकता है। इसे रोकना तो उसी प्रकार होगा कि कोई कहे हम सूर्य की रोशनी को आने से रोकेंगे या चंद्रमा को उगने से रोकेंगे। इसे रोकना बहुत मुश्किल होगा। लोग इससे प्रभावित तो होंगे। जैसे लोग सिनेमा और टी.वी. से प्रभावित होते हैं। लेकिन इसके कुछ फायदे भी है। मैंने कलकत्ता क्रिकेट टेस्ट मैच के दौरान एक अच्छी चीज देखी मैक्सियम वेव। यह अमेरिका से आई। वहाँ बेसबॉल और फुटबॉल मैच के समय दर्शक इस तरह का वेव बनाते हैं। भारतीय दर्शकों ने टी.वी. और स्टार टी.वी. के स्पोर्ट्स कार्यक्रम में इसे देखा और उन्होंने इसे अपनाया। पहले टी.वी. पर क्रिकेट मैच कहाँ दिखाया जाता था। बाद में धीरे-धीरे दिखाया जाने लगा। मैच के दौरान पहले सिर्फ दर्शक तालियाँ बजाते थे। लेकिन हमारे दर्शकों ने देखा कि विदेशों में जब कोई मैच होता है तो दर्शक अपने-अपने देश का झंडा लहराते हैं। इसी बात का अनुसरण हमारे दर्शकों ने किया और वे भी खेल देखते समय अपना तिरंगा लहराने लगे। इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना का भी विकास होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्टार टी.वी. या अन्य टी.वी. का कुछ अच्छा असर भी हमारी जनता पर पड़ा है। ऑस्ट्रेलिया ने इसका फायदा उठाया और



एक्शन रिप्ले और स्लो मोशन का उपयोग किया। गेंद को कई दिशाओं से दिखाया जाने लगा जिससे दर्शकों में उत्सुकता उत्पन्न हुई। अब दर्शक स्टेडियम में बैठकर स्लोगन, पोस्टर और अपने देश के झंडे लहराते हैं और खेल में अपनी रुचि और खुशी जाहिर करते हैं। दर्शकों की इन बातों से खिलाड़ियों में भी उत्साह पैदा होता है। यह सब टी.वी. संस्कृति का ही नतीजा है।

ऐसा नहीं लगता है कि टी.वी. संस्कृति से सिनेमा संस्कृति प्रभावित हो रही है।

अवश्य। जब सिनेमा के लोग टी.वी. के कार्यक्रमों की खूबियों से परिचित हो जाएँगे, चाहे वह टेक्निकल हो या दूसरी चीज, वे टी.वी. संस्कृति की इन खूबियों को सिनेमा में लाना चाहेंगे।

जया बच्चन क्या कहती हैं

एक ओर जहाँ अमिताभ बच्चन अपरोक्ष

रूप से टी.वी. एशिया से जुड़े हैं वहीं उनकी पत्नी **जया बच्चन** प्रत्यक्ष रूप से इस संस्था के लिए काम कर रही हैं। फिल्म के बाद दूरदर्शन के माध्यम में भी उनकी रुचि, उनकी मेहनत देखकर स्पष्ट होती है। वे जहाँ टी.वी. एशिया की भारतीय प्रतिनिधि हैं, वहीं उन्होंने सरस्वती ऑडियो विजुवल नामक निर्माण संस्था भी खोल रखी है। इन दिनों यह संस्था 'देख भाई, देख' और 'सात फेरे' नामक धारावाहिक का निर्माण कर रही है। इसके अलावा वह साफ्टवेयर का भी निर्माण करती है, जिनका उपयोग टी.वी. एशिया तो करता ही है-इसे बेचा भी जाता है।

जयाजी कहती हैं-टी.वी. एशिया की लोकप्रियता बढ़ती ही जा रही है और इसके लिए वे सैटेलाइट माध्यम को श्रेय देती हैं। वे कहती हैं आज इस माध्यम के कारण दुनिया का हर कोना और उससे जुड़ी हर चीज आपके ड्राइंग रूम में पहुँच जाती है। अभी तो हम दूरदर्शन के पुराने कार्यक्रमों को वहाँ प्रक्षेपित कर रहे हैं। हमारे सारे प्रोग्राम मनोरंजन पर आधारित होंगे। फिल्में, सीरियल, नाटक, खेलकूद संबंधी कार्यक्रम दिखाए जाएँगे।

श्रीमती बच्चन कहती हैं-आज दूरदर्शन के माध्यम से हमारी फिल्में, हमारी संस्कृति को लोग विदेशों में देखते हैं। उनके धारावाहिक, फिल्म हमारे पास आते हैं। हमारा संगीत वहाँ सुनाई देता है। उनके कलाकार हमारे यहाँ आकर प्रोग्राम देते हैं। इन दिनों आप दूरदर्शन पर सैटेलाइट के माध्यम से कुछ भी देख सकते हैं। स्पेस तो पूरे संसार का है। सैटेलाइट के द्वारा हम खुलेआम दूसरे देशों के साथ मिल सकते हैं।

वे कहती हैं कि आप बच्चों को देखें अब वे किताबें नहीं पढ़ते। वे भी वीडियो देखते हैं। किताबें भी सिमटकर कम्प्यूटर में आ गईं। अब वह वीडियो कैसेट बनकर पहुँचा है। हाथ से कुछ लिखने की जरूरत नहीं पड़ेगी। अवश्य ही कुछ दिनों बाद इन्सायक्लोपीडिया, डिक्शनरी और लायब्रेरी सिमटकर वीडियो कैसेट में केंद्रित हो जाएगी। एक बार रिमोट दबाइए और जो जानकारी चाहिए प्राप्त कर लीजिए।

इसलिए मेरा मानना है, दूरदर्शन ज्ञान-विज्ञान, लोक संस्कृति और सभ्यता सारी चीजों को पूरी दुनिया को एक साथ जोड़ने के लिए सबसे सशक्त माध्यम है और आने वाले दिनों में इसका विस्तार और भी ज्यादा होगा।

मनोरंजन का मतलब सिर्फ फिल्म नहीं है

□ मनमोहन सरल
(सम्पादक : हिन्दी फिल्म फेयर)

यह सवाल बहुत देर से उठाया जा रहा है या कहिए कि दूरदर्शन के सही चेहरे की खोज बहुत देर से शुरू हुई है जबकि भारत में टीवी को शुरू हुए कई दशक हो गए। सिर्फ इस नकल पर तो यहाँ टीवी लाया नहीं गया था कि तमाम दुनिया में टीवी आ चुका है। सरकार के सामने कोई नीति तो तभी से साफ होनी चाहिए थी या कम से कम तब जब कि इस बेहद शक्तिशाली माध्यम के पंख इतने फैलाने की योजना बनाई गई कि यह विशाल घुसपैठिया ड्राइंग रूमों, रसोईघरों से होता हुआ सीधे बेडरूम में प्रवेश कर गया और दूसरी ओर चप्पे-चप्पे पर रिले स्टेशन खुल जाने से खलिहानों और चौपालों में भी जा पहुँचा। यह योजना खूब सोच-समझकर बनाई गई थी। इस बात का भरपूर अंदाजा लगाकर कि यह शक्तिशाली माध्यम सरकार और इस बहाने शासकीय पार्टी के लिए अमोघ हथियार साबित होगा।

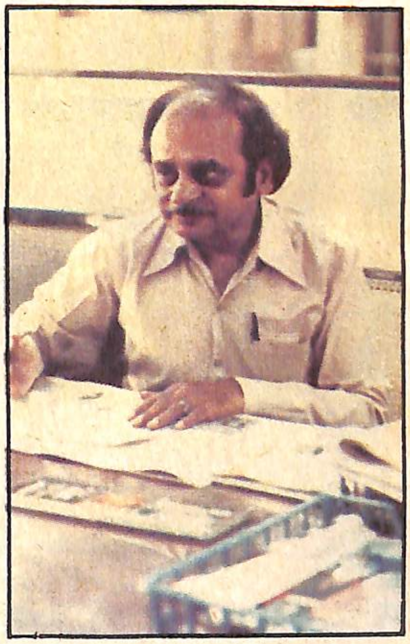
पर अफसोस, तब भी यह नहीं सोचा गया कि इसके जरिए अस्सी करोड़ की आबादी को परोसा क्या जाए?

लेकिन अब क्यों? पिछले डेढ़ साल से जब दूसरे वैकल्पिक चैनलों का और उनसे पहले डिश एंटेना की छतरी से उतरकर विदेशी प्रसारणों का आसमानी हमला हमारे दूरदर्शन पर होता नजर आया तब आँख खुली है। यों दूरदर्शन के कार्यक्रम किस कदर घटिया, उबाऊ, एकरस और अर्थहीन होते रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। इन्हें सुधारने के लिए कई समितियाँ बनीं, स्तरहीनता के कारणों की परख के लिए बैठकें हुईं पर इन सबसे हासिल कुछ खास नहीं हुआ।

स्टार टीवी/ एम टी.वी./ बी.बी.सी./ सीएनएन के उपग्रहीय अतिक्रमण के बाद जब एटीएन और जी टी.वी. नाम से भारतीय वैकल्पिक चैनल भी सामने आए तो स्थिति और गंभीर हो गई। इसमें आशा की किरण यही है कि जी.टीवी और एटीएन के कार्यक्रम और भी घटिया, स्तरहीन और एकरस हैं। दूसरे इनमें दूरदर्शन का पुराना मलबा और रद्द किया हुआ काफी माल परोसा जा रहा है। जो कुछ ये चैनल नया बना भी रहे हैं, वे कार्यक्रम भी सामान्य ही हैं और ज्यादातर दूरदर्शन पर कार्यक्रम तैयार करने वाले मीडियोकर लोगों द्वारा ही बने हैं।

फिर भी ये चैनल दूरदर्शन के सामने चुनौती तो हैं ही। दूरदर्शन की दर्शक संख्या एकाएक तेजी से गिरने लगी है और करोड़ों रुपए के राजस्व कमाने में भी कमी महसूस होने लगी है।

इसी वजह से ट्रांस्पोंडर पर जगह लेकर मैट्रो चैनल खोले गए हैं। इन मैट्रो चैनलों का प्रसारण क्षेत्र बढ़ाने की योजना है और समय भी बढ़ाने की बात है। दूसरे, कई और चैनल भी खोले जा रहे हैं। पर ट्रांस्पोंडर पर बित्ता भर जगह खरीद लेने मात्र से ही तो खतरा टल नहीं जाएगा। जब प्रसारण समय बढ़ेगा तो और अधिक विविधता वाले कार्यक्रमों की जरूरत होगी। कल तक फिल्मी गीतों, फिल्म कलाकारों के उबाऊ और सामान्य इंटरव्यू, शूटिंग आदि फिल्मी गतिविधियों को ही बेचकर दूरदर्शन वह सब करता रहेगा, जो उसके वैकल्पिक चैनल कर रहे हैं? यहाँ एक अनोखी बात सामने आती है, आँकड़े बताते हैं कि 'छाया गीत' से सबसे ज्यादा राजस्व



मिलता है और दर्शक संख्या भी उसकी सर्वाधिक है। बस, वही संकेत लेकर जीटीवी और एटीएन ने अपने ज्यादातर कार्यक्रम फिल्मी गीत पर आधारित बना डाले। और दूरदर्शन का दिवालियापन देखिए कि उसने भी मैट्रो चैनल पर जीटीवी और एटीएन की वही सब की नकल की जो उन्होंने दूरदर्शन से उधार ली थी। दूसरा स्थान आता है इंटरव्यू पर आधारित कार्यक्रमों का। यहाँ एक बात

जरूरी है कि जिसका इंटरव्यू लिया जाए वह रोचक जवाब देने वाला हो तो कार्यक्रम पसंद आता है पर इसके लिए जो इंटरव्यू ले रहा है, उसे भी इतना सक्षम होना चाहिए कि वह रोचक सवालों से उसे घेर सके। एक कार्यक्रम में तो इंटरव्यूकर्ता बेशर्मी से लगातार अँगरेजी में सवाल करते रहे जबकि उत्तर देने वाला हिंदी बोल रहा था। अंततः वे दयनीय हो उठे और हरचंद कोशिश करके वे इंटरव्यू देने वाले से वे जवाब नहीं उगलवा सके जो उन्हें चाहिए थे। यहाँ दर्शक ऐसे कार्यक्रमों की कमजोरी पकड़ लेता है।

पुराने सुनहरे दिनों की ओर लौटकर देखें कि क्या दूरदर्शन में सब कुछ इतना ही नीरस था और क्या सब कुछ इतना ही फिल्मी था, शुरू में जब इसका प्रसारण क्षेत्र इतना बड़ा नहीं हुआ था। 'हम लोग', 'यह जो है जिंदगी' जैसे धारावाहिक लोगों को जल्दी घर लौटने के लिए विवश कर दिया करते थे। 'रामायण' के प्रसारण के समय देशभर में कर्फ्यू जैसी स्थिति हो जाती थी। दोपहर के फिल्म-शो के समय में तब्दीली करनी पड़ी थी। यह दीगर बात है कि 'रामायण' या 'महाभारत' ने आम भारतीय के सोच में क्या बदलाव पैदा किया, पर इनकी लोकप्रियता तो निर्विवाद है।

मैं, फिर भी, 'रामायण', 'महाभारत' की लोकप्रियता को दोहराने के पक्ष में नहीं हूँ। पर 'हम लोग' जैसे धारावाहिकों का पक्षधर जरूर हूँ। ऐसे धारावाहिकों में शुद्ध मनोरंजन के साथ-साथ निहित उद्देश्य भी था। बल्कि प्रचार के पारखी अगर आकलन करें तो ऐसे धारावाहिकों के जरिए खास विचार और संदेश को मीठी अफीम के रूप में जनसाधारण तक पहुँचाने की क्षमता है।

यह तो एक उदाहरण है, दरअसल कोशिश करनी होगी यह जानने की कि हमारे दर्शक क्या चाहते हैं। यह काम सिर्फ लोकप्रियता के आँकड़े इकट्ठे करने से पूरा नहीं होगा। इससे तो विज्ञापन एजेंसियों का काम पूरा हो सकता है। दूरदर्शन के कार्यक्रमों को निर्धारित करने वालों का नहीं। पश्चिम में इस विशाल माध्यम की शक्ति को पहचानकर बड़े वैज्ञानिक ढंग से अपने दर्शकों की रुचि का अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन एक बार नहीं, लगातार करते रहना पड़ता है क्योंकि अनेक कारणों से दर्शकों की रुचि बदलती रहती है।

आँख मूँदकर मैट्रो चैनल के कार्यक्रम पेश करने का एक उदाहरण दूँ। इन दिनों 'समाचार' की दर्शक संख्या बेहद घटती जा रही है, क्योंकि वही समय मैट्रो चैनल का है। कम से कम उस १५ मिनट में तो मैट्रो चैनल पर ऐसा कार्यक्रम दिया जा सकता है जो सस्ते मनोरंजन का न हो। पर दूरदर्शन को इसी से संतोष है कि उसके मैट्रो चैनल ने जीटीवी या स्टार टीवी को मात दे दी है। पर सोचना यह भी होगा कि यह जीत किन शर्तों पर मिल रही है। इसके बदले हम अपने दर्शकों से क्या छीन रहे हैं। जो छीन रहे हैं उसका उनके मानसिक विकास में, उनके सामान्य ज्ञान में तथा उनके दैनंदिन जीवन में कितना महत्व है। क्या तमाम वक्त 'हा हू', 'रैप रैप' या 'चोली के पीछे क्या' दिखाकर हम उन्हें दरिद्र नहीं बना रहे हैं?

उपग्रहों और ट्रांस्पोंडरों के जरिए दुनिया छोटी होती जा रही है। किसी सुदूर देश के कार्यक्रम भी देखे जा सकें यह अब ज्यादा दूर नहीं है। आपके टीवी सेट के चैनल कम पड़ने लगे हैं और जल्दी ही वे नाकाफी हो जाएँगे। ऐसे में हमारे सामने चुनौतियाँ बढ़ गई हैं और यह जिम्मेदारी भी कि दुनिया के मुकाबले में हमारे कार्यक्रम कहाँ ठहरते हैं।

यह सही है कि यह माध्यम मनोरंजन-प्रमुख है। पर मनोरंजन का स्तर क्या हो, मनोरंजन में छिपा कोई संदेश भी वांछित है कि नहीं, मनोरंजन सिर्फ फिल्म ही है क्या- ऐसे सवालों के जवाब ही तय करेंगे कि दूरदर्शन का चेहरा कैसा हो। और भी विषय हैं मनोरंजन के सिवा जिनसे यह चेहरा ज्यादा चमकदार हो सकेगा। यह मानना तो गलत है कि हमारे यहाँ सोचने वाले दिमाग नहीं हैं।

फिर हमारी संस्कृति विश्व की सबसे पुरानी संस्कृति है जिसके अनेक पक्षों को बाहर वाले दिखाकर पैसे बनाते हैं पर हम उस ओर ध्यान नहीं देते। फिर कितनी भाषाएँ हैं और सबमें कालजयी साहित्य रचा गया है। बस, इन सबकी प्रस्तुति कैसी हो, यह तय करना पड़ेगा। सब हो सकता है- अगर पूर्वाग्रहों को ताक पर रख दिया जाए, निहित स्वार्थों को बीच में न डाला जाए, गुणवत्ता को सर्वोपरि स्थान दिया जाए।

आखिर प्रतिभा का कोई अकाल तो नहीं है हमारे यहाँ।

टीवी एशिया के माध्यम से योरपीय समुदाय भारतीय पुराण कथाओं से परिचित हो रहे हैं : धारावाहिक 'कृष्णा' में भगवान विष्णु का मोहिनी रूप।



करने का प्रयास किया तथा उसे ही आधार बनाकर आगे बढ़ा। यदि मैं उस पीड़ा को, उस भय को दर्शकों के मन तक पहुँचाने में कामयाब रहा तब यही मेरी उपलब्धि एवं सफलता है। इसी कारण मैंने हिंसा को प्रमुखता नहीं दी। सनसनी पैदा करने के लिए सूक्ष्म विवरण नहीं दिए। कई चीजों के बारे में मैंने इशारा भर किया है तथा दर्शकों को समझने एवं निर्णय लेने की स्वतंत्रता दी है। पूरी फिल्म में मैंने विभाजन (पाटीशन) शब्द का उपयोग नहीं किया है। ऐसा किसी सेंसरशिप के भय से नहीं बल्कि फिल्म की कथ्यात्मकता एवं घटनाओं की जीवंतता बनाए रखने के लिए किया। ऐसी घटना किसी भी युग में हो सकती है। धर्म के नाम पर लाखों लोग मारे गए तथा लाखों बेघर हो गए। मैंने कथा का उपयोग किया, जो इतिहास से सबक नहीं लेंगे वे ऐसी घटनाओं को दुहराएँगे।

विभाजन काफी नाजुक विषय है। इस विषय पर धारावाहिक के लिए प्रायोजक खोजने में दिक्कत हुई होगी?

बेशक, काफी मुश्किलें आईं। इस धारावाहिक के निर्माण का विचार १९८१ से ही मेरे मन में था। जब योजना बनाई तब कोई प्रायोजक नहीं मिला। इसके बाद दूरदर्शन का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया। प्रायोजित कार्यक्रमों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। मैंने तब अपनी योजना सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के तत्कालीन सचिव **एस.एस. गिल** के सामने रखी। उन्होंने मिनी धारावाहिक के लिए इस विषय को तत्काल स्वीकृत कर लिया। इसके बाद **भास्कर घोष** ने दूरदर्शन की व्यवस्था का भार संभाला तथा इस प्रोजेक्ट का पूर्ण समर्थन किया। आश्चर्य तो यह रहा कि इस समय तक कोई प्रायोजक नहीं मिला। एक दिन मेरी मुलाकात ब्लेज के ललित बिजलानी से हुई। उन्होंने मुझसे मेरी उदासी तथा बेरौनक चेहरे के बारे में पूछा। कारण बताने पर उन्होंने दस दिन की अवधि में प्रायोजक की व्यवस्था करने का आश्वासन दिया। इस तरह फिल्म के प्रदर्शन का पूरा श्रेय ब्लेज के ललित बिजलानी तथा फेनी वराइवा को है। इस तरह बाधाएँ दूर हुईं तथा निर्माण शुरू हुआ।

आप पहली बार दूरदर्शन के लिए किसी कार्यक्रम को बना रहे थे वह भी एक मिनी धारावाहिक जिसमें कई अंकों वाला ढाँचा रहा हो। क्या आपको यह सब एक समस्या नहीं लगा?

जिन लोगों ने 'तमस' देखा है, वे जानते हैं कि इस धारावाहिक के प्रत्येक अंक को मिनी क्लाइमेक्स के साथ समाप्त करने का लोभ मुझमें नहीं था। हाँ, प्रत्येक अंक की समाप्ति भावुकता भरे दृश्य के साथ अवश्य हुई थी। किन्तु सामान्य 'सोप ऑपेरा' की तरह इसमें कोई 'एक्शन क्लाइमेक्स' नहीं रहा। मैं जानता था कि हर अंक के बाद नया अंक देखने तक दर्शकों को छह दिन तक इंतजार करना पड़ता है। इस अवधि में वह देखी गई घटनाओं एवं



गोविन्द निहलानी : दूर दृष्टि

प्रसंगों को वस्तुगत रूप से परख सकता है। हाँ, दर्शक की तन्मयता की तारतम्यता में विघ्न जरूर पड़ता है। इसलिए हमने प्रयास किया कि हर नया अंक पिछले अंक से जुड़ा होते हुए भी अपने आप में परिपूर्ण इकाई रहे। यदि किसी अंक में कोई नाजुक या महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया गया तब उसके गिर्द का सारा घटनाक्रम उसी अंक में समाप्त हो जाए। मैं यह भी चाहता था कि धारावाहिक विवादास्पद न बन जाए। मगर मेरी लाख कोशिशों के बावजूद जिसका डर था वही हुआ। लोगों ने तिल का ताड़ बना दिया। जहाँ तक निरंतरता का सवाल है भावनात्मक गूढ़ता तथा आदर्शवादी ढाँचे के मामले में यह बनी रही।

तकनीकी समस्याएँ क्या रहीं? आपने उनका मुकाबला कैसे किया? यदि थिएटर में दिखाए जाने का मामला होता, तब तो आपका नियंत्रण लेबोरेटरी प्रिंट पर बना रहता। किन्तु दूरदर्शन से प्रसारण पर आपका गुणवत्ता के मामले में कोई नियंत्रण नहीं रहा होगा?

तमस को सैल्यूलाइड पर फिल्माया गया था। इसलिए 'यू मेटिक' के इस्तेमाल का कोई सवाल ही नहीं था। हाँ, यह बात जरूर है कि टेलीविजन का छायांकन बड़े परदे की फिल्म की शूटिंग से अलग रहता है। यह फर्क इतना बड़ा नहीं कि इस कमी को दूर न किया जा सके। बड़े परदे की छवि को छोटे परदे पर 'एडजस्ट' किया जा सकता है। तकनीकी विकास के कारण अब टेलीविजन पर भी उच्चस्तरीय नाटकीय विरोधाभास दिखाए जा सकते हैं। सब कुछ इस बात निर्भर है कि आप सामग्री का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि बड़ी प्रिंट को छोटे परदे के अनुकूल बनाए जाने की तकनीकी प्रक्रिया सावधानी से की जाए तब अच्छे परिणाम सामने आ सकते हैं। टी.वी. के लिए सिर्फ 'फ्लेट लाइटनिंग' की ही जरूरत है यह धारणा गलत है। दूरदर्शन के धारावाहिक बनाने वाले फ्लेट लाइटनिंग काइस्तेमाल सिर्फ अपनी सुविधा के लिए करते हैं। समय बचाने तथा तेजी से काम करने के लिए यह विधि इस्तेमाल की जाती है। मैंने सुविधा की बजाए गुणवत्ता पर ज्यादा जोर दिया।

इस धारावाहिक में आपने अपनी प्रोजेक्ट के लिए पहली बार बाहरी छायाकार को लिया। क्या छायांकन शैली के बारे में उससे आपके कुछ सैद्धांतिक मतभेद रहे?

शूटिंग शुरू होने के कुछ दिनों के बाद मैंने वी.के. मूर्ति से अनुरोध किया कि वे यूनिट में शामिल हो जाएँ। मैंने महसूस किया कि प्रोजेक्ट काफी बड़ी है तथा मैं निर्देशक एवं छायाकार दोनों की भूमिका का एक साथ निर्वाह नहीं कर सकता। इसलिए मूर्ति की सेवाएँ लेना जरूरी हो गया। धारावाहिक में कई क्लिष्ट प्रसंग थे। ढेर सारे अभिनेता थे। मुझे सभी में सामंजस्य स्थापित करना था। मूर्ति साहब से कोई शैलीगत मतभेद होने का प्रश्न ही नहीं था। वे हमारे गुरु हैं तथा सिने छायांकन में हमारी शैलियाँ समान हैं। समस्या बस एक ही थी कि मूर्ति साहब जब कैमरे के पीछे रहते थे तब मैं लैंस से दृश्य देख कर उसके प्रभाव के बारे में निर्णय नहीं कर पाता था। पिछले कई वर्षों से मैं ऐसा करते रहने का आदी हो चुका था। इस अवसर से वंचित रहकर मैं पूरी तरह से भ्रमित हो जाता था। इसलिए मैंने मूर्ति साहब से अनुरोध किया कि मुझे छायाकार के तौर पर काम करने की अनुमति दें तथा प्रकाश आदि की व्यवस्थाएँ स्वयं देखें। उन्होंने मेरी दिक्कत समझ कर मेरा अनुरोध स्वीकार कर लिया। इसके बाद हम दोनों की सुंदर साझेदारी में हम दोनों मिलकर हर दृश्य की बारीकियों पर चर्चा करते तथा उसे बढ़िया से बढ़िया ढंग से कैमरे में कैद करने की योजना बनाते। प्रत्येक निर्णय दोनों की सहमति से होता था। हमारे बीच परस्पर सम्मान एवं विश्वास की भावना सदैव विद्यमान रही। मूर्ति साहब की मौजूदगी से सारी यूनिट में उत्साह की भावना बनी रहती थी।

इतने बड़े पैमाने पर बनाई गई योजना में आपने निर्माण पूर्व किस स्तर तक परियोजना की तैयारी की थी?

मैं पिछले कई वर्षों से इस योजना पर शोध कर रहा था किन्तु पटकथा लेखन का कार्य सिर्फ तीन सप्ताह में ही पूरा हो गया। इसके बाद मैंने पंजाब की यात्रा की। वहाँ शूटिंग करना असंभव था। इसलिए हमने घरों/ सड़कों एवं गलियों के भरपूर छायाचित्र लिए जिनको स्टुडियों में नितीश राय की तकनीकी कुशलता से 'रीप्रोड्यूस' किया गया। फिल्म सिटी में गली का जो दृश्य निर्मित किया गया वह सिर्फ दो सप्ताह में ही तैयार हो गया था। उसकी गुणवत्ता की चर्चा आज भी फिल्म उद्योग में होती है। विभाजन के पूर्व पंजाब के कस्बे की यह वास्तविक छवि थी। वेशभूषा के मामले में हमें नीलम चौधरी तथा डॉ. मानसिंह निरंकारो की काफी मदद मिली। निरंकारो ने सिंह भाइयों की सहायता से हमें कुछ शबत पहचानने में सहायता दी।

डॉ. बी.एन. गोस्वामी ने कुछ ऐतिहासिक मुद्दों को स्पष्ट करने में सहायता पहुँचाई। सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहयोग तो नितीश राय का रहा जिन्होंने सारी कल्पनाओं को साकार किया।

क्या अभिनेताओं के साथ आप चर्चा एवं रिहर्सल करते थे?

हाँ, जरूर करता था। प्रमुख कलाकारों के साथ लम्बी चर्चाएँ एवं रिहर्सल का दौर चलता था। खासतौर पर दीपा साही एवं ओमपुरी के साथ काफी उपयोगी चर्चाएँ होती थीं। हमने पात्रों के संवादों की भाषा एवं बोलचाल के लहजे पर दृष्टिकोण के संदर्भ में काफी विचार-विमर्श के पश्चात निर्णय किया। भाषा के संबंध में प्रत्येक कलाकार को व्यक्तिगत रूप से निर्देश देना संभव नहीं था। किन्तु प्रमुख कलाकारों को आवश्यक निर्देश एवं प्रशिक्षण दिए गए। यहाँ तक कि पटकथा लेखन के अवसर पर भी भीष्म साहनी ने विभिन्न पात्रों की भाषा एवं बोलचाल की शैली के बारे में उपयोगी चर्चा की। सारे कलाकारों ने सर्वोत्तम प्रदर्शन देने का प्रयास किया। ओम एवं दीपा तो उत्कृष्ट रहे ही साथ ही सुरेखा सीकरी, उतरा बावकर ने भी अच्छा काम किया। यहाँ तक कि मंच से जुड़े वीरेन्द्र राजदान भी काफी प्रभावशाली रहे। भीष्म साहनी तो स्वाभाविक एवं जीवन्त रहे ही। मुझे तो लग रहा था कि ऑर्केस्ट्रा का संयोजन कर रहा हूँ तथा तरह-तरह की मधुर लयों को मिलाकर एक इकाई का सृजन हो रहा है।

वनराज भाटिया का संगीत पश्चिमी शैली एवं रचनाओं पर आधारित रहा। क्या भारतीय संगीत रचनाएँ फिल्म में ज्यादा मौजूं नहीं रहती?

नहीं, बल्कि मुझे लगा कि पश्चिमी रचनाओं से फिल्म का संगीत पक्ष ज्यादा व्यापक हो गया।शायद भारतीय रचनाओं से ऐसा प्रभाव पैदा नहीं हो पाता। दरअसल मुझे देश की सीमाओं से परे विश्वव्यापी गुणवत्ता की जरूरत थी, क्योंकि विषय ही विश्वव्यापी था। भारतीय संगीत अत्यंत अंतर्मुखी है क्योंकि उसका विकास निहायत निजी स्तर पर हुआ है। पश्चिमी संगीत का विकास ज्यादा सामान्य स्तर पर हुआ है इसलिए इसमें सामान्य विषयों, भावनाओं एवं मानसिक स्थितियों के संवहन की अधिक क्षमता है। मैंने शुरू में ही वनराज भाटिया को बता दिया था कि मैं क्या चाहता हूँ। पहले तो वे चौंके मगर बाद में उन्होंने ऐसी रचनाएँ विकसित की जो फिल्म के ढाँचे में पूरी तरह से जम गईं। मुझे वे सर्वश्रेष्ठ लगते हैं।

तमस के विषय में आपका सामान्य निष्कर्ष क्या है?

मुझे यह अपनी सर्वोत्तम कृति लगती है। पटकथा/ विषय वस्तु/ अभिनय/ छायांकन/ सम्पादन/ संगीत आदि सभी क्षेत्रों में यह उत्कृष्ट कृति रही। जब हम आखिरी दृश्य की शूटिंग कर रहे थे तब काफी निचले कोण से दृश्य कैमरे में कैद किया जाता था। अपने पति का शरीर खोजती दीपा को ६ फुट चौड़े एवं पाँच फुट गहरी खाई में साठ फुट दूर से फिल्माया गया। कैमरा मेरे हाथ में था तथा मुझे व्यू फाइंडर से साफ दिखाई दे रहा था कि धूल भरी आँधी आकाश में मंडरा रही है। मैंने जैसे ही शूटिंग शुरू की आँधी चलने लगी। फ्रेम में दो बड़े बादल आ गए। मेरे सहायक ने 'कट' की आवाज लगाई। मैंने इस आवाज को अनसुना कर दिया तथा शूटिंग जारी रखी। दीपा भी शूटिंग में इतनी खो गई कि भावुकता में बह गई। शॉट पूरा हो गया। इसके बाद मौसम की पहली बरसात शुरू हो गई। इस तरह हमारी आउट डोर शूटिंग पूरी हुई तथा आखिरी दृश्य इतना अधिक प्रभावशाली बन गया जिसकी हमें कल्पना भी नहीं थी। इसलिए मुझे तो लगता है कि 'तमस' का निर्माण अलौकिक शक्ति एवं प्रेरणा से ही संभव हुआ।

■ (संजीत नारवेकर द्वारा 'सिने इन इंडिया' में प्रस्तुत साक्षात्कार : साभार)

'तमस' में दीपा साही-ओमपुरी



शताब्दी के अंत तक सब कुछ बदल जाएगा...

■ जोशीजी, भारतीय टीवी यानी दूरदर्शन पर आपने खूब लंबे-लंबे धारावाहिक जैसे 'हमलोग', 'बुनियाद', 'हमराही' आदि लिखे। जिसे 'सोप ऑपेरा' नाम से जाना गया और आपको 'सोप के सम्राट', 'सोप के सुल्तान' जैसे विशेषणों से नवाजा गया। सबसे पहला सवाल कि यह 'सोप ऑपेरा' है क्या?

□ सबसे पहले अमेरिकन रेडियो पर धारावाहिकों का प्रसारण शुरू हुआ। उन्हें सोप ऑपेरा कहा गया। उसका कारण यह था कि 'प्रॉक्टर एंड गेम्बल' कंपनी, जो कि हिंदुस्तान में भी आ गई है, जिनका 'एरियल' उत्पादन है।

■ बहू, सास और एरियल...क्या टीम है?

□ हाँ, बहू तुम्हारा सिस्टम... तो उनका मुख्य उत्पादन साबुन था... सोप। और ऑपेरा इसलिए कि जो अतिनाटकीय हो, वो ऑपेरा। रेडियो से यह शुरू हुआ ऑपेरा कहने का रिवाज, वाइल्ड वेस्ट का है। वह हॉर्स ऑपेरा हो गया। घोड़ा है उसमें। उसमें सोप था तो वह सोप ऑपेरा हो गया।

■ यदि तेल वाला यही करे तो?

□ तो वह 'ऑइल ऑपेरा' हो जाए। फिर इसलिए कि नाम चल गया सोप। मतलब झागदार होते हैं न सब। ऑपेरा में भी सब झाग ही झाग है। इसके लिए 'सड्स', 'सड्सी' विशेषण प्रयोग होते हैं। यह बड़ा झागदार, बड़ा फेनिल है वगैरह।

■ बस झाग ही झाग तो नहीं, खासा ठोस मालदार मामला है।

□ साबुन बेचने में सबसे अच्छी ग्राहक महिलाएँ थीं। अमेरिकन समाज में उनके लिए खाली दिन का समय था, तो सोचा गया कि उनके काम का पारिवारिक धारावाहिक शुरू किया जाए।

■ मेन कंज्यूमर तो वो ही थीं।

□ अभी भी आप देखें, विज्ञापन में जो 'वार' है, मर्दों के लिए सिगरेट और शराब है, साबुन में तो महिलाएँ ही हैं। तो 'सोप ऑपेरा' तो होना ही था।

■ फिर टीवी आया...!

□ टीवी बहुत जल्दी पापुलर हो गया।

■ अपने यहाँ...?

□ अभी कहाँ। अमेरिका में ही, तो जो उधर रेडियो पर जो चल रहा था वही सब उठाकर टीवी पर ले आए। बाद में जब वह लोकप्रिय विधा हो गई, तो समाजशास्त्रियों का ध्यान गया।

■ भारत में भी यही सब हुआ।

□ जहाँ तक भारत का सवाल है, रेडियो पर बहुत धारावाहिक किए गए पर उस तरह के व्यावसायिक नहीं थे।

■ चिरंजीत का 'लहरें' वगैरह।

□ हाँ! और भी जाने क्या-क्या। टीवी में यह दुर्भाग्य रहा कि यह एक प्रयोगात्मक किस्म की चीज रही है। अभी भी प्रयोग खत्म नहीं हुआ। कुछ रेडियो के लोग टीवी में गए। कुछ रेडियो वाला शुरू हुआ। मेरे ख्याल से देशपांडे नाम के एक सज्जन थे। उन्होंने 'प्लेटफार्म' नाम से एक सीरियल किया था।

मनोहर श्याम जोशी : चलता रहे धारावाहिक



■ दूरदर्शन का प्रथम धारावाहिक जैसा कुछ?

□ हाँ, १५ मिनट का जाता था कुछ। काफी दिन तक किया।

■ उस समय तो टीवी दिल्ली तक ही सीमित था।

□ हाँ। जब कमलेश्वर वहाँ आए, तो सोचा, कुछ किया जाए। उन्होंने मुझसे कहा- भाई कुछ करो। लेकिन मैं 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' का संपादक था। समय नहीं दे पाता था। वहाँ

● प्रभुनाथसिंह 'आज़मी'

मैंने अपना एक सहयोगी रखा था। वे बहुत महत्वाकांक्षी निकले। जैसा कि अक्सर होता है। हमारे निर्देशों पर चलने की बजाए वे खुद अपनी ही भिड़ाने लगे, तो वहाँ स्वीकार्य नहीं हुआ।

■ रेडियोवालों ने और क्या टीवी पर रेडियोवाला किया?

□ रेवतीशरण शर्मा। वे रेडियो के राइटर थे। उन्होंने टीवी में लिखा। नाम नहीं याद आ रहा है। वह बड़ा संदेशमूलक भी था। जात-पात विरोधी भी था और मुनाफाखोरी के खिलाफ भी था। बाद में 'दादी माँ जागी'। एक लखनऊ के एस.के. सिंह थे। उनसे मुझे बहुत आशाएँ थीं। उन्होंने बीवी... वो क्या?

■ 'बीवी नातियों वाली'?

□ हाँ! 'बीवी नातियों वाली'। सुनील कुमार सिंह ने उसे डायरेक्ट किया। लिखा के.पी. सक्सेना ने। लेकिन वे पारिवारिक धारावाहिक तो थे पर 'सोप ऑपेरा' की केटेगरी में आते हैं कि नहीं आते, इस पर बड़ी सैद्धांतिक बहस होती है।

■ किस तरह की सैद्धांतिक बहस?

□ ये जो 'सोप ऑपेरा' अमेरिका में चल गया... तो मैंने पढ़ा कि इसमें बड़े समाज शास्त्रीय अध्ययन हुए। कुछ लोगों ने इसे 'मास कल्चर' की अनुपम भेंट कहा। कुछ लोगों ने इसे फेमिनीन चीज साबित करने का प्रयास किया। बताया गया कि इसकी एप्रोच बहुत फेमिनिस्टिक है। इसका नजरिया पुरुष सत्तात्मक नहीं है।

■ सिनेमा यहीं इससे अलग होता है।

□ बिल्कुल... सिनेमा मेल मीडियम है, क्योंकि सिनेमा में ज्यादातर हीरो हैं। हीरोइन बहुत कम हैं। हीरो है। एक लक्ष्य है। एक विरोध है। और उसे पार करने का एक कॉनफ्लिक्ट है। और उसका रिजोल्यूशन है। उसके बाद लगता है कोई कॉनफ्लिक्ट नहीं रही। दे लिव्ड हैपिली देयर आफ्टर... और इसमें (सोप ऑपेरा) ये है कि नाना विध हीरो-हीरोइनें हैं। उतार- चढ़ाव से भरपूर जीवन है। कभी धूप है कभी छाँव है। और फिर-फिर वही होता है। फिर-फिर वही धोखे खाए जाते हैं। और सब कुछ के बावजूद जैसा कि वास्तविक जीवन में होता है, मर भी जाते हैं। बड़े से बड़े हादसे हो जाते हैं। दुबारा शादी कर लेते हैं। तिबारा शादी कर लेते हैं।

■ अमेरिकन टीवी के सोप ऑपेरा तथा भारत के सोप ऑपेरा में क्या मिलता है और

धारावाहिकों के महामहिम मनोहर श्याम जोशी से विशेष साक्षात्कार

क्या अलग दिखता है?

□ वहाँ सोप ऑपेरा वही है, जो दिन में दिखाया जाए। अपने यहाँ तो प्राइम टाइम में ही सारा कुछ दिखाया जाता था। सारा सोप रात में हो जाता था। समय ही नहीं था न। दिन का टीवी तो अभी हाल में शुरू हुआ है। अमेरिका में रात के टीवी के लिए तो बहुत सोच-समझकर चलते हैं। बहुत घबराते हैं कि 'ऑडियन्स मिक्स्ड' हैं। बच्चे हैं तो फलाने हैं। ढिमका हैं। तो ये बात नहीं दिखा सकते। तो वो बात नहीं दिखा सकते। वो सिनेमा की तरह 'सेफ प्ले' करते थे।

■ **अमेरिका में?**

□ अमेरिका में। आज भी प्राइम टाइम टीवी सेफ रहना चाहता है। वो किसी कंट्रोवर्सी में न पड़े। झंझट में न उलझे। तो दिन वाला टीवी औरतों के लिए है। तो ऐसा समझा गया कि स्त्रियाँ, स्त्रियों से नहीं झेंपती। वो अपने मन की बात कह सकती हैं। ये बहनों का कार्यक्रम। बहनों के लिए है।

■ **तो 'सोप ऑपेरा' माने बहनों का कार्यक्रम?**

□ ठीक ऐसा और इतना ही तो नहीं, पर रेखांकित करने लायक बात यह है कि हमने लिखा या दूसरों ने लिखा। वास्तविक सोप ऑपेरा अभी लिखा ही नहीं गया।

■ **वास्तविक सोप ऑपेरा क्या सोप ऑपेरा से अलग होता है?**

□ (हँसकर) वो बहुत ही मेलोड्रामिक होता है। वो ऑपेरा होता है। जैसे लोग देख रहे हैं। बहुत ही उलटफेर किस्मत के। मार दिया। मर गए। आत्महत्या कर ली। घर छोड़ दिया। भाग गया। बहुत ज्यादा उतार- चढ़ाव। बहुत सारे संयोग।

■ **फिर इसकी औकात...?**

□ जो समस्याएँ प्राइम टाइम टीवी उठाने में सक्षम नहीं था उसे सोप ऑपेरा ने उठाया।

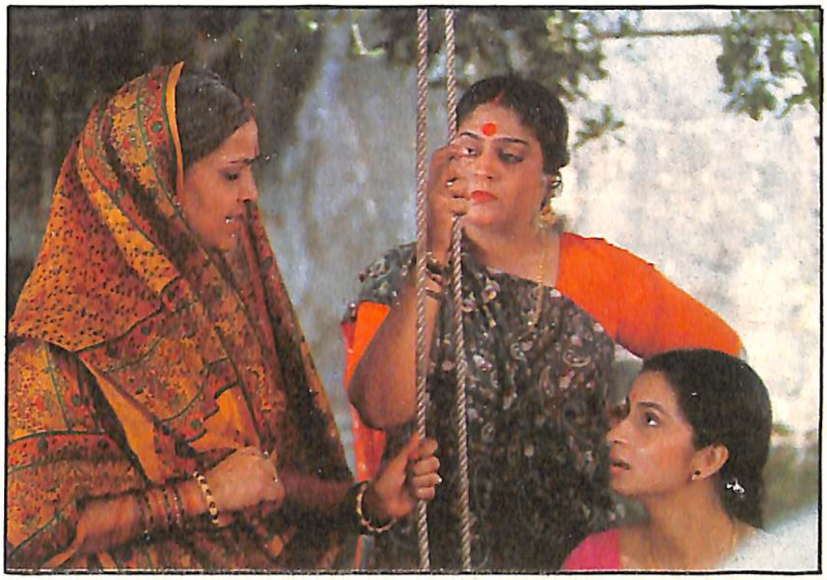
■ **फिर यथार्थ का क्या होगा... इस अति नाटकीयता में?**

□ यथार्थ दो स्तरों से झाँकता है सोप ऑपेरा में। पहला तो यह कि जीवन की तरह चलता है। इसलिए सोप ऑपेरा यथार्थवादी है। दूसरा यह कि पता नहीं चल रहा कि आगे क्या होने वाला है। प्रेम विवाह है तो सफल होगा या नहीं। जो समस्याएँ अन्य प्राइम टाइम टीवी कार्यक्रमों में उठाना संभव नहीं था, वह रियलिस्टिक तरीके से इसमें उठाना संभव हुआ।

■ **इस कदर फेमिनिस्टिक अप्रोच वाली विधा में स्त्रियों का हस्तक्षेप क्यों नहीं है अपने यहाँ?**

□ यह भारत का विशिष्ट दुर्भाग्य है जो एक पुरुष के सोप ऑपेरा लेखक होने की बात है। अखबार वालों की भाषा में सोप के सम्राट सोप के सुल्तान जाने क्या-क्या। पर विदेश में अधिकतर स्त्रियाँ इस क्षेत्र में अग्रणी रही हैं।

पुष्पा वर्मा, निरूपमा वर्मा, नेहा शरद : हमराही



■ **कहीं ऐसा तो नहीं कि लेखन भारत में पुरुष सत्तात्मक विधा है इसलिए!**

□ स्त्रियों ने हाथ डाला ही नहीं। वे अभी भी लेखन को असहज ढंग से लेती हैं। अमेरिका में सोप ऑपेरा में सबसे माननीय नाम ऑग्नेस निक्सन का है। वो महिला हैं। यहाँ भी अंततः सर्वोत्तम सोप ऑपेरा महिलाएँ ही लिखेंगी।

■ **आपका सबसे पहला प्रोजेक्ट कौनसा था? 'हमलोग' ही या और कोई दूसरा?**

□ उसी तरफ आ रहा हूँ। तो जो ये ऑग्नेस निक्सन थीं उन्होंने कई सोप ऑपेरा लिखे। डिजाइन किए। वहाँ सोप ऑपेरा डिजाइनर होता है। फिर इंडिविजुअल एपीसोड राइटर होता है। उनसे महिलाएँ रिक्वेस्ट करती थीं कि ये समस्या डाल दीजिए। वो डाल दीजिए। जैसे महिलाओं का कैंसर डाल दीजिए। तो उन्होंने १० एपीसोड इसी पर लिख दिए। ऐसा करके उन्होंने बहुत नाम कमाया।

■ **कहीं इसी से प्रभावित होकर तो नहीं आपने 'हमलोग' में दादी को कैंसर करवा दिया।**

□ यहाँ तो किसी के कहने पर कुछ किया भी नहीं जा सकता। एक बार 'हमराही' में पुष्कर शूट करने के लिए वहाँ 'प्रिंस गेस्ट हाउस' शूट कर लिया। टीवी वाले अड़ गए कि इसे निकालिए।

■ **तो क्या 'प्रिंस गेस्ट हाउस' वालों से 'हमराही' वालों ने पैसा लिया था, या मुफ्त पब्लिसिटी दे रहे थे।**

□ अरे वो है थोड़े ही कोई। पुष्कर में शूटिंग करने थोड़े ही गए थे। वो तो ऐसे ही 'पुष्कर रोड' 'प्रिंस गेस्ट हाउस' बोर्ड लगाकर कर लिया। अब चाहे हो या न हो, वो बोले हटाइए इसे। बहुत ही मुसीबत हुई। उसे कैसे काटकर सीन से हटा लें। तो ऐसा होता है। पर मेट्रो चैनल में वो ऐसा नहीं करेंगे।

■ **वो कैसे और क्यों?**

□ वो तो पूरी तरह व्यावसायिक होगा।

■ **फिर मॉनीटरिंग कैसे होगी?**

□ चाहे कोई उस पर कितना भी आपत्तिजनक प्रसारण कर ले, यह छूट तो नहीं होगी। पर ये व्यावसायिक दिक्कतें जैसे 'हमराही' वाले बोर्ड का मामला था, वो नहीं होगा। अगर 'काइनेटिक होंडा' उसे 'स्पॉन्सर' करता है तो... एक लड़का काइनेटिक होंडा पर सवार होकर बार-बार आने के लिए स्वतंत्र होगा। उस पर आपत्ति नहीं होगी। सिनेमा में नहीं होती। इसकी भी एक कथा है कि ये फिल्मों में या सोप ऑपेरा में आया कैसे?

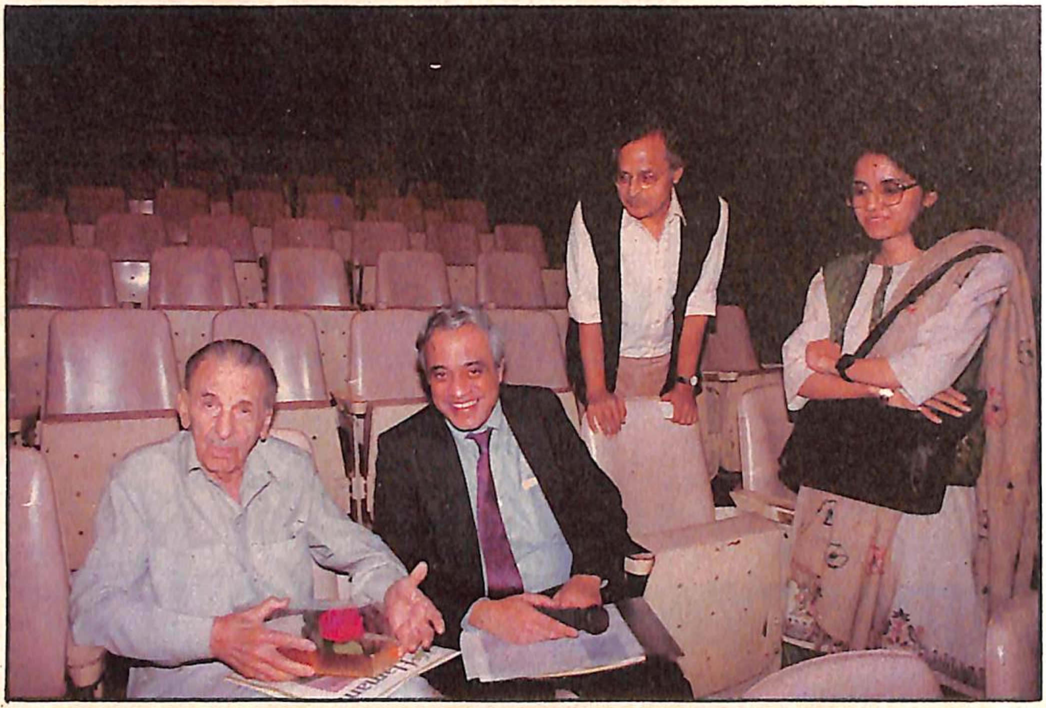
■ **स्पॉन्सरशिप वाला मामला?**

□ ये जो सिंगर कंपनी है, मशीनें बनाती हैं सिलाई मशीनें। ये लोग पेरु में अपना कैम्पेन शुरू करना चाहते थे। पेरु लेटिन अमेरिका में है। तो सिंगर वाले वहाँ के सोप ऑपेरा के राइटर से मिले। बोले, मशीन बेचने का कोई चक्कर चला दीजिए। तो सोप ऑपेरा लिखा गया 'सिम्पले मान्ता मारिया'। सीधी-सादी मारिया। कहानी यूँ है कि मारिया गाँव की सीधी-सादी लड़की है। वहाँ के जमींदार से प्रताड़ित होकर शहर पहुँचती है। वहाँ स्लम्स में जा पहुँचती है। स्लम्स की हालत और भी खराब है। लेकिन वहाँ मारिया को मिलती है एक शिक्षिका। वह उसे सिलाई- बिलाई सिखा देती है। फिर सिंगर वाले मिलते हैं। वो मशीन दिलवा देते हैं, किस्तों में। फिर मारिया जीवन में बहुत आगे बढ़ती है। और फिर 'दादी' बन जाती है। और फिर उन सबसे बदला लेती है जिन्होंने उसे सताया हुआ होता है। और पूरे स्लम का उद्धार कर

देती है। 'दादा' के सेंस में 'दादी।'

■ **कितना बड़ा था ये 'सिम्पले मान्ता मारिया' और इसे लिखा किसने था?**

□ १५० किस्तों वाला सोप ऑपेरा था ये। बहुत पॉपुलर हुआ था। लेखक का नाम तो याद नहीं आ रहा, चूँकि दक्षिण अमेरिका के बहुत से देशों की भाषा स्पाहानी है तो यह सीरियल और भी देशों में बिका और अच्छा चला।



हमराही की टीम : जे.आर.डी.टाटा, रॉजर परेरा, कुँअर सिंहा और मुक्ता राज्याध्यक्ष

■ **माना जाता है कि सोप ऑपेरा व्यवसायिक जरूरतों के लिए ईजाद किया गया तमाशा है। जैसा कि आप भी मानते हैं कि ये मजमा-बाजी है। तो फिर तीसरी दुनिया के लोगों को इससे क्या हासिल होने वाला है। और शोषितों के लिए यह एक नए ढंग से शोषण का औजार ही साबित होने वाला होगा?**

□ मैं ऐसा नहीं मानता। अगर हम सोप ऑपेरा के माध्यम से साबुन-तेल बेच सकते हैं तो फिर विचार क्यों नहीं बेचा जा सकता। एक और सज्जन का नाम यहाँ लेना चाहता हूँ क्योंकि उनको बहुत बढ़ा-चढ़ा रखा है। पहले तो उनसे मिला नहीं। एक बार बाद में मिला तो लगा कि ठीक है योग्य व्यक्ति हैं। लेकिन जैसा कि आजकल होता है कि हमारे ही बारे में १०-१५ लोग ढोल पीट देते हैं तो मालूम होता है कि हम बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। न पीटें , तो मालूम हो, कोई महत्व ही नहीं। वे स्पाहानी भाषी हैं। वहाँ अमेरिका में उनकी जड़ें हैं। वहीं के पढ़े-लिखे हैं। उनके बारे में भी ढोल-ढाल पीटा गया, उनका नाम है नीगे साविदो।

■ **क्या वे लेटिन अमेरिकी हैं?**

□ नहीं,वो मैक्सिको के हैं। और मैक्सिको के गोया हबीब तनवीर हैं।

■ **अच्छा?**

□ इस सेंस में कि वे भी मार्क्सवादी हैं। और इस सेंस में भी कि मैक्सिकन फोक थिएटर या उसके बेसिस पर कुछ अपनी दुकानदारी चला रखी है। और न्यूयॉर्क में कुछ प्ले डायरेक्ट किया था। हाँ, सिम्पले मान्ता मारिया उन्होंने ही लिखा था। इसका उनके साहित्य में उल्लेख नहीं है। पर शोषित, शोषण, मार्क्सवाद, तीसरी दुनिया के लिए, सोप ऑपेरा सबका हिसाब-किताब इसी से समझा जा सकता है। नीगे साविदो ने टेलीविस्टा (मैक्सिको सरकार का टीवी) के लिए बाकायदा अनुसंधान किया। ऑडियेन्स रिसर्च विभाग के डायरेक्टर थे। सिम्पले मान्ता मारिया के बाद सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसका खूब ढोल पीटा।

■ **इस तरह के अनुसंधानों में केवल माध्यम के सुधार की भावना है या इसके दुरुपयोग की भी गुंजाइशें हैं?**

□ वहाँ एक कांसपिरेसी थ्योरी वाले सज्जन मिल गए थे। अमेरिका में ही भारतीय हैं पुराने लेफ्टिस्ट। उन्होंने समझाया कि ये भी सी.आई.ए. फंडिंग है, हो सकता है। ये चीजें इतनी मालूमात हासिल की जा रही हैं। ऑडियेन्स प्रोफाइल क्या है। प्रोपेगेंडा कैसे और कितना सफल होता है। इट्स क्वाइट पॉसिबल। बहरहाल, नीगे साविदो ने मैक्सिकन टैक्नोलॉजी ऑफ डेवलपमेंटल सोप ईजाद की। उन्होंने ही नारा दिया है, अगर सोप ऑपेरा कैन सेल सोप व्हाई कान्ट इट सेल ए मेसेज। होप एंड ह्यूमिनिटी दिस एंड दैट।

■ **एण्ड!**

□ और उसमें दूसरा नारा यह है कि डोंट लुक डाउन ऑन सोप ऑपेरा। दिस इज दी मॉडर्न फोक्स। ये मजमा है जो पद्धति विकसित की है वह वैज्ञानिक है।

■ **वैज्ञानिक?**

□ वैज्ञानिक ही। मेरा जो खास सिनिकल-- सिनिकल अंदाज है उसमें सुना रहा हूँ। किसी को आपत्ति हो तो क्षमा चाहूँगा।

■ **इसके वैज्ञानिक स्वरूप को स्पष्ट करेंगे?**

□ पहले समाज से संबद्ध व्यक्ति। राजनीतिज्ञ, समाज शास्त्री, धर्म के प्रतिनिधि, माइनेरिटी वर्गों के प्रतिनिधि। उनकी बैठकें होनी चाहिए, जो बताएँ कि क्या होना चाहिए। फिर वो ये बताएँ कि जो हमारी परंपरा से चला आ रहा था, उसमें क्या था जो पॉजिटिव था। क्या है जो निगेटिव है। वेल्यू ग्रिड तय करें। फिर प्रॉब्लम फ्रेम तय करें। प्रॉब्लम फ्रेम वेल्यू ग्रिड।

■ **इतने केलकुलेटेड फ्रेम वर्क में मौलिक लेखन संभव है क्या?**

□ मैं तो सिद्धांत बता रहा हूँ। जब बौद्धिक बैठकों से नतीजा निकल आए, तो लेखक अपने पात्र क्रिएट करें। तीन तरह के निगेटिव, पॉजिटिव और ढुलमुल। ढुलमुल निगेटिव से पॉजिटिव की ओर जाएँगे। निगेटिव सुधरेंगे या मरेंगे। उसके बाद एपीसोड लिखें। फिर उसकी फील्ड में प्री टेस्टिंग हो। अपना टारगेट ढूँढिए। गाँव-शहर की प्रतिक्रिया ले आइए। फिर प्रसारण करिए।

■ **ऐसे सिद्धांत अमेरिका के लिए बहुत उपयोगी होंगे नहीं, फिर उसका संवाहक कौन है?**

□ जाहिर है, अमेरिका में तो व्यावसायिक टीवी है। वहाँ तो कोई इसे खरीदता नहीं। अमेरिका के ही यू.एन. प्लाजा बिल्डिंग में एक संस्थान है, पॉपुलेशन कम्युनिकेशन इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट। उसमें डेविड वेस्लर नाम के एक सज्जन पत्रकार हैं, बहुत पहुँच वाले और बहुत जगह पहुँचने वाले तेज व्यक्ति हैं। उन्होंने नीगे साविदो की इस तकनीक को विकासशील देशों को बेचने का व्रत लिया। फिर ऐसे देशों में घूमना शुरू किया।

■ **भारत में भी यह तकनीक आई? यदि आई तो किस तरह और कब?**

□ १९७७ से शुरू हुआ सब। ८० में नीगे साविदो भी आए। सरकारी ढंग की वर्कशॉप कन्डक्ट की गई।

■ **आप इस तकनीक से कैसे जुड़े?**

□ एक आई.ए.एस. अधिकारी, आपके म.प्र. काडर के थे, एस.एस. गिल। जब वो आए तो यह फाइल उन्हें विरासत में मिली। उन्होंने मनोहरसिंह से बात की। वो हमें तो जानते नहीं थे। रघुवीर सहाय से उनकी बात हुई। रघुवीर सहाय ने मेरा नाम बता दिया। उन दिनों मैं बिड़लाओं द्वारा दो आसान किस्तों में निकाला जा रहा था।

■ **केवल दो किस्तों में?**

□ एक तो यह कि साप्ताहिक हिंदुस्तान से हटा दिया गया था और दूसरी एक अँगरेजी पत्रिका जिसका कि मैं नाममात्र का संपादक था। मुझे पता था कि दो-चार महीने बाद वहाँ से भी हटा दिया जाऊँगा। तो जैसे ही निमंत्रण मिला, मैंने अच्छे सेमीनारवादी की तरह व्यवहार किया। फिर अन्य लोगों की उत्साह में कमी और मेरी उत्सुकता के चलते, घूमते-घूमते बात मेरे लपेटे में आई। फिर सोच लिया कि गिल साहब की तबीयत प्रसन्न करना है। वहाँ लगा कि एक मैं ही था जो सोप ऑपेरा जानता था।

■ **अध्ययन अच्छा था?**

□ व्यंग्य में कहता हूँ... हम लोगों का ज्ञान तो टाइम वाइम मैग्जीन पढ़कर आता है। आप दो-चार अँगरेजी पत्रिकाएँ पढ़ते रहिए... सब पता चल जाता है।

■ **फिर हमलोग शुरू हुआ?**

□ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सूचना है कि यह प्रस्ताव पहले फिल्म प्रभाग को मिला। उन्होंने बहुत चूक की। वे स्वीकार लेते तो यह दूर तक जाता। सोप ऑपेरा में तब फिल्म के लोग लगे होते। उनके साथ फिल्म प्रभाग के दिन फिर जाते।



हिमानी शिवपुरी : देवकी भौजी

■ **फिल्म पर तो बहुत महँगा होता?**

□ १६ एम.एम. में करते, तो उसके बड़े फायदे भी होते। रमेश सिप्पी बहुत लड़े अपने पिता से। अंतरराष्ट्रीय बिक्री होती है इसकी। शुरू में उन्होंने बनाया भी १६ एम.एम. में। फिल्म पर होता या बीटाकैम पर, लो बैंड पर तो कोई बिक्री है नहीं। हाई बैंड पर भी दिक्कत है। फिल्म या बीटा कैम पर बना होता तो बहुत पैसा बनता। महाभारत वालों को बहुत पैसे बने। श्रीकांत सीरियल भी हाई बैंड पर बना। उसके भी बहुत पैसे बने।

■ **संक्षिप्त में हमलोग?**

□ शुरू में अड़चनें। बदनामियाँ आईं। फिर संयोगों ने साथ दिया। व्यावसायिक टीवी वालों ने सुना तो शोभा डॉक्टर शामिल हो गईं। धीरेन्द्र ब्रह्मचारी का स्टूडियो खाली था। नल में नल मिलते गए। हमलोग में दूरदर्शन नाममात्र का प्रोड्यूसर था।

■ **यानी हमलोग के डिजाइनर, क्रिएटर, राइटर सभी आप?**

□ हाँ। एक मैं चुप रहूँगी टाइप। एक छम्मक छल्लो। बस यूँ ही।

■ **ये चरित्र आसपास के देखे जाने थे या यूँ ही।**

□ यूँ ही, बस कर डाला।

■ **आपको क्या संतोष मिला?**

□ हमलोग की न तो कोई प्री-टेस्टिंग हुई, न एंड टेस्टिंग। पर बोरों-बोरों डाक रिसीव हुई। उस पर ऑडियेन्स रिसर्च वालों ने कोई ध्यान नहीं दिया। बाद में यह बोरे जे.एन.यू. के एक स्कॉलर को दे दिए। बाद में यही बोरा यूनिवर्सिटी ऑफ केलिफोर्निया गया।

■ **इस प्री टेस्टिंग, पोस्ट टेस्टिंग जैसी तकनीक से आप कितना सहमत हैं?**

□ विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते मैं यह मानता हूँ कि ह्यूमिनिटीज की जो वैज्ञानिक देन है उसमें कोई बड़ा दम नहीं है। न मैथमेटिकल मॉडलिंग में दम है। स्टेटिस्टिकल मॉड्यूलिंग चलिए, थोड़ा मान लेते हैं। पर इस तरह का जो तेवर बाँधते हैं कि यूँ किया और वो कर दिया। ये सब आफ्टर स्टडीज हैं। ये सब कॉमन्स हैं। एनीबडी केन टेल यू।

■ **सोप ऑपेरा की खासी आलोचना भी हुई है और इसे बहुत कारगर सामाजिक बदलाव के औजार के रूप में नहीं समझा गया?**

□ इंटेलेक्चुअल्स ने तो बहुत गाली दी। बकवास। सेंसलेस। संभावनाहीन। सब कहा। पर आप एक पॉपुलर इडियम में लिख रहे हैं, इसमें हर्ज क्या है। वास्तव में इसका व्यावसायिक हो जाना दुर्भाग्य है। इसकी प्री प्लानिंग नहीं हुई। इडियम। इम्पेक्ट जज नहीं हुआ। शुरूआत के बाद भविष्य का नहीं सोचा गया। पत्र नहीं पढ़े गए। सुनने-देखने वालों का एक बड़ा वर्ग है। उनकी दिल दहला देने वाली कहानियाँ हैं। आवश्यकताएँ हैं।

■ **हमलोग के बाद क्या हुआ?**

□ गिल साहब चाहते थे कुछ यस प्राइम मिनिस्टर जैसा बनाऊँ। उसी समय खन्ना साहब डी.जी. थे। दोनों आई.ए.एस. थे। उनमें बनती नहीं थी। खन्ना साहब चाहते थे कि कुछ पंजाबियों के बारे में बनाऊँ। तो मैंने बुनियाद लिखा। गिल साहब के लिए नेताजी कहिन की तर्ज पर कक्काजी कहिन लिखा।

■ **कक्काजी कहिन में कुछ काट-छाँट की आपने?**

□ पहले तो कक्काजी कहिन रोका गया। फिर रिजेक्ट हुआ। फिर काट-छाँट के बाद बना और दिखाया गया।

■ **इन दिनों क्या कर रहे हैं?**

□ आठ प्रस्ताव हैं, चार-चार एपीसोड लिखे हुए, मेरी तीन साल की मेहनत। अटके पड़े हैं। मंत्री बदल जाते हैं। भ्रष्टाचार बदल जाता है।

■ **आठ प्रस्ताव किस विषय से संबंधित हैं?**

□ एक १०४ एपीसोड का प्रस्ताव है जिसके १० एपीसोड लिखे हुए हैं। ४५ मिनट वाले। उसका सब्जेक्ट पहले विश्व युद्ध से लेकर अंबानी तक जाता है। सोशियोपॉलिटिकल इश्यूज पर। उसमें अर्थतंत्र भी है। और दूसरे प्रस्ताव में साउथ केलिफोर्निया की एक तकनीक इस्तेमाल की है, प्रेम। एनीथिंग कैन बी टॉट टू एनीबडी। लव इट एंड इट विल कम आउट। देवधर साहब उन दिनों राजीव गाँधी के एडवाइजर थे। हिंदुस्तान में राजनीति पेयरेबल थी। उनके अनुकूल था। वो सरकार बदली। प्रोपोजल गया ठंडे बस्ते में।

■ **तीसरा?**

□ तीसरा शुरू से अभागा रहा। एक लड़की की कल्पना थी जिसका केवल एक पक्ष ऋषि दा ने अनुपमा में इस्तेमाल किया। एक ऐसी लड़की जिसका पिता उससे घृणा करता है। बाद में चेतन आनंद बनाने वाले थे। वे भी नहीं कर पाए। इसके एक घंटे वाले १५ एपीसोड हैं। एक और है- 'क्या हाल है जनाब का?' सोशियोपोलिटिकल है। बासु दा के साथ। एक और है महिला पर आधारित, एक सत्यकथा। दालमंडी की एक वेश्या विश्व विद्यालय में प्रवेश लेने जाती है कजरी नाम से। दो और छोटे-छोटे हैं।

■ **हमराही जारी है।**

□ हमराही में शुरू से मेरा कोई खास इन्वॉल्वमेंट रहा नहीं। यह तब से बन रहा है जबसे हमलोग चल रहा है। अजय कार्तिक शुरू में इसके लेखक थे। उन्हें निर्माताओं ने मैक्सिको भी भेजा। फिर उनकी अनबन हो गई। चार-पाँच लेखक बदले। अंततः मैं लिख रहा हूँ।

■ **आप पर, भाषा में घालमेल का आरोप लगाया जाता है?**

□ हिंदी का कोई लोकेल नहीं समझ में आता। इसी से हिंदी फिल्में भी मार खा गईं। ओवर डू से गड़बड़ होती। कस्टम्स, गाने, ये सब एथिनिसिटी बढ़ाते हैं। वह हिंदुस्तान में भी यूनिवर्सल होता है। यदि रचना अच्छी तरह किसी कल्चर में सूटेड हो तो वह पैरेलल इकोज फाइंड करती है। बिल्कुल गोलमाल

कर जाएँगे तो कोई इको नहीं बनेगी। पर कुछ लोगों को ऐतराज होता है।

■ **और थोड़ा सा साहित्य।**

□ मुझे अच्छा लगता यदि कोई महान साहित्य टीवी के लिए एडॉप्ट करने का मौका मिलता। वह नहीं मिल रहा। लिखने का समय तो मिल नहीं पा रहा है। यहाँ भी वह करने का मौका नहीं मिल रहा जो करने का मन है।

■ **इसकी वजह व्यावसायिक है या और कुछ?**

□ मेरे ख्याल से गैर व्यावसायिक लेखन को इतना व्यावसायिक तो हो जाना चाहिए था कि कम से कम लेखक के लिए पर्याप्त हो। पर हाँ, पैसा तो चाहिए। सभी को चाहिए। पियर लुक का एक बड़ा अभाव सा होता जा रहा है। आप तो ये सोचें कि मैं ये छोड़ दूँ। फिर मुझसे ये पूछें कि मेरा वो पढ़ा-देखा। उसमें टीवी के लिए क्या संभावना है। अंततः होना यही है कि आप अपने हर काम को टीवी पर देखना चाहेंगे। मैंने वहाँ ये किया, और वहाँ वो बोला। आपने टीवी मे देखा या नहीं।

■ **लिखे हुए शब्द का भविष्य खत्म, इसका मतलब?**

□ खत्म तो नही। साक्षरता बढ़ेगी तो पढ़ा भी जाएगा। पर छपे हुए का स्वरूप बदलेगा। अखबार-पत्रिकाएँ बदलेंगी। बेस्ट सेलर टाइप चीज आएगी।

■ **हिंदी पत्रिकाएँ क्या केवल चोला बदलने के लिए बंद हो रही हैं या भाषा नयापन तलाश रही है?**

□ ऐसा लगता है कि हिंदी पत्रिकाएँ ही बंद हो रही हैं, ऐसा नहीं है। भारत में वही हो रहा है, जो विदेशों में हो चुका। वहाँ अटलांटिक मंथली बंद हो गया। सेटरडे इवनिंग पोस्ट बंद हो गया। समाचार साप्ताहिक पिट गए। डेली पिटे। टाइम अमेरिका का थोड़े ही रहा। हाँगकाँग में छपता है। यहाँ बिकता है। यहाँ का रुख किए है। यहाँ का प्रचार है।

■ **आप जो लिखते हैं, टीवी के लिए, और जो बनकर सामने आता है उसमें कितना साम्य होता है?**

□ बड़ी निराशा होती है। उतना इंटर-. एक्शन नहीं है। हमलोग, बुनियाद में तो हो जाता है, पर अब नहीं। यदि खुद निर्देशक हों, या निर्देशक से अच्छे संबंध हों तो हो सकता है।

■ **खीझ नहीं होती?**

□ होती है। पर फिर लगता है, भाड़ में जाए। अभी कल ही राजेश जोशी कैमरामैन हैं, पकड़ लिया। बोले क्या लिखते हैं? (यह प्रश्न की तरह बोला गया, तारीफ जैसा नहीं)।

■ **लिखने में इतने समझौते?**

□ व्यावसायिक लेखन में सीमाएँ तो स्वीकार करनी ही पड़ती हैं। या फिर पैरेलल सिनेमा टाइप चीज हो। एन.एफ.डी.सी. ने पैसा दिया है, फिल्म बनेगी ही। चाहे दिखाई जाए या नहीं। इसमें केतन मेहता को भी व्यावसायिक फिल्म बनानी होगी तो उसकी सीमा में रहना होगा। पर इसमें खीझ होती है, इसमें कहाँ संदेह है।

■ **लेकिन मास मीडिया के लिए लिखने में?**

□ मुझे कोई 'वो' नहीं दिखता। इसे मैं घटिया काम नहीं मानता। इसे मैं अपना लेफ्टिस्ट हैंग ओवर मानता हूँ कि जनता के लिए कुछ काम होना चाहिए। निगे साविदो की तरह।

■ **अपने लिखे पर फिल्म-विल्म बनाने का मन होता है?**

□ अपना लिखा कुछ विशेष है नहीं। पर जो भी है, फिल्म बनाने की बातें हुई हैं दो-चार बार। बस। मन होता है कि बेहतर किस्म की फिल्म लिखूँ। एक बार केतन मेहता के लिए लिख रहा था। फिर रमेश सिप्पी ने उसे किया। मूल चिंता यह है कि पैसे की ठीक-ठाक सी व्यवस्था हो तो जो मेरे बचे आधे लिखे उपन्यास हैं उन्हें पूरा करूँ। जब तक दूरदर्शन की नीति और भारतीय टीवी की नियति तय नहीं हो जाती, कन्फ्यूजन है। बहुत सारी चीजें यहाँ हो सकती हैं। बहुत सारी नहीं हो सकतीं।

■ **जब आपके ही तीन प्रस्ताव अटके पड़े हैं, तो नए लोगों के लिए क्या संभावनाएँ हैं?**

□ यह फील्ड ऐसा है कि यहाँ लेखक बहुत ही ज्यादा चाहिए। जिनको लिखना जरा सा भी आता हो, उनके लिए बहुत काम है।

■ **वो कहाँ जाएँ, चैनल क्या हैं?**

□ जाना तो वहीं पड़ेगा, दिल्ली- बंबई।

■ **दिल्ली-बंबई में ही हों तो?**

□ हमसे ही लोग पूछते हैं कि लिखने वाला बताइए।

■ **यानी आपके यहाँ अर्जी लगा दें तो कुछ हो जाए।**

□ (हँसी) अर्जी तो नहीं, पर लिखने के लिए बहुत स्कोप है। मैं तो समझता हूँ एक्स्प्लोजन होने वाला है। भारतीय टीवी के पाँच-पाँच चैनल हैं। जी टीवी है। एटीएन है। बाहर भी काम है। अभी जाने वाला हूँ। वहाँ एन.आर.आईज हैं। उनके पास पैसा है। बनाएँगे। सारी दुनिया में बेचेंगे।

■ **व्यावसायिक टीवी अगर चुनाव प्रचार बेचने लगे, तब?**

□ टीवी पर चुनाव प्रचार को लेकर विदेशों में भी मतभेद हैं। पर मुझे नहीं लगता कि सैटेलाइट टीवी से सरकार बहुत प्रोपोगेंडा करने देगी। और फिर यहाँ ये सब चीजें एलीट के लिए हैं। महानगरों में जरूर देखा-देखी गरीब लोग भी उसी कल्चर को एडॉप्ट करेंगे। वो तो कहेंगे कि आडवाणी बड़ा अच्छा लगता है, खूबसूरत लगता है। अटल बिहारी जमता है।

■ **धार्मिक ग्रंथों को लेकर धारावाहिकों के निर्माण पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है? खासकर औचित्य का प्रश्न?**

□ इसमें औचित्य का कोई सवाल नहीं है। दुर्भाग्य से बढ़िया नहीं बने, यह जरूर है।

■ **अगर बढ़िया बने तो फिर से १०४, २०८ हफ्ते की छुट्टी।**

□ इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर ये थ्योरी बने कि इससे सांप्रदायिकता बढ़ती है तो इस थ्योरी में कोई दम नहीं है। क्योंकि मेजॉरिटी कम्युनिटी की जो सांप्रदायिकता है उसे उकसाने के लिए कुछ चाहिए नहीं। क्योंकि वो तो है ही। वो दिखाओ चाहे मत दिखाओ।

■ **हमारे यहाँ टीवी पर चुनाव की सुविधा तो है नहीं, एक ही चैनल पर हिंदुस्तान चल रहा है। ऐसे में सैकड़ों हफ्ते लगातार होने वाला धार्मिक प्रसारण कुछ तो असर छोड़ेगा। सांप्रदायिकता को हवा तो देगा।**

□ ऐसा कैसे हो सकता है। जहाँ तक नीयत का प्रश्न है, इसे सेंक्शन करने वाले अधिकारी एस.एस. गिल हैं। वो घनघोर लेफ्टिस्ट हैं।



रिटायरमेंट के बाद जो लेखन कर रहे हैं वो भी लेफ्टिस्ट किस्म का है। वी.पी.सिंह के प्रसार अधिकारी हैं। उसमें ऐसा कुछ नहीं है। हमारे एपिक्स हैं। क्लासिक्स हैं। बड़े साधारण ढंग से साधारण लोगों ने कर दिए।

■ **इस खरीदो-बेचो की मारामारी में विचार की स्थिति पिट रही है, इसका कोई अंत नजर आता है या...?**

□ मेरा सवाल है कि उस समय मेरी मानसिक स्थिति क्या है? 'मैनिक डिप्रेशन' की स्थिति में सब कुछ समाप्त दिखने लगता है।

■ **तो यह सवाल उस समय के लिए सुरक्षित रखता हूँ, जब आप 'आप्टिमिस्टिक' मूड में हों, होपफुल।**

□ (हँसी) तब ये है कि यह मानना चाहिए, मैंने एक जगह लिखा है कि जिस दिन से उसने एक से दो होने की कल्पना और कामना की, निरंतर ह्रास का क्रम चलता रहा। खराब ही होता चला जा रहा है। नहीं था तो सब था। न था कुछ तो खुदा था। या यह मानिए कि क्रमशः अच्छा होता जा रहा है। आदमी इतना कुछ भोग रहा है तो क्या बुरा है।

■ **चार्वाक सिद्धांत पर चलने का समय है?**

□ इसमें चार्वाक की क्या बात है। इसी प्रगति के लिए आप लड़े हैं। उसे क्यों दुर्गति कहते हैं। डेमोक्रेसी है। हर आदमी के अधिकार हैं जो चाहे जिसके फेस पर कह सकता है।

■ **पर क्या कह सकता है? क्यों कह सकता है?**

□ यह सवाल स्वतंत्रता से जुड़ा है। पर मोबिलिटी बढ़ी है। सोशल मोबिलिटी बढ़ गई है। सारी दूरियाँ सिमट गई हैं। आदमी अच्छा खा रहा है। बेहतर खा रहा है। बेहतर पढ़ रहा है। ज्ञान अच्छा है। अच्छा इन्टरटेन हो रहा है।

■ **क्या सचमुच आप यही समझते हैं?**

□ बिल्कुल। ये आज अदर वे ऑफ लुकिंग एटीट्यूट है। आपको लगता है आपका अपोजीशन हो रहा है।

■ **आपको क्या लगता है?**

□ मुझे तो लगता है एट दि एंड ऑफ सेंचुरी, धर्म का पुनरुत्थान होगा।

■ **फिर? इससे क्या होगा?**

□ कुछ न कुछ अच्छा होगा।

■ **जैसे?**

□ जैसे कोई न कोई ऐसी चीज आएगी, बहुत साइंटिफिक ह्यूमनिज्म होगा। बकवास ह्यूमनिज्म नहीं होगा। जैसे किसी को भी अधिकार कि मार दे दो चाँटे। इसे पढ़ना ही नहीं आता पर दे दो यूनिवर्सिटी की डिग्री। या आबादी बढ़ रही है पर नियंत्रण नहीं किया जाएगा। देयर मस्ट हेव टू बी बैलेंस।

■ **तो फिर खुदा हाफिज से पहले कुछ?**

□ गॉड दैट फेल्ड... तो ऑल गॉड्स हैव फेल्ड मीन्स नो गॉड। सोशलिज्म इज एन आइडिया। कुछ तो होगा न। ■

टीवी है एक 'मास-कल्चर'

यह दृष्टव्य है कि टीवी का माध्यम दूसरे विश्वयुद्ध से भी पहले उपलब्ध था। यानी इसकी पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। लेकिन इसका उपयोग नहीं किया गया। शायद इसकी एक यह वजह हो सकती है कि तब इसका समय नहीं था। समय, समाज और सोप ऑपेरा के लिए जमीन तैयार नहीं हुई थी। लेकिन, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद टीवी अमेरिका में पनपा। यह ध्यान देने वाली बात है। पूरे धूम-धड़ाके के साथ इसका प्रयोग किया गया। जब इसे प्रायोगिक स्तर पर किया गया तब लोगों ने कहा कि यह माध्यम चलेगा नहीं। हॉलीवुड के तत्कालीन पंडितों ने भविष्यवाणी की थी कि यह दो-एक दिन की चीज है, चलेगी नहीं। इसमें दम नहीं है। उन पंडितों को शायद यह मालूम नहीं था कि अब ऐसा समय, ऐसा समाज पैदा हो चुका है जिसमें कोई चीज चलेगी तो यही चलेगी। यह समयानुकूल है। दूसरे शब्दों में, यह युग में प्रतिबिंबित होगा, युग इसमें।

अब बुनियादी सवाल यह है कि यह अमेरिका में ही क्यों पनपा। हम सोप ऑपेरा शब्द का इस्तेमाल करते हैं, तो यह भी अमेरिका का ही दिया हुआ है। सारी दुनिया ही करती है- सोप...सोप। क्या मतलब सोप? इसके जो आरंभिक प्रायोजक थे वे प्रोक्टर एण्ड गेम्बल कंपनी थी, जो अब हिन्दुस्तान में भी आ गई है। यह कंपनी सोप ऑपेरा की प्रायोजक रही। इसकी एक वजह यह है कि सोप ऑपेरा एक मेलोड्रामेटिक विधा है। इसमें कोई ऐसा प्रकरण नहीं होता है जिसमें कोई बड़ी उठापटक न हो। कोई बड़ा भावावेग न हो। भावावेश न हो। तो लोगों ने इसका नाम सोप ऑपेरा रख दिया। और वो भी विनोदी ढंग से। इसकी खिल्ली उड़ाने की गरज से।

तो मूल विषय पर लौटते हुए यह सोचना होगा कि अमेरिका में ही यह क्यों शुरू हुआ? वहीं यह लोकप्रिय हुआ? दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका सबसे शक्तिशाली देश के रूप में उभरा। वह अमेरिका जिसमें आधुनिकता पनप रही थी। उत्तरोत्तर औद्योगिक संस्कृति का बीजारोपण हो चुका था। एक ऐसा अमेरिका बन रहा था, जो योरपीय सभ्यता से बिल्कुल अलग था। इससे अमेरिका के कई बुद्धिजीवी घबरा उठे थे। इस वजह से कई लेखक, कलाकार, पत्रकार घोषणा करके अमेरिका से पलायन कर गए थे। इन बुद्धिजीवियों ने कहा था कि अमेरिका कोई सभ्य लोगों का देश नहीं है। यह तो बनियों का देश है। यह तो मंडी है। बाजार है।

लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद ही स्थिति बदल गई। आज कला की प्रदर्शनी लगाने के लिए कोई पेरिस नहीं जाता, न्यूयार्क जाता है। न्यूयार्क में किसी कलाकार की पेंटिंग बिकती है, तो उसे मान्यता मिलती है। यह बात अलग है कि वह कलाकार पेरिस में रहता हो। हिन्दुस्तान के जुबिन मेहता भी पहले अमेरिका ही जाते हैं, वियना नहीं। अमेरिका स्थित ऑस्कर पुरस्कार से सम्मानित होने के बाद सत्यजीत राय को बड़ा माना जाता है। हालाँकि वे उससे पहले कॉन फिल्म महोत्सव में सम्मानित हो चुके थे। मेरे कहने का मतलब यह है कि सहसा हर चीज के केंद्र में अमेरिका आ गया। संक्षेप में, दो विश्वयुद्ध लड़ने के बाद योरप कहीं का नहीं रहा। अमेरिका माई-बाप बन गया, चाहे उसको कितनी ही गाली दे लें। हिन्दुस्तान जैसी जगह में भी अमेरिका छा गया। आज हिन्दुस्तान की सम्पन्न पीढ़ी अमेरिकी लहजे में बोलना चाहती है। और उसकी कोशिश रहती है कि उसे अमेरिकी समझा जाए। आज पूरी अमेरिकी शब्दावली को अपनाने के लिए होड़ लगी हुई है। जिन वामपंथी बंधुओं को कोकाकोला-संस्कृति से चिढ़ थी, आज वह विश्व का केंद्र बन चुकी है।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ही उपभोक्ता-क्रांति की शुरूआत हुई। युद्ध के बाद कार-मोटर, गलीचेदार मकान जैसी चीजें सामान्य उपभोग की वस्तुएँ मान ली गईं। जबकि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका में इन्हें विलासिता की चीजें माना जाता था। अतिसंपन्नता के युग के प्रादुर्भाव के साथ यह जरूरी हो गया कि लोगों को उपभोग कराया जाए। इसके लिए

टीवी का मनोविज्ञान यह है कि वह अपने दर्शक को इस बात का अहसास कराता है कि वह घटनाओं का केंद्र-बिंदु है। वह छोटे परदे पर क्रिकेट देखता है। कई तरह के शो देखता है। अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। सोफे पर पसरा-पसरा अपनी टिप्पणियाँ उछालता है। उसे ऐसा लगता है कि दुनिया में जो कुछ हो रहा है, सिर्फ उसके लिए हो रहा है।

मनोहर श्याम जोशी से एक और मुलाकात-रामशरण जोशी द्वारा

विज्ञापन कराना जरूरी बना। लोगों से कहा जाए- खरीदो...खरीदो...फेंको...फेंको। सो इस युग के लिए टेलीविजन को माध्यम चुना गया। टीवी, विज्ञापनों से चला है, कोई समाज की भलाई करने के लिए नहीं।

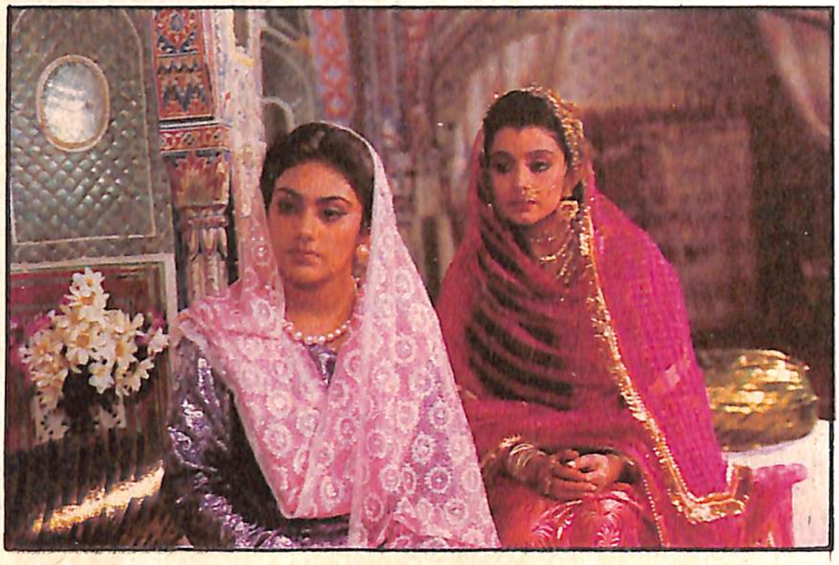
टीवी का प्रभाव इतना तेज है कि लोग अखबारों को पढ़ते नहीं हैं। टीवी से चिपके बैठे रहते हैं। टीवी केआविष्कार के साथ ही समय के प्रति हमारे दृष्टिकोण में बदलाव भी आया है। कभी इंसान समय से बेखबर था, लेकिन आज उसने इसे स्पन्दनों में विभाजित कर दिया है। टीवी ने इस काम में चमत्कारिक भूमिका निभाई है। अब जरा कल्पना करिए, अमेरिकी दर्शक को टीवी पर वियतमान-युद्ध भी दिखाया जाता रहा। सारी दुनिया उसके सामने रख दी जाती है। और इसी बीच उद्घोषक हस्तक्षेप करता है और प्रायोजित विज्ञापन दिखा देता है। अतः अमेरिकी दर्शक देर रात तक विभिन्न तरह के 'शो' देखते रहते हैं। इन सबके प्रायोजक होते हैं। न्यूज बुलेटिन के भी प्रायोजक होते हैं। ऐसी स्थिति में दर्शक के पास समय ही नहीं बचता कि वह मोटे अखबार पढ़े। बस उन्हें वह उलट भर लेता है। कुल मिलाकर प्रायोजकों का मायाजाल है। यदि प्रायोजक नहीं हों तो अमेरिकी टीवी पर आप न तो

एक जमाना था। जब आँगनदार मकान हुआ करते थे। पड़ोसी के साथ रोजाना गपशप। औरतें यह जान लिया करती थीं कि एक-दूसरे की डेगची में क्या पका है? अमुक लड़की अमुक के साथ भाग गई। आज सब अपने घरों में बंद हो गए हैं।

वियतनाम युद्ध देख सकते हैं, न इंदिरा गाँधी या राजीव गाँधी की चिता का जलना, और न कोई और शो। इसलिए अमेरिका में उपभोक्ता क्रांति के उदय के साथ-साथ टीवी का एक-एक क्षण प्रायोजित हो गया। कुल मिलाकर मेरा कहना यह है कि समय की माँग को टीवी ने पूरा किया। माँग के अनुरूप ही सोप ऑपेरा का माध्यम अपनाया गया।

अब सोप ऑपेरा को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि किन परिस्थितियों में इस माध्यम को अपनाया गया। उपभोक्ता संस्कृति के विस्फोट के साथ ही समाज टूटने लगा। एक तरफ इंसान की इच्छा यह हुई कि वह एक बृहत्तर समाज से जुड़े। दूसरी ओर आधुनिकता का तकाजा यह कि व्यक्ति या मैं अपने से जुड़ूँ। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका में आकांक्षाओं-महत्वाकांक्षाओं का विस्फोट-सा हुआ। हर व्यक्ति कुछ न कुछ बन जाना चाहता था। एक तरह से अमेरिका में मैं...मैं...मैं की आँधियाँ चलने लगीं। चारों तरफ 'मैं वाद' छाने लगा। लेकिन, इसके साथ-साथ 'अकेलापन' भी फैलने लगा। टूट पैदा होने लगी। विधवा माँ है। बूढ़ा बाप कहीं और पड़ा है। नौजवान हिप्पी बन रहा है। एक तरह से कहीं समाज दिखाई नहीं दे रहा था। एक जमाना था जब आँगनदार मकान बना करते थे। पड़ोसी के साथ रोजाना गपशप हुआ करती थी। खाली वक्त में औरतें यह जान लिया करती थीं एक-दूसरे की डेगची में क्या पकता रहा है। अमुक लड़की अमुक के साथ भाग गई। फलाँ ने फलाँ को ऐसा-वैसा कहा है। आज अमेरिका में आँगनदार मकानों का स्थान बंद मकानों ने ले लिया है। लोग मकानों में घुसते हैं और बंद हो जाते हैं। अपने में सिमट जाते हैं।पड़ोसी के साथ कोई संवाद नहीं होता। संपर्क टूट गया। संयुक्त परिवारों में रोज जो सोप ऑपेरा हुआ करता था, वह गायब हो गया। हमारे यहाँ के संयुक्त परिवारों में रोज एक सोप ऑपेरा चला करता है। एक जीता-जागता। ऐसी स्थिति में समाज आपके चारों ओर रहता है। लेकिन बंद मकानों की संस्कृति के उदय के साथ ही जीता-जागता समाज गायब हो गया। तो यह सोपऑपेरा इस गायब समाज को परदे पर आपके सामने प्रस्तुत करता है। अमेरिकी गृहिणियाँ खूब चाव से इस समाज को देखती हैं। आधुनिकता के बावजूद गृहिणियाँ चाहती हैं कि उनके घर में ही लुप्त समाज फिर से जी उठे। इसलिए अमेरिका में सोप ऑपेरा दिन में शुरू किया जिससे कि वहाँ की स्त्रियाँ अदृश्य समाज को छोटे परदे पर जीता-जागता देख सकें। दिन में बिल्कुल घरेलू किस्म के सोप ऑपेरा प्रस्तुत किए जाते हैं। निहायत सामान्य किस्म के किस्सों से अमेरिकी गृहिणियों का मनोरंजन किया जाता है। इस तरह के सोप ऑपेरा निहायत स्त्री प्रधान हैं। एक तरह से अकेली गृहिणी अपने ही घर में किसी दूसरे परिवार के साथ अदृश्य संवाद में डूब जाती है। अतः सोप ऑपेरा एक अनुपस्थित समाज है, अनुपस्थित परिवार है।

अमेरिका में सोप ऑपेरा की लोकप्रियता को जानने के लिए टीवी वाले बाकायदा सर्वेक्षण कराते हैं। दर्शकों को टेलीफोन नंबर देते हैं। कार्यक्रम के खत्म होते ही दर्शक धड़ाधड़ टीवी वालों को फोन करने लगते हैं। अपने-अपने सुझाव मारने लगते हैं कि अमुक



दीपिका - मालविका : टीपू सुल्तान

पात्र को ऐसा नहीं करना चाहिए। फलाँ को वैसा करना चाहिए। इसका 'दी एण्ड' ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए। कार्यक्रम के प्रायोजक दर्शकों की राय से लेखकों को अवगत कराते हैं। मुझे भी ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे सोप ऑपेरा के पात्रों को दर्शक 'रीअल' समझने लगते हैं। उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। अब 'हमलोग' सीरियल को ही लें। हमसे लोगों ने रोक-रोक कर कहा कि बड़की और अश्विनी शादी क्यों नहीं कर लेते। जिस एपिसोड में बड़की और डॉ.अश्विनी की शादी हुई, तो अशोक कुमार को दो सौ तार और ढेरों चिट्ठियाँ प्राप्त हुईं। कुछ उपहार भी मिले। गिफ्ट-चेक भी प्राप्त हुआ। यह एक 'अनरीअल' दुनिया को 'रीअल' समझना। इस प्रक्रिया में ऑपेरा ने कमाल कर दिखाया। बुनियाद के पात्र भी लोकप्रिय हुए। लेकिन हमराही में केवल दो ही पात्र लोकप्रिय हो सके। लेकिन हमराही से मेरा कोई खास रिश्ता नहीं है। ठीक है मैंने लिखा है। चार लोगों ने इसे पहले लिखने की कोशिश की थी। इसके बाद पाँचवाँ मैं आया, और मैंने इसे अपने ढंग से लिखा है।

टीवी का मनोविज्ञान यह है कि वह अपने दर्शकों को इस बात का अहसास कराता है कि वह घटनाओं का केंद्र बिंदु है। वह छोटे परदे पर क्रिकेट देखता है। कई तरह के शो देखता है। देखकर वह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। घर में अपने सोफे पर पसरा-पसरा टिप्पणियाँ उछालता है। उसे ऐसा लगता है कि दुनिया में जो भी कुछ हो रहा है, वह

उसके लिए हो रहा है। वह घटनाओं का केंद्र बिंदु बना हुआ है। इसी मनोविज्ञान से संचालित होकर वह टीवी के चैनल बदलता रहता है। किसी में वह संगीत सुनता है, किसी के द्वारा वह खेल का आनंद लूटता है। किसी अन्य चैनल पर परिसंवाद देखता है। जैसे ही दर्शक का मन ऊबता है वह फटाक से चैनल बदल डालता है। बड़े से बड़ा कलाकार, खिलाड़ी, चिंतक, राजनेता, वैज्ञानिक क्षणभर में गायब कर दिया जाता है। दर्शक अपनी पकी या अधपकी समझदारी के आधार पर इन व्यक्तियों की औकात तय करता है। इससे दर्शक को एक तरह का सुख प्राप्त होता है। तो टीवी एक तरह का 'अदर डायरेक्टेड कल्चर' है। यानी कोई दूर बैठा व्यक्ति आपकी रुचियों को निर्देशित कर रहा है। अमेरिका से जो फैशन शुरू होता वह हम सब अपना लेते हैं। मिसाल के तौर पर अमेरिका से जीन चली, और सारी दुनिया में फैल गई। एक विराट व अमूर्त व्यावसायिक तंत्र है, जो विभिन्न ढंग से आपको संचालित करता रहता है। इस दृष्टि से टीवी का विज्ञापन एक प्रभावशाली माध्यम है। इन विज्ञापनों के द्वारा आपको अनुकूलित किया जाता है। आप पर चीजें थोपी जाती हैं। आप में यह भाव पैदा किया जाता है कि यदि अमुक चीज का इस्तेमाल नहीं किया, तो आप मूर्ख हैं। इसलिए सुखी-संपन्न व्यक्तियों की बिरादरी में शामिल होने के लिए वही करिए जो कपिल देव या ऐसी ही कोई हस्ती करती है। इस तरह एक अदृश्य व्यक्ति आपके लिए समाज गढ़ रहा है। वह सोप ऑपेरा में भी गढ़ रहा है। उन्हीं पात्रों की दृष्टि से आप अपनी भूमिका निर्धारित करते हैं। टीवी के व्यक्तित्व या कार्यक्रम प्रस्तुतकर्ता, दर्शकों के लिए 'रोल-मॉडल' बन जाते हैं।

दरअसल टीवी के माध्यम से चीजें गहराई में नहीं जातीं, चौड़ाई में जाती हैं। एक टीवी पर हजारों चीजें, हजारों छवियाँ एक साथ देखते हैं। लेकिन किसी का स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। एक क्षण-भर जीवन होता है। पहले के संचार माध्यमों का मकसद गहराई में उतरने तक का रहता था। युगों तक जीवित रखने का होता था। और अब कोशिश यह रहती है कि चीजें कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचें। इस दृष्टि से टीवी एक प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हुआ। टीवी को एक 'मास- कल्चर' के रूप में देखा जाना चाहिए। यह विशिष्टजनों के लिए तो है नहीं। हर कोई इसे देख सकता है। और आज खगौलीकरण का युग है। स्टार, सीएनएन, एम टीवी आदि उपग्रह के जरिए आपके घरों में घुसपैठ कर रहे हैं। इन्हें कैसे रोका जा सकता है। हवा में इनकी छवियों को मिटाया तो नहीं जा सकता। इसलिए कारपोरेट कल्चर एवं अदर डाइरेक्टेड कल्चर तो आप तक पहुँचेंगे ही। आप इससे बच नहीं सकते। टीवी के माध्यम से आपको 'विश्व-बंधुत्व नहीं' 'विश्व-मंडित' दिखाई दे रहा है। ■

महाभारत के कीर्तिमान

□ **पूना** के कल्पना मुद्रणालय के अन्ना लाटकर ने 'महाभारत' की मराठी पटकथा को रंगीन चित्रों सहित पुस्तक रूप में तैयार किया है। इस पर तीस लाख रुपए खर्च हुए हैं। इस काम के लिए बी. आर. चोपड़ा ने अन्ना लाटकर को 'महाभारत' के ३ हजार रंगीन चित्र दिए थे।



□ **२ अक्टूबर** १९८८ से टी. वी. पर 'महाभारत' का प्रसारण शुरू हुआ और ८ जुलाई १९९० को ९३ एपीसोड के बाद समाप्त हो गया।

□ **आरंभ** में 'महाभारत' की सिर्फ ५२ कड़ियों को ही दूरदर्शन ने स्वीकृति दी थी, पर आगे चलकर इसकी लोकप्रियता को देखते हुए ३९ अतिरिक्त कड़ियों की स्वीकृति दी गई। अंत में दो कड़ियाँ और जुड़ी।

□ **महाभारत** के प्रसारण समय में दो बार फेरबदल किया गया। पहले यह सीरियल सुबह ९ बजे के बजाय ११ बजे टी. वी. पर दिखाया जाता था।

□ **द्रौपदी** की भूमिका के लिए १४५ लड़कियों का स्क्रीन टेस्ट लिया गया था। रूपा गांगुली से पहले, इस भूमिका के लिए जूही चावला और सुजाता मेहता को लिए जाने की चर्चा थी।

□ **एक खबर** के मुताबिक, दूरदर्शन ने इससे लगभग ३५ करोड़ रुपए कमाए। इतनी कमाई इससे पहले, दूरदर्शन को किसी भी सीरियल से नहीं हुई थी।

□ **महाभारत** के अधिकतर युद्ध दृश्यों की शूटिंग राजस्थान के झारना नामक एक गाँव में की गई। यह गाँव जयपुर शहर से लगभग ३५ किलोमीटर दूर है।

□ **दस दिनों** तक चली युद्ध दृश्यों की शूटिंग में ५ हाथी और २०० घोड़ों ने हिस्सा लिया था। इनमें से ४० घोड़े बंबई के थे और बाकी आसपास के गाँवों से मँगवाए गए थे।

□ **दस दिन** के युद्ध की इस शूटिंग से कुल ४५ कैसेट तैयार किए गए थे, जिनकी कुल अवधि १४ घंटे २० मिनट की थी। मगर काट-छाँट के बाद, मात्र ३ घंटे २० मिनट का ही उपयोग किया गया।

□ **एक सर्वे** के अनुसार सभी संप्रदायों के लगभग २८ करोड़ दर्शकों ने इस धारावाहिक का प्रसारण देखा। यह एक विश्व रिकॉर्ड है।

□ **महाभारत** के प्रत्येक एपीसोड से पहले हर रविवार को १२ से १३ मिनट के भीतर ४० से अधिक विज्ञापन दिखाए जाते रहे। विश्व में किसी एक टेलीविजन कार्यक्रम से पहले, एक साथ इतने सारे विज्ञापन दिखाया जाना भी एक विश्व रिकॉर्ड है।

□ **महाभारत** ने कुछ शब्दों को बेहद लोकप्रिय बनाया था जैसे पिताश्री, माताश्री, मामाश्री, तातश्री, भ्राताश्री आदि। साथ ही आयुष्मान भवः, विजयी भवः जैसे शब्दों को भी महाभारत ने लोकप्रियता दी।

□ **महाभारत** के साथ दिखाए गए १० सेकंड के विज्ञापन के लिए दूरदर्शन एक लाख रुपए तक लेता था। ■

सिनेमा के सागर में गले-गले डूबा : दूरदर्शन!

● जयप्रकाश चौकसे

व्यावसायिक सिनेमा के रामानंद सागर, बलदेवराज चोपड़ा, रमेश सिप्पी, लेख टंडन, वेद राही और कला सिनेमा के गोविंद निहलानी, श्याम बेनेगल और बासु चटर्जी ने दूरदर्शन के लिए सीरियल का निर्माण किया है। ये अपने साथ अपने सिनेमा के अनुभव ले गए और इन्होंने दूरदर्शन को भी सिनेमा का ही एक हिस्सा बना दिया। दुनिया के दूसरे देशों में दूरदर्शन और सिनेमा के विशेषज्ञ अलग होते हैं, परंतु दोनों माध्यमों के बीच कोई सख्त न टूटने वाली दीवार नहीं होती।

छोटे परदे के लिए कार्यक्रम बनाने वाला व्यक्ति तानाशाह की तरह होता है, जबकि बड़े परदे का फिल्मकार लोकतंत्र के चुनावी उम्मीदवार की तरह याचक-मुद्रा में खड़ा रहता है।

यह कुछ अजीब-सी बात है कि व्यावसायिक सिनेमा के स्थापित लोगों ने दूरदर्शन पर काम करने के बाद कभी सफल फिल्म नहीं बनाई। रमेश सिप्पी जैसे निष्णात निर्देशक ने 'बुनियाद' के बाद 'भ्रष्टाचार' और 'अकेला' जैसी वाहियात फिल्में बनाईं। बलदेवराज चोपड़ा ने 'दहलीज' और 'कल की आवाज' की तरह घटिया फिल्में बनाईं। रामानंद सागर होटल के व्यवसाय में चले गए हैं। गोविंद निहलानी, श्याम बेनेगल और लेख टंडन को भी बड़े परदे पर सफलता नहीं मिली। बड़े से छोटे और छोटे से बड़े परदे की यात्रा में फिल्मकार का कुछ खो जाता है। नजरिए में अंतर आ जाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि छोटे परदे के लिए काम करते समय उसे दर्शक की चिंता नहीं होती। बड़े परदे के काम में दर्शक की पसंद का भूत उसके सिर पर सवार रहता है। दूरदर्शन का दर्शक दुःखी होता है, तो अपने बाल नोंचता है या टी.वी. बंद कर देता है, परंतु सिनेमा का दर्शक सीट तोड़ देता है। फिल्म का बहिष्कार करता है। अगले शो के दर्शकों को टिकट खरीदने से रोक देता है। अतः फिल्मकार दर्शक की ताकत से भयाक्रांत रहता है, परंतु टी.वी. का दर्शक लाचार है। वह अपना टी.वी. सेट नहीं तोड़ सकता। छोटे परदे के लिए पुरोग्राम बनाने वाला व्यक्ति तानाशाह की तरह व्यवहार करता है और बड़े परदे का फिल्मकार लोकतंत्र के चुनावी उम्मीदवार की तरह याचक की मुद्रा में खड़ा रहता है।

गोविंद निहलानी एकमात्र सृजनशील व्यक्ति हैं जिन्होंने सिनेमा और छोटे परदे दोनों के साथ न्याय किया है। आमतौर पर व्यावसायिक सिनेमा के निर्देशक ने दूरदर्शन के लिए काम करते समय क्लोज-अप और मिड शॉट पर जोर दिया, क्योंकि उनका ख्याल था कि छोटा परदा लांग शॉट और पैनोरमिक शॉट्स के लिए नहीं बना है और यह आंशिक रूप से सच भी है कि छोटे परदे पर इन दृश्यों का प्रभाव नहीं पड़ता। गोविंद निहलानी की 'तमस' ने छोटे परदे की शक्ति को विस्तार दिया और 'तमस' देखते समय ऐसा ही लगा, मानों हम बड़े परदे पर भव्य चित्र देख रहे हैं। कुछ हद तक यह प्रभाव रमेश सिप्पी की बुनियाद में प्रथम २२ एपिसोड तक देखने को मिला, क्योंकि इसके बाद के एपिसोड किसी और निर्देशक ने बनाए हैं।

रामानंद सागर ने सारे फिल्मी लटकों-झटकों के साथ रामायण का निर्माण किया। राम के प्रति अपार श्रद्धा के कारण

'खलनायक' में माधुरी-संजय



सिनेमा यानी बड़े पर्दे का 'क्रेज' कल था, आज है और कल भी रहेगा। नब्बे के दशक में कुछ समय के लिए छोटे पर्दे यानी दूरदर्शन ने जरूर भारतीय दर्शकों का सिनेमा के प्रति मोहभंग किया था, लेकिन अंततः छोटा पर्दा 'छोटा ही साबित' हुआ और दर्शकों का रुझान पुनः 'बड़े पर्दे' की ओर हो गया। यह बात सौ फीसदी सही है कि आज दूरदर्शन, सिनेमा पर ही टिका हुआ है और सिनेमा पर उसे 'डिपेंड' रहना पड़ता है। सिनेमा और सिने-कलाकारों को दूरदर्शन पर से हटा दीजिए फिर देखिए क्या होता है? दूरदर्शन महज एक सूचना केन्द्र बन जाएगा। आज दूरदर्शन का सबसे सशक्त माध्यम है सूचना' देना और समाचार। कुछ अच्छे कार्यक्रम को छोड़ दें, तो



।।सावन कुमार।।

बड़े परदे की बात ही कुछ और है...

● महेन्द्र सेठिया

दूरदर्शन सिनेमा पर ही 'डिपेंड' करता है।

यह दो टूक बातें कहीं ख्यातनाम फिल्म निर्माता-निर्देशक सावन कुमार ने। सिनेमा और दूरदर्शन पर पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने सिनेमा की जोरदार वकालात की और कहा आज भी श्रीदेवी बड़े पर्दे पर देखना दर्शक ज्यादा चाहेंगे बनिस्बत छोटे पर्दे पर। बड़े हॉल में अंधेरे में बड़े पर्दे का जो मजा है वह ड्राइंग रूम में बैठकर छोटे पर्दे पर नहीं लिया जा सकता है। गीत, संगीत और छायांकन का जो कमाल बड़े पर्दे पर सुनाई और दिखाई देता है वह छोटे पर्दे पर कहाँ रहता है? यदि फिल्में बनना बंद हो जाएँ, तो दूरदर्शन किसके भरोसे जिन्दा रहेगा? दूरदर्शन फिल्मों पर जिन्दा है और रहेगा। यह सब अस्थाई बात है। **जिस तरह विज्ञान को बढ़ने से नहीं रोका जा सकता है ठीक उसी तरह सिनेमा को आगे बढ़ने से नहीं रोका जा सकता है। सिनेमा कभी नहीं मरेगा। इसमें नित-नई खोज और प्रगति होती रहेगी।**

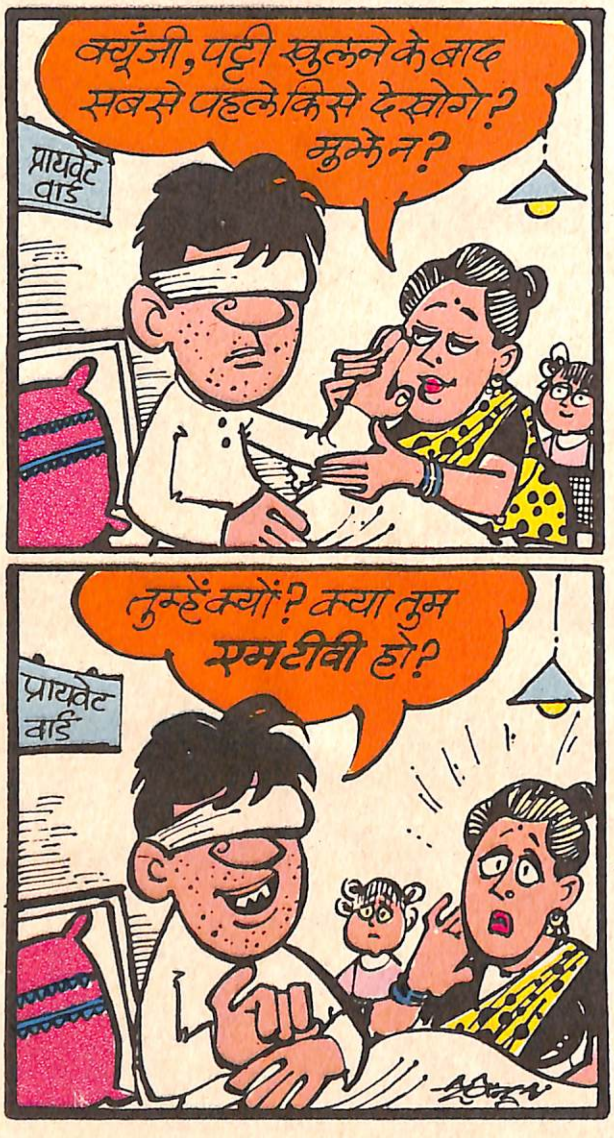
सावन कुमार कहते हैं-सिनेमा एक ऐसा मीडिया है जो कभी 'फेल' नहीं होगा। इस मीडिया के प्रति लोगों का आकर्षण बना रहेगा। इस मीडिया से हजारों लोग जुड़े हैं। भिन्न-भिन्न स्टाइलें हैं, प्रयोग हैं और अदाएँ हैं। सावन कुमार कहते हैं- 'यदि आप बड़े पर्दे पर एक फिल्म देख रहे हैं कि अचानक यह घोषणा होती है कि बड़े पर्दे की बजाए अब आपको छोटे पर्दे (दूरदर्शन) पर शेष बची फिल्मों के अंश दिखाए जाएँगे तब ऐसी स्थिति में क्या आप छोटे पर्दे पर शेष फिल्म देखना पसंद करेंगे? क्या आपको बड़े पर्दे जितना मजा आएगा? नहीं, कदापि नहीं।... तो मेरे कहने का यह कतई मतलब नहीं है कि छोटा पर्दा फ्लाप पर्दा है। कहना यह चाहता हूँ कि दोनों का स्थान अलग-अलग है। एक मीडिया-समाचार एवं सूचना का माध्यम है, तो दूसरा मनोरंजन का भरपूर खजाना है। साथ ही मैं इस तर्क से भी कतई सहमत नहीं हूँ कि छोटे पर्दे ने बड़े पर्दे को पीछे धकेल दिया है। सिनेमा के बगैर दूरदर्शन अधूरा है। इसे पूरा करने में सिनेमा की महती भूमिका है।

> सिनेमाघर के बड़े और अंधेरे हॉल में बड़े परदे पर चलती-फिरती, बोलती-हँसती रोशनी की परछाइयाँ जैसा प्रभाव दर्शकों के दिल-दिमाग पर छोड़ती हैं, वैसी बात दूरदर्शन पर फिल्म देखते समय कतई नहीं बनती।

एक अन्य प्रश्न के उत्तर में सावन कुमार ने कहा कि सिनेमा की जिन्दगी बहुत ही कठिन जिन्दगी है। एक फिल्म के निर्माण के दौरान जो बाधाएँ आती हैं, उन्हें पूरा करते-करते निर्माता थक जाता है और ऐसी स्थिति के बाद यदि फिल्म फ्लॉप हो जाए तो सब कुछ समाप्त। 'अब आप मुझे ही देखिए-मुझे न तो बीवी मिली और न ही गर्ल-फ्रेंड। और ऐसी ही स्थिति में एक दिन हम ऊपर चले जाएँगे। 'द एण्ड' हो जाएगा जैसा कि फिल्मों का होता है।'

इस सीरियल के दोषों की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं गया। युद्ध दृश्यों पर हँसी आती थी, पर श्रद्धावश अन्य दर्शकों की भावना के कारण खुलकर कोई नहीं हँसा। रामानंद सागर ने 'उत्तर रामायण' में इतनी ज्यादतियाँ की हैं कि दूरदर्शन ने उन्हें भविष्य के लिए अनाधिकारिक तौर पर ब्लेक लिस्ट कर दिया। उत्तर रामायण के लव, कुश की संवाद बोलने की शैली पर उनकी मातृभाषा मराठी का प्रभाव बहुत स्पष्ट था। राम की महिमा के कारण रामानंद सागर भर्त्सना से बच गए। रामानंद सागर के असीमित लालच के कारण रामायण जैसे महान ग्रंथ के साथ न्याय नहीं हो सका। उन्होंने दूरदर्शन पर रामायण को ठीक वैसे ही बनाया जैसे सस्ती व्यावसायिक फिल्में बनाई जाती हैं। सैट्स की रचना, रंग व्यवस्था आदि पर सिनेमा, पारसी थियेटर और नौटंकी का प्रभाव अधिक था। रवीन्द्र जैन के गीत-संगीत ने रामानंद का कार्य सरल कर दिया और भावना के क्षण उत्पन्न करने में बहुत सहायता की। इस क्षेत्र

में भी दादू अगर मन्ना डे की आवाज का प्रयोग करते तो और अधिक अच्छा प्रभाव बनता। स्वयं गाने के प्रलोभन पर विजय पाना मुश्किल भी था और प्रति सप्ताह एक एपिसोड के गीत-संगीत की रचना का कार्य आसान नहीं था। समय के दबाव का प्रभाव सृजन पर पड़ता है। अगर आर्थिक समस्या का दबाव न हो तो कम से कम तीस एपिसोड बनने के पहले प्रसारण करना उचित नहीं है।



बलदेवराज चोपड़ा की महाभारत तकनीकी पक्ष में रामानंद की रामायण से बेहतर थी। और राही मासूम रजा जैसी असाधारण प्रतिभा का साथ होने के कारण बलदेवराज महाभारत में काफी हद तक सफल रहे। व्यावसायिक सिनेमा के रंग-ढंग से महाभारत भी पूरी तरह मुक्त नहीं थी। कुछ नए कलाकारों के उत्साह और असीमित समय के कारण भी कुछ पात्रों को बहुत अधिक फुटेज दिया गया था। रामायण और महाभारत में बहुत सी चीजों को दोहराया गया है। इस भय से कि दर्शक को पिछला प्रकरण याद नहीं है। सच तो यह है कि दूरदर्शन विधा की पहली शर्त यह है कि हर एपिसोड ऐसे मनोरंजक मोड़ पर समाप्त हो कि पाठक अगले प्रसारण का इंतजार करे। भारतीय दूरदर्शन पर इस तरह की कोशिश बहुत सूझ-बूझ के साथ नहीं होती। इसी कारण बहुत-सा फुटेज दोहराया जाता है। बनाने वालों में आत्मविश्वास की कमी है और दर्शकों पर उनका भरोसा भी नहीं है। दूरदर्शन अभी शैशवकाल में है और व्यावसायिक सिनेमाई लटकों-झटकों से कतई आजाद नहीं है। मनोहर श्याम जोशी ने सोप ऑपेरा का अध्ययन किया है और 'बुनियाद' के लेखन में कमाल का काम किया है। 'हम लोग' की लोकप्रियता के भी आधार-स्तंभ मनोहर श्याम जोशी ही हैं, परंतु 'हमराही' में वे अपने ही फार्मूले को दोहरा रहे हैं। हिमानी का अद्भुत चरित्र चित्रण और उतनी ही सजीव एक्टिंग के कारण वह कुछ हद तक झेला गया। मनोहर श्याम जोशी एकमात्र लेखक हैं जिन्हें छोटे परदे और बड़े परदे का अंतर और सीमाओं की पूरी जानकारी है।

दूरदर्शन सिनेमा पर पूरी तरह निर्भर करता है, यही दुःखदायी बात है। उसने अपनी विधा की विशेषताओं के अनुरूप कार्यक्रम नहीं तैयार कर सिनेमा से निरंतर उधारी का रिश्ता बनाकर स्वयं को अपंग कर लिया है। सिनेमा के कर्णधारों से कार्यक्रम बनाते समय भी यह सावधानी नहीं बरती गई कि सिनेमाई तकनीक और समझौते दूरदर्शन में नहीं घुस पाएँ। आज दूरदर्शन सिनेमा का एक्सटेंशन जैसा बन रहा है जो कि इसके मूल उद्देश्य के विपरीत है।

हर लंबे सीरियल में कुछ एपिसोड के बाद निर्माता समझौता करने लगता है। पैसा बचाने के अतिरिक्त समय का दबाव निर्माता को उलझा देता है। 'चाणक्य' का प्रारंभ अत्यंत प्रभावोत्पादक था, परंतु बाद में राजनीतिक दबाव से सेंसर की समस्याएँ खड़ी हुईं। आर्थिक संकट भी था। इसलिए चाणक्य का सिनेमाईकरण हो गया।

फिल्मों के प्रस्तुतिकरण में अतिरेक, अतिभावुकता और अतिरंजना होती है। मेलोड्रामा अपने सबसे फूहड़ रूप में प्रस्तुत होता है। चरित्र यथार्थ से कई गुना विराट रूप में प्रस्तुत होते हैं। संवाद के मामले में जहाँ एक सरल वाक्य से अभिव्यक्ति होती है, वहाँ एक दर्जन वाक्य बोले जाते हैं। फिल्म की एक फ्रेम बमुश्किल डेढ़ इंच लंबी और पौन इंच चौड़ी होती है। लेकिन इसका प्रोजेक्शन ३० फुट लंबे और १५ फुट चौड़े परदे पर होता है। दूरी और ऊँचाई बदलने पर प्रोजेक्शन ५० फुट लंबे परदे पर भी होता है। फिल्मकारों ने इस तकनीकी सच के समानांतर भावना तथा प्रस्तुतिकरण में भी इसी अतिरेक को अपनाया है और ये ही तत्व उन्होंने दूरदर्शन के लिए निर्माण करते समय भी अपनाए हैं। इसी अर्थ में दूरदर्शन का फिल्मीकरण हुआ है। फिल्मों में जीवन से पलायन होना है और दूरदर्शन को जीवन का आईना बनना चाहिए था, परंतु ऐसा हुआ नहीं। दूरदर्शन अपनी प्रतिभा को विकसित नहीं कर फिल्मों पर निर्भर हो गया।

दूरदर्शन की बहुत-सी ऊर्जा और धन राजनीतिक दबाव के कारण छोटे शहरों में केंद्र खोलने में नष्ट हो रहा है, जबकि विशुद्ध भारतीय पुरोग्राम बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। बिना सॉफ्टवेयर पर ध्यान दिए ही व्यापकता के फेर में पड़े हैं। व्यावसायिक सिनेमा के तकनीकी और अन्य प्रभावों तथा पूर्वाग्रहों से बचकर दूरदर्शन को अपनी विधा के आयामों की खोज करना चाहिए। गोविंद निहलानी और श्याम बेनेगल की सेवाओं से अंतरराष्ट्रीय स्तर के पुरोग्राम रचना चाहिए। दूरदर्शन का भाग्य अच्छा है कि उनका प्रतिद्वंद्वी 'जी' उनसे भी अधिक सिनेमामय और उबाऊ है। ■

टीवी-सिनेमा : प्यार-नफरत के रिश्ते

(अतीत-वर्तमान और भविष्य)

दूरदर्शन ने अपने तईं सितारों की एक नस्ल तैयार की है। उनमें से अधिकांश ने फिल्माकाश में जगमगाने के लिए छोटे परदे का इस्तेमाल सीढ़ियों की तरह किया है।

● **शोमा ए. चटर्जी**

भारत में जब दूरदर्शन के प्रसारण शुरू हुए तब यह संभावना थी कि जनसंचार के राष्ट्रीय साधन के रूप में यह शिक्षा, सूचना एवं मनोरंजन का शक्तिशाली वैकल्पिक साधन सिद्ध होगा तथा अपनी स्वयं की पृथक सांस्कृतिक पहचान बनाने में कामयाब होगा। सिनेमा से अलग आत्मनिर्भर इकाई के रूप में विकसित होगा। उम्मीद थी कि इसके माध्यम से तकनीकी एवं रचनात्मक प्रतिभाओं को विकसित होने के लिए व्यापक क्षेत्र मिलेगा।

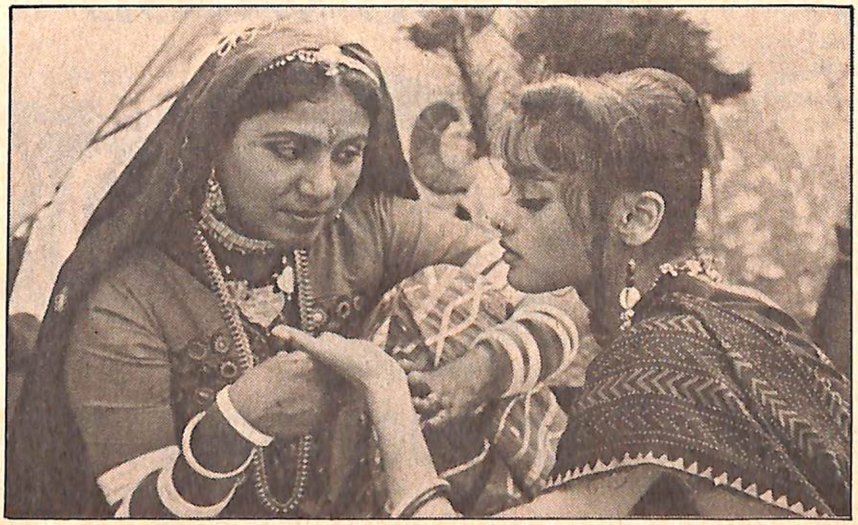
दो दशक के बाद दूरदर्शन की उपलब्धियों की विवेचना करने पर पता चलता है कि ऐसा कुछ हुआ नहीं। दूरदर्शन मनोरंजन के मैदान में सिनेमा का गरीब-गँवार फूहड़ भाई बनकर रह गया। संचार साधन के रूप में उसका अस्तित्व सत्ताधारी पार्टी के भोंपू जैसा रहा। सत्ताधारी कर्णधारों की मंशा के विपरीत आलोचनापरक कार्यक्रमों को रद्द करना ही इसकी नियति हो गया।

दूरदर्शन और सिनेमा का रिश्ता बड़ा अजीब रहा है। दूरदर्शन का आगमन सिनेमा वालों को जरा भी नहीं सुहाया था। बड़ा परदा छोटे परदे को हमेशा सौत समझता रहा। इसके ठीक विपरीत छोटे परदे वाले मनोरंजक कार्यक्रमों के लिए खुले तौर पर सिनेमा पर निर्भर रहे। फिल्मों का उपयोग दूरदर्शनने कई रूपों में किया, फिल्मों का पूर्ण प्रसारण, लोकप्रिय गीतों का प्रसारण तथा फिल्म निर्माताओं एवं अभिनेताओं का धारावाहिकों के निर्माण में सहयोग लेकर। इस प्रकार धारावाहिक एवं सोप ऑपेरा के मनोरंजक कार्यक्रमों का आधारभूत ढाँचा तैयार करने में फिल्म उद्योग से संबंधित लोगों ने काफी सहयोग दिया। यह दूसरी तरह का उपयोग था। तीसरा उपयोग जो दूरदर्शन ने फिल्म आधारित कार्यक्रमों का किया वह था विज्ञापनों के जरिए आय प्राप्त करना। फिल्म केंद्रित कार्यक्रमों में दर्शकों की संख्या काफी अधिक रहती थी। विज्ञापनदाता भारी दरों पर समय प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। इन विज्ञापनों एवं प्रायोजित कार्यक्रमों के जरिए दूरदर्शन को काफी आय हुई। जब सिनेमा से जुड़े लोगों की बजाए दूसरे क्षेत्रों के व्यक्तियों ने धारावाहिकों एवं अन्य कार्यक्रमों के लिए प्रस्ताव दिए तब अधिकारियों ने पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया। ऐसे कार्यक्रमों का ही चुनाव किया, जो परिवार नियोजन जैसी सरकारी नीतियों का ढिंढोरा पीटते हों।

दूरदर्शन का अस्तित्व एक माध्यम के रूप में अपने आसपास पूर्णतः अस्वीकारने के पूर्व उसके अति लोकप्रिय उन कार्यक्रमों पर दृष्टि डालना बेहतर होगा जो सिनेमा पर आधारित हैं। दूरदर्शन ने अपने दर्शकों के लिए निर्माताओं से जो फीचर फिल्में खरीदीं वे ज्यादातर स्तरहीन तथा गुणवत्ताविहीन रहीं। इनके चयन का एकमात्र कारण शायद अधिकारी यही दे सके कि इतने कम मूल्य में कोई अच्छी फिल्म नहीं मिल सकी। रविवार एवं शनिवार को प्रसारण के लिए चुनी जाने वाली अधिकांश फिल्में व्यावसायिक स्तर पर फ्लॉप रहीं।

छायागीत/ चित्रहार/ चित्रमाला आदि कार्यक्रम तुलनात्मक रूप से बेहतर रहे, क्योंकि इनमें अच्छे-बुरे तथा नए-पुरानों का बढ़िया संगम रहा। दूरदर्शन ने एक प्रशंसनीय कार्य यह भी किया कि अच्छे फिल्म निर्माताओं को राष्ट्रीय कार्यक्रमों में प्रमुख समय (प्राइम टाइम) पर प्रसारण हेतु धारावाहिक बनाने का निमंत्रण दिया। इस प्रकार श्याम बेनेगल/ बासु चटर्जी/ ऋषिकेश मुखर्जी/ गुलजार/ रमेश सिप्पी/ गोविंद निहलानी/ सई परांजपे/ रामानंद सागर/ बी. आर. चोपड़ा जैसे लोग आगे आए तथा इस मरणासन्न प्रसार माध्यम में जीवन की ज्योति की लौ को जलाए रखा। इन निर्माताओं द्वारा बनाए गए कार्यक्रम एवं धारावाहिक सुरुचिपूर्ण तथा स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने वाले रहे, जबकि सिनेमा में हिंसा तथा सेक्स बढ़ता जा रहा है।

फिल्म क्षेत्र से आकर दूरदर्शन के लिए धारावाहिकों का निर्माण करने वाले कई निर्माता इस नए अनुभव से काफी प्रसन्न हैं। उन्हें छोटे परदे के रूप में एक ऐसा वैकल्पिक मंच मिला, जो अपेक्षाकृत सस्ता भी है। ज्यादा दर्शकों से उनका संपर्क बनाता है। आर्थिक रूप से सिनेमा की अपेक्षा टीवी अधिक सुरक्षित है। इन निर्माताओं को छोटे परदे से सिर्फ यही शिकायत रही कि इस सरकार नियंत्रित प्रतिष्ठान में कार्यकुशलता का अभाव है। तानाशाही का बोलबाला है।



धारावाहिक 'मृगनयनी' में पिल्ली (चारू शीला) और निन्नी (पल्लवी जोशी)

आज की स्थितियों को देखकर छोटे परदे से जुड़े सभी लोग दुखी हैं क्योंकि आकाशीय आक्रमणों ने उनके एकाधिकारों को चुनौती दे रखी है। ऐसा ही दुख बड़े परदे वालों को भी है। सी. एन. एन., ए. टी. एन. तथा स्टार प्लस ने सभी की नींद हराम कर रखी है। केबल टी. वी. वालों ने भी फीचर फिल्मों की भरमार कर रखी है। इस तरह सिनेमा हॉल में भीड़ लगातार कम होती जा रही है।

दूरदर्शन द्वारा अब तक प्रदर्शित सर्वश्रेष्ठ कार्यक्रमों में गोविंद निहलानी का **'तमस'** है, जो भीष्म साहनी के उपन्यास पर आधारित है। इस सिलसिले में गोविंद निहलानी कहते हैं, 'चाहे इसे दंभोक्ति माना जाए मैं यही कहूँगा कि 'तमस' दूरदर्शन द्वारा स्वीकृत किए गए विषयों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय रहा है। हमने इसे १६ मि. मी. में शूट किया है। दरअसल मैं 'तमस' का निर्माण फीचर फिल्म के रूप में करना चाहता था। किंतु 'लागत' के आधिक्य से ऐसा नहीं हो पाया। इसके बाद मैंने दूरदर्शन के अधिकारियों से चर्चा की। विषय काफी नाजुक था तथा वे नहीं चाहते थे कि किसी भी समुदाय की भावनाओं को ठेस लगे। मैं किसी संप्रदाय विशेष के पक्ष या विपक्ष में नहीं था इसलिए किसी को आहत करने का प्रश्न ही नहीं था। जहाँ तक हिंसा का प्रश्न रहा, मैंने इसे सनसनी या उत्तेजना से दूर रखा। मैंने पूरा प्रयास यही किया कि इतना नियंत्रण रहे कि ऐसे नाजुक विषयों पर सूक्ष्म वर्णन की बजाए सिर्फ इशारों से काम चले।'

इसके बाद दूरदर्शन ने 'दृष्टि' नामक कार्यक्रम प्रस्तावित किया (गोविंद निहलानी की फिल्म दृष्टि' नहीं)। इस कार्यक्रम के अंतर्गत विश्व प्रसिद्ध कालजयी, नाटकों का टीवी रूपान्तरण प्रसारित किया जाना तय हुआ। इस योजना के अंतर्गत इन साहित्यिक नाटकों के निर्देशन का भार विख्यात निर्देशकों को सौंपा जाना था। इस योजना का क्या हश्र हुआ यह किसी को पता नहीं है। गोविंद निहलानी ने तीन पूरी लंबाई वाली फीचर फिल्में भी तैयार की हैं। नवंबर ९१ में समाचार पत्रों में प्रकाशित खबरों के अनुसार इनका प्रदर्शन हर दूसरे शनिवार को १९९२ से शुरू होना था। इन तैयार फिल्मों का क्या हश्र हुआ यह पता किसी को नहीं है। इनमें से एक का नाम 'जजीरे' है, जो इब्सन के नाटक 'लिटिल इयोल्फ' पर आधारित है। यह कलकत्ता फिल्मोत्सव १९९० में भारतीय पेनोरमा में प्रदर्शित की गई थी। अन्य दो में से एक **पिता** स्ट्रिण्डवर्ग के 'द फादर' पर आधारित है। 'रुक्मावती की हवेली' की कहानी लोर्का के 'द हाउस ऑफ बेरनाडो अल्वा' से ली गई थी। दोनों फिल्में कबाड़खाने की धूल चाट रही हैं। फिल्म निर्माताओं को अनुबंधित कर उनसे कराए गए काम की इस नियति के कई कारण हैं। सत्ता परिवर्तन, मंत्रिमंडल में फेरबदल, उच्च अधिकारियों के तबादले। इन कारणों से पूर्व में लिए गए निर्णय पल भर में तुगलकी आदेश से रद्द कर दिए जाते हैं। नाटकों की इस श्रृंखला पर पाँच वर्ष पूर्व काम शुरू हुआ था। दर्शकों का बड़ा वर्ग परिणाम देखने के लिए प्रतीक्षारत रहा। दर्शकों की उत्सुकता को निरंकुश निर्णय के हथोड़े की मार से कुचल दिया गया। करदाताओं की गाढ़े पसीने की कमाई नष्ट हुई। फिल्म निर्माताओं का समय तथा ऊर्जा नष्ट कर उनकी रचनात्मक प्रतिभा पर प्रतिकूल प्रभाव डाल दिया गया।



कुरुक्षेत्र में गीता उपदेश : महाभारत

कई फिल्मी हस्तियाँ दूरदर्शन से पूर्ण संतुष्ट रहीं। **हेमामालिनी** के अनुभव सुखद रहे। उनके अनुसार 'मुझे अपने धारावाहिक **नूपुर** के जरिए निर्माता निर्देशक के रूप में अपनी योग्यता एवं क्षमता को टी. वी. तथा सिनेमा के क्षेत्र में कसौटी पर कसने का मौका मिला। इस धारावाहिक ने मुझमें आत्मविश्वास जगाया। मुझे अनुभवी बनाया और मैंने 'दिल आशना है' फिल्म का निर्माण एवं निर्देशन किया।' यह बात अलग है कि छोटे परदे पर 'नूपुर' तथा बड़े परदे पर 'दिल आशना है' फ्लॉप रहे। मगर हेमामालिनी को छोटे परदे ने अभ्यास के लिए खुला मैदान मुहैया करा दिया।

दूरदर्शन के तगड़े स्पर्धी के रूप में छोटे परदे पर हाल ही अवतरित हिंदी चैनल जी. टी. वी. के बारे में निर्माताओं के विचार काफी अच्छे हैं। 'शक', 'गहराइयाँ' एवं 'सितम' का संपादन करने वाली **'रिहाई'** नामक फीचर फिल्म की निर्मात्री **अरुणा राजे** ने जी टी.वी. के लिए 'शादी या...' नामक धारावाहिक बनाया है। अपने अनुभवों का जिक्र करते हुए वे कहती हैं 'जी पर काम करते वक्त मुझे पूरी आजादी मिली। यदि दूरदर्शन के लिए कार्यक्रम तैयार किया जाता तब सेंसर की कैंची कार्यक्रम की आत्मा को ही काट डालती। दूरदर्शन चूँकि सरकारी प्रचार माध्यम है इसलिए फिल्मकार के रूप में आप यहाँ अपनी अभिव्यक्तियों को यथावत परदे पर प्रदर्शित होता नहीं देख सकते। 'शादी या...' में विषय ऐसा था जिसमें खुलेपन का प्रदर्शन अनिवार्य था। दूरदर्शन पर इतने खुलेपन वाले प्रदर्शन की इजाजत नहीं मिल पाती। इसका

प्रातःकालीन तथा दोपहरकालीन कार्यक्रमों के निर्माण पर नौसिखिए हावी हैं। वे दूरदर्शन को बीस साल पीछे धकेलना चाहते हैं।

मतलब यह नहीं कि दूरदर्शन पर काम करने मे मेरी रुचि नहीं है। मगर 'शादी या...' जैसे कार्यक्रम जी.टी.वी. पर ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं।'

दूरदर्शन के लिए 'कथा सागर/ यात्रा एवं भारत की खोज' जैसे धारावाहिकों का निर्माण करने वाले **श्याम बेनेगल** का कहना है, 'कहानियाँ तथा डिकेन्स, शरदचंद्र चटर्जी आदि लेखकों के उपन्यासों के दूरदर्शन पर अच्छे अवसर हैं।' उनका कहना यह भी है,'कम जोखिम तथा निश्चित आय के कारण फिल्म निर्माता दूरदर्शन की ओर आकर्षित होते हैं। इस कारण धारावाहिकों का स्तर भी गिरा है तथा प्रमुख समय (प्राइम टाइम) वाले धारावाहिक प्रायोजकों की दौलत के भरोसे बनाए जाने लगे।'

श्याम बेनेगल कुल मिलाकर दूरदर्शन से संतुष्ट हैं। क्योंकि उन्हें 'भारत एक खोज' बनाने का अवसर मिला। उनके ही शब्दों में, 'मुझे इस धारावाहिक के माध्यम से फिल्म एवं टी. वी. तकनीक को मिलाकर नई विधा विकसित करने का अवसर मिला। भारतीय जीवन शैली की युगों पूर्व से अब तक की विकास गाथा का अध्ययन करने का मौका मिला। यह एक ऐसा प्रोजेक्ट था, जो बड़े परदे पर साकार नहीं किया जा सकता था।' इस संतोष को प्रकट करने के साथ ही वे यह घोषणा भी करते हैं कि भविष्य में कभी टी. वी. धारावाहिक का निर्माण नहीं करेंगे। उनका तर्क है कि दूरदर्शन को नियंत्रण करने वाला वर्ग इसे विश्वसनीय माध्यम बनाना ही नहीं चाहता।

बड़े परदे पर कालजयी कृति **'शोले'** की रचना करने वाले निर्देशक **रमेश सिप्पी** ने छोटे परदे पर **'बुनियाद'** प्रस्तुत किया था। वे सिनेमा तथा टी. वी. को मूलतः समान ही मानते हैं। उनके अनुसार दोनों ही माध्यम कहानी एवं भावनात्मक प्रदर्शन पर निर्भर रहते हैं। उन्हीं के शब्दों में 'मेरे सामने यह समस्या कभी नहीं रही कि अगली बार फिल्म बनाऊँ या धारावाहिक। मैं निजी तौर पर यह महसूस करता हूँ कि धारावाहिक का निर्माण करना ज्यादा कठिन कार्य है, क्योंकि जरा-सा बोर होने पर दर्शक टी. वी. बंद कर सकता है।' सिप्पी साहब ने कुछ समस्याओं का जिक्र भी किया जिनसे वे धारावाहिक के निर्माण के दौरान रूबरू हुए थे। बुनियाद के निर्माण के दौरान आई दिक्कतों का खुलासा करते हुए वे कहते हैं, अधिकारी लोग उस खंड के बारे में काफी सशंकित थे जिसमें विभाजन के दिनों की घटनाओं को प्रस्तुत किया गया था। उन्होंने कुछ परिवर्तनों के लिए सुझाव दिए तथा मैंने उन्हें स्वीकार कर लिया। बाद में उन्होंने जब दिल्ली में शरणार्थी केम्पों के पुनर्निर्माण पर आपत्ति की तब मैं उबल पड़ा। मैंने फटकार लगाई कि क्या दूरदर्शन के बाबू मीडिया के बारे में मुझसे ज्यादा जानते हैं।



यह भी आश्चर्यजनक है कि समानान्तर सिनेमा के क्षेत्र में नाम कमाने वाले **सत्यजित राय** तथा **मृणाल सेन** जैसे निर्माता भी धारावाहिकों के माध्यम से छोटे परदे के दर्शकों की नब्ज पकड़ने में कामयाब नहीं हुए। इन दोनों निर्माताओं ने दूरदर्शन द्वारा खासतौर पर दिए गए विषयों पर धारावाहिक बनाए मगर दर्शकों ने उन्हें खास पसंद नहीं किया। इसके ठीक विपरीत प्रेमचंद की कहानी पर आधारित सत्यजीत राय द्वारा निर्मित टेलीफिल्म 'सद्गति' दूरदर्शन द्वारा तैयार किए गए कार्यक्रमों में सर्वश्रेष्ठ रही। **बी. आर. चोपड़ा** का पहला धारावाहिक 'बहादुरशाह जफर' ज्यादा सफल नहीं रहा। व्यापक पैमाने पर निर्मित **'महाभारत'** अविस्मरणीय कृति बन गया तथा सभी भारतवासियों के दिलों को इसने छू लिया।

जिन कलाकारों एवं तकनीशियनों को सिनेमा में अपने पाँव जमाने में मुश्किलें आ रही थीं, उन्हें दूरदर्शन ने आसरा दिया, नए युग में कई कलाकार टी. वी. सितारों के रूप में चमके। इनमें आलोकनाथ, बेंजामिन गिलानी, अन्नू कपूर, अंजन श्रीवास्तव, फरीदा जलाल, नीना गुप्ता, बीना, परीक्षित साहनी, अनिता कँवर, किरण जुनेजा, विजयेंद्र घाटगे, अनंत महादेवन आदि हैं। इन्हें सिनेमा जो कुछ नहीं दे पाया वह सब दूरदर्शन ने दिया। दरअसल विजयेंद्र घाटगे तथा अनंत महादेवन सदैव ही दूरदर्शन के ऋणी रहेंगे। उन्हें अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ स्मरणीय भूमिकाएँ छोटे परदे पर ही मिलीं। विजयेंद्र 'बुनियाद' की भूमिका के लिए जाने जाएँगे तथा अनंत महादेवन 'द सोर्ड ऑफ टीपू सुल्तान' के कारण अविस्मरणीय बने रहेंगे।

दूरदर्शन ने सितारों की अपनी अलग नस्ल एवं फसल भी तैयार की है। इन सितारों में राधा सेठ, अरुण गोविल, दीपिका चिखलिया (टोपीवाला), रूपा गांगुली, प्रीति खरे, पल्लवी जोशी, दिलीप धवन, रमा विज प्रमुख हैं। यद्यपि इनमें से अधिकांश ने दूरदर्शन का इस्तेमाल सिनेमा तक पहुँचने के लिए सीढ़ी के तौर पर किया है तथा कुछ सिनेमा में जम भी गए मगर कई ने छोटे परदे को ही अपनी

मंजिल मान लिया है। इनको इस बात की भी खुशी है कि अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाने के लिए उन्हें 'जी' के रूप में एक अतिरिक्त मंच मिला। छोटे परदे का आकर्षण इतना बड़ा है कि सिनेमा की कई जानी - मानी हस्तियों ने अपनी उपस्थिति से इसे गौरवान्वित किया। इसमें अशोक कुमार, ओम पुरी, रोहिणी हट्टंगड़ी प्रमुख है।

तकनीकी पक्ष में काफी बड़ी संख्या में निर्देशकों, संगीत निर्देशकों, पटकथा लेखकों, संवाद लेखकों, संपादकों, छायाकारों तथा साउंड रेकार्डिस्टों को अवसर मिला कि वे अपनी प्रतिभा, कुशलता एवं रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए मंच पा सके। कई महान फिल्मकारों



राम-सीता : रामायण की अपार लोकप्रियता

ने जैसे ऋषिकेश मुखर्जी ने निश्चय किया कि वे दूरदर्शन के लिए धारावाहिकों का निर्माण करें। सिनेमा उद्योग में बड़ी लागत के कारण तस्कर समूह के लोगों का प्रभाव बढ रहा था। **रामानंद सागर** जैसा फिल्म निर्माता दूरदर्शन के लिए **रामायण** का निर्माण कर तथा मैट्रो चैनल पर **कृष्णा** का प्रसारण कर उससे अधिक प्रसन्न था जितना बड़े परदे पर हिट फिल्म बनाकर होता।

रामानंद सागर कहते हैं, 'दूरदर्शन का सबसे बड़ा लाभ है कि यहाँ फीचर फिल्मों की तरह आउटडोर एवं भव्य सेट्स के लिए भारी रकम खर्च नहीं करनी पड़ती। इसलिए तीन या चार पीढ़ियों की कहानी यहाँ ज्यादा प्रभावशाली एवं किफायती ढंग से कही जा सकती है।' इस कथन से सहमत होते हुए रमेश सिप्पी कहते हैं, 'पारिवारिक सोप ऑपेरा तथा सिटकाम्स छोटे परदे पर ही बढ़िया लगते हैं।

आकाशीय आक्रमण के बावजूद दूरदर्शन के लिए डर की कोई बात नहीं है। सितंबर १९९२ में किए गए सर्वेक्षण के अनुसार (टाइम्स ऑफ इंडिया २८ सितंबर १९९२) शहरी क्षेत्रों के पचहत्तर प्रतिशत दर्शकों को केबल टी. वी. के अस्तित्व का पता भी नहीं है। ३५ प्रतिशत का कहना है कि केबल टी.वी. के लिए जितना व्यय करना पड़ता है उतना उससे उपलब्ध नहीं हो पाता। चौवन प्रतिशत का विचार है कि केबल टी. वी. का बच्चों पर बुरा असर पड़ता है (काफी हद तक सच)। जिनके पास केबल टीवी की सुविधा है वे भी बयालीस प्रतिशत समय दूरदर्शन देखने में व्यतीत करते हैं। दूरदर्शन द्वारा प्रसारित अँगरेजी समाचारों की उतनी ही पूछ है जितनी बीबीसी द्वारा प्रसारित समाचारों की। सी. एन. एन. के समाचार प्रसारण की पूछ-परख सबसे कम है। यह सब उस समय की स्थिति है जब मैट्रो उपग्रह द्वारा फिल्म आधारित कार्यक्रम शुरू नहीं हुए थे।

सेक्स तथा हिंसा को छोड़कर बाकी सभी मामलों में दूरदर्शन के धारावाहिक व्यावसायिक सिनेमा का लघु संस्करण हैं। मैट्रो पर प्रसारित होने वाले 'सिनेविस्टा' के मल्टीस्टारर धारावाहिक 'जुनून' को या ऋषिकेश मुखर्जी के पारिवारिक धारावाहिक 'उजाले की ओर' को लीजिए। दोनों में ही व्यावसायिक सिनेमा के सारे तथ्य मौजूद हैं। नाटकीयता, पारिवारिक राजनीति, भव्य सेट्स, गरीबी की प्रशंसा, रोमांस, प्रेम त्रिकोण आदि तत्व दोनों में मौजूद हैं। दूरदर्शन के वे धारावाहिक जिनका निर्माण परिपक्व टीम द्वारा हो रहा है वे गुणवत्ता की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। दोपहरकालीन सभा में नौसिखियों द्वारा निर्मित जिन धारावाहिकों का प्रसारण होता है वे निश्चित रूप से घटिया हैं। नौसिखिए दूरदर्शन को बीस साल पीछे धकेलने पर

सेक्स तथा हिंसा को छोड़कर बाकी सभी मामलों में दूरदर्शन के धारावाहिक कर्मशियल-सिनेमा का लघु संस्करण हैं।

तुले हुए हैं, इस प्रभावशाली माध्यम की दुर्गति करने पर आमादा हैं। जब तक धारावाहिकों की बागडोर सिनेविस्टा के प्रेम किशन, सुनील मेहता जैसे लोगों के हाथ में रहती है तथा निर्देशन के लिए ऋषिकेश मुखर्जी, गुलजार एवं सई परांजपे जैसे लोग उपलब्ध रहते हैं तब तक दूरदर्शन गुणवत्ता के मामले में कुछ भी नहीं खोता।

फिल्म आधारित कार्यक्रम आज भी लोकप्रिय हैं मगर भारतीय दर्शकों के सामने और भी कई दिलचस्प, मनोरंजक कार्यक्रम केबल टीवी द्वारा परोसे जा रहे हैं। इनमें वीडियो पत्रिकाएँ तथा विभिन्न चैनलों से प्रसारित होने वाले कार्यक्रम प्रमुख हैं। 'हॉलीवुड' जैसा फिल्म उद्योग केंद्र छोटे परदे की अहमियत को समझ चुका है तथा वहाँ फिल्म निर्माण की शैली में काफी बदलाव आ गया है। भारत में शैली बदलाव के प्रति तनिक भी जागरूकता नहीं है। यदि किसी ने कोशिश भी की तब भी प्रयास सतही रहे। गंभीरतापूर्वक इस मामले में किसी ने कोशिश ही नहीं की। इसीलिए भारतीय फिल्मोद्योग में फिल्मों के फ्लॉप होने का क्रम जारी रहा। जो फिल्में हिट रहीं उनमें हिंसा प्रमुख तत्व रहा जैसे 'आँखें' और 'लुटेरे'। इसी प्रकार दूरदर्शन धारावाहिकों की शैली में भी समयानुकूल बदलाव नहीं आया। उनको तगड़ी स्पर्धा से रूबरू होना पड़ रहा है।

वर्तमान संदर्भों में यह अनिवार्य हो गया है कि प्राथमिकताओं, आधारभूत ढाँचे, आदर्शों एवं मूल्यों को भारतीय सिनेमा एवं दूरदर्शन में पुनः परिभाषित किया जाए। हमारे पास अच्छे सिनेमा की संपन्न एवं विविधतापूर्ण विरासत है। दूरदर्शन इस उत्कृष्ट इतिहास के कुछ पृष्ठों का सहयोग क्यों नहीं ले पाता। यदि चाहे तो वह इस इतिहास से सबक लेकर स्वयं को उन्नत एवं व्यापक बना सकता है।

साहित्य बनाम छोटे और बड़े परदे की छवि

लेखक खराब फिल्म लिखे, तो उसकी आलोचना उसी तरह होना चाहिए जैसे एक खराब रचना के बाद होती है। लेकिन फिल्म-टेलीविजन का अपना ढाँचा और अपनी शर्तें हैं। उन्हें ध्यान में रखकर ही रचनाकार की सफलता-असफलता को मापा जाना चाहिए।

● **विनोद भारद्वाज**

एक नजर में तो लगता है कि साहित्य -- सिनेमा- टेलीविजन का रिश्ता बड़ा सहज, स्पष्ट और सीधा है। लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। यह अलग बात है कि छोटे और बड़े दोनों ही तरह के पर्दों के प्रति उपेक्षा से लेकर आक्रामकता की भावनाओं के बावजूद साहित्यिक कृतियों पर अच्छी फिल्में और धारावाहिक दोनों ही बने हैं।

इतनी शक्तिशाली चाक्षुष (विजुअल) विधा से साहित्यकार और साहित्य का संबंध आदर्श नहीं रह पाया है। पाकिस्तान के एक मशहूर लेखक ने एक अनौपचारिक बातचीत में इन पंक्तियों के लेखक को बताया था कि उनके देश में टेलीविजन के कार्यक्रम अच्छे हैं क्योंकि प्रमुख साहित्यकार इस माध्यम से गहरे स्तर पर जुड़े हैं। लेकिन फिल्मों के प्रति पाकिस्तान में शुरू से ही सम्मानजनक रुख नहीं रहा इसलिए अनेक संस्कृति-संपन्न लोग फिल्म से बचते रहे।

अक्सर भारतीय दूरदर्शन के कार्यक्रमों को पाकिस्तानी धारावाहिकों की तुलना में कमजोर और नीरस पाया जाता है। पाकिस्तानी धारावाहिकों में भाषा का एक अपना अलग आनंद आता है। वहाँ आम तौर पर छोटे पर्दे की भाषा भ्रष्ट नहीं हुई है। इसके पीछे प्रमुख कारण यही है कि अच्छे लेखकों ने टेलीविजन में सक्रिय दिलचस्पी दिखाई।

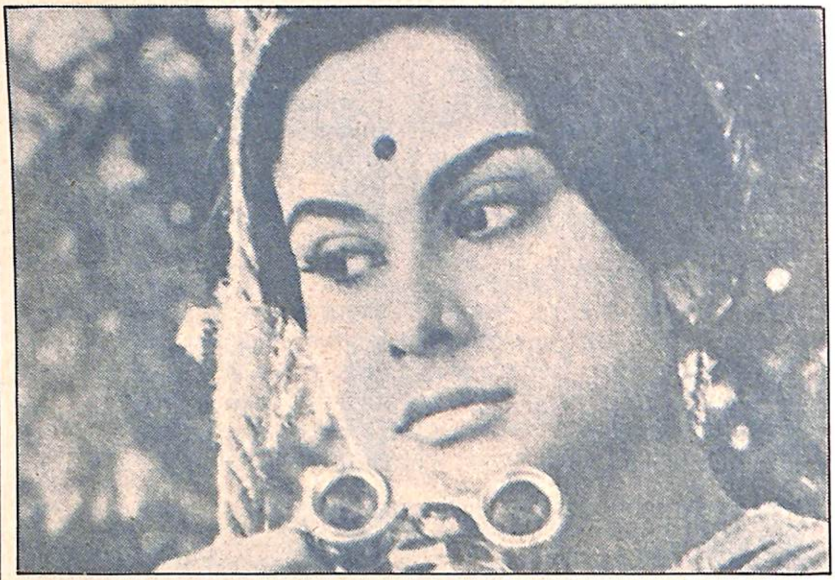
एक जमाने में हिंदी के कुछ अच्छे लेखक फिल्म विधा के प्रति आकर्षित हुए थे। अमृतलाल नागर, प्रेमचंद सरीखे लेखक उर्दू लेखकों की तुलना में बंबई में बेगाने साबित हुए। वे वहाँ जम नहीं पाए। स्वतंत्रता के तुरंत बाद उर्दू के अनेक अच्छे लेखक-कवि फिल्मों से जुड़े। हिंदी के कुछ गीतकार ही फिल्मों में दिलचस्पी दिखा पाए।

आज भी पचास और साठ के दशक के सर्वश्रेष्ठ फिल्मी गीत शैलेंद्र के हैं, जो मूल रूप से हिंदी के एक अच्छे कवि- गीतकार थे। राजकपूर की फिल्मों में शैलेंद्र के फिल्मी गीतों का सुंदर रूप देखा जा सकता है। 'दिल का हाल सुने दिलवाला' सरीखी सहज सुंदर 'जनवादी' अभिव्यक्ति आज भला फिल्मों में आसानी से मिल सकती है?

शैलेंद्र ही क्यों देवानंद की फिल्म (प्रेम पुजारी) में सचिन देव बर्मन के संगीत और किशोर कुमार की आवाज में नीरज के कुछ अच्छे फिल्मी गीत मौजूद हैं। 'फूलों के रंग से दिल की कलम से' और 'शोखियों में घोला जाए फूलों का शबाब' (जिसमें आगे जाकर रंग में पिघले सोना अंग से रस यों छलके' सरीखी रसपूर्ण पंक्तियाँ हैं) सरीखे गाने इसलिए भी अलग से आकर्षित करते हैं कि उनके पीछे एक कुशल गीतकार की कलम सक्रिय है।

आज स्थिति बहुत बदल गई है। जावेद अख्तर में पिता सरीखी प्रतिभा भले न हो लेकिन उनमें प्रतिभा तो है। पर फिल्मों के 'तेजाब- चोर युग' में वे प्यार का पहाड़ा गिनने के लिए मजबूर हैं। लेकिन खराब से खराब स्थिति में भी एक अच्छा साहित्यकार चालू प्रसंग को भी निखार सकता है।

हिंदी में पिछले दो-ढाई दशकों में जिन अच्छे फिल्मकारों ने कुछ अच्छी फिल्में बनाईं वे अक्सर हिंदी साहित्य के परिदृश्य से दूर रहने वाले फिल्मकार थे। कुमार शहानी ने एक बार रघुवीर सहाय की कहानी 'किले में औरत' पर एक टेली फिल्म की पटकथा अवश्य लिखी थी (जिसकी प्रति इस लेखक के पास सुरक्षित है) लेकिन यह फिल्म कभी बन नहीं पाई।



रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी पर आधारित सत्यजित राय की श्रेष्ठ फिल्म : चारुलता

श्याम बेनेगल ने अक्सर शमा जैदी या विजय तेंडुलकर की सेवाएँ प्राप्त कीं। यह भी गौर करने की बात है कि हिंदी की अपने समय की चर्चित कृति 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' पर अब जाकर बेनेगल ने एक अच्छी फिल्म बनाई है। इस फिल्म की पटकथा शमा जैदी की है लेकिन धर्मवीर भारती के मूल उपन्यास की बनावट ने भी इस फिल्म को एक अच्छा ढाँचा प्रदान किया है।

धर्मवीर भारती लंबे समय तक बंबई में रहे लेकिन फिल्म विधा से वे लगभग दूर रहे। यह भी अच्छी बात है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' पर बेनेगल सरीखे बढ़िया निर्देशक ने फिल्म बनाई। शुरू में इस उपन्यास पर फिल्म बनाने के अधिकार किसी और के पास थे।

हिंदी लेखकों में कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, शानी, मन्नू भंडारी, मृणाल पांडे आदि कुछ चुने हुए लेखक फिल्म और टेलीविजन से जुड़े रहे। हिंदी के अनेक लेखक मनोहर श्याम जोशी के 'सोप ऑपेरा' से जुड़ने को लेकर आलोचना जरूर करते रहे हैं। लेकिन अक्सर आलोचना करने वाले ये लेखक

फिल्म या टेलीविजन विधा के ढाँचे, उसकी जरूरतों, उसकी दिक्कतों को जानते ही नहीं हैं। फिल्म और टेलीविजन में पैसा ज्यादा है इसलिए आसानी से यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि लेखक बिक गया।

संभवतः यह समस्या कहीं न कहीं लेखक के अपने मिजाज से जुड़ी है। बहुत से लेखक फिल्म- टेलीविजन के ग्लैमर, लोकप्रियता, दबावों आदि से घबराते हैं। इस तरह के दबाव में काम करना उनके बस की बात नहीं होती है। इन लेखकों का संकोच तो समझ में आता है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि जो लेखक इन विधाओं से जुड़ें उनकी आलोचना भी की जाए। लेखक खराब फिल्म लिखे तो उसकी आलोचना उसी तरह से होनी चाहिए जैसे एक खराब रचना के बाद होती है। लेकिन फिल्म- टेलीविजन का अपना ढाँचा और अपनी शर्तें हैं। उन्हें ध्यान में रखकर ही रचनाकार की सफलता-असफलता को मापा जाना चाहिए।

कई बार लेखक पर्दे पर अपने चरित्रों को देखकर संतुष्टि नहीं महसूस करते हैं। इस बात का उन्हें पूरा अधिकार है। मगर धर्मवीर भारती यदि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के फिल्म रूप से संतुष्ट हैं तो यह इस बात का प्रमाण है कि लेखक- फिल्मकार एक-दूसरे के पूरक भी हो सकते हैं।

प्रसिद्ध जर्मन लेखक ग्युंटर ग्रास का एक बहुचर्चित उपन्यास है- 'द टिन ड्रम।' इस उपन्यास में एक ऐसे अनोखे बौने ऑस्कर के माध्यम से कहानी कही गई है, जो युद्ध की विभीषिका, समाज के पतन के विरुद्ध अपने विकास को रोक लेता है। वह ड्रम बजाता है, तो उसकी आवाज से शीशे टूट जाते हैं।

कहने का आशय यह है कि इस बौने की दृष्टि को सिनेमा के पर्दे पर लाना लगभग असंभव काम था। लेकिन जर्मन फिल्मकार श्लौंडोर्फ ने १९७९ में इस उपन्यास पर एक अविस्मरणीय फिल्म बनाई। स्वयं ग्युंटर ग्रास भी इस फिल्म को देखकर संतुष्ट थे। बौना ऑस्कर पर्दे पर आकर और भी असरदार ढंग से युद्ध और अमानवीयता के विरुद्ध अपना 'ड्रम' बजाता रहा। कान महोत्सव (फ्रांस) में इस फिल्म को सर्वश्रेष्ठ फिल्म भी माना गया।

ग्युंटर ग्रास की पर्दे के लिए मुश्किल नजर आने वाली कृति का फिल्मांकन सफल रहा लेकिन अच्छे, चर्चित और कालजयी उपन्यास पर्दे के लिए एक मुश्किल किस्म की चुनौती नजर आते हैं। नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक गाब्रिएल गार्सिया मार्केस का उपन्यास 'वन हंड्रेड ईयर ऑफ सॉलीच्यूड' दुनिया भर में चर्चित है। हॉलीवुड से शुरू होकर निजी निर्माताओं के प्रस्ताव मार्केस के पास आए कि हम इस उपन्यास पर फिल्म बनाना चाहते हैं। लेकिन मार्केस ने अनुमति नहीं दी।

हो सकता है भविष्य में किसी समर्थ फिल्मकार को मार्केस अनुमति दे भी दें। उनकी एक अन्य चर्चित कृति 'क्रॉनिकल ऑफ ए डेथ फोरटोल्ड' पर इतालवी फिल्मकार फ्रांचेस्को रोस्सी एक फिल्म बना भी चुके हैं, जो अगर बहुत अच्छी नहीं थी, तो खराब भी नहीं थी।

सिनेमा और टी.वी. के इतिहास में ऐसे असंख्य उदाहरण मौजूद हैं, जब श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों के अच्छे फिल्म रूप बने। रवींद्रनाथ ठाकुर, विभूतिभूषण, शरत्चंद्र, माणिक वंद्योपाध्याय, ताराशंकर वंद्योपाध्याय, समरेश बसु इन सभी चर्चित बंगला लेखकों ने फिल्मकारों को प्रेरित किया है। खुद सत्यजित राय की अनेक कालजयी कृतियाँ इन्हीं लेखकों की रचनाओं का पर्दे पर रूपांतरण हैं। प्रेमचंद की दो कहानियों पर राय फिल्में बना चुके हैं।

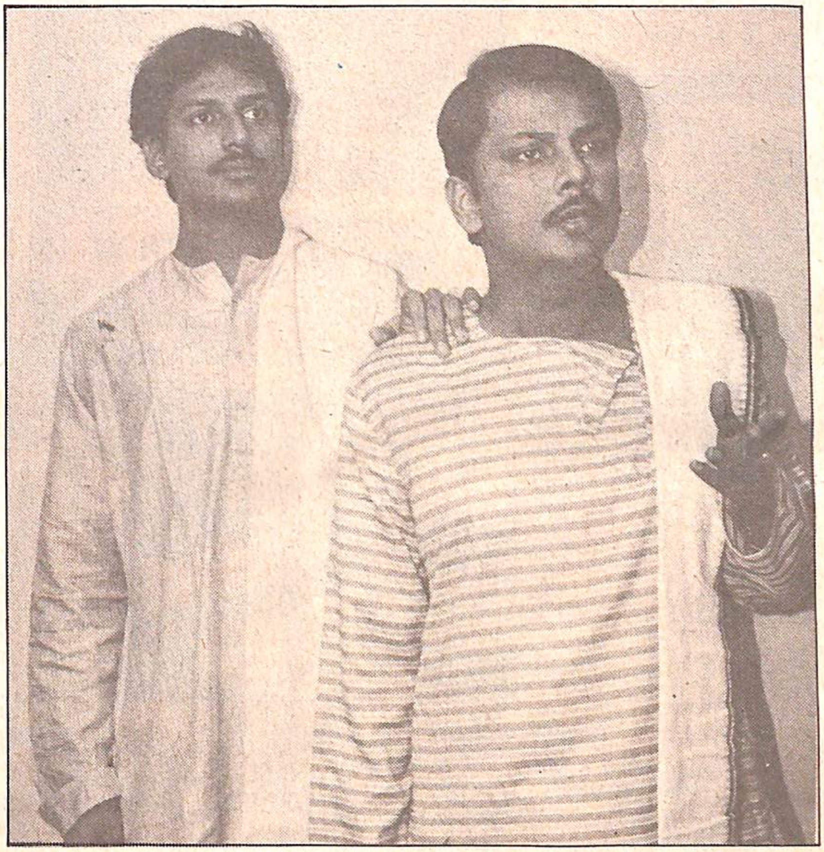
दूरदर्शन पर पिछले कुछ सालों में अनेक साहित्यिक कृतियों पर स्तरीय धारावाहिक बने हैं। शानी के उपन्यास 'काला जल' भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' शरत् के उपन्यास 'चरित्रहीन' आदि दर्जनों उदाहरण हैं जो दर्शकों को कालजयी कृतियों से परिचित करा रहे हैं।

यह सही है कि टी.वी. माध्यम ने किसी न किसी रूप में युवा और बाल दर्शकों की पढ़ने लिखने की आदतों पर खराब असर डाला है। आज का बच्चा अधिक से अधिक कॉमिक्स पढ़ना चाहता है। कल्पना शक्ति को विस्तार देने के बजाए वह कल्पना की कैद में रहता है। पर कुछ सर्वेक्षणों से यह पता चला है कि टी.वी. पर जब 'तमस', 'काला जल' आदि धारावाहिक दिखाए गए तो इन कृतियों की बिक्री पर भी महत्वपूर्ण असर पड़ा। दर्शकों का एक छोटा सा वर्ग परदे पर किसी कृति विशेष के पात्रों को देखने के बाद मूल कृति का स्वाद भी लेना चाहता है।

अच्छा तो यह होगा कि टी.वी. सरीखे माध्यम खुद अच्छे लेखकों से संपर्क करें, उन्हें प्रेरित करें। युवा लेखकों को पटकथा लेखन या सिने भाषा समझाने के छोटे-छोटे 'कोर्स' भी तैयार किए जा सकते हैं।

एक जमाने में पूर्व योरपीय देशों में श्रेष्ठ साहित्य को पर्दे पर लाने की सार्थक कोशिशें हुई थीं। लेकिन कालजयी कृतियों और ग्रंथों को पर्दे पर व्यावसायिक ढंग से पेश करने के भी कई खतरे हैं।

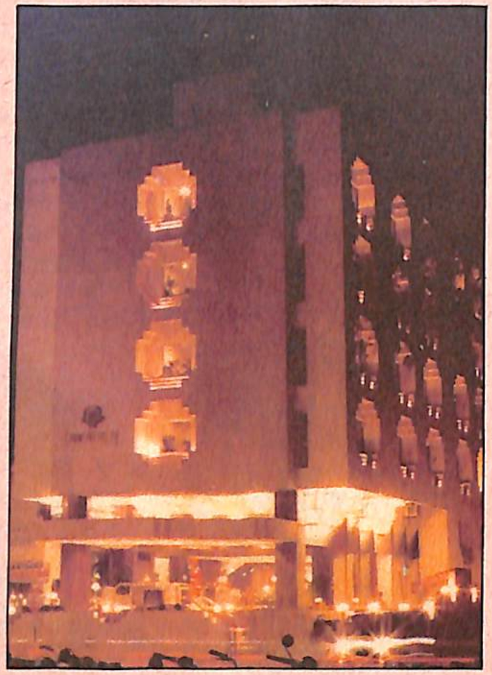
पंडित नेहरू की पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' पर श्याम बेनेगल ने जब धारावाहिक बनाया तो वह सामान्य दर्शकों द्वारा भी सराहा गया। प्रबुद्ध दर्शकों को भी यह पसंद आया। इस लेखक की यह दृढ़ धारणा है कि 'महाभारत' और 'रामायण' को अगर मसाला फिल्मकारों को न दे दिया गया होता, तो इन पर स्तरीय धारावाहिक बनते और वे भी दर्शकों द्वारा सराहे जाते। कम से कम दूरदर्शन उन दिनों 'सैटेलाइट युद्ध' का सामना नहीं कर रहा था। उसे 'बॉक्स ऑफिस' की चिंता भी नहीं थी। सवाल दृष्टि और समझ का था। ■

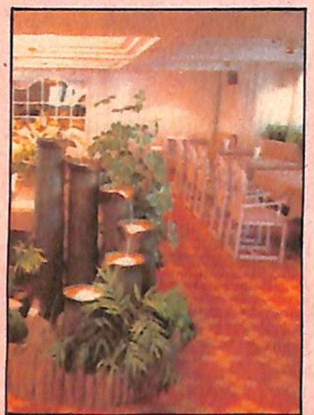


'चरित्रहीन' में मोहित शुक्ला-सतीनाथ

A Luxury So Fine And Ravishing. The Hospitality Worth Cherishing.

If you visit the historical turned commercial heart throb of Madhya Pradesh, the city of Indore, then you have more than enough reasons to stay in the President. Its Royal Hospitality is the first.







Whatever be the purpose of visit, whether business or pleasure, the President welcomes you to avail of the best facilities in the city.

- Exquisitely furnished AC and non AC Rooms expressly designed for a comfortable stay. EPBAX direct dialling from rooms.
- Piped three channel music and Colour Televisions in rooms for your entertainment.
- Fitnesse Health Club for a passionate pursuit of fulfilling life.
- Woodlands Restaurant for the best in South Indian cuisine.
- The Exclusive Conference - capacious hall replete with furnishings and audio/video display facility.
- The Executive Services - Secretarial assistance and efficient support services like Xerox, Fax, Stationery etc.
- The President travels - Exciting Excursions Transportation, Cars, Air and Rail bookings and Site seeing tours.

Besides **Shamiyana** - open air experience, **Mehta nursery** - ideal for a party in verdant surroundings and **Happy hours** all beckon you towards a Royal and fulfilling stay.

Hotel President
163, R.N.T. Marg, Indore 452 001
Phone : 433211; 433156; 433273
Gram : President ▷ Fax : (0731) 32230

ANKIT

Hotel PRESIDENT
Yes... your Highness

PRESIDENT EXCLUSIVE CONFERENCE HALL

THE EXECUTIVE CENTRE

PRESIDENT *Travels*

PRESIDENT FITNESSE

WOODLANDS PRESIDENT

President Travel is delighted to take care of Travel, Transportation and Accomodation of Textile conference delegates.

सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीति के बदलते परिप्रेक्ष्य में दूरदर्शन की भावी भूमिका को किस रूप में देखते हैं?

भारतीय दूरदर्शन को चाहिए निजी मुहावरा

● **रामशरण जोशी द्वारा विनोद दुआ से बातचीत**

जब दूरदर्शन शब्द का इस्तेमाल होता है, तो मेरी मंशा भारत सरकार के दूरदर्शन नेटवर्क से होती है। लेकिन जहाँ तक टेलीविजन का प्रश्न है, इसके अनेक चैनल हैं। मसलन, जी टीवी, स्टार, सी.एन.एन. आदि। इसलिए जब दूरदर्शन पर चर्चा होगी तब सिर्फ भारतीय दूरदर्शन पर होगी, दूसरे टीवी चैनलों पर नहीं होनी चाहिए।

मैंने करीब १८ वर्ष पूर्व दूरदर्शन के साथ अपने रिश्ते जोड़े थे। उस समय दूरदर्शन का प्रसारण करीब चार घंटे होता था, और वह भी रात्रि में। समय के साथ-साथ दूरदर्शन ने गति पकड़ी है। उसमें तेजी आई है। पर जितनी तेज गति टेलीविजन ने पकड़ी है, उतनी भारतीय दूरदर्शन ने नहीं। यह पिछले २० सालों का अनुभव है। शायद, गति पकड़ने की प्राथमिकता हमारी न रही हो। आप जानते ही हैं, जब पूरी दुनिया टेलीविजन के जरिए रंगीन हो चुकी थी, हम दूरदर्शन के परदे पर श्वेत-श्याम ही देख रहे थे। लेकिन १९८२ में एशियाड के दौरान हमारे यहाँ रंगीन टेलीविजन शुरू हुआ था, और वह भी 'लो-बैंड' का। जबकि बंगलादेश में भी 'हाई-बैंड' रंगीन टीवी दिखाया जा रहा था।

एक बात याद रखनी चाहिए। हमारे लिए टेलीविजन कभी प्राथमिकता नहीं रहा। लेकिन खाड़ी-जंग के बाद से इस ओर अपेक्षित ध्यान दिया गया है। हालाँकि १९८२ में इंदिरा गाँधी ने दूरदर्शन का नेटवर्क बनाने के लिए सोच लिया था। यह स्वीकार करना होगा कि आज दूरदर्शन का नेटवर्क, सैटेलाइट टीवी चैनलों से कहीं अधिक व्यापक व प्रभावशाली है। पर जो चीज प्रभावशाली नहीं रही वह है कार्यक्रम या जिस ओर मैं इंगित करना चाहूँगा, वह है कार्यक्रमों का मुहावरा। उदाहरण के लिए रेडियो के २० साल पुराने रूपक और नाटक उठाकर देखें और दूरदर्शन के उठाकर देखें, चरित्रों में समानता है। इसलिए मेरा यह कहना है कि दूरदर्शन ने अपना निजी व मौलिक मुहावरा यानी 'इडीयम' अभी तक विकसित नहीं किया है। आज भी दूरदर्शन के लिए कार्यक्रम बनाने वाले लोग अधिकतर रेडियो, फिल्मों, पत्रकारिता और रंगमंच से हैं। टेलीविजन से ही निकले लोग हों, ऐसा कैडर या 'वर्क-फोर्स' नहीं बन पाया है।

इसकी क्या वजह रही है?

इसकी सबसे बड़ी वजह यह रही है कि हम लोगों ने 'शोध और विकास' की ओर ध्यान नहीं दिया। सम्प्रेषण और कला के क्षेत्र में क्या-क्या अभिनव प्रयोग हो रहे हैं, उस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। उनसे सीखा जाना चाहिए था। संक्षेप में, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सर्जनात्मक क्षेत्र में होने वाले नए-नए प्रयोगों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए था। दूरदर्शन को इन प्रयोगों का लाभ मिलना चाहिए था।

तब यह मानें कि दूरदर्शन पिछड़ गया है...?

यह कहना थोड़ी जल्दबाजी होगी, क्योंकि पिछड़ने का अंदाजा कम्प्टीशन से लगाया जाता है। आज हमारे यहाँ जी टीवी है, स्टार टीवी है और भी कई चैनल हैं। इनके मुकाबले यह कहना कि दूरदर्शन पिछड़ गया है, जल्दी कहना होगा। मेरा यह कहना है कि दूरदर्शन अभी तो जगा है। अब जगने के बाद इसका प्रदर्शन कैसा रहता है, और यह इन दीगर चैनलों से कैसे मुकाबला करता है, तभी हम यह कहने की स्थिति में होंगे कि दूरदर्शन पिछड़ गया या नहीं पिछड़ा या अग्रणी है।

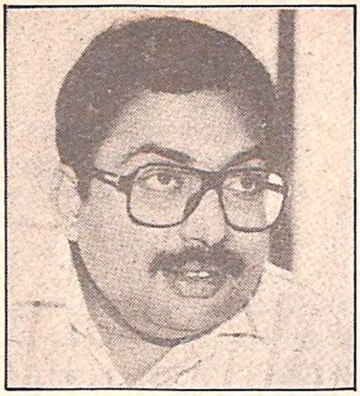
प्रतिस्पर्धा के संबंध में मेरा यह भी कहना है कि हम जितने भी मनोरंजन के कार्यक्रम देखें चाहे जी टीवी के हों या दूरदर्शन के अधिकांश फिल्मों पर आधारित हैं। मेरा यह मानना है जो प्रतिस्पर्धा चल रही है वह भी उधार का लिया हुआ मुहावरा है। जी टीवी और दूरदर्शन के कार्यक्रमों का कलेवर फिल्मों से लिया जा रहा है। अब रंगमंच से भी शुरू किया जाएगा, पत्रकारिता से भी शुरू किया जाएगा या हो रहा है। लेकिन टेलीविजन की अपनी एक अलग विधा है। अलग मुहावरा है। इस दृष्टि से जी टीवी और दूरदर्शन की अपनी स्वतंत्र पहचान नहीं बन पा रही है। इसलिए जब तक दोनों की मौलिक विधा नहीं बनती है, हम प्रतिस्पर्धा नहीं मान सकते।

विधा से मेरा तात्पर्य यह है कि कार्यक्रम सिर्फ टेलीविजन के लिए ही बनाए जाते हैं। बीबीसी के कार्यक्रम देखिए। इसके कुछ कार्यक्रम बीबीसी टीवी के लिए ही बनाए गए हैं। उदाहरण के लिए 'शो-फॉरमेट' फिल्म या रंगमंच से नहीं लिया गया है। यह सिर्फ बीबीसी के लिए ही बनाया गया है। इसके

'फ्लॉप-शो' के जरिए मुहावरे की तलाश



भारतीय दूरदर्शन का नेट-वर्क सैटेलाइट टीवी चैनलों से कहीं अधिक व्यापक और प्रभावशाली है। लेकिन कार्यक्रम प्रभावी नहीं हैं क्योंकि उनका 'मुहावरा' तय नहीं हो पाया है।



विनोद दुआ

साथ ही सोप ऑपेरा' जैसे कार्यक्रम बनते हैं, यह टीवी की विधा है। अब तो हमारे यहाँ भी सोप ऑपेरा बनने लगे हैं। इसलिए जब तक जी.टीवी और दूरदर्शन अपने ही कार्यक्रम नहीं बनाता है, स्वयं का मुहावरा विकसित नहीं करते हैं, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई है। एक बात और। दूरदर्शन को बाहरी टीवी के प्रभाव से भी मुक्त रहना होगा।

आप यह कहना चाहते हैं कि दूरदर्शन में मौलिकता का अभाव रहा है?

मैं ऐसा नहीं कहता। दूरदर्शन में भी मौलिकता रही है। मिसाल के तौर पर 'हम लोग' सीरियल को ही लें। इसमें चार या पाँच कैमरों का इस्तेमाल हुआ है। ऐसे भी नाटक किए हैं जिनमें कई कैमरों का इस्तेमाल किया गया है। यह टीवी विधा की अपनी पहचान है। लेकिन मुहावरे से मेरा अर्थ यह है कि दूरदर्शन के चरित्र वैसे ही मिलेंगे जो बीस वर्ष पहले थे। दूरदर्शन के उद्घोषक या उद्घोषिका की शैली में कोई गुणात्मक अंतर नहीं आया है।

कुछ औपचारिक किस्म की शैली अधिक लगती है, ऐसा क्यूँ?

क्योंकि यह सरकारी माध्यम है। जो औपचारिक है वह गंभीर है, जो अनौपचारिक है वह उच्छृंखल है। इसलिए फिल्मों के नायक-नायिका अधिक अनौपचारिक माने जाते हैं। हालाँकि मैं यह मानता हूँ कि अनौपचारिक होना उच्छृंखल होना नहीं है। औपचारिकता की वजह से ही दूरदर्शन में बड़े गंभीर उवाच होते रहे हैं। लेकिन इस तरह की अवधारणा एक विसंगति है।

आप एक लंबे अरसे से दूरदर्शन से जुड़े हुए हैं। गंभीर और सूचनात्मक किस्म के कार्यक्रम पेश करते आ रहे हैं। 'परख' आपकी ताजा पेशकश है। इस दृष्टि से अब तक के आपके अनुभव और दर्शकों का 'रिसपॉन्स' कैसा रहा?

सबसे पहले मैंने जो सूचनात्मक कार्यक्रम किया था वह था **'जनवाणी'**। वह दूरदर्शन का अपना कार्यक्रम था। मैंने संचालित किया था। क्योंकि वह अपने किस्म का पहला कार्यक्रम था इसलिए दूरदर्शन के दर्शकों ने उसे काफी पसंद किया। दूसरा कार्यक्रम था 'न्यूज लाइन'। वह अपनी किस्म की पहली न्यूज मैगजीन थी। वह भी काफी लोकप्रिय हुई। पहले समसामयिक विषयों पर कार्यक्रम परिचर्चा के रूप में हुआ करते थे। स्टूडियो में बुलाकर लिए जाते थे। लेकिन हम न्यूज मैगजीन जैसे कार्यक्रमों के जरिए स्टूडियो से बाहर गए। देश के विभिन्न इलाकों में पहुँचकर विशेषज्ञों से बातचीत की। यह भी एक नई कोशिश थी। इसके बाद भी मैं न्यूज ट्रैक, टाइम्स टीवी आदि से जुड़ा रहा। लेकिन सही मायनों में प्रणव राय के साथ किए गए चुनाव विश्लेषण के कार्यक्रम को काफी सराहा गया। देखिए, भारत जैसे अविकसित देश में सूचना की बहुत भूख होती है। इसलिए सूचनात्मक कार्यक्रमों को अच्छे ढंग से प्रस्तुत करने पर जनता उन्हें भी सोप-ऑपेरा के समान पसंद करेगी। अब **परख** को ही लीजिए। दर्शकों में इसे लेकर काफी उत्साह है। रोजाना ढेर सारे पत्र प्राप्त होते हैं। एक बात और जान लीजिए। जितने भी नए चैनल आ रहे हैं वे महानगर तक ही सीमित हैं। ये सबके सब बड़े शहरों के अभिजात्य वर्ग पर ही केंद्रित हैं। लेकिन हिन्दुस्तान का असली जनमानस छोटे शहरों और कस्बों में बसता है। दूरदर्शन का नेटवर्क ही उस तक पहुँच सकता है। अतः लोग परख को काफी सराह रहे हैं। परख की अपनी एक अलग पहचान है। यह व्यक्ति को भारतीय होने में गर्व महसूस कराएगा। परख का दूसरा मकसद अपनी-अपनी भाषा के प्रति स्वाभिमान के भाव पैदा करना है। मैं यह मानता हूँ कि अँगरेजी बोलने से ही गर्व व्यक्त नहीं होता है। हिन्दी की एक छवि बनी हुई है कि यह कुंठा, तनाव, संत्रास, दबाव आदि की भाषा है। मुझे शुरू से ही इस बात से चिढ़ है। इसलिए मैं प्रणव राय के साथ पूरे ठसके के साथ हिन्दी में चुनाव-विश्लेषण करता हूँ। ये ही दो बातें-भारतीयता और भाषा के प्रति सम्मान-मध्यम वर्ग का दर्शक देखता है। परख इस जरूरत को पूरा कर रहा है। मैं विश्वास के साथ यह भी कह सकता हूँ कि परख को किसी विदेशी कार्यक्रम की नकल नहीं पाएँगे। यही इसकी मौलिकता है। यही इसका मुहावरा है जो कि धीरे-धीरे विकसित हो रहा है।

मैं यह भी बतला दूँ कि गंभीर व सूचनात्मक कार्यक्रम समाज के लिए जरूरी होते हैं। इन्हें विज्ञापन मिलें, यह जरूरी नहीं है। इसलिए ऐसे कार्यक्रमों को सरकार को सहायता देनी पड़ती है। विदेशों में भी इसकी व्यवस्था है। इसे 'क्रास प्रोग्रामिंग सबसिडी' कहा जाता है। इस व्यवस्था के तहत यदि सप्ताह में आप सोप ऑपेरा के तीन कार्यक्रम दिखाते हैं, तो दो ऐसे कार्यक्रम दिखाने होंगे जिनका सामाजिक सरोकार हो। इनमें हम शिक्षा, पर्यावरण जैसे मुद्दों को शामिल कर सकते हैं। मैं यहाँ तक मानता हूँ कि सूचनात्मक कार्यक्रमों की माँग अधिक है। लेकिन प्रायोजक इसकी आवश्यकता को समझ नहीं पा रहे हैं। इसलिए मनोरंजन के कार्यक्रमों को ही विज्ञापन मिल रहे हैं। ■

धार्मिक समाज

*जनमानस को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले कार्यक्रमों में निश्चित रूप से 'रामायण', 'महाभारत' जैसे वे धारावाहिक रहे हैं जिनकी थीम धर्म आधारित रही है। इनकी लोकप्रियता चलित अर्थों में न होकर मानसिक रही है। यही कारण रहा है कि अनेक दर्शकों ने इन्हें अपने आराध्य देव की जीवनलीला के रूप में देखा है, तो कुछ ने सांस्कृतिक गाथा के रूप में। और इसी कारण समाज और मनुष्य के मनोविज्ञान पर इनका व्यापक प्रभाव भी पड़ता है। यहाँ प्रस्तुत है इन्हीं धारावाहिकों के सामाजिक पक्ष के संदर्भ में प्रख्यात समाजवैज्ञानिक **प्रोफेसर श्यामाचरण दुबे** से **चरणसिंह अमी** की भेंटवार्ता।*

आज के औद्योगिक समाज में मशीनी संस्कृति से पनपी नास्तिकता के दौर में भी रामायण, महाभारत सरीखे आस्तिकता प्रधान धारावाहिकों की सफलता के क्या कारण हो सकते हैं?

औद्योगिक समाज को नास्तिकता से जोड़ना भ्रामक हो सकता है। इन समाजों में आचार-व्यवहार के रूप बदल सकते हैं, सांस्थनिक ढाँचे में परिवर्तन हो सकते हैं, परंतु आस्था और विश्वास में गहरे अंतर आना आवश्यक नहीं। समाज में कर्मकांड का महत्व घटने पर ही दैवी शक्ति में विश्वास और उससे जुड़े मूल्य अनिवार्य रूप से परिवर्तित नहीं होते। बाइबिल सिर्फ धर्म ग्रंथ नहीं है उसमें संस्कृति के तत्व भी निहित हैं। यही बात कुरान पर भी लागू होती है। भारतीय संदर्भ में धर्म को रिलीजन का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। रामायण और महाभारत इस देश की विराट जनसंख्या की संस्कृति से जुड़े हुए ग्रंथ हैं। नास्तिक भी उनके सांस्कृतिक महत्व की अनदेखी नहीं कर सकते। आज की दुनिया में आधुनिकता तो बढ़ी है, पर उसके साथ एक नई सांस्कृतिक चेतना भी जागृत हुई है। हम बुनियाद की खोज कर रहे हैं, जड़ों की तलाश कर रहे हैं। इस स्थिति में 'रामायण' और 'महाभारत' धारावाहिकों में एक नया आकर्षण उत्पन्न हो गया। वर्तमान को समझने के लिए संस्कृति की मिथकीय और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना जरूरी है। चेतना का यह आग्रह हमें परंपरा और इतिहास की ओर ले जा रहा है। ये कुछ कारण हैं।

'रामायण', 'महाभारत' आदि में राम और कृष्ण के जो ईश्वरीय चरित्र हैं, भारतीय जनमानस इन्हें किस रूप में देखता है। अपने आराध्य देव के प्रति आस्था के रूप में या एक

धारावाहिकों का पर प्रभाव

□ श्यामाचरण दुबे

महान चरित्र नायक की जीवनगाथा के रूप में?

'रामायण' और 'महाभारत' दोनों धारावाहिकों को हिंदुओं ने भी देखा है, मुसलमानों ने भी। अन्य धर्मों में विश्वास करने वाले लोगों ने भी उन्हें देखा है। दर्शकों का एक भाग अवश्य उन्हें आस्था की दृष्टि से देखता था। कुछ लोग नहा-धोकर इन्हें देखने बैठते थे या राम या कृष्ण को पर्दे पर आते देखते ही हाथ जोड़ लेते थे। कभी-कभी आरती उतारी जाती थी और पहले-पहले तो प्रसाद भी बाँटा जाता था।

मतलब जनसाधारण ने उन्हें आराध्य देव के रूप में ही देखा?

जनसाधारण से आराध्य देव और विराट नायक में अंतर करने की अपेक्षा नहीं करना चाहिए। बहुत से पढ़े-लिखे लोगों ने इन्हें सांस्कृतिक महत्व के कारण ही देखा।

यहीं सवाल उठता है कि भारतीय समाज में जो ईश्वर की अवधारणा रही है, उसमें दूरदर्शन या फिल्मों में चित्रित ईश्वर की छवि से बदलाव आया या नहीं?

ईश्वर की अवधारणा मनुष्य समाजीकरण की प्रक्रिया से विकसित करता है। लोकजीवन उसे धर्म के सामूहिक और सांस्कृतिक पक्षों से परिचित कराता है। इन मूलभूत धारणाओं में दूरदर्शन या फिल्मों से बहुत बड़ा अंतर नहीं आता। विश्वासों की चित्रात्मकता और उनके रंग अवश्य बदलते हैं, उनकी आधारशिला नहीं।

यहाँ हम राम का उदाहरण लें कि राम की जो सदियों से चली आई भगवान की छवि है, उसे दूरदर्शन के राम की छवि ने कितना बदला या आज जो राजनीतिक स्तर पर राम की छवि इस्तेमाल की जा रही है यह कहाँ की है?

छवि के दो पक्ष होते हैं। एक शारीरिक छवि। दूसरी आध्यात्मिक छवि। शारीरिक छवि के रूप में संचार माध्यमों से कुछ अंतर आ सकता है। हिंदू देवी-देवताओं को कई पीढ़ियों ने राजा रवि वर्मा के चित्रों में देखा। अभिनेता- अभिनेत्रियों ने राम और सीता, कृष्ण और राधा के अलग-अलग रूप प्रस्तुत किए। इन्हीं की आध्यात्मिक छवि समाज में गहरे जमे हुए विश्वासों से उत्पन्न होती है, जो दूरदर्शन या फिल्मों से नहीं बदल सकती। यदि घर में सांस्कृतिक धार्मिक शिक्षा न दी गई हो तो जरूर संचार माध्यमों का प्रभाव अधिक व्यापक हो सकता है।

संचार माध्यमों का यह जो असर है यह किस समाज के दर्शकों पर अधिक पड़ा- दूरस्थ ग्रामीण अंचल के दर्शकों पर या शहरी समाज पर?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल है। गाँव में सिनेमा की पहुँच बहुत कम है। दूरदर्शन की कुछ अधिक। इसलिए संचार माध्यमों का असर तो गाँवों- कस्बों पर ही हुआ होगा।

कुल मिलाकर इन धार्मिक धारावाहिकों से धर्म की परिभाषा का विस्तार हुआ या संकुचन?

कहा नहीं जा सकता। जड़ों से जुड़ना आस्था को सशक्त ही करता है।

इस तरह के धारावाहिकों में घटनाक्रम और चरित्रों के जीवन प्रसंगों की प्रामाणिकता का संदेह निरंतर बना रहता है- ऐसे में आपकी राय में धर्म आधारित कृतियों का धारावाही प्रसारण क्या भ्रामक स्थिति उत्पन्न नहीं करता?

रामायण के तो तीन हजार से ज्यादा पाठ हैं। कृष्ण लीलाओं को कवियों, नाटककारों ने अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। बात आस्था की है। आस्था और विश्वास की है। ऐतिहासिक सत्य की नहीं। जहाँ आस्था है, वहाँ प्रामाणिकता है।

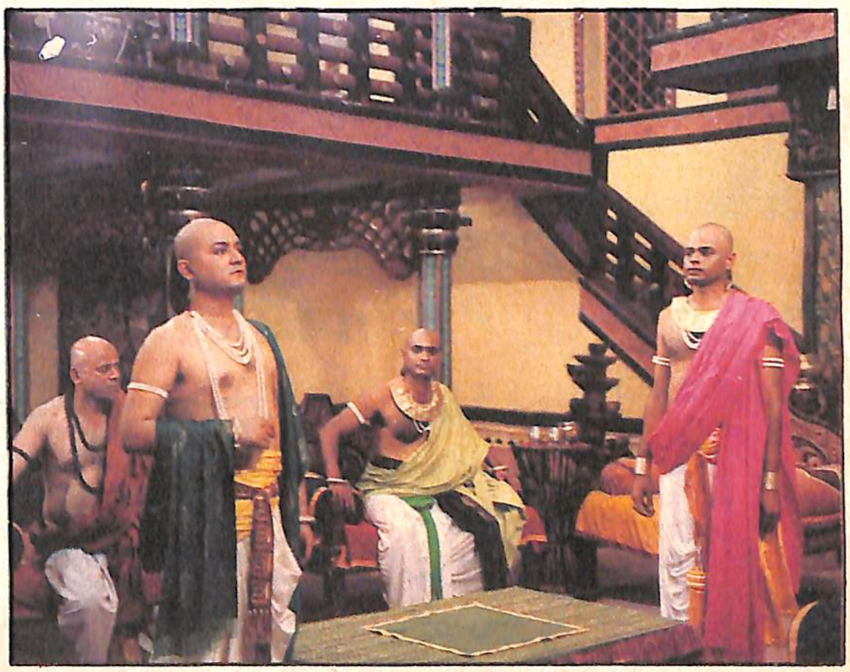
इनकी तुलना में दूसरी तरफ इतिहास-आधारित धारावाहिकों जैसे 'टीपू सुल्तान', 'चाणक्य', 'भारत एक खोज' आदि की समाज मानस को चैतन्य करने में क्या भूमिका रही? क्योंकि इतिहास और मिथक दृष्टि का समावेश इन सब धारावाहिकों में बराबर रहा है?

भारतीय संदर्भ में धर्म को परंपरा और मिथकों से अलग नहीं किया जा सकता। हमारी इतिहास दृष्टि में भी मिथकीय चेतना का समावेश है। राम और कृष्ण के चरित्र भले ही महर्षि वाल्मीकि और व्यास द्वारा निर्मित हों, किंतु जनता तो उन्हें ऐतिहासिक ही मानती है। 'चाणक्य' में इतिहास के पुर्ननिर्माण का आग्रह था और इस प्रक्रिया में यह धारावाहिक ऐतिहासिक तथ्यों से परे भी गया। 'भारत एक खोज' और 'भारत एक छाप' में तथ्यात्मक आधार अधिक था। किंतु आस्थाओं से जुड़े न होने के कारण उनमें वह चुंबकीय आकर्षण नहीं था जो 'रामायण' या 'महाभारत' में था। अपने धरातल पर ये अच्छे प्रयत्न थे और इनको सराहा भी गया।

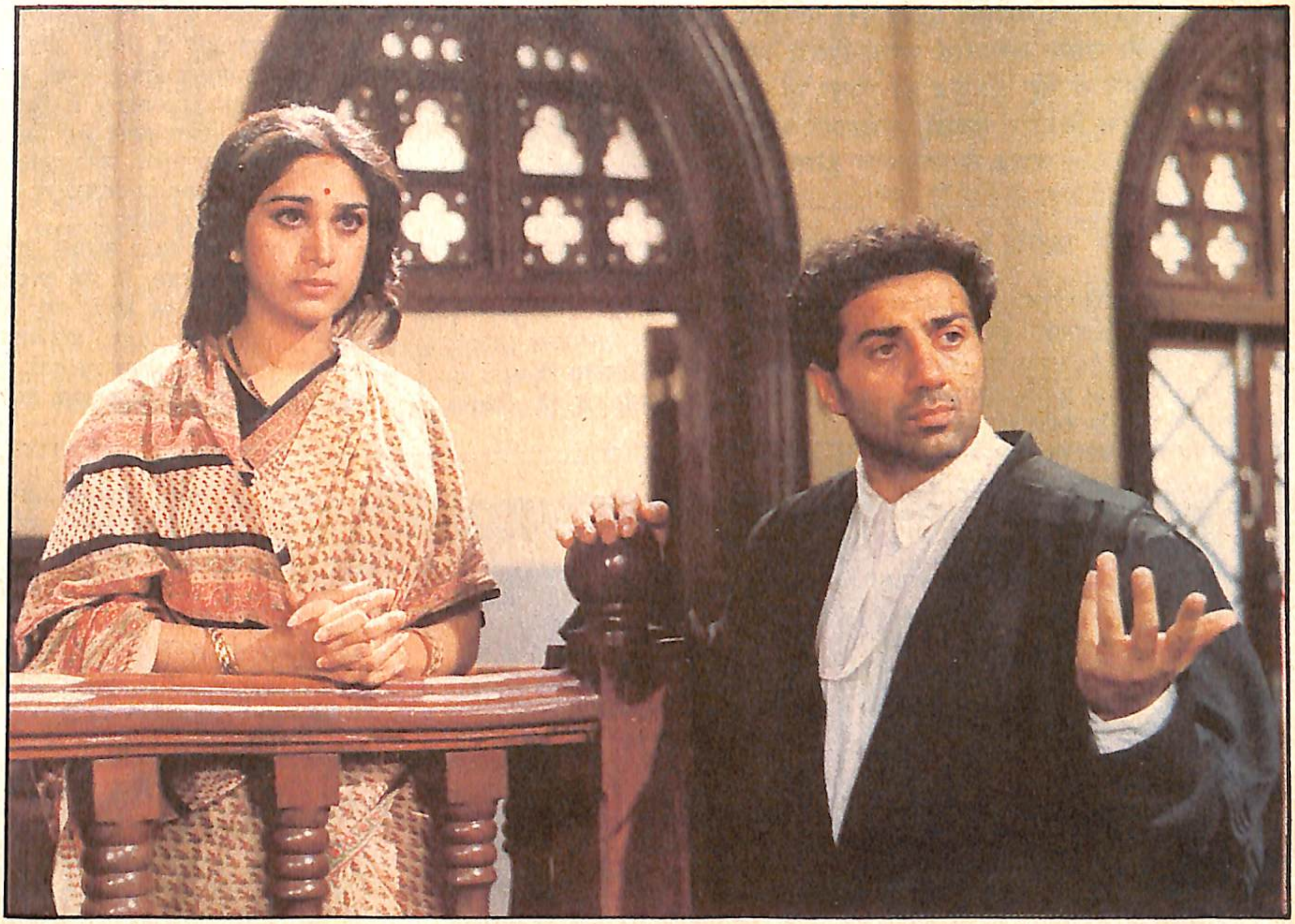
मौजूदा सांप्रदायिक उथल-पुथल के दौर में जनमानस पर ये धार्मिक धारावाहिक कैसा प्रभाव डालते हैं- सकारात्मक या नकारात्मक?

प्रभाव का मूल्यांकन करना कठिन है, क्योंकि प्रभाव दर्शकों भी मन:स्थिति पर भी बहुत कुछ अवलंबित होता है। संचार माध्यमों के अलावा अन्य साधनों से जो पूरक प्रयत्न किए जाते हैं वे भी प्रभाव को शक्ति और दिशा देते हैं। रामायण की कथा को हिन्दी भाषी क्षेत्रों ने तुलसीदास के माध्यम से समझा। क्षेत्रीय भाषाओं में भी उसके अनेक रूपांतर हैं जो जीवित संस्कृति के अंग हैं। कृष्णकाव्य परंपरा भी प्रायः विश्वव्यापी है इन सब धारावाहिकों का कुछ तात्कालिक प्रभाव अवश्य हुआ होगा, परंतु हम फिल्मों और धारावाहिकों को कितने दिन तक याद रखते हैं?

● साक्षात्कार : चरणसिंह अमी



सुरेन्द्र पाल : चाणक्य धारावाहिक का तनाव



फिल्म 'दामिनी' में मीनाक्षी शेषाद्रि और सनी देओल

सिनेमाई दर्शक होते हैं 'शुद्ध'!

● डॉ. विजय अग्रवाल

पिछले करीब एक दशक से सिनेमा और दूरदर्शन के रिश्ते को एक प्रकार से 'साँप और नेवले' के रिश्ते की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है। विशेषकर फिल्म उद्योग के लोग इसे अपना प्रतिद्वंद्वी बताते हुए समाज एवं सरकार से विशेष सहानुभूति की अपेक्षा करने लगे हैं। सिनेमा अपने अस्तित्व की आशंका से पीड़ित होकर जहाँ निराशा की मुद्रा अख्तियार करने का बहाना कर रहा है, वहीं इसके विपरीत दूरदर्शन दिन-प्रतिदिन आक्रामक मुद्रा अपनाकर पसरता चला जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप फिल्म जगत से जुड़े निर्माता- निर्देशक, अभिनेता-अभिनेत्री छोटे परदे की ओर भी जाने लगे हैं। इन सबने मिलकर कुछ ऐसा वातावरण बना दिया है कि लग रहा है मानो सिनेमा कुछ ही दिनों का मेहमान है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि दूरदर्शन के प्रसार तथा विशेषकर स्टार टी. वी. के आने से दर्शक विभाजित हुए हैं। अब वह समय नहीं रहा, जबकि गाँव एवं कस्बे के लोग मात्र फिल्म देखने की योजना बनाकर शहर आया करते थे और उनमें रातों-रात अपने घर लौट जाने का उत्साह होता था। फिल्म देखने की उनकी इस अति तीव्र जिज्ञासा को निश्चित रूप से दूरदर्शन ने मंद किया है। दूरदर्शन द्वारा फिल्मों के प्रसारण ने भी दर्शकों को कुछ घंटों के लिए उनके घरों में कैद किया है। स्टार टी. वी. पर भी फिल्मों के प्रसारण की संख्या बढ़ी है।

निश्चित रूप से इसका दुष्प्रभाव फिल्म दर्शकों की संख्या पर पड़ा है। फिलहाल सिनेमा के दर्शक घटे हैं तथा इससे निराश होकर अनेक सिनेमाघरों के मालिक अपने थियेटरों को व्यापारिक परिसरों में बदलना उपयुक्त समझने लगे हैं। नए सिनेमा हॉल तो बनने करीब-करीब बंद से हो गए हैं। गाँव के लोगों को भी वीडियो पर फिल्में देखने की सुविधा मिलने लगी है।

इन सारी परिस्थितियों को देखकर सचमुच सिनेमा के भविष्य के प्रति आशंका पैदा होती है, जो निराधार न होते हुए भी बहुत सही भी नहीं है। पश्चिमी देशों के उदाहरण हमारे सामने हैं, जहाँ 'दूरदर्शन क्रांति' बहुत पहले हो चुकी है, किंतु सिनेमा वहाँ आज भी उसी रूप में जीवित है।

वस्तुतः हमारी यह निराशा तब बढ़ती चली जाती है, जब हम केवल चित्रों की समानता के आधार पर दोनों को एक मानकर एकतरफा सोचना शुरू करते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि दोनों माध्यम 'पर्दे' के द्वारा अभिव्यक्त होने के बावजूद काफी कुछ अलग भी है। इसलिए इन्हें 'प्रतिपूरक' भले ही माना जा सकता है, किंतु 'प्रतिस्थापक' नहीं। दूरदर्शन कुछ समय के लिए भले ही सिनेमा को स्थगित कर दे किंतु हमेशा के लिए उसे स्थगित कर पाना उसके लिए संभव नहीं है, भले ही उसका पर्दा सिनेमा के पर्दे के आकार का ही क्यों न हो जाए। वस्तुतः इस आशा के पीछे मूल कारण है 'दोनों के दर्शकों का मनोविज्ञान', जिसे इसे

दूरदर्शन के सामने प्रायः पूरा परिवार साथ बैठकर कार्यक्रम देखता है। उसके आसपास माता-पिता/ भाई-बहन/ पत्नी-पति के दबाव रहने से वह असहज हो जाता है। दूरदर्शन का दर्शक समूह अपने बीच निरंतर संबंधों/ संस्कारों और सामाजिक मूल्यों की धारा से गतिमान होता रहता है।

पूरी गंभीरता और गहराई से समझना होगा।

दूरदर्शन एक 'पारिवारिक' तथा निहायत ही 'निजी' माध्यम है। इसकी पहुँच ड्राइंग रूम से 'बेडरूम' तक ही है। अपनी इस स्थिति के कारण इसके दर्शक का मनोविज्ञान एक भिन्न रूप लिए हुए होता है। इसका मुख्य रूप होता है 'अगंभीरता'। घर का वातावरण ऐसा होता ही नहीं कि उसके सदस्य, कम से कम दूरदर्शन के मामले में गंभीर हो सकें। सच तो यह है कि वे दूरदर्शन की ओर से भी किसी प्रकार की गंभीरता की अपेक्षा नहीं करते। उनकी चेतना में उसकी तस्वीर एक मनोरंजन करने वाले यंत्र से अधिक नहीं है। यहाँ हमें इस अंतर को समझना होगा कि दूरदर्शन पर किसी धारावाहिक, जैसे 'रामायण', 'महाभारत' आदि का लोकप्रिय होना अलग बात है तथा उसका गंभीर होना अलग बात है। इन दोनों अत्यंत लोकप्रिय धारावाहिकों की सफलता का मुख्य कारण इनकी कथाओं में निहित ऐतिहासिकता व उसके प्रति दर्शकों का श्रद्धा-भाव है। जब भी ऐसे कथानकों से दर्शकों का वास्ता पड़ता है, तो उनका हृदय भावुकता की लहरों पर तैरने- उतराने लगता है। ऐसा दूरदर्शन ही नहीं, बल्कि फिल्मों के साथ भी होता है। उदाहरण के तौर पर 'जय संतोषी माँ' की रिकार्ड तोड़ सफलता हमारे सामने है जबकि इसके विपरीत 'भारत एक खोज' जैसा सशक्त एवं गंभीर विषय अपने इतने अच्छे 'ट्रीटमेंट' के बावजूद उतनी लोकप्रियता नहीं पा सका। हाँ, उसे सराहना जरूर मिली।

सच तो यह है कि किसी के भी घर का माहौल ऐसा होता ही नहीं कि उस वातावरण में पर्दे पर गंभीर विषय अपनी प्रभावशाली शक्ति के साथ उभर सके। रसोईघर के बर्तनों की खनखनाहट, चाय की प्यालियों की टकराहट और चुस्कियाँ, दबी हुई आवाज में बच्चों की फुसफुसाहट, बीच-बीच में परिचितों का आना तथा स्वयं का भी उठ-उठकर जाते रहना जैसी सैकड़ों घटती हुई घटनाएँ न केवल उस वातावरण में खलल पैदा करती हैं, बल्कि दर्शक की चेतना को भी निरंतर बाधित करती हैं। उसे किसी भी एक बिंदु पर केंद्रित होकर अपनी स्वाभाविक गति से मनचाही दिशा की ओर अग्रसर होने से रोकती रहती है। यदि समूह का कोई दर्शक विशेष दूरदर्शन के कथा प्रवाह के समानान्तर गंभीर होता भी है, तो थोड़ी देर में उसकी यह 'गंभीरता' 'क्षोभ' (इरीटेशन) में तब्दील हो जाती है, क्योंकि उसके साथ के अन्य दर्शक उसके स्तर पर जाकर गंभीर होने को तैयार नहीं हैं। इसके फलस्वरूप उसकी चेतना अवांछित तथ्यों से परिपूर्ण होने लगती है, और धीरे- धीरे उसकी गंभीरता 'उदासी' अथवा 'निरीहता' में परिवर्तित हो जाती है।

यहाँ तक कि दूरदर्शन के ऐसे लोकप्रिय कार्यक्रम भी दर्शकों को चरम रसास्वादन कराने में असमर्थ होते हैं, जिनके विकल्प सिनेमा के रूप में उपलब्ध होते हैं। इसका मूल कारण होता है एक ही कार्यक्रम के भिन्न-भिन्न अंशों का भिन्न- भिन्न दर्शकों द्वारा भिन्न-भिन्न स्तरों पर रसास्वादन किया जाना। लेकिन इस बात की छूट सिनेमाघरों में ही होती है, रहने के घरों में नहीं।

दूरदर्शन पर प्रायः सारा परिवार एक साथ बैठकर कार्यक्रम देखता है। एक आदर्श परिवार की स्थिति में इस दर्शक समूह में दादा-दादी, माता-पिता तथा भाई-बहन शामिल होते हैं। यह समूह केवल एक-दूसरे से परिचित समूह भर नहीं है, बल्कि इनके मध्य

धारावाहिक 'चाणक्य' का निर्माण जिस भव्य पैमाने पर किया गया, उसे हमेशा भारतीय धारावाहिकों के इतिहास में एक क्रांतिकारी कदम माना जाएगा। 'चाणक्य' की कथा को इतिहास की चौखट में बैठाकर यथार्थ के धरातल पर पर्दे पर लाने का जो प्रयास डॉ. चंद्रप्रकाश ने किया, वह अपने आप में सराहनीय रहा। यह एक अलग बात है कि इस सीरियल के प्रसारण के दौरान कई तरह के विवाद उठे। अंततः हर विवाद के मामले में जीत डॉ. चंद्रप्रकाश की ही हुई। डॉ. चंद्रप्रकाश इस धारावाहिक के न सिर्फ लेखक बल्कि निर्देशक भी थे और 'चाणक्य' की भूमिका भी निभाई थी।

एक संस्कृत के अध्यापक के बेटे डॉ. चंद्रप्रकाश मूलतः मध्यमवर्गीय परिवार से आए हैं। वे कभी इस कदर लोकप्रिय होंगे, किसी ने सोचा नहीं था। वे हमेशा डॉक्टर बनने का सपना देखा करते थे। अभिनय, लेखन व थियेटर तो उनका शौक था। उन्होंने पाँच साल की पढ़ाई कर एम.बी.बी.एस. की डिग्री हासिल की और अपना क्लीनिक खोल कर बैठ गए। मरीजों को दवा देने का काम उन्हें 'रास' नहीं आया। वे सब कुछ छोड़कर इतिहास पढ़ने लगे। वे खुद बताते हैं 'मेरा पहला प्यार हमेशा अभिनय, लेखन, थियेटर और साहित्य रहा। मैं डॉक्टर की बजाए अभिनेता ही ज्यादा रहा। इसीलिए एक माह में ही मुझे अपना दवाखाना बंद करना पड़ा था। वे पढ़ने के भी शौकीन रहे। मैंने हमेशा यह ढूँढने का प्रयास किया कि हमारी वर्तमान समस्याओं से अतीत कहाँ तक जुड़ा है। इसी प्रक्रिया के तहत चलते-चलते 'चाणक्य' धारावाहिक बना। इसमें फिल्मी ग्लैमर से प्रभावित होने जैसी कोई बात नहीं थी।

आपको याद है कि आपने पहली बार कब अभिनय किया था?

मुझे कुछ धुंधली-सी याद है। छठी कक्षा की बात होगी। हमें किसी नाट्य प्रतियोगिता में जाना था। तब मैंने भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक 'अंधेर नगरी चौपट राजा' में अभिनय किया था। यह शायद १९७० की बात होगी। इसके बाद १९७९ में मैंने शंकर शेष का नाटक 'फंदी' किया था। इसमें मैंने वकील की भूमिका निभाई थी। इसके बाद मुझे लगा कि मुझे स्वयं नाटक लिखना चाहिए। फिर

हमारा दूरदर्शन क्या कर रहा है? तमाम विदेशी कार्यक्रम उधार लेकर परोस रहा है। पश्चिमी संस्कृति से बचने का एकमात्र तरीका यह है कि हम अपनी संस्कृति को अधिकतम प्रस्तुत करें। इससे दर्शक सोच सकेगा कि हम किस दिशा में आगे जा रहे हैं?

नाटक लिखने एवं अभिनय का सिलसिला शुरू हो गया। मैंने 'एकलव्य' 'बैताल उवाच' नाटक लिखे। इन दोनों नाटकों में अभिनय करने के साथ-साथ मैंने निर्देशन भी किया था।

लेखन, अभिनय की प्रेरणा आपको बड़े भाई प्रकाश द्विवेदी से मिली?

प्रकाशजी रंगमंच पर मुझसे पहले से सक्रिय थे, पर विचित्र बात तो यह है कि मैं उन्हें सलाह दिया करता था। मैं नाटकों का बहुत ही ज्यादा सक्रिय दर्शक था। मुझे काफी जानकारियाँ मिल रहीं थीं।

आप जो अभिनय करते हैं, उसकी प्रेरणा क्या होती है?

मैं खुद एक लेखक हूँ। लिखते समय ही भूमिका को देखता हूँ। इसीलिए लेखन के

निरंतर संबंधों, संस्कारों तथा सामाजिक मूल्यों की एक ऐसी धारा प्रवाहित होती रहती है, जो इनमें से प्रत्येक को समय- समय पर असहज बनाती रहती है। कम से कम भारतीय समाज की चेतना पर मूल्यों का दबाव इतना अधिक होता है कि वह परिवार के साथ बैठकर दूरदर्शन देखने वाले को 'सहज और सजग दर्शक' रहने ही नहीं देता। मध्यमवर्गीय परिवारों में लिहाज की दृष्टि से बचाव के लिए उठकर बार- बार जाना तथा पिता द्वारा कुछ दृश्यों की अनदेखी करते हुए इधर- उधर ताकना अथवा कुछ संवादों को अनसुना करने का भाव जतलाना आम बात है। इस प्रकार वह न तो समूह का अंग होता है, और न ही बिलकुल 'निजी'।

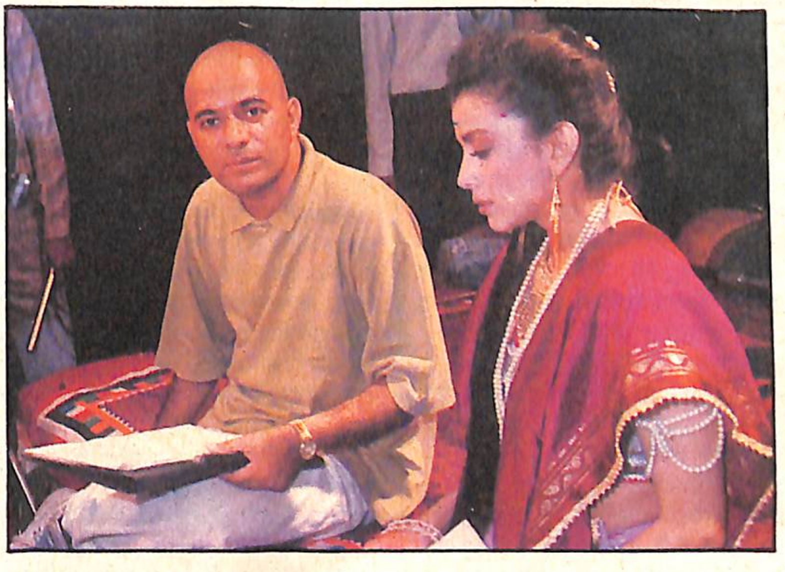
जबकि थियेटर में ऐसा बिलकुल नहीं है। वहाँ फिल्म के चरित्र के अनुसार आप अपना साथी चुनते हैं। ऐसा इसलिए, ताकि आप घर में दूरदर्शन के सामने पैदा हुए इस संकट से उबरकर एक 'सहज दर्शक' बने रह सकें। हालाँकि भीड़ वहाँ बहुत अधिक होती है, किंतु आप उससे पूरी तरह संपृक्त रहकर भी अपनी निजता बनाए रखते हैं। आपके ऊपर पिता, पति और पुत्र का आवरण न होकर महज एक दर्शक का रूप होता है, ताकि आप खिलखिलाकर हँस सकें, तालियाँ बजा सकें, कमेंट्स कर सकें और अपनी रुचि के अनुकूल दृश्यों की प्रशंसा और आलोचना कर सकें।

सिनेमा हॉल में व्याप्त अँधेरा अगल- बगल बैठे दर्शकों के बीच अपरिचय की एक हल्की सी चादर तानकर उनकी निजता की चेतना को और भी तीव्र करता है, ताकि दर्शक और भी अधिक सहज तथा 'शुद्ध दर्शक' बन सकें एवं स्वयं को भीड़ के मध्य पाने के बावजूद अकेला भी पा सकें। 'भीड़ के साथ अकेले' की यह अनुभूति दर्शक की स्वतंत्रता के प्रहरी का काम करती है और उसे एक साथ आवश्यकतानुसार 'सामूहिक' और 'निजी' आनंद की अनुभूति कराता है। थियेटर हॉल के अंदर का झीना वातावरण उसकी संवेदना को एक विचित्र किस्म के हल्के- हल्के रहस्य से भरता है, जो बाद में फिल्म के प्रदर्शन के

दौरान मैं जो कल्पना करता हूँ, उसे ही अभिनय से उभारने का प्रयास भी करता हूँ। दूसरी बात मैंने अब तक ऐसे चरित्र निभाए ही नहीं हैं, जिनके लिए मुझे वर्तमान कलाकारों की नकल करने या उनसे प्रेरित होने की जरूरत महसूस हुई हो। मैंने हमेशा मिथकीय या ऐतिहासिक विषयों पर ही नाटक लिखे हैं। और उन्हीं पात्रों को अभिनीत भी किया। 'चाणक्य' भी वैसा ही रहा।

लोगों का आरोप है कि आपने 'चाणक्य' को 'अंडर प्ले' किया।

ऐसा नहीं है। मुझे एक व्यक्ति के ६०-७० साल का विकास दिखाना था। जिसे ४८ एपीसोड में समेटना था। लेखक व निर्देशक भी होने के कारण मुझे पता था कि चाणक्य के व्यक्तित्व में नाटकीयता उत्तरार्द्ध में आती है। पूर्वार्द्ध में तो वह



चन्द्रप्रकाश और मालविका तिवारी

फिल्मी मोहमाया छोड़ना होगी

डॉ. चंद्रप्रकाश से सुषमा त्रिपाठी की बातचीत

सिर्फ विचारक है। २२ वें एपीसोड के बाद तो लोगों ने महसूस भी किया कि मैं एक अच्छा अभिनेता हूँ।

सिनेमा व दूरदर्शन के आपसी संबंधों के बारे में आप क्या सोचते हैं?

दोनों में कोई अंतर नहीं है। दूरदर्शन के लगभग सभी प्रसिद्ध कार्यक्रम फिल्मी ही नजर आते हैं। वास्तव में सारे धारावाहिक फिल्मों के मोह में बँधे हुए हैं। किसी भी धारावाहिक में सामाजिक दायित्व को लेकर कोई बात नई नहीं होती। भारत की पिच्चासी करोड़ जनता को दूरदर्शन के माध्यम से मनोरंजक कार्यक्रम के जरिए कुछ शिक्षा भी दी जानी चाहिए। इस मामले में सिनेमा के साथ-साथ हमारा दूरदर्शन भी आज तक असफल ही रहा है।

अब तो दूरदर्शन का दायरा बढ़ रहा है। कई नए चैनल भी शुरू हो गए हैं?

दूरदर्शन का दायरा बढ़ना ही चाहिए था। अन्यथा सैटेलाइट चैनल, दूरदर्शन का खात्मा कर देता। मगर इन सैटेलाइट चैनलों से घबराने की जरूरत नहीं है। इनकी भी अपनी सीमाएँ हैं। सैटेलाइट चैनल हमारे ऊपर जो कल्चर थोप रहा है, उससे दूर नहीं रहा जा सकता। यह तो विकास की सहज प्रक्रिया है। वैसे मैं मानता हूँ कि सभी कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं हैं। हमारा दूरदर्शन क्या कर रहा है। वह भी तो विदेशी कार्यक्रम एक्सचेंज करके परोस रहा है। हम इसे रोक नहीं सकते। अब हमें समय-समय पर नए-नए सिद्धांतों व कल्चर का पुनर्मूल्यांकन करना होगा। समय व समाज के विकास के साथ पुरातत्व मूल्यों को तौलने व परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

आज जो पश्चिमी कल्चर हमारे यहाँ आ रहा है उसे आप रोक नहीं सकते। इससे बचने के लिए जरूरत इस बात की है कि हम अपने समाज को अपनी संस्कृति के उच्च दर्शन कराएँ। जिसे देखने के बाद लोग सोच सकें कि हम किस दिशा में जा रहे हैं। हमारा भारतीय दूरदर्शन इस दिशा में कोई सार्थक पहल नहीं कर रहा है। 'रामायण' व 'महाभारत' जैसे धारावाहिकों में भी सांस्कृतिक पक्ष कमजोर था। हमारे यहाँ कल्चर की कोई कमी नहीं है। भारतीय जीवन के उत्तम शिखर मौजूद हैं, जिन्हें पश्चिमी देश आयात कर रहे हैं और हम अपनी सभ्यता, संस्कृति की तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं।

सिनेमा हॉल के अंधेरे में अजनबियों के बीच बैठकर दर्शक अपने को सहज तथा 'शुद्ध' पाता है। उस पर माता-पिता/ पति-पुत्र का कोई दबाव नहीं रहता। परदे के चरित्र के साथ वह हँसता/ उछलता और तालियाँ बजाकर मनोरंजन करता है।

साथ-साथ कथानक की संवेदना से तालमेल बैठाते हुए आगे बढ़ता है।

दूरदर्शन आप अपनी पसंद एवं स्तर के लोगों के साथ नहीं देखते, बल्कि घर के (केवल परिवार के नहीं) सभी सदस्यों के साथ देखने को बाध्य होते हैं। इसमें अतिथि के रूप में आए सदस्य तथा यहाँ तक कि कुछ कार्यक्रमों में घर पर काम करने वाले/वालियाँ तक शामिल होते हैं। रुचि की विविधता तथा संबंधों के स्तर कार्यक्रमों के प्रवाह के साथ-साथ बहते हुए संवेदना के प्रवाह में केवल बाधा ही नहीं डालते, बल्कि अनेक स्थानों पर उसे बलपूर्वक रोकते भी हैं।

फिर दूरदर्शन का यह 'दर्शक समूह' उद्देश्यहीन भी होता है। 'चूँकि कुछ लोग दूरदर्शन देख रहे हैं, इसलिए उसे भी देखना चाहिए', की भावना से अनेक दर्शक इस छोटे पर्दे के सामने बैठ जाते हैं और अपने अनमनेपन की गतिविधियों द्वारा वातावरण में एक शिथिलता (उबासी) पैदा करते हैं।

केवल इतना ही नहीं, बल्कि दूरदर्शन के कमरे की सजावट भी इतनी अव्यवस्थित एवं स्वाभाविक रूप से घरेलू रूप लिए होती है कि वह गंभीर दर्शक को भी गंभीर नहीं रहने देती। टेबल पर पड़े गद्दे, तिपाई पर रखे कप-प्लेट, तरकारी काट रही माँ, ऊँघता हुआ बालक, उल्टी पड़ी हुई चप्पलें, दरवाजों का खुलना और बंद होना तथा बीच-बीच में अनावश्यक रूप से आती पदचाप की ध्वनियाँ वातावरण को इतना अधिक अनौपचारिक एवं सहज बना देती हैं कि वह उस कार्यक्रम के साधारणीकरण के लिए असहज बन जाती है। वस्तुतः कमरे की यह अकृत्रिमता ही उसकी कृत्रिमता बन जाती है। जबकि सिनेमा हॉल की तथाकथित कृत्रिमता ही उसकी सहजता है, जो अपने वातावरण में प्रवेश करने वाले दर्शक को भी अपने प्रभाव से सहज बना देती है।

सिनेमा का दर्शक लंबे समय तक अपने साथ एक 'दर्शक की मानसिकता' लेकर चलता है। इस मानसिकता के निर्माण का आरंभ तब से हो जाता है, जब से सिनेमा हॉल में जाकर फिल्म देखने का विचार उसके मन में आता है। वह सबसे पहले विभिन्न बिंदुओं की तहकीकात करके फिल्म का चयन करता है, मसलन, निर्माता- निर्देशक कौन हैं, अभिनेता- अभिनेत्री कौन हैं तथा फिल्म का कथानक (रोमांस, रोमांच, हास्य आदि) क्या है? केवल इतना ही नहीं, बल्कि वह यह भी जानना चाहता है कि फिल्म किस थियेटर में लगी है तथा वह अमुक फिल्म किसके साथ देखने जाएगा। फिल्म के अनुसार ही वह अपने साथी का चयन करता है, ताकि वह फिल्म से अधिकतम आनंद प्राप्त कर सके। वह अपना समय निश्चित करता है, जाने के लिए सजता-सँवरता है, तैयारी करता है और एक निश्चित समय पर सिनेमा हॉल पहुँच जाता है। इस प्रकार सिनेमा देखने से पूर्व ही वह मानसिकता के स्तर पर उस फिल्म को जीने लगता है। 'फिल्म को देखने से पहले उसे मानसिकता के स्तर पर जीने की यह बात' वह महत्वपूर्ण प्रक्रिया होती है, जो उसे एक 'नामवाचक व्यक्ति' से परिशोधित करके एक 'शुद्ध दर्शक' बनाती है तथा उसे उसके घर के पते से अलग करके सिनेमा हॉल के पते से जोड़कर उसे 'दर्शक समूह' का हिस्सा बनाती है।

जबकि इसके विपरीत दूरदर्शन के साथ इस प्रक्रिया की संभावना ही नहीं है और जिनमें थोड़ी- बहुत संभावना थी, उन्होंने दर्शकों के आनंद को अपेक्षाकृत बढ़ाया भी है। उदाहरण के तौर पर 'रामायण' धारावाहिक। इसे देखने की मानसिक तैयारी दर्शक काफी पहले करने लगता था। यहाँ तक कि इस तैयारी में नहाना- धोना तक शामिल था, ताकि शुद्ध होकर श्रद्धा भाव से वह इसे देख सके। फिर भी यह मानसिक तैयारी फिल्म की मानसिक तैयारी हो ही नहीं सकती। इस बिंदु पर यह कहना गलत नहीं होगा कि वस्तुतः सिनेमा का दर्शक ही 'शुद्ध दर्शक' होता है।

सिनेमा का दर्शक एक उद्देश्य से फिल्म देखता है। चाहे वह उद्देश्य 'समय काटना' ही क्यों न हो। जबकि दूरदर्शन का दर्शक इसलिए दूरदर्शन देखता है, क्योंकि उसके पास यह सुविधा उपलब्ध है। ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप ही मिलेंगे कि कोई व्यक्ति दूरदर्शन का कार्यक्रम देखने किसी दूसरे तक के यहाँ गया हो। साफ है कि दूरदर्शन देखना उसकी प्राथमिकता अथवा अनिवार्यता नहीं है। जबकि यदि आप फिल्म देखते हैं, तो या तो वह आपकी प्राथमिकता होती है, अथवा अनिवार्यता। इसलिए जब आप फिल्म देखते हैं, तो आपकी कोशिश होती है कि आप उससे अपनी लागत अधिक से अधिक वसूल सकें।

वीडियो की सुविधा ने दूरदर्शन के दर्शक की मानसिकता को और भी कमजोर किया है। अब तो दूरदर्शन पर आने वाले कार्यक्रमों को आप रिकार्ड कर लीजिए तथा अपनी सुविधानुसार उन्हें देख लीजिए। इस प्रकार इसने दूरदर्शन के दर्शक के मनोविज्ञान को और अधिक अस्थिर करके उसे दर्शक की संज्ञा से वंचित किया है। ■

औरत महज औरत नहीं है

□ **निर्मला भुराड़िया**

आपने 'रिहाई' में नारी समानता का मुद्दा उठाया है। शादी या... में भी अन्याय के खिलाफ स्वर मुखरित होते हैं... क्या आगे भी ऐसे ही मुद्दे उठाएँगी, जो महिलाओं की सही स्थिति को उजागर करें और उन्हें हर क्षेत्र में न्याय दिलाने की पहल करें?

मैं निश्चित ही ऐसे मुद्दे उठाया करूँगी। मुझे लगता है कि ईमानदारी से ऐसे मुद्दे उठाए जाना जरूरी हैं, क्योंकि हमारे समाज में बहुत बातों को छुपाया जाता है और कोई 'बोल्ड स्टेप' नहीं उठाया जाता खासकर औरत और उससे जुड़े मुद्दों पर। एक तरफ कह दिया जाता है, 'अरे! यह तो औरतों का मामला है। यह उनकी अपनी समस्या है।' इस तरह इस बात पर विचार नहीं किया जाता। एक नजरिया यह है। दूसरी तरफ कह दिया जाता है 'अरे! यह तो 'वुमन्स लिबरेशन' (नारी स्वातंत्र्य) वाले हैं। 'एक्टीविस्ट' (सक्रियतावादी) हैं। उन्हें भूल जाओ। यानी यह भी ध्यान नहीं देंगे। तो फिर इन समस्याओं पर कौन ध्यान देगा और कैसे ध्यान देगा?

इसमें यह जरूरी नहीं कि मैं महिलाओं की ही समस्याएँ उठाऊँ। दरअसल हमदर्दी की भावना मुझमें बचपन से ही रही है; व्यक्तिगत जीवन में भी मुझमें यह बात रही है। व्यक्ति का जो स्वभाव बनता है, वह बचपन से ही बनता है और मैं बच्ची थी तब से ही मुझे यह आदत थी कि कोई पिल्ला है वह घायल है। उसको तकलीफ है या वह भूखा है, तो उसे उठाकर घर ले आती थी। अतः यह जरूरी नहीं कि मैं औरतों की समस्याएँ ही उठाऊँ। कोई भी उपेक्षित या दमित हो तो मुझे ज्यादा हमदर्दी महसूस होती है, यह सच है। यह कोई मर्द भी हो सकता है। मगर वस्तुस्थिति यह है कि हमारे समाज में औरतें ज्यादा दमित हैं और उनके प्रति ज्यादा अन्याय होता है इसलिए सहज ही मेरा झुकाव औरतों के विषय उठाने पर है। ऐसा नहीं कि मैं पुरुषों के विषय नहीं उठाती। जैसे दलितों

अरुणा राजे ने अपने पति विकास देसाई के साथ मिलकर शर्त, गहराई और सितम जैसी लीक से हटकर और चर्चित (या विवादास्पद?) फिल्में बनाईं। पति से निजी और व्यावसायिक अलगाव के बाद इन्होंने निर्देशन जारी रखा और अपने ही बूते पर एक फिल्म बनाई 'रिहाई'। यह फिल्म चर्चा का विषय बनी। कुछ आलोचकों ने इसे आपत्तिजनक और विवादास्पद माना तो कुछ ने बोल्ड। मगर कुछ लोगों ने स्वीकार किया कि इस फिल्म के माध्यम से अरुणा ने पुरुष समाज के दोहरे मापदंडों को न सिर्फ उजागर किया बल्कि औरत के पक्ष को सशक्त रूप से उभारा भी। फिल्म निर्देशक अरुणा-फिल्म संपादक, लेखिका और कवयित्री भी हैं। अब वे सिर्फ बड़े पर्दे की निर्देशिका ही नहीं बल्कि दूरदर्शन से भी जुड़ गई हैं। जी.टीवी पर उनका ***शादी या...*** *धारावाहिक चर्चित रहा है। कुछ बोल्ड दृश्यों को ड्राइंग रूम तक पहुँचाने की चंद शिकायतों और आपत्तियों के बावजूद इनका यह धारावाहिक सराहा गया। खुद अरुणाजी का क्या कहना है इन तमाम आपत्तियों के बारे में और इनके मद्देनजर अपने पक्ष और अपने कैरियर के बारे में उन्होंने इस बेबाक मुलाकात में साफ-साफ बताया है।*

पर मैंने एक फिल्म बनाई थी 'भाखरी या फूल'। (पर्यावरण जैसे विषयों पर भी काम किया है) लेकिन बुनियादी तौर पर मेरी प्रवृत्ति रही है कि दमितों और उपेक्षितों के लिए कुछ करूँ। इसलिए औरतों की समस्या की ओर मैं खिंचती हूँ। फिर औरत होने के नाते मैं ज्यादा गहराई से समझ सकती हूँ कि उनकी समस्याएँ क्या हैं? मैं हमेशा कहती हूँ कि औरत को केंद्रीय भूमिका में रखकर एक मर्द 'फिल्म-मेकर' फिल्म बनाए और यही फिल्म एक औरत ज्यादा गहराई से बात समझा सकेगी क्योंकि मर्द एक हद तक औरत को समझ सकते हैं और एक हद तक उन्हें 'रोमांटीसाइज' भी कर सकते हैं मगर समस्या की तह तक नहीं पहुँच पाते।

महिलाओं के सामाजिक दर्जे को बदलने में महिला फिल्म मेकर्स की निश्चित ही एक खास भूमिका होना चाहिए। इसके अलावा भी फिल्म और टीवी एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो घर-घर तक विचार पहुँचाता है अतः सिर्फ महिला 'फिल्म-मेकर्स' की ही नहीं, सभी की यह भूमिका होना चाहिए। मैं मानती हूँ कि हम रातों-रात समाज को नहीं बदल सकते। लेकिन हम धीरे-धीरे सोचने का तरीका जरूर बदल सकते हैं, नहीं तो सुधार कैसे होगा? जब लोग बुरी चीजों को फिल्म देखकर या अखबार और पत्रिकाओं में पढ़कर सीख सकते हैं तो क्या अच्छी चीजें नहीं सीख सकते? चाहे प्रिंट मीडिया हो या टीवी या फिल्म इनसे लोग रहने का ढंग, खाने-पीने का ढंग, बर्ताव आदि सीखते हैं तो फिर मीडिया से अच्छी बातें भी सीख सकते हैं। अतः इनमें से जो भी माध्यम जिसके पास है उसको उसका उपयोग अच्छे के लिए करना चाहिए।

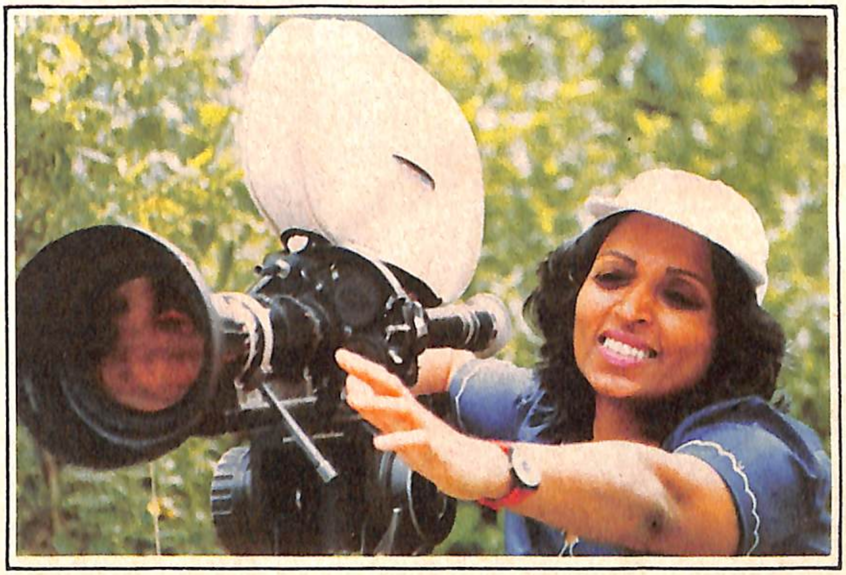
एक बात और है। हमारे समाज में औरतें खुलकर बोल नहीं पातीं। मर्दों को शायद ज्यादा बोलने वाली औरतों से डर होता है कि ये हम पर हावी न हो जाएँ। आप देखें आम घरों में यह काफी सुना जाता है कि तुम बहुत बोलती हो। इस बहुत बोलती हो का मतलब क्या? कोई कोटा होता है औरत के लिए कि वह इतना ही बोलेगी? उसको आप इतना नासमझ क्यों समझते हैं। क्या उसे भगवान ने किसी और इंसान से कम बुद्धिमत्ता दी है। तो क्या औरत को जो मन में आया वह सहज रूप से अभिव्यक्त करने की भी छूट नहीं है? हर औरत को पति कभी न कभी जरूर बोला होगा, 'तुम बहुत बोलती हो।' वे समझते ही नहीं कि वे बोलने के काबिल हैं क्योंकि उन्होंने उसे दबाकर रखा है। अतः मैं सोचती हूँ कि मैं उन लोगों की तरफ से आवाज उठाऊँ जो बोल नहीं पातीं।

झोपड़-पट्टी की महिलाएँ तो कुछ भी कर डालती हैं। पति दारू पीकर मारे तो पलट कर हाथ भी उठा सकती हैं। मगर मुश्किल तो मध्यमवर्गीय महिला की है क्योंकि वे नैतिकता से बँधी हैं। प्रतिकार करना तो दूर वे बोल भी नहीं पातीं। मुझे कई मध्यमवर्गीय महिलाओं ने कहा है कि आप ही हमारी आवाज हैं। हम हमारे पति के सामने कुछ नहीं कहेंगी मगर हम आपके साथ हैं। आप अपना काम जारी रखिए। कई मध्यमवर्गीय पति मेरे आलोचक हैं। मगर मुझे उसकी कोई फिक्र नहीं है क्योंकि आलोचनाओं का भी मैं स्वागत करती हूँ, मुझे भी तो अपने आपको परखना है। मुझे ऐसा भी नहीं है कि मर्दों से कोई नाइंसाफी करना है। वे अपने लिए बोल लेते हैं इसलिए मुझे उनकी आवाज बनना है जो बोल नहीं पाते।

आपके व्यक्तित्व पर बचपन का क्या प्रभाव रहा?

मेरे पिता एक स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। फिर राजनीति में थे। वे मंत्री भी बने कई बार।इसके अलावा मेरे माता-पिता दोनों ही समाजसेवी भी रहे। उनको मैंने देखा है बदलती दुनिया में गुजरते हुए। मिनिस्टर्स सीट पर होने के बावजूद मैं जानती हूँ उन्होंने कितनी तकलीफ झेली है क्योंकि अब गाँधीवादी मूल्यों की कोई कीमत नहीं रह गई है। अब दुनिया अलग है। यह सब बातें मुझे अपने सामने रखे आईने की तरह लगती हैं। जिसमें मुझे सब कुछ देखने को मिला है। बचपन में देखे यही गाँधीवादी विचार मुझे बाद में भी याद रहे।

दूसरी बात यह है कि मुझे बचपन में पढ़ने का बहुत ही शौक था। मुझे 'किताबी कीड़ा' (बुक वार्म) कहा जाता था। अभी भी यदि मेरे पास पैसा आता है तो मैं जेवर या कपड़े खरीदने के बजाए किताबें खरीदना अधिक पसंद करती हूँ। बचपन से ही मुझे फिल्में देखने का भी बहुत ज्यादा शौक रहा है। हफ्ते में कई बार चार-पाँच फिल्में भी देखती थी। एक 'ऑबसेशन' सा था मुझे फिल्मों के प्रति। हम पाँच बच्चे थे घर में। हम सब मिलकर फिल्म बनाने का खेल भी खेला करते थे। हमने खुद का एक प्रोडक्शन बना लिया था, ऑस प्रोडक्शन नामक। ए यानी मैं अरुणा, यू यानी मेरी बहन उमा, एस, एस सत्या और चारों मिलकर पढ़ी हुई स्टोरीज उठाते कभी ट्रेजर आइलैंड करते कभी और कुछ। जो फिल्म करना है उसके सीन बना लेते थे, अभिनय करते, सब कुछ पिक्चराइज करते थे। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि मैंने यह कैरियर चुना।



अरुणा राजे : नारी शक्ति की प्रतीक

अकेली महिला को फिल्म इंडस्ट्री में कोई समस्या आई? या कोई चुनौती महसूस की?

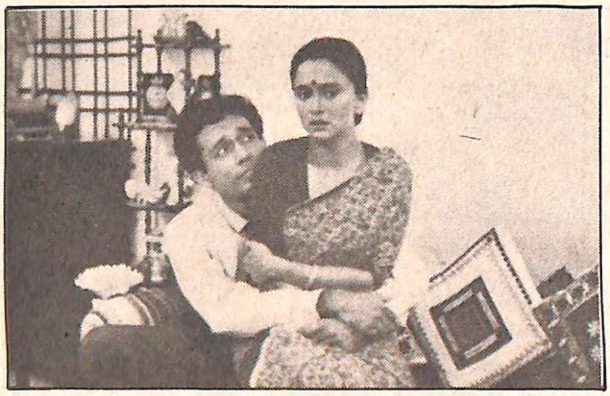
महिला होकर काम करना इतना आसान

हमारे समाज में औरतें खुलकर बोल नहीं पातीं। मर्दों को शायद ज्यादा बोलने वाली औरतों से डर होता है कि ये कहीं हम पर हावी न हो जाएँ। आम घरों में यह काफी सुना जाता है कि तुम बहुत बोलती हो। क्या कोई 'कोटा' होता है औरत के लिए कि वह इतना ही बोलेगी। हमारे समाज में औरतें ज्यादा दमित हैं और उनके प्रति ज्यादा अन्याय होता है इसीलिए मैं फिल्म हो या टीवी के लिए औरतों के विषय को प्राथमिकता देती हूँ।

नहीं है। खासकर यदि आप कामकाज के उच्चस्तर पर हों। निचले स्तर पर काम करने वालों को शायद ऐसी समस्याएँ न हों क्योंकि अलग-अलग स्तर के व्यक्तियों के दोहन की किस्में भी अलग-अलग होती हैं। उच्चस्तरीय काम करने वाली महिलाओं की समस्या यह है कि कामकाज के स्तर पर ज्यादा ऊँचा बढ़ो तो लोगों को अच्छा नहीं लगता। यह समस्या सिर्फ भारत में नहीं है कहीं भी मर्दों को औरत से ऑर्डर्स लेना अच्छा नहीं लगता, जबकि एक पोजीशन में आने के बाद आपको ऑर्डर्स देना पड़ते हैं। वैसे एक और बात है जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि मर्द काफी 'स्पोर्टिंग' भी होते हैं। क्योंकि एक वे हमारे सहयोगी बन जाएँ और एक बार उन्हें यह पता चल जाए कि यह महिला अपना काम जानती है तो वे जरूर उसका सम्मान करते हैं। किसी महिला को न स्वीकार करने की कठिनाई बहुत शुरूआती है। जैसे कि पहले मैं बिल्कुल लड़की लगती थी। लोग सोचते थे यह लड़की क्या कर पाएगी। काफी साल तक मेरे साथ यह समस्या रही। लोग मुझे गंभीरता से नहीं लेते थे। वे कहते थे आपने ये फिल्म्स डाइरेक्ट की हैं मगर आप तो लड़की हैं छोटी-सी। लोग यह भी पूछते कि आपने इतने बड़े-बड़े स्टार्स को हैंडल किया है? इस सबका तात्पर्य यही कि



अरुणाराजे : शादी या ...



अरुणा राजे का धारावाहिक 'शादी या...?'

एक महिला की लियाकत को लेकर लोगों के मन में बहुत सवाल होते हैं, मगर यदि आपको आपका काम पता है तो आपको रोकने वाला कोई नहीं है।

दूसरी एक बात और मैंने कभी अपना औरत होना इस्तेमाल नहीं किया। मुझे बहुत तकलीफ होती है जब मैं कुछ औरतों को देखती हूँ अपने आपको इस्तेमाल करते हुए। ऐसा नहीं कि सभी औरतों पर अन्याय हो रहा है। जैसे मर्दों में अच्छे-बुरे होते हैं औरतों में भी अच्छी-बुरी होती हैं। औरतें कहीं पहुँचने के लिए खुद का प्रयोग करें यह मुझे अच्छा नहीं लगता। इसलिए मुझे लगता रहा है कि जहाँ मैं काम करती हूँ वहाँ लोग मुझे औरत समझकर नहीं देखें। एक व्यक्ति के तौर पर देखें। इसलिए काम के माहौल में मैं कभी साड़ी नहीं पहनती। कभी बिंदी नहीं लगाती। आभूषण नहीं पहनती। यानी औरतें खूबसूरत दिखने के लिए जो भी चीजें करती हैं वो मैं काम के समय नहीं करती। हाँ,घर में कोई फंक्शन या पार्टी वगैरह है, तो मैं यह जरूर करती हूँ। वरना जीन्स और टी-शर्ट ही मेरा यूनिफार्म है ताकि लड़कों के साथ लड़का बनकर काम करूँ। मैं बचपन में भी टॉम-बॉय किस्म की थी इसलिए मेरे लिए यह और आसान हो गया। मैं यह भी नहीं सोचती हूँ कि मैं औरत हूँ, तो मुझे यह काम नहीं करना है। जब फर्नीचर उठाना है तो मैं पहले जाकर उठाने की कोशिश करती हूँ। फिर सब लोग आ जाते हैं मेरी मदद के लिए। शॉट लेना है तो सबसे पहले मैं उठती हूँ छत पर या कहीं भी। खतरनाक सिचुएशन में भी मैं पहले जाती हूँ केवल निर्देश नहीं देती। इन सब बातों का मतलब यही है कि लोग आपको सिर्फ एक औरत नहीं बल्कि एक व्यक्ति समझकर देखें तो आपको वह सब करना पड़ेगा, जो हर सामान्य व्यक्ति करता है।

आप फिल्मकार ही नहीं लेखिका भी हैं। लेखिका के रूप में आपने क्या किया है?

स्कूल में थी, जब कविता लिखती थी। फिर कहानियाँ लिखने लगी। लिखना मेरा शौक था। अभी भी मैं लिखती हूँ। हाल ही में मैंने एक कविताओं का संग्रह तैयार किया है। अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

मैं देवदासियों पर एक फिल्म बना रही थी (इसके लिए इन्हें महाराष्ट्र स्टेट अवार्ड भी मिला है) 'पतित-पावना'। यह मराठी और कन्नड़ दोनों में बनी है। छोटी-छोटी १०-१२ साल की बच्चियों को देवी यलम्मा को भेंट करते हैं। मगर यहाँ से वे 'रेड लाइट एरिया' में पहुँचा दी जाती हैं। इन बच्चियों के दुःख बहुत भयानक हैं। इसके लिए मैंने रेड लाइट एरिया में जाकर भी शूटिंग और रिसर्च किया। इतना करीब से यह सब देखा कि एक-डेढ़ साल के लिए तो मेरी नींद हराम हो गई। इतनी बेचैनी थी कि मैं कुछ भी नहीं कर पाती थी। मेरा गला घुटने लगा। जबड़े कस जाते। इन जिंदगियों को देखकर मैं बहुत तनाव में थी। इनकी कहानियाँ सुनकर दृश्य देखकर मन अथाह पीड़ा से भर गया था। यह सब कविताओं के रूप में बाहर आया।

क्या लेखक होने से निर्देशक होने में कोई मदद मिलती है?

बहुत मदद मिलती है। न सिर्फ लेखन, बल्कि फिल्म संपादन जानने की वजह से भी। क्योंकि कई बार ऐसा होता है लेखक कुछ भी लिखता है। यानी जितना उसका मन दूर जाता है, जहाँ-जहाँ जा सकता है, वह लिखता है, वह दुनियाभर का कुछ भी लिख सकता है। लेकिन जब उसे फिल्माते हैं, तो जो मन में है वह सब फिल्माना मुमकिन नहीं होता। एक सीमा तो शायद तकनीक की हो। तकनीक ठीक है, तो शायद पैसे की हो, क्योंकि प्रोड्यूसर के पास उतने पैसे नहीं होते। एक सीमा होती है कि इतने में ही इसको करना पड़ेगा, उससे ज्यादा पैसा खर्च नहीं कर सकते। ऐसे में यदि मैं लेखक भी हूँ और फिल्म सम्पादक भी हूँ तो मुझे प्रोजेक्ट की सीमाएँ मालूम होंगी। जो नहीं होता वह लिखने में मतलब नहीं यह मैं जानती हूँ।

टीवी और फिल्म में आपको कौन-सा मीडियम कम्फर्टेबल लगता है?

फिल्म। मुझे फिल्म में जो रचनात्मक संतुष्टि मिलती है वह टीवी में नहीं मिलती।

शायद इसलिए कि मैं फिल्म माध्यम में बड़ी हुई इसलिए। फिर टीवी के कुछ रिस्ट्रिक्शन भी हैं जैसे छोटा पर्दा। मगर टीवी के कुछ लाभ भी हैं आप सीधे लोगों के घर में पहुँच जाते हैं और ऐसा लगता है आप घर में बैठकर बोल रहे हैं। घर-घर में पहुँचना लोगों के बहुत नजदीक होना लगता है। मगर मेरा पहला प्यार बड़ा पर्दा है। दरअसल मीडियम के हिसाब से दोनों का ट्रीटमेंट ही अलग है। कई बार मेरे हाथ में दोनों काम होते हैं तो बहुत याद रखना पड़ता है कि यह प्रोजेक्ट तो टीवी का है या फिल्म का है।

आजकल की दिशाहीन बंबइया फिल्म के बारे में आपके विचार?

इन-फिल्मों को लेकर मुझे बहुत दुख होता है। जब मैं बचपन में हिंदी फिल्म देखती थी तब मैं खासतौर पर एक-दो निर्देशकों से बहुत प्रभावित थी जैसे बिमल रॉय और गुरुदत्त। उनकी सादगी, उनका कहने का ढंग, उनकी अभिव्यक्ति की गहराई सबकी मैं कायल थी। मैं आज भी उनकी प्रशंसक हूँ।

दुख की बात यह है कि हमारा भारतीय साहित्य इतना समृद्ध है,वह इतनी भाषाओं में है फिर भी आज के लोग ये कचरा फिल्में बना रहे हैं। जबकि फिल्मों के संदर्भ में भी साहित्य का मूल्य समझा जाना चाहिए। ऐसा नहीं कि हमारे साहित्य में मनोरंजन के तत्व नहीं हैं, बहुत हैं। मनोरंजन का मतलब है मन बहल जाना और साहित्य से मन बहलता है। खुशी भी होती है। अभी भी बहुत हैं पढ़ने वाले। इतने सालों से दुनिया भर में टीवी और फिल्म है। इस हिसाब से तो अब तक किताबों का छपना बंद हो जाना चाहिए था, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। लोग अभी भी पढ़ते हैं। जिनको पढ़ना अच्छा लगता है, अभी भी अच्छा लगता है। अतः साहित्य की अच्छी चीजों को फिल्म के लिए उठाया जा सकता है। मैं यह नहीं कह रही हूँ कि सारी फिल्में उपदेशात्मक हों। रोमांस, कॉमेडी, जासूसी, रहस्य-रोमांच कुछ भी हो सकता है। लेकिन एक फिल्म में चीजों की भेल-पूरी बनाकर पेश करने का क्या मतलब है। सब चीजें एक में क्यों?

लोग कहते हैं कि जनता को पलायनवादी मनोरंजन चाहिए। तो दीजिए न। कौन मना करता है। मगर कचरा भर लोगों को आप क्या दे रहे हैं? मुझे तो बहुत तकलीफ होती है इससे। शुद्ध मनोरंजन भी बनाओ तो ठीक मगर आजकल तो अमर-अकबर-एंथनी फिल्में भी नहीं बन रही हैं। दुख यह है कि आज शुद्ध मनोरंजन तक नहीं सिर्फ कचरा बन रहा है।

आपका कोई सपना है?

एक नहीं काफी सपने हैं। क्योंकि सपने नहीं होते तो सपने सच कैसे होते? और सपना नहीं हो, तो फिर हमारी मंजिल क्या हो? मुझे लगता है यदि मेरे होने से कुछ लोगों का जीवन सुधर जाए और कुछ मैं कर सकूँ तो अच्छा रहेगा।

□ राजेन्द्र यादव

दूरदर्शन पर साहित्य

रचनात्मकता के हिसाब से देखें तो साहित्य और दूरदर्शन वे दो माध्यम हैं जहाँ समाज को सीधे- सीधे अपने प्रभाव में लेने के तत्व मौजूद हैं। मगर हमारे यहाँ इनका रिश्ता कुछ इस तरह विकसित हुआ है कि प्रस्तुतीकरण और मुद्दों में अगंभीरता आ गई और दूरदर्शन के साहित्यिक कार्यक्रम फूहड़पन का उदाहरण भी कभी-कभी बन गए। दूसरी ओर अनेक प्रसिद्ध औपन्यासिक कृतियों पर बने धारावाहिकों की सफलता इस बात का संकेत भी है कि यदि गंभीरता से लिया जाए तो दूरदर्शन माध्यम साहित्य को विस्तार देने में सहायक ही होगा। फिलहाल दूरदर्शन और साहित्य के अंतर्संबंधों की जो स्थिति है उस पर यहाँ प्रस्तुत है कथाकार एवं हंस पत्रिका के संपादक ***राजेन्द्र यादव*** *से* ***चरणसिंह अमी*** *की बातचीत।*

साक्षात्कार : चरणसिंह अमी

दूरदर्शन और साहित्य के रिश्ते को आप किस रूप में देखते हैं?

होता यह है कि जब कोई चीज नई आती है समाज में तो उसकी प्रतिक्रियाएँ मिश्रित होती हैं और खतरे भी होते हैं। एक खतरा तो



मैला आँचल : फणीश्वरनाथ रेणु

यह होता है कि अब तक की चली आती प्रणाली को नया माध्यम डस लेगा, खत्म कर देगा उसकी आशंका होती है। दूसरी तरफ नए का कौतूहल होता है। दूरदर्शन को आए लगभग २०-२५ वर्ष हो गए हैं- लेकिन उसके साथ हमारा संबंध बहुत निर्द्वंद्व था- वर्जनाहीन नहीं है। उसे लेकर एक खास तरह का प्रतिरोध और आक्रामक रूप है। गंभीर साहित्यकार दूरदर्शन को अपने लिए बहुत घटिया बाजारू और उपभोक्तावादी माध्यम मानते हैं। मुझे उनका यह रवैया कुछ कुछ वैसा ही लगता है जैसा कभी रेडियो आने पर पढ़ने वाले पाठकों और लेखकों का हुआ था। मगर शीघ्र ही हिन्दी - उर्दू के बड़े साहित्यकारों ने रेडियो के लिए लिखना शुरू ही नहीं कर दिया- बल्कि उसे चुनौती की तरह लिया।

लेकिन इतने वर्षों के बाद भी दूरदर्शन के साथ अभी तक ऐसा रिश्ता क्यों नहीं बन पाया है?

इसका बहुत बड़ा कारण मैं अफसरों को मानता हूँ। रेडियो में इस तरह के कार्यक्रमों के लिए या तो स्वयं साहित्यकार या लेखक थे या वे अफसर थे जो साहित्य के महत्व को समझते थे और लेखकों को निकट लाने में सहायक थे। दूरदर्शन में इस तरह के साहित्यकार न खुद काम करते हैं, न लेखकों के साथ उस तरह का व्यवहार करने वाले पदाधिकारी हैं। वहाँ साहित्यिक कार्यक्रमों को देखने वाले (तय करने वाले) छोटे कद के ऐसे घटिया कर्मचारी हैं जिन्हें कवि या लेखक होने का मुगालता होता है। वे कभी इस कुंठा से मुक्त नहीं होते कि किसी लेखक को सम्मानपूर्वक लाना या न लाना उसे बढ़ावा देना है या गिरा देना है। ओछी मानसिकता वाले व्यक्ति में यह गाँठ होती है कि वह जिसको चाहे दूरदर्शन का 'जादुई सिंहासन' देकर राजा बना दे, रातों-गत लोकप्रियता दे दे या न देकर अपनी समझ में उसे मार दे। पत्रकारिता के प्रारंभिक दिनों में भी ऐसे ही

कुछ कुंठित पत्रकार आए थे, जो समझते थे कि अज्ञेय, जैनेन्द्र जैसों की रचनाएँ छापकर वे उन्हें महत्व दे रहे हैं। साहित्यिक व्यवहार में जो खास तरह की तमीज और विनम्रता होती है उसके संस्कार इन लोगों में नहीं हैं। नतीजे में न तो उनके प्रोग्राम महत्वपूर्ण होते हैं और न लेखक जगत में उनकी प्रतिक्रिया होती है। नतीजतन कुछ 'झक्कूमल- लल्लूलाल' या 'रामललित- चंद्रमुखी' जैसों को कृतार्थ करते हुए ये लोग अपनी ही निगाह में महत्वपूर्ण बन जाते हैं।

क्या दूरदर्शन के सभी साहित्यिक कार्यक्रमों का स्तर ऐसा ही रहा है?



कब तक पुकारूँ : पंकज कपूर-सुस्मिता मुखर्जी

ऐसी बात नही है। इस क्लर्की मानसिकता के बावजूद कुछ लोगों ने दिल्ली में कुछ अच्छे कार्यक्रम किए हैं, जिनमें कुबेर दत्त, शरद दत्त, दुर्गावतीसिंह, वेद राही जैसों के कार्यक्रमों को रेखांकित करना चाहूँगा।

साहित्यिक कार्यक्रमों में 'पत्रिका' को प्रतिनिधि कहा जा सकता है, उसके स्तर के प्रति आपकी क्या राय है?

'पत्रिका' की जो गति हो गई है- उसे देखते हुए अब 'पत्रिका' को बंद कर दिया जाना चाहिए। दस मिनट में पाँच लोगों को लाकर एक-एक वाक्य बुलवाकर कार्यक्रम करना नहीं, सिर्फ 'फाइल का पेट भरना' है। अपने इन्हीं ओछेपनों के कारण इन लोगों ने पत्रिका को इतना निरर्थक और निर्जीव बना दिया था कि अधिकारियों को उसे दस मिनट का कर देना पड़ा।

दूरदर्शन पर साहित्यिक कार्यक्रमों की कमी और निम्न स्तरीयता के लिए ऐसी स्थिति में मूलतः जिम्मेदार किसे मानेंगे?

माना जाता है कि दूरदर्शन में सब पढ़ने-लिखने वाले, सब सुशिक्षित सुसंस्कृत लोग हैं मगर उनमें से किसी ने बाकायदा यह आग्रह नहीं किया कि साहित्य को हफ्ते में कम से कम एक-डेढ़ घंटा तो दिया जाए। चूँकि लेखकों को इन लोगों ने पहले ही विरक्त कर दिया था- इसलिए इनकी तरफ से बाहर से बोलने वाला भी कोई नहीं रहा। परिणाम आप देख ही रहे हैं।

और जैसा कि अभी आपने जिक्र किया था कि गंभीर लेखक भी इस ओर से विरक्त रहे हैं, तो जिम्मेदार तो वे भी हैं। ऐसे में दूरदर्शन से उन्होंने जो स्वयं दूरी बनाई है उसे पाटने के लिए क्या पहल हो?

देखिए, यह विधा तो जम गई है। दूरदर्शन अब ऐसी सचाई हो गई है जिससे न आँखें मूँदी जा सकती हैं न यह जिन्दगी से हटने वाली है। तय लेखकों को करना है कि वे इससे अछूत का संबंध बनाए रखें या अपने को इस रूप में ढालें कि एक स्वस्थ्य संबंध दोनों के बीच उभर सके। अगर वे बहुत ज्यादा इससे डर, भय या किन्हीं और कारणों से दूरी रखेंगे तो इस शून्य को घटिया सामग्री से ही भरा जाएगा। इस दृष्टि से शायद मनोहर श्याम जोशी हिन्दुस्तान के अकेले लेखक हैं जिन्होंने इस माध्यम पर अधिकार किया है और इसका सार्थक इस्तेमाल कर सके हैं।

सैद्धांतिक रूप से आज साहित्य और संचार माध्यम का रिश्ता किस स्तर पर आप देखते हैं।

सिद्धांततः दोनों माध्यम अपने मूल रूप में शब्द और इमेज हैं। इसलिए होना यह चाहिए था कि इनके बीच रिश्ता घनिष्ठ हो मगर संचार माध्यम खासकर दूरदर्शन इतना अधिक व्यावसायिक, ब्यूरोक्रैटिक और अशिक्षित अधिकारियों के हाथों में है कि यह संबंध 'लव-हेट' का भी नहीं है। अधिकारियों को गर्व है कि वे थोड़े- बहुत पैसे देकर मनमानी चीज लिखवा लेंगे। इसलिए उन्हें लेखकों की चिन्ता नहीं है।

ठीक इसी तरह की स्थितियाँ तो हिन्दी फिल्मों में भी रही हैं लेखकों के सामने?

हिन्दी फिल्मों में प्रारंभ से ही यह स्थिति थी। वहाँ निर्देशक या निर्माता मुंशीनुमा लेखक को देशी-विदेशी कोई भी आइडिया दे देता और फिर लिखवा लेता। नतीजे में जहाँ और अन्य प्रांतीय भाषाओं, दुनिया की हर जगह की फिल्मों में रचनाओं को आधार बनाया गया वहाँ सिर्फ हिंदी में या तो निर्देशक ही लेखक, संवाद लेखक और स्क्रिप्ट रायटर हुआ या किसी भी लेखक का नाम देने की जरूरत नहीं समझी, गीतकार जरूर प्रमुखता से स्थान पाते रहे। दूरदर्शन ने भी वही रवैया अपनाया। इधर सीरियलों की बाढ़ ने जरूर कुछ अच्छे कार्यक्रम दिए और निर्माताओं का ध्यान रचनाओं पर भी गया।

ऐसे कौनसे सीरियल व लेखक हैं जिन्हें आप उल्लेखनीय मानते हैं?

इस दिशा में मनोहर श्याम जोशी, शरद जोशी और मन्नू भंडारी ने निश्चय ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है। 'दर्पण', 'खजाना', 'एक कहानी' ने देश-विदेश की अच्छी कहानियों से परिचय कराया। 'राग दरबारी, तमस, 'निर्मला', श्रीकांत, 'कब तक पुकारूँ' 'मैला आँचल', 'कक्काजी कहिन' काला जल जैसी रचनाओं से करोड़ों दर्शकों को परिचित कराने का श्रेय दूरदर्शन को ही जाता है। 'खानदान' और 'उपन्यास' और 'कयर' जैसे कलात्मक सीरियल हैं, तो दूसरी तरफ 'हम लोग' और 'हमराही' जैसी व्यापक कथा शृंखला भी है।

क्या आपको लगता है कि दूरदर्शन के इन धारावाहिकों ने मूल कृति के लिए पाठक वर्ग भी तैयार किया है?

हाँ, हालाँकि इनमें निश्चय ही कुछ सीरियस अच्छे बने हैं, कुछ खराब। मगर सब मिलाकर इन्होंने साहित्य को एक व्यापक स्वीकृति और बड़ा पाठक वर्ग दिया है। 'तमस' इसका सशक्त उदाहरण है।

और जो इधर जी टीवी आदि के सीरियल

हैं उनके साहित्यिक धारावाहिकों के स्तर के बारे में आप क्या सोचते हैं?

यह जो अचानक स्टार टीवी/जी टीवी इत्यादि का हमला हुआ है, इससे दूरदर्शन जैसे जड़ से लड़खड़ा उठा है। इसी के परिणाम स्वरूप इधर आने वाले अधिकांश सीरियलों में घटिया और फूहड़ निर्माणों की भरमार है जो या तो घूस के बल पर स्थान पाते हैं या ऊपर के दबाव से। इस तरह के पचासों मामले पकड़े जाते हैं और रोज नए रहस्योद्‌घाटन हो रहे हैं।

संप्रेषणीयता की दृष्टि से देखें तो दूरदर्शन पर साहित्यिक रचानाओं पर बने धारावाहिकों की संप्रेषणीयता वास्तव में साहित्य की होती है या दूरदर्शन (संचार माध्यम) की ?

सम्प्रेषणीयता का सवाल हमेशा से उठता रहा है चाहे किसी कृति पर नाटक बनाया



'श्रीकांत' श्रृंखला में फारूख शेख

जाए या सीरियल। यह संप्रेषणीयता का आधारभूत द्वंद्व है। लिखित माध्यम और दृश्य माध्यम में अंतर है। दूरदर्शन और फिल्मों में चीजें एकआयामी होकर आती हैं। वे हमारी कल्पनाशक्ति को सीमित और इकहरा बना देती हैं। जबकि साहित्य में ऐसा नहीं होता। मगर इन सीमाओं के बावजूद इस क्षेत्र के दिग्गजों ने बिम्बों के इस्तेमाल से जो कुछ कहने की कोशिश की है वह संसार के किसी भी साहित्य से कम नहीं है। इस रूप में दृश्य माध्यम भी उतना ही वयस्क हो रहा है जितनी चित्रकला या दूसरी अन्य कलाएँ। मगर हममें से अधिकांश अभी भी उन पुराने संस्कारों के शिकार हैं।

दूसरी तरफ यह सवाल भी उठता है कि एक कृति अपनी संप्रेषणीयता में कभी- कभी इतनी सशक्त होती है कि पाठक को एक ही बैठक में पढ़ने के लिए बाध्य कर देती है। किन्तु दूरदर्शन पर वही कृति धारावाहिक रूप में सामने आती है। ऐसे में क्या कृति की निरंतरता खंडित नहीं होती?

यह सही है कि ऐसा होता है। लेकिन अगर आप ध्यान दें, तो उपन्यास का जन्म विदेश में पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप में प्रकाशित होने के लिए हुआ था। अगर दूरदर्शन माध्यम ने यह 'एक ही बैठक' में पढ़ने का खंडन नहीं किया, तो यह कौन करेगा? ■

☐ *विजया मेहता*

असामाजिकता को ग्लेमर क्यों?

विजया मेहता भारतीय फिल्म उद्योग के उन बहुत ही थोड़े फिल्मकारों में से हैं जिन्होंने समझदारी पूर्ण और सुरुचियुक्त फिल्में बनाई हैं। अभिनय और निर्देशन पर गहरी पकड़ के साथ वे उन चुनिंदा निर्देशकों की तरह उपस्थित हुई हैं, जो कमर्शियल सिनेमा की तात्कालिकता में नहीं बहे हैं और जिन्होंने इसके ग्लेमर को अपने यथार्थवादी कार्य की सच्चाई से काटा है और उसे चुनौती दी है। वे न सिर्फ फिल्म निर्देशिका हैं अपितु वरिष्ठ रंगकर्मी, कलाकार और स्क्रिप्ट लेखिका भी हैं। रंगमंच और बड़े पर्दे की फिल्मों के अतिरिक्त विजया मेहता 'लाइफ लाइन' धारावाहिक के माध्यम से टेलीविजन से भी जुड़ी रही हैं। अपने रंगमंचीय कार्य पर आधारित विषयों पर उन्होंने चार टेलीफिल्में बनाई हैं, हमीदाबाई की कोठी/ शाकुंतल/ वाड़ा चिरेबंदी और लेटर्स टू माई डॉटर।

आपके आज के व्यक्तित्व और कैरियर पर बचपन का क्या प्रभाव रहा?

मुझे ऐसा लगता है, इंसान के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ अचानक घटती हैं। मैं जब छोटी थी, तो राजनीति से बहुत प्रभावित थी। गांधी और नेहरू मेरे प्रिय नेता थे। मैंने कभी नहीं सोचा था कि मैं फिल्मों से और रंगमंच से जुड़ जाऊँगी। जबकि मैं एक फिल्मी परिवार से हूँ। शादी से पहले मैं जयवंत थी। पहले की नलिनी जयवंत और शोभना समर्थ ये मेरी कजिन्स हैं। लेकिन इसी वजह से होगा शायद कि मुझे फिल्मों का ग्लेमर नहीं था। बल्कि मैं राजनीति से जुड़ी हुई थी। जब मैं यूनिवर्सिटी में गई तब पोलिटिक्स (राजनीति) और इकनॉमिक्स (अर्थशास्त्र) मेरे विषय थे। इनमें मैंने मास्टर्स की डिग्री



विजया मेहता : लाइफ लाइन

ली। यहाँ राजनीति ने मुझे कुंठित कर दिया जैसे कि मेरी पीढ़ी के कई लोगों ने महसूस किया होगा। मेरी ऊर्जा उन्मुक्त हो गई। इसे प्रवर्तन की जरूरत थी। यूनिवर्सिटी के जरिए मैं रंगमंच से जुड़ी और मैंने थिएटर में काम करना शुरू कर दिया। सौभाग्य से बहुत ही कम उम्र में मुझे सही लोग मिल भी गए जिनकी वजह से मैं गंभीरतापूर्वक इस कार्य से जुड़ गई। जब मैं सिर्फ सत्रह साल की थी मुझे अल्काजी मिले। मै आदी मर्जबान से मिली। तब के मराठी थिएटर पुनर्जागरण आंदोलन द्वारा भी मेरा खुली बाँहों से स्वागत किया गया। उस वक्त मराठी थिएटर उदासीनता में डूब गया था। तब मुंबई मराठी साहित्य संघ नामक एक साहित्यिक संस्था ने इसके पुनर्जागरण हेतु कुछ पुराने और नए लोगों को (जो कि खासतौर पर फिल्म स्टार थे) इकट्ठा करना शुरू किया। मैं तो तब सिर्फ सत्रह-अठारह साल की थी, मगर उन्होंने मेरा स्वागत किया। यदि ऐसा नहीं हुआ होता, तो मैं राजनीति से निराश होकर सीधे फिल्मों में चली गई होती, क्योंकि मैं फिल्मी परिवार से ही थी।

इसके बाद आप निर्देशन में कैसे आईं?

मैंने अल्काजी के साथ अभिनय करना शुरू किया था। अठारह साल की उम्र में ही मुझे मराठी थिएटर में एक अग्रणी स्थिति में स्वीकार कर लिया गया था। जब अल्काजी ने मेरा काम देखा तो उन्होंने कहा मैं तुम्हें प्रशिक्षण देना चाहूँगा मगर जब तक मैं काम सिखाऊँगा तुम मराठी थिएटर में काम नहीं कर पाओगी। तीन साल तक मैं मराठी थिएटर से दूर रही। मैंने उनके साथ काम किया और मुझे लगता है कि अल्काजी ने ही मुझे रंगमंच की संपूर्ण अवधारणा दी। मुझे नहीं लगता कि एक अभिनेत्री के तौर पर मैंने उनसे कुछ ज्यादा सीखा। मैंने जो कुछ सीखा वह रंगमंच के बारे में था। उसकी अवधारणा, उसकी प्रकृति और उस तक पहुँचने का मार्ग। अतः तीन साल बाद जब मैं वापस लौटी और अल्काजी की पृष्ठभूमि पाकर मेरा अपना काम शुरू किया, तो मैंने 'रिएलाइज' किया कि मेरे पास ऐसा निर्देशन नहीं है, जो मुझे निर्देशित कर पाए। मैं अभिनेत्री थी। मैं अभिनय करना चाहती थी पर मैंने पाया कि मैं पुराने लोगों सी ट्यून में नहीं थी। उनसे मेरा तालमेल नहीं था। विजय तेंडुलकर ने तब



THE COST OF LIVING IS SHOCKING.
Legend®*
LIVES
ATUL/1/93–Sunder Kaula Assoc.
* The Legend Highland Decanter. By Mail order only. Write to Som Distilleries Pvt. Ltd., Post Box No. 37, Shiksha Mandal. P.O. Bhopal.
som distilleries

अपर्णा सेन, कल्पना लाजमी अथवा सई परांजपे जैसी महिला निर्देशिकाओं ने महिलाओं की मानसिकता का विश्लेषण ज्यादा अच्छी तरह किया है। जबकि हिन्दी फिल्मों या धारावाहिकों में महिला आज भी सजावटी वस्तु भर है। मुझे लगता है व्यावसायिकता के बीच औरत का जिस्म भी व्यावसायिक दृष्टि से देखा जाने लगा है।

लिखना शुरू किया था। तब यह उनका पहला नाटक था जिसका मैंने २१ साल की उम्र में पहले-पहल निर्देशन किया। इस तरह निर्देशन की शुरूआत हुई। इसके बाद मैंने किसी निर्देशक के साथ काम नहीं किया। मैंने खुद का ही निर्देशन किया और यह मैं १९८० तक लगातार करती रही। इसके बाद मैं कुछ थक गई, क्योंकि मराठी थिएटर में एक अभिनेत्री के रूप में मुझे हर महीने तकरीबन २०-२५ शो करना पड़ते थे। जिसमें से बीस तो बॉम्बे के बाहर ही होते थे। यह मेरे भीतर के कलाकार को थका देता था। अतः १९८० में मैंने रंगमंच का काम बंद किया।

क्या आपको जमने के लिए संघर्ष करना पड़ा?

मुझे जमने के लिए संघर्ष बिल्कुल नहीं करना पड़ा बजाए इसके मुझे हमेशा प्रोत्साहन ही मिला। लेकिन प्रोत्साहन भी तभी मिलता है जब आपमें सच्ची प्रतिबद्धता हो। मेरे ऐसे बहुत से मित्र हैं जो हमेशा कहते हैं हम भी कुछ कर लेते मगर हमें 'सपोर्ट' नहीं मिला। मगर 'सपोर्ट' यूँ कहीं से आता नहीं। जब लोगों को ये पता चलता है कि अगर ये यह काम न करे तो यह व्यक्ति रह ही नहीं सकता। इतनी दृढ़ता से जब आप खड़े हो जाते हैं तभी आपको लोगों का सहयोग मिलता है।

अपनी फिल्मों और नाटकों के विषय आप कैसे चुनती हैं?

नाटक का विषय मैं ऐसे चुनती हूँ कि वह अच्छा नाटक हो। अच्छा नाटक का मतलब यह है कि नाटककार को जीवन विषयक कोई खोज है और उसे कुछ कहना है। इसलिए नहीं लिखा गया हो कि इसके अच्छे-अच्छे प्रयोग हो जाएँ या इससे मुझे पैसे या लोकप्रियता मिल जाए। उसे ये लगे कि यह कहना है और नाटक के जरिए ही कहा जा सकता है, उसमें इतनी दृढ़ता हो तो फिर कोई भी नाटक मैं ले लेती हूँ।

'पेस्टनजी' मैंने एक शॉर्ट स्टोरी से की थी। 'राव साहब' तो मेरे नाटक की ही फिल्म थी। दिग्दर्शक और अभिनेत्री के रूप में अनुभव भी मुझे नाटक से ही मिला है।

क्या महिलाओं के सामाजिक दर्जे को बदलने में महिला फिल्म मेकर्स की कोई खास भूमिका हो सकती है?

मैं ऐसा बिल्कुल नहीं मानती कि महिलाओं के सामाजिक दर्जे को बदलने में महिला फिल्म मेकर्स की कोई खास भूमिका होना चाहिए। अपने मराठी थिएटर में मैंने तो करीबन एक सौ आठ भूमिकाएँ की हैं वे सभी बहुत ताकतवर थीं। यानी यह योगदान एक महिला अभिनेत्री ला सकती है महिला दिग्दर्शक के बनिस्बत। और यदि महिलाएँ खुद इस तरह को किरदार लिखें तो बहुत ही अच्छा है, मगर महिलाएँ लिखती नहीं।

क्या महिला होने के नाते इंडस्ट्री में विशेष मुश्किलें आती हैं?

महिला होने के नाते मुश्किलें-पहले-पहले आप छोटी हैं तब तो बड़ा सपोर्ट मिलता है। लेकिन जैसे-जैसे यह पता चलता है कि नहीं भई यह तो प्रतिस्पर्धी है, तो कुछ मुकाबला



विजया मेहता : अद्वितीय

होता है और अहं का प्रश्न भी सामने आता है। इस स्थिति में आपको सर्वश्रेष्ठ से भी अच्छा बनना पड़ता है। तभी वह संतुलन फिर आ पाता है।

एक बात का अफसोस मुझे हमेशा रहा महिला होने की वजह से जितना अनुभव पुरुष ले सकता उतना मैं नहीं ले पाई। जैसे कि रात को कहीं अकेले जाएँ, यह नहीं हो पाया।

क्या नैतिकता का तकाजा यह नहीं कि फिल्मकार समाज को दिशा देने वाली फिल्मों का निर्माण करें?

यह सच है कि दृश्य-श्रव्य माध्यम होने की वजह से इसका जनमानस पर जबर्दस्त प्रभाव होता है। शहरों में बैठे लोग इस वास्तविकता को ठीक जान नहीं पाते। मगर मैं रंगमंच की वजह से महाराष्ट्र के गाँव-गाँव में गई हूँ तब मैंने यह महसूस किया कि लोगों की हरकतों में भी फिल्मों का असर है। गाँव में साइकल पर जाता हुआ कोई लड़का अपने आपको अमिताभ बच्चन या राजेश खन्ना समझता है। यह असर इतने गहरे दिल में धँसा हुआ है। यहाँ तक कि युवतियाँ भी उसी तरह के कपड़े पहनने की कोशिश करती हैं जैसे उन्होंने फिल्मों में अपनी पसंदीदा हीरोइनों के देखे होंगे जो कि उनकी आदर्श होंगी। जबकि हमारे युवावस्था के दिनों में हम लोगों के आदर्श राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े लोग थे। मगर मैं व्यक्तिगत रूप से यह महसूस करती हूँ कि लोगों को इस बात को एक सामाजिक दायित्व के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि आप नैतिकतावादी हो जाएँ। इसका मतलब यह नहीं कि आप चर्च के पादरी हो जाएँ। मगर आपको अपनी जिम्मेदारी तो समझना ही होगी। मगर आप यह झंडा नहीं लहरा सकते। मैं समाज को ऊँचा उठाने के लिए ऐसा कर रहा या रही हूँ। गलत यह है कि उन्होंने असामाजिक तत्वों को ग्लेमर दे दिया है यह भयानक है और सबसे ज्यादा गलत बात जो आजकल बताई जा रही है वह है कानून हाथ में लेना।

क्या आपको नहीं लगता कि फिल्मों में महिला किरदारों की भूमिका नगण्य होती जा रही है। वे नुमाइशी वस्तु भर रह गई हैं। महिला फिल्मकारों के इस दिशा में क्या प्रयास होना चाहिए?

जो भी महिला निर्देशक हैं जैसे कि अपर्णा सेन हैं, कल्पना लाजमी हैं, सई परांजपे हैं, प्रेमा कारंथ एवं और भी कई हैं उन सब लोगों की महिला किरदार बड़ी अच्छी है। इन महिलाओं ने महिलाओं की मानसिकता का विश्लेषण ज्यादा अच्छी तरह किया है। जहाँ तक हिंदी फिल्मों का सवाल है महिला आज भी सजावटी वस्तुभर है। मगर हम यदि श्याम बेनेगल और गोविन्द निहलानी जो कि समानान्तर सिनेमा के लोग हैं, जिनके लिए कि फिल्म अभिव्यक्ति का माध्यम है इनके महिला किरदार बहुत सुस्पष्ट हैं। मुझे लगता है व्यावसायिकता के बीच औरत का जिस्म भी व्यावसायिक दृष्टि से देखा जाने लगा है।

● निर्मला भुराड़िया

श्याम बेनेगल का भारतीय सिनेमा में एक महत्वपूर्ण स्थान है। वे हिंदी सिनेमा की एक ऐसी शख्सियत है जिनका फिल्म माध्यम के इस्तेमाल का अपना ही तरीका और अपनी ही शैली है; जिसने दर्शकों को न सिर्फ नई दृष्टि दी है बल्कि उनकी रुचियों का परिष्कार भी किया है। 'अंकुर' से लेकर 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तक के उनके फिल्मी सफर का आकलन करें तो हम दौर से बिल्कुल हट कर कुछ अलग फिल्में पाएँगे। मगर जो इतनी सशक्त और परिपक्व हैं कि वे साहित्य और समाज की परतों को भीतर तक छूने की ताकत रखती हैं। बेनेगल ने ऐसी गंभीर फिल्में इसलिए दी हैं क्योंकि मानवीय स्वभाव की जटिलताओं को समझने-सुलझाने में उनकी बुनियादी और सतत दिलचस्पी है। इस साक्षात्कार में उन्होंने अपने चिंतन एवं कार्य की इसी सतत प्रक्रिया का ब्यौरा दिया है।

□ *श्याम बेनेगल*

बहुत खतरनाक है समस्याओं का सरलीकरण

इंसान के व्यक्तित्व का स्वरूप कैसा होगा इसकी बुनियाद बचपन और किशोरावस्था में ही पड़ जाती है। क्या आप अपने बचपन के बारे में कुछ बताएँगे, खासकर ऐसी घटनाओं और लोगों के बारे में, जिनके संपर्क में आकर आप वह बने, आज जो हैं?

किसी भी व्यक्ति के जीवन में सबसे ज्यादा प्रभाव उसके पालकों का होता है। माता और पिता दोनों का ही। ऐसा ही मेरे साथ भी हुआ। मेरी माँ धार्मिक प्रवृत्ति की थी, मगर कर्मकांडी धार्मिक प्रवृत्ति वाली नहीं, उनमें धर्म के प्रति एक गहरी आस्था थी। दरअसल उनमें चीजों के सही और गलत होने का एहसास बहुत गहरा था जिसने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला। जबकि मेरे पिता बड़े अज्ञेयवादी थे। वे धार्मिक तो नहीं थे, मगर उनमें नैतिकता बोध बड़ा गहरा था। क्योंकि उन्होंने अधिकांश प्रेरणा जॉन रस्किन और लियो टॉलस्टॉय जैसे १९वीं सदी के लेखकों से पाई थी। मेरे पिता के नैतिकता बोध की वजह यह थी, जबकि मेरी माँ में नैतिकता बोध धार्मिकता की भावना से आया था। अतः इन दोनों ही प्रभावों ने मेरी जिंदगी में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की क्योंकि इन प्रभावों ने मुझमें मानवतावादी दृष्टिकोण और प्रभाव विकसित किया और यह मानवतावादी दृष्टिकोण किसी के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसको मैं कुछ अन्य प्रभावों से भी जोड़ सकता हूँ। जैसे कि हमारा घर बहुत बड़ा था और हम बहुत से बच्चे थे। लोग भी हमारे घर आया-जाया करते थे। जिनमें रिश्तेदार और मित्र भी हुआ करते थे।

उन्हीं दिनों जब मैं बहुत छोटा था मेरे एक अंकल घर आए। वे बर्मा से उस दौरान आए थे जबकि युद्ध चल रहा था। वे बीमार थे और बीमारी ठीक होने तक, करीब दो साल तक हमारे यहाँ रुके। उन्हें कई विषयों में गहरी दिलचस्पी थी जैसे विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य आदि। अतः उनका प्रभाव साहित्य के प्रति मेरे मन में रुचि और सम्मान जगाने में हुआ। अतः उन्हीं की वजह से मुझमें पढ़ने की रुचि जागी। उन्होंने ही सभी किस्म के लेखकों से मेरा परिचय कराया।

मेरी स्कूली शिक्षा मूलतः अँग्रेजी में हुई। यहाँ मेरी द्वितीय भाषाएँ उर्दू और फारसी (पार्दीयन) थीं। यह एक बड़ा विरला मेल था। इसके अलावा मैंने न सिर्फ हिंदुस्तान के कुछ लेखकों को पढ़ा बल्कि काफी छोटी उम्र में विश्व के विभिन्न भागों के लेखकों को भी पढ़ा। उनमें रूसी लेखक भी थे। टॉलस्टॉय दोस्तोवस्की, अर्नेस्ट हेमिंग्वे को भी मैंने पढ़ा। इस किस्म के अमेरिकी और ब्रितानी लेखक जेन ऑस्टिन और चार्ल्स डिकेन्स को भी पढ़ा। भारत में रवीन्द्रनाथ टैगोर को पढ़ा। टैगोर के लेखन से मेरा पहला परिचय ग्यारह साल की उम्र में हुआ। तब मैंने उनकी कहानियाँ पढ़ीं। चौदह साल की उम्र में मैंने दोस्तोवस्की को पढ़ना शुरू कर दिया था, हालाँकि तब मैं उन्हें पूरी तरह समझ नहीं पाता था, मगर पढ़ता जरूर था। इस अध्ययन से मुझे एक तरह का वातावरण मिला। मेरे पिता भी स्वभाव से बड़े कलाप्रेमी थे। वे पेंटिंग के शौकीन थे। मेरा सबसे बड़ा भाई भी कलाकार था। मेरे एक कजिन फिल्ममेकर थे। आप जानती ही होंगी गुरुदत्त. वे निर्देशक थे। (तो) मुझे एक ऐसा वातावरण मिला, जिसमें कला से संबंधित सभी चीजें आ गईं।

हमारे घर पर एक १६ एम.एम. कैमरा था। मैं एक बड़े परिवार से हूँ हमारे घर में दस बच्चे थे। तो घर में जब कोई बच्चा होता तो उसकी हर गतिविधि की फिल्म उतारी जाती, तब तक जब तक कि नए शिशु का आगमन होता। फिर उस नए बच्चे के क्रियाकलापों की फिल्म उतरने लगती। मनोरंजन के लिए हम ये फिल्में देखा करते थे। बस इसी चीज से निर्देशन की शुरूआत हुई। घर में कैमरा तो था ही, मैंने एक कहानी लिखी और इसकी फिल्म बनाई और इसको शीर्षक दिया, 'छुट्टियों में मौजमजा।'

मुझे एक 'मैजिक लैंप' भी गिफ्ट में मिला था। (अब तो यह नहीं मिलता) तब यह बाजार में भी मिलता था। इसके साथ फिल्म भी मिलती थी। वे फिल्म हम लाया करते थे और दिखाया करते थे। उस जमाने में हमने सोचा कि हम खुद क्यों नहीं फिल्म बनाएँ? और बना के दोस्तों को दिखाएँ? यानी यह संस्कार बचपन में ही पड़ गया। शुरू से ही मेरी इच्छा फिल्म निर्देशक बनने की थी। मैंने कभी सोचा ही नहीं कि और कुछ करूँ?

निर्देशन के संस्कार और बीज तो आपमें बचपन से ही पड़ गए थे। और इस तरह कुछ आपकी पारिवारिक पृष्ठभूमि भी रही। क्या इसके बावजूद भी आपको इंडस्ट्री में संघर्ष करना पड़ा?

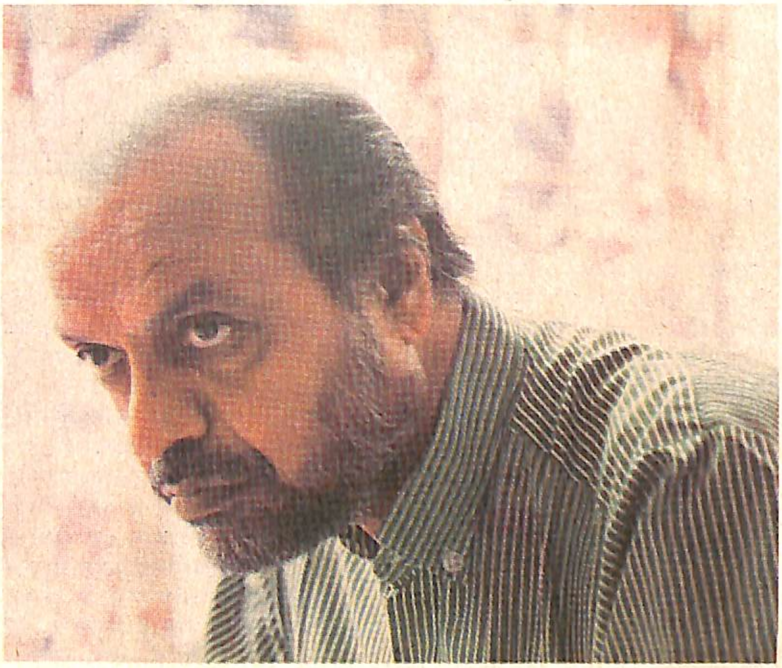
हाँ, फिर भी मुझे फिल्म इंडस्ट्री में काफी संघर्ष करना पड़ा। क्योंकि मुझे जिस तरह की फिल्में बनानी थीं, वे न तो लोग बना रहे थे, न किसी को ऐसी चीजों के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे और न ही इस तरह की फिल्मों के लिए यहाँ अवसर थे। मुझे यह भी इच्छा नहीं थी कि मैं जाकर फिल्म इंडस्ट्री में किसी का सहयोगी (असिस्टेंट) बन जाऊँ। मुझे यह लगता था कि मैं यदि किसी का असिस्टेंट बनूँगा तो उस फिल्ममेकर का प्रभाव मुझ पर हावी हो जाएगा और मैं जो सोच रहा हूँ वह रास्ता बदल जाएगा। मैं अपने हिसाब से काम करना चाहता था। इसीलिए मुझे बहुत वक्त लगा। आजकल तो सब २५-२६ साल की उम्र में फिल्म बनाना शुरू कर देते हैं। मैं तो उस उम्र में विज्ञापन फिल्में बनाता था। क्योंकि मैं अपने बूते पर ही फिल्में बनाना चाहता था, अतः जब मैंने अपनी पहली फिल्म बनाई तो मैं ३७ साल का हो चुका था। मैं अपने ट्वन्टीस में नहीं था। 'अंकुर' की स्क्रिप्ट लेकर मैं बारह साल तक निर्माताओं के पास घूमा। अवसर तो नहीं थे। अतः मेरे एक मित्र ने कहा आपको इस पिक्चर के लिए पाँच लाख रुपए चाहिए तो मैं दूँगा, फिल्म बनाओ।

आप अपनी फिल्मों के लिए विषय किस प्रकार चुनते हैं?

फिल्म के लिए जब मैं विषय चुनता हूँ तो उसमें कई चीजें होती हैं, उसका कोई एक आधार नहीं होता। क्योंकि मेरी दिलचस्पियाँ कई किस्म की हैं। एक तो बहुत ही तीव्र सामाजिक दिलचस्पी या जागरूकता है। सामाजिक चिंताओं में जो रुचि है वह मुझे बचपन से ही रही है। खासतौर पर भारतीय समाज का सामाजिक ढाँचा क्या है इस बारे में मेरी हमेशा से रुचि रही है। हमारे सामाजिक जीवन में बसी भारतीयता और भारतीय जीवन का निरंतर अन्वेषण मेरी इच्छा रही है। भारतीय होना क्या है? एक भारतीय का खास और आवश्यक चरित्र क्या है? हम कैसे उसे परिभाषित करें? जैसे एक चीनी का चीनी होना अपने आप में अद्वितीय

हो सकता है। एक मलेशियाई का मलेशियाई होना अपने आप में अद्वितीय हो सकता है। वैसे एक भारतीय में अद्वितीय क्या है? व्हाट इज यूनीक इन एन इंडियन? यही एक लगातार खोज का विषय है। क्योंकि यह कोई एक बात नहीं है कि एक भारतीय होने का बस यही एक खास लक्षण है। अतः भारतीयता की खोज एक सतत् प्रक्रिया है। भारतीयों के गुण-अवगुण, अच्छाई-बुराई सभी इसमें शामिल हैं। यह तो हुई एक बात। विषय चुनने का एक दूसरा पहलू भी है। इसमें शामिल है खुद रचनात्मकता की प्रक्रिया। रचनात्मकता की प्रक्रिया क्या है। अब आप यह सोचें कि एक इंसान को रचनात्मक क्या चीज बनाती है? कल्पना का दायरा क्या है? रिएलिटी (वास्तविकता) और एक्चुएलिटी (वर्तमान परिस्थिति) में अंतर क्या है। (वे एक एश ट्रे उठाते हैं) यह जगह घेरती है यह इसकी भौतिक स्थिति है यह रिएलिटी है। मगर यह एश ट्रे है यह इसकी एक्चुएलिटी है। यही हममें भी होता है। हमारी भी रिएलिटी और एक्चुएलिटी है। और है ट्रुथ यानी सच। अब वास्तविकता और बोध मिलकर सच का निर्माण करते हैं। और हर आदमी का बोध यानी 'परसेप्शन' अलग होता है। और यही बातें बहुत दिलचस्प हैं। इसीलिए मेरे लिए 'परसेप्शन' बहुत महत्वपूर्ण हैं। यही मेरे काम की बुनियाद है अतः विषय कुछ भी हो सकता है। विषयवस्तु कोई मछुआरा भी हो सकता है या कोई शहरी व्यक्ति भी। लोग अक्सर कहते हैं मैं ग्रामीण पृष्ठभूमि की फिल्में बनाता हूँ। मगर ऐसा नहीं है। मैं ग्रामीण फिल्में भी बना सकता हूँ शहरी भी। मैं मध्यम या उच्च वर्ग की फिल्म बना सकता हूँ, मैं वंचितों की फिल्म बना सकता हूँ, या झोपड़पट्टी में रहने वालों की भी। वह कुछ भी हो मगर मेरी खास दिलचस्पी उन लोगों के जीवन की वास्तविकताओं में है। वही मेरे लिए ज्यादा महत्वपूर्ण है। मैं मानव स्वभाव के पीछे हूँ। यही हर चीज की बुनियाद है।

वह क्या है, जो एक व्यक्ति से दूसरे को जोड़ता है? वह क्या है जो आपको मुझसे जोड़ता है या किसी को किसी से जोड़ता है। वह क्या है जो हम सबको समाज से जोड़ता है। यह सब बातें विषय से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यही तो रचना में ढल जाती है।



श्याम बेनेगल : सामाजिक सरोकार के फिल्मकार

आज जो आम बंबइयाँ मसाला फिल्में बन रही हैं क्या उन्हें देखकर आपको नहीं लगता कि उनमें फिल्म निर्माण की रचनात्मकता का आनंद कम और व्यावसायिक लाभ कमाने की इच्छा ज्यादा है। जबकि देखा जाए, तो फिल्म भी साहित्य की एक विधा है- क्या इस तरह यह विधा नष्ट नहीं हो रही?

विधा नष्ट तो हो रही है। मगर आप क्या कर सकते हैं। फिल्म बनाने में खर्चा जो होता है। फिल्म एक खर्चीला माध्यम है। पिक्चर बनाने में बहुत पैसा लगाना पड़ता है। इसलिए वह पैसा फिर इसी माध्यम से उगाना भी पड़ता है। इसीलिए फिल्म कभी भी उस तरह से कला नहीं हो सकती जैसे कि चित्रकार की कला होती है। साहित्यकार की कला होती है। क्योंकि इन चीजों की लागत आपका दिमाग, आपका सामर्थ्य, आपकी कुशलता है। मगर फिल्म के लिए आपको तकनीक की मध्यस्थता लेना पड़ती है। एक ऐसी तकनीक की मध्यस्थता जिसमें पैसा लगता है, जो महँगी है। पिक्चर बनाने के लिए आपको फिल्म की मध्यस्थता भी लेना पड़ती है वह भी महँगी है। अतः यहाँ से वहाँ पहुँचने के लिए यानी अपने विचार को एक चलचित्र में बदलने के लिए पैसा लगाना पड़ता है। चूंकि पैसा लगाया है तो पैसा फिर से कमाया भी जाएगा। इस तरह रचनात्मकता व्यावसायिकता में बदल जाती है। मगर फिर भी... आप इसे कलात्मक स्वरूप दे सकते हैं। जैसा कि आर्किटेक्चर (वस्तु शिल्प) में होता है। भवन निर्माण में बहुत पैसा लगता है फिर भी यह कलात्मक स्वरूप लिए हो सकता है।

आज जो फिल्में बन रही है उनकी आलोचना की वजह इन सब तथ्यों के बावजूद भी हो सकती है। जिस तरह की फिल्में आज हिंदुस्तान में बन रही है उससे मैं खुद भी बहुत नाखुश हूँ। क्योंकि आज भी फिल्में गलत प्रभाव डाल रही हैं। सिनेमा हमें क्या दिशा दे रहा है? मैं चुनिंदा फिल्मों की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं **'सूरज का सातवाँ घोड़ा'** की बात नहीं कर रहा हूँ। आज जो नब्बे प्रतिशत फिल्में बन रही हैं वे हमें क्या संदेश दे रही हैं? बदला! बदला ही सामाजिक न्याय है। क्या यह सही है? यह बिल्कुल गलत है। यदि किसी ने मेरे साथ बुरा किया है तो मुझे भी बुरा करना चाहिए यही न्याय है- यही आज की फिल्में सिखा रही है। पहले की फिल्मों में ये बातें नहीं हुआ करती थीं, क्योंकि न्याय में विश्वास था।

तो क्या आज की फिल्में सामाजिक मूल्यों में गिरावट की जिम्मेदार नहीं?

आज के दौर की फिल्में सामाजिक मूल्यों के गिरावट में जिम्मेदार हैं या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता, मगर वे इसमें सहायक जरूर होती हैं। वे गलत चीजों को तर्कसंगतता देती हैं। दरअसल मानवीय स्वभाव में कई विरोधाभास होते हैं। जैसे कि माँ के बच्चे के साथ व्यवहार में कुछ विरोधाभास हो सकते हैं जैसे आप कभी अपने बच्चे को कहें यह न करे और कभी आप खुद ही वह बात कर बैठे तो बच्चा यह देखकर गफलत में पड़ जाएगा। ठीक है मगर सत्तर प्रतिशत मामलों में आप इस तरह विरोधाभासी नहीं होते। यानी आप सामान्य स्थिति में सामान्य व्यवहार ही करते हैं। वैसा तो आप केवल असामान्य स्थिति में ही करते हैं। अब फिल्मों पर आएँ। समाज का दस प्रतिशत ही अपराधी वर्ग से संबंध रखता है। जिसमें चोर, डाकू, असामाजिक तत्व आदि हैं। हम यह भी जानते हैं कि न्याय नाम की भी चीज है जिसे इन लोगों से डील करना चाहिए। मगर होता यह है कि जब फिल्में सिर्फ चोर, डाकुओं और असामाजिक तत्वों पर ही बनती हैं, तो ऐसा लगने लगता है कि सारी दुनिया ही ऐसी है। जबकि ऐसा नहीं है। सारी दुनिया ऐसी नहीं है। मगर लोग ये सोचते नहीं हैं। वे विषय वस्तु की प्रकृति नहीं

दरअसल टेलीविजन और सिनेमा पलायन के लिए नहीं हैं। अपने आपको थोड़ी देर के लिए भुला देने के लिए नहीं हैं। उन्हें आपके जीवन को कुछ देना चाहिए। विचारों से संपन्न करना चाहिए। पलायन तो बहुत खतरनाक है, यह सबसे बुरा है।

समझते। वे समस्याओं को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं। इससे उम्मीद और अच्छाई खत्म हो जाती है। लगता है सब ऐसा ही है। इस तरह ये लोग गलत चीजों को तर्कसंगतता दे देते हैं। जबकि इंसान के खुद के पास ही अपना एक सेंसर होता है इसको आप निकाल दें, तो समाज का सर्वनाश हो जाएगा और सिनेमा को यह नहीं करना चाहिए।

आज की फिल्मों में महिला किरदार सिर्फ शो-पीस की तरह रखे जाते हैं। ऐसे में प्रतिभाशाली, बौद्धिक और संवेदनशील स्त्रियों के लिए इस माध्यम में जगह ही कहाँ रह जाती है? खासकर अभिनय नामक कला में उनकी हिस्सेदारी का सवाल उठाएँ तो?

भारत की मुख्य समस्या है सामाजिक दमन। भारत का सामाजिक दमन कई बातों में परिलक्षित होता है। यह दमन धर्म और जाति में परिलक्षित होता है। यह दमन उनसे हमारे व्यवहार में परिलक्षित होता है, जो दमित हो सकते हैं, जिनका हम शोषण कर सकते हैं। उन लोगों के अतंर्गत जिनका समाज शोषण कर सकता है, महिलाएँ भी आती हैं। उनका दमन किया जाता है। क्योंकि उनके लिए जो नियम-कानून बनाए गए हैं वे शेष समाज से अलग हैं। उनके लिए निर्धारित नियम पुरुष समाज से अलग हैं। यह एक बहुत गंभीर समस्या है और इस स्थिति में बदलाव तभी आएगा जब पुरुषों के निहित स्वार्थों का विरोध किया जाएगा।

मगर फिल्म इंडस्ट्री में इस काम को अंजाम बिल्कुल उल्टे तरीके से दिया जाता है। फिल्मों में स्त्रियों का दमन इस प्रकार बताया जाता है कि दर्शक उसका आनंद लेता है। यह बात भयानक है।... **मैंने एक फिल्म बनाई थी 'निशांत'। उसमें एक बलात्कार का दृश्य है जो कि टेरीफाइंग है, आतंकित करने वाला है।** इसे देखकर फिल्म इंडस्ट्री में कई लोगों ने कहा "यार! तुमने तो बलात्कार वीभत्स कर दिया।' तो मैंने कहा बलात्कार खूबसूरत चीज होती है क्या? यह तो है ही वीभत्स और डरावना। यह तो एक इंसान आवश्यक गरिमा का हनन है। लेकिन हमारी फिल्म इंडस्ट्री में 'रेप-सीन' के साथ गीत भी फिल्माए गए हैं।

मगर आजकल क्या होता है औरतों की बराबरी बताने के नाम पर, कहानी के अंत में यह बताया जाता है कि औरत उस आदमी को मार डालती है। यह बहुत ही वाहियात बात है। समस्याओं का समाधान इस प्रकार नहीं हो सकता। बुनियादी तौर पर ही चीजें बदलना पड़ेंगी

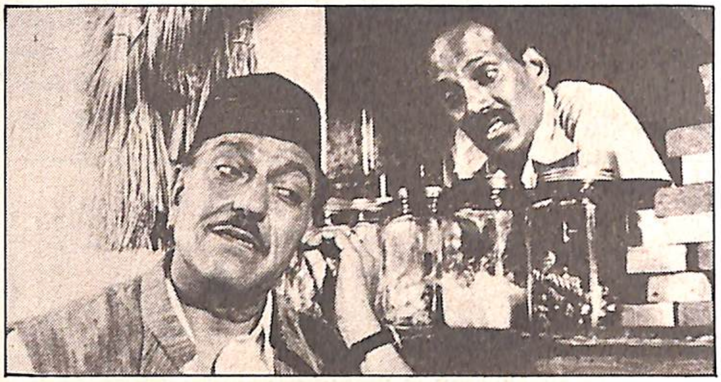
जटिल सामाजिक स्वरूप को लेकर उसका इस तरह सरलीकरण कर देना बहुत खतरनाक है। मानव स्वभाव की जटिलता भी बहुत महत्वपूर्ण है और इसे समझे जाने की आवश्यकता है। यदि आप मानव स्वभाव की और इंसानी रिश्तों की जटिलताओं को नहीं समझेंगे, तो आप इसे परिपक्व तरीके से अभिव्यक्त भी नहीं कर पाएँगे।

इसी तरह महिलाएँ अपना अधिकार सीधे-सीधे अपनी भूमिका बदलकर नहीं पा सकतीं। औरत को एक मर्द की तरह बताने से स्थितियाँ नहीं बदलेंगी। यह बेवकूफी होगी।

भारत में बच्चों के लिए अच्छी फिल्में बहुत कम बनाई जाती हैं। अच्छा बाल साहित्य भी कम ही उपलब्ध है। इस बारे में समझदार निर्देशकों और लेखकों की जिम्मेदारी क्या है?

भारत में बच्चों के लिए अच्छी फिल्में और अच्छा साहित्य बहुत कम लिखा जा रहा है। यह एक गंभीर समस्या है। भारत में शिक्षा पर बहुत ही कम पैसा खर्च किया जाता है कि यह 'शॉकिंग' है। भारत में दुनिया के सबसे ज्यादा बच्चे हैं मगर उन पर पैसा बहुत कम खर्च किया जाता है। बच्चों के लिए खेल के मैदान तक पर्याप्त नहीं हैं। बच्चों के लिए अब कम वक्त दिया जाता है। इसकी एक वजह यह भी है कि अब संयुक्त परिवार टूट रहे हैं और एकाकी परिवार बढ़ रहे हैं। अतः यह अब एक सामाजिक जिम्मेदारी हो गई है, यह सिर्फ पालकों की ही जिम्मेदारी नहीं है। इस जिम्मेदारी को समाज के द्वारा बाँटा जाना चाहिए, शासन के द्वारा बाँटा जाना चाहिए। शासन को इसे एक महत्वपूर्ण विषय मानकर अपनी राष्ट्रीय कार्यसूची पर रखना चाहिए। ऐसा न करके हम सब भविष्य के लिए एक खराब समाज की तैयारी कर रहे हैं।

एक फिल्मकार के रूप में मैं भी इस समस्या की गंभीरता को मानता हूँ। बस्तर के बच्चों के लिए मैंने १९७५ में सैटेलाइट टेलीविजन के जरिए साइट प्रोग्राम में २९ प्रोग्राम बनाए थे। ५ से ९ साल की उम्र के बच्चों के लिए। वह शिक्षा जो उन्हें पारंपरिक रूप से अपने घर मुहल्लों और गाँवों में मिलती थी वह खत्म हो चुकी है। इसे पुनर्स्थापित किया जाना होगा। अब बच्चों को कुछ बताने के लिए दादी-माएँ नहीं है। मतलब दादी-माँ का जो असर बच्चों पर होता था इससे उन्हें जो पारंपरिक माहौल



फिल्म सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती के उपन्यास का सर्वोत्तम रूपांतरण

मिलता था, वह अब नहीं है। अतः टेलीविजन को अब नई दादी-माँ बनना होगा। मगर वह कोई करता नहीं है। टेलीविजन पर भी बच्चे बड़ों के ही कार्यक्रम देखते हैं।

मैं यू.जी.सी. के द्वारा बच्चों के लिए तैयार किए जाने वाले एक कार्यक्रम में सलाहकार हूँ। मैंने इसके लिए ऐसी अनुशंसा की है कि हर रोज बच्चों का एक कार्यक्रम होना चाहिए पूरे ३६५ दिन, पूरे साल हर रोज। तो एक छोटासा प्रोग्राम पायलट किस्म से बनाया है। यू.जी.सी ने प्रायोजित किया है इसको बच्चों के लिए। इसका नाम है **'टर्म टू'**। यह मैंने बनाया नहीं है, मैं तो सिर्फ सलाहकार हूँ इसमें। इसमें मैंने अपने पुराने अनुभव का उपयोग किया है। छत्तीसगढ़ के लिए यूनीसेफ हेतु जो किया था, मैंने १९७५ में उसका। मैंने बच्चों के लिए एक फिल्म **चरणदास चोर** भी बनाई थी वह भी तो मध्यप्रदेश का ही प्रोजेक्ट था, छत्तीसगढ़ का। यही चीजें आज महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि हमें बच्चों के लिए सामाजिक जिम्मेदारी को समझना होगा। सरकार और शासन ने कभी इस बारे में नहीं सोचा। यह शॉकिंग है कि वे मंदिर-मस्जिद की समस्याओं पर जोर देते हैं। जिसका कि कोई मतलब नहीं है। मतलब की बातें जो ये हैं उनके बारे में कोई सोच भी नहीं रहा है। इसीलिए हिंदुस्तान का विकास नहीं हो रहा। और हम लोग जो सोचकर बताते हैं उसे एक तरफ रख दिया जाता है।

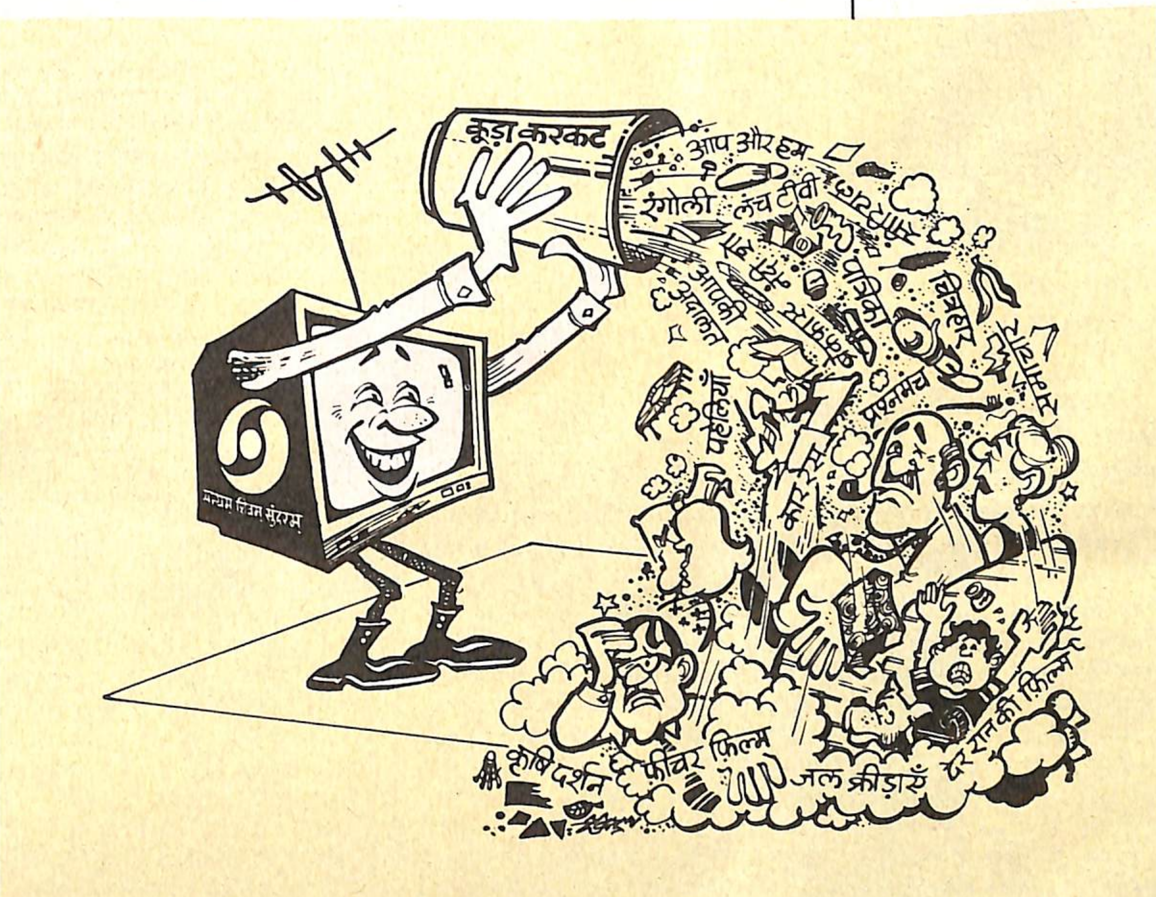
दरअसल टेलीविजन और सिनेमा पलायन के लिए नहीं हैं। आपको थोड़ी देर के लिए भुला देने के लिए नहीं हैं। उन्हें आपके जीवन को कुछ देना चाहिए विचारों से संपन्न कराना चाहिए। पलायन तो बहुत खतरनाक है, यह सबसे बुरा है।

● निर्मला भुराड़िया

धृतराष्ट्र एक : संजय अनेक

खण्ड : तीन

एक अरसे से यह बात जोर देकर कही जाती रही है कि संचार के साधनों ने दुनिया को छोटा कर दिया है। दरअसल, यह बात अब जाकर पूरी हुई है। सैटेलाइट/ केबल और डिस्क टीवी के विस्तार ने समूची दुनिया को मुट्ठी में बंद कर हर देश के हर घर की छत पर फेंक दिया है। 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' में हुई क्रांति को राजसत्ता ने बखूबी पहचाना और अपने स्वार्थ के लिए इसका भरपूर इस्तेमाल शुरू कर दिया है। आमचुनाव में मतदाताओं को लुभाना हो अथवा किसी ज्वलंत समस्या की देशवासियों



को जानकारी देना हो, इस मीडिया का उपयोग सत्तारूढ़ तथा विपक्षी दल बखूबी कर रहे हैं। दरअसल, राज्य और राष्ट्र की सीमाएँ टूट गई हैं और हवाई मार्ग से सांस्कृतिक/ सामाजिक/ मानवीय तथा जीवन मूल्यों के परिवर्तन की लहर चल पड़ी है। स्कूली कक्षाओं की औपचारिक शिक्षा तथा परिवार के परिसर में संस्कारों की अनौपचारिक शिक्षा के तट-बंध टूटने लगे हैं। सुरसा की तरह फैलते 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' के प्रभाव को एक दिशा देना आज की पहली आवश्यकता है। दूरदर्शन अब वह संजय नहीं रहा, जो धृतराष्ट्र को संपूर्ण निष्ठा एवं सच्चाई के साथ कुरुक्षेत्र का आँखों देखा हाल सुना रहा हो। सत्तासीन धृतराष्ट्रों ने अब अपने-अपने 'संजय' तैयार कर लिए हैं, जो 'कुरुक्षेत्र' की व्यूह रचना में संलग्न हैं।

□ दूरदर्शन : इतिहास और विकास

दूरदर्शन :

विकास और बाजार के बीच फँसा एक माध्यम

● सुधीश पचौरी

'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की अवधारणा वाले भारतीय दूरदर्शन का सैटेलाइट टीवी से मुकाबले का मूलमंत्र क्या है, जानते हैं? जी.टीवी फिल्मी है, तो हम भी फिल्मी गीत दिखाएँगे। वह नंगई करेगा, तो हम भी करेंगे। इस प्रविधि में मनोरंजन के नए मानवीय तरीके खत्म हो रहे हैं। दूरदर्शन और मैट्रो कुल मिलाकर एक 'सुपर-बाजार' बनते जा रहे हैं।

दूरदर्शन आज हमारे लिए अनिवार्य माध्यम है। वह हर कहीं, हर जगह है। वह गरीब की झुग्गी-झोपड़ी में है। वह अमीर के सतमंजिले में है। वह हमारे खाने-पीने, पहने-ओढ़ने, उठने-बैठने में है। वह हमारा वातावरण है। उसके बिना हम सोच नहीं सकते। वह हमारा दैनिक संदर्भ बिंदु है। वह हमारी सांस्कृतिक-दुनिया है। वह हमारी 'प्रकृति' है। दूसरी प्रकृति जो प्रथम प्रकृति (नेचर) को भी बदले दे रही है।

सत्यम् शिवम् सुन्दरम्

विश्वभर के विद्वान उसके चरित्र, भूमिका और स्वरूप के बार में लिख चुके हैं। बड़े-बड़े आयोग बैठे हैं। वह बढ़ता गया है और अब वह हमारा स्वभाव है। विश्व में किसी एक देश में अधिकतम ३०० चैनल सक्रिय हैं और वे बहुत जल्दी दो-तीन गुना हो जाएँगे। यह देश अमेरिका है। विश्व की आबादी का तीन चौथाई टीवी माध्यम की गिरफ्त में है। एक चौथाई उससे इसलिए बचा हुआ है क्योंकि अभी वह टीवी सेट खरीदने लायक नहीं है। थोड़े दिन में वह भी इसकी गिरफ्त में आ जाएगा।

कुछ पहले मानव सभ्यता के इतिहास को जनसंचार के इतिहास के रूप में अध्ययन करने वाले मार्शल मैक्लूहान ने 'अंडरस्टैंडिंग मीडिया' में लिखा था कि माध्यम ही संदेश है। यानी यह युग माध्यम और संदेश के एकमेक हो जाने का युग है। अब ऐसा नहीं है कि संस्कृतिकर्मी संस्कृति करते वक्त अलग से यह सोचे कि उसे क्या संदेश देना है, कैसे देना है? संस्कृति कर्म में ही संदेश है। संदेश में ही संस्कृति है। मार्शल मैक्लूहान ने निष्कर्ष निकाला कि अब हम 'भूमंडलीय गाँव' में रहते हैं। यह धरती भूमंडलीय गाँव(ग्लोबल विलेज) है। नया वातावरण बन गया है। राष्ट्र-राज्योंकी सीमाएँ टूट गई हैं।

मार्शल मैक्लूहान एक जगह लिखते हैं कि टोरंटो में सन साठ के आसपास एक अध्ययन किया गया। नई भाषा के ज्ञान के लिए छात्रों के चार वर्ग बनाए गए। एक वर्ग को टीवी से बताया गया। दूसरे को रेडियो से। तीसरे को लैक्चर से और चौथे को किताब से। फिर अध्यापक ने एक ही ढंग से चारों वर्गों को समझाया, प्रश्नोत्तर किए। फिर आधा घंटे तक सूचना-सामग्री का हर वर्ग ने स्वतंत्र ढंग से निरीक्षण-परीक्षण किया। फिर उनसे प्रश्न लिखित में पूछे गए। परिणाम परीक्षकों के लिए भी आश्चर्यजनक थे। टीवी से पढ़ने वाले विद्यार्थी सर्वोत्तम अंक लेकर पास हुए थे।

इस परीक्षण का अर्थ यह निकला कि टीवी ने ज्ञानेंद्रियों को अब तक के तमाम अन्य माध्यमों से ज्यादा सक्रिय, उत्तेजित और तैयार कर दिया है। इसीलिए वह हमारी समूची संस्कृति का पर्याय बन गया है। वह हमारी रुचियों को बनाने, जगाने, सुलाने वाला माध्यम है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है, जो इससे प्रभावित नहीं रहा हो। अब तो वह हमारे ज्ञानक्षेत्र का पर्याय बना जा रहा है।

ऐसे माध्यम की शुरूआत भारत में १५ सितंबर १९५९ को हुई थी। आज चौंतीस वर्षों के भीतर दूरदर्शन भारत का सबसे बड़ा माध्यम बन गया है। तीन-साढ़े तीन दशकों में इसने भारत का नक्शा बदल दिया है। ऐसे निर्णायक माध्यम का सामाजिक इतिहास अपने आप में अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इन चौंतीस वर्षों में भारत में कोई साढ़े पाँच सौ टीवी टॉवर लग चुके हैं। और साढ़े तीन करोड़ से भी ज्यादा टीवी सेट सक्रिय हैं। देश की अठहत्तर फीसदी आबादी इसे देख सकती है। देखने वाली आबादी की अनुमानित संख्या १०-१२ करोड़ है। दूरदर्शन के इस विकास के सामाजिक- आर्थिक कारण रहे हैं। उसका विकास हमारे सामाजिक विकास के साथ जुड़ा रहा है। आरंभ में उसे एक विकासमूलक माध्यम के रूप में ही देखा गया था।

पीसी जोशी कमेटी की रिपोर्ट (१९८५) इस बात को अच्छी तरह बताती है कि दूरदर्शन की समूची भूमिका और परिकल्पना सामाजिक विकास में योगदान करने वाले माध्यम के रूप में की गई थी। बहुत दूर तक मार्शल मैक्लूहान और बाद में विकासवादी सिद्धांतवेत्ताओं की धारणाओं से प्रभावित होकर दूरदर्शन को आरंभ किया गया था। दूरदर्शन के मैनुअल में इसके उद्देश्य यों बताए गए :–

(१) सामाजिक परिवर्तन में भूमिका निभाना।

(२) राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करना।

(३) लोगों के मन में वैज्ञानिक चेतना जगाना।

(४) जनसंख्या नियंत्रण एवं परिवार कल्याण के साधन के रूप में परिवार नियोजन का संदेश प्रसारित करना।

(५) आवश्यक सूचना तथा जानकारी उपलब्ध कराकर कृषि उत्पादन को और प्रोत्साहित करना।

(६) वातावरण के संरक्षण और पर्यावरण संतुलन बनाए रखने में सहायता तथा प्रोत्साहन देना।

(७) महिलाओं, बच्चों तथा गरीब वर्गों के कल्याण सहित विभिन्न सामाजिक कल्याण उपायों की आवश्यकता पर बल देना।

(८) खेलकूद में दिलचस्पी बढ़ाना।

(९) देश की कला और सांस्कृतिक धरोहर के प्रति जागरूकता पैदा करना।

इन उद्देश्यों का उन योजनाओं से मेल बैठता है, जो आजादी के बाद बनाई गई। दूरदर्शन भी पंचवर्षीय योजनाओं का एक अंग था। योजना बनाने वालों की नजर में भारत के विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा गरीबी तो थी ही, गरीबीजनित अज्ञान, अशिक्षा सबसे बड़ी बाधा थी। इसे एक तो शिक्षा के जरिए दूर किया जा सकता था, दूसरे टीवी के जरिए। टीवी के बारे में शुरूआती विचारक प्रायः उसे एक ऐसा सूचनादाता माध्यम मानते थे, जो सिर्फ सूचना देगा और उससे

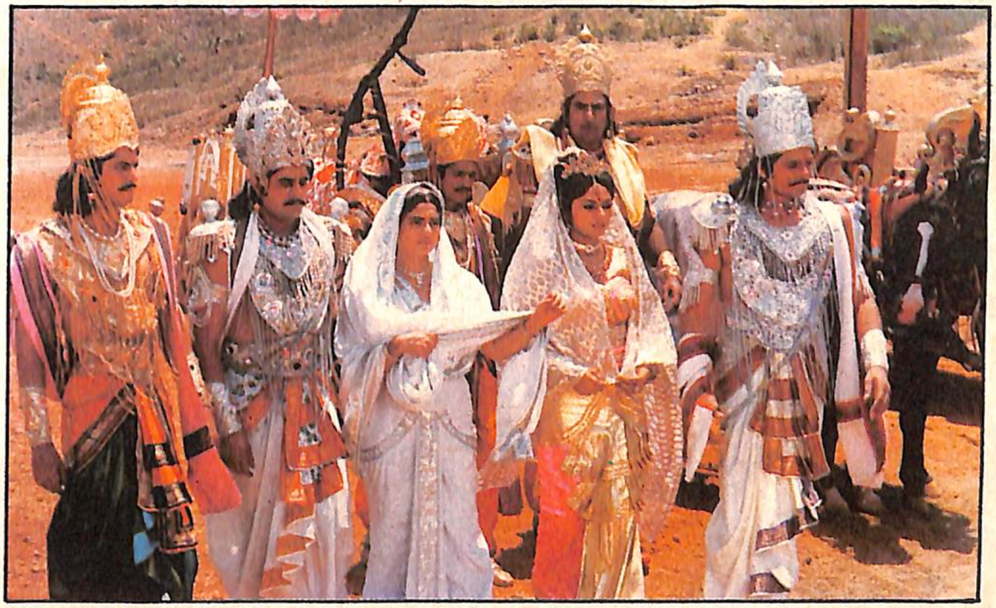
जैसी चाहेंगे, सूचना पाएँगे। समाज जैसा चाहेंगे बना लेंगे। विकासवादी टीवी विचारकों का समुदाय इससे आगे की नहीं सोचता था कि एक माध्यम जब एक सूचना को दूसरे तक पहुँचाता है, तो क्या सूचना ठीक वही रहती है, जो दी गई थी या माध्यम उसे अपनी बनाकर 'रूपांतरित' भी करता है?

बहरहाल, टीवी का विकास समाज का विकास करेगा, ऐसा मान लिया गया। धीरे-धीरे टीवी के संजाल को फैलाने की योजना बनने लगी। १५ सितंबर १९५९ को शुरू हुए टीवी प्रसारण की विकास गति आरंभ में बहुत धीमी थी। १९६२ में देश में कुल एक प्रसारण केंद्र था और कुल ४१ टीवी सेट थे। यह स्थिति १९७२ तक चली। ७२ से ८२ तक दूसरा चरण तेज विस्तार का रहा। उसके बाद तो टीवी में विस्फोट सा हो गया।

पहला चरण : धीमा विकास

दूरदर्शन के विकास की गति तीन चरणों में बाँटी जा सकती है। शुरू में गति धीमी और सुस्त रही। १९५९ से ७१ तक का वक्त दूरदर्शन के धीमे विकास का वक्त है। स्थिति यह है कि विदेशी सहयोग से लगाए गए प्रयोगात्मक केंद्र एवं जारी प्रसारण को सरकार ने इस काबिल ही नहीं समझा कि बजट में उसके लिए कोई खास रकम प्रदान करे। रेडियो को एक उपांग के रूप में देखे जाने के कारण इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। शुरू में यह दिल्ली के चालीस किलोमीटर के परिवृत्त में ही प्रसारित कर सकता था। १९७२ में बंबई में दूरदर्शन केंद्र की स्थापना हुई। यानी तेरह साल तक दूरदर्शन का फैलाव शुरू ही नहीं हुआ। १९७३, २६ जनवरी को तीसरा केंद्र काश्मीर में स्थापित किया गया। १९७३ में ही अमृतसर में एक केंद्र बनाया गया।

धारावाहिक 'महाभारत' का एक दृश्य



हम कह सकते हैं कि पहला चरण नमूने के तौर पर दूरदर्शन की शुरूआत का चरण था। बहुत कम लोग उसे देखते थे। १९६९ में यूनेस्को के विशेषज्ञ विल्मिस ने भारत में टीवी के काम की संभावनाओं का अध्ययन कर अपनी एक रिपोर्ट पेश की। उसमें सिफारिशें थीं कि टीवी का विकास भारत के विकास के लिए आवश्यक है। १९७३ में अमेरिका ने जब सिनकॉन शृंखला के उपग्रह छोड़े तो 'नासा' के सहयोग से भारत में 'साइट' (उपग्रह शैक्षिक दूरदर्शन प्रयोग) शुरू हुआ।

अगला बड़ा कदम १९७५ के वर्ष में उठाया गया। १ अगस्त १९७५ को साइट के प्रयोग के साथ-साथ भारत को एक वीडियो तथा दो ऑडियो प्रणाली के साथ 'एप्लीकेशन तकनॉलाजी सैटलाइट-६ की सुविधा उपलब्ध कराई गई। इससे कार्यक्रम राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक में चुनिंदों छह क्षेत्रों के २००० गाँवों में प्रसारण/ दर्शन आरंभ किया गया।

बहरहाल दूरदर्शन बहुत दिनों तक 'साइट' शिक्षण कार्यक्रम तक महदूद रहा। साइट व्यवस्था के अंतर्गत आकाशवाणी कार्यक्रम निर्माण संबंधी व्यवस्था करने के लिए जिम्मेदार थी जबकि २४०० सामुदायिक टीवी सेटों के रखरखाव, स्थापना का दायित्व भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) का था। साइट ३१ जुलाई १९७६ तक सक्रिय रहा। बाद में नासा का अनुबंध समाप्त हो गया।

हम पहले कह आए हैं कि 'साइट' प्रयोग जिन छह राज्यों के कुछ क्षेत्रों में शुरू हुआ उनके कार्यक्रमों के निर्माण के लिए रिकॉर्ड करने के लिए निर्माण केंद्रों की स्थापना की गई। ये दिल्ली, कटक और हैदराबाद में स्थापित किए गए। दिल्ली केंद्र में राजस्थान, बिहार और मध्यप्रदेश के १२०० गाँवों में प्रसारण के लिए हिंदी में कार्यक्रम तैयार किए जाते थे। जबकि कटक केंद्र में उड़ीसा के ४०० गाँवों के दर्शकों के लिए कार्यक्रम तैयार किए जाते थे। हैदराबाद केंद्र में ४०० तेलुगु गाँवों के दर्शकों के लिए तथा ४०० कन्नड़ गाँवों के दर्शकों के लिए कार्यक्रम तैयार किए जाते थे।

यह प्रयोग मूलतः हरित-क्रांति से जुड़ा था। यह किसानों को संबोधित था। किसान समुदाय इसे देखता था। इनमें सफाई, परिवार नियोजन तथा कृषि संबंधी उपयोगी जानकारी हुआ करती थी। बाद में, जैसा कि बताया जा चुका है, यह प्रयोग समेट लिया गया।

हम देख सकते हैं कि १९५९ से १९७१ तक का वक्त दूरदर्शन के एक सीमित तकनीक के रूप में विकसित होने का वक्त था। ज्यादातर तकनीक विदेशी थी। प्रसारण केंद्र में मशीनें विदेशी थीं। टीवी सेट विदेशी थे और सबसे बड़ी बात कि उधार के या अनुदान में मिले थे। पहला चरण उधार का चरण था।

जब नासा ने अपनी उपग्रह सुविधाएँ एक साल (१ अगस्त १९७५ से ३१ जुलाई १९७६ तक) तक देने के बाद समझौते के अनुसार हटा लीं, तो भारत सरकार ने 'साइट' की उपयोगिता समझकर, उस प्रयोग को फिर से जारी रखने की योजना बनाई। तय किया गया कि ६ दूरदर्शन प्रेषक (ट्रांसमीटर) स्थापित किए जाएँ। इस बार नए ६ क्षेत्र इस प्रकार चुने गए :

(१) जयपुर (राजस्थान)
(२) रायपुर (मध्यप्रदेश)
(३) गुलबर्गा (कर्नाटक)
(४) संबलपुर (उड़ीसा)
(५) हैदराबाद (आंध्र)
(६) मुजफ्फरपुर (बिहार)

१९७५ में ही तीन और केंद्र आरंभ हुए। ये तीन थे- कलकत्ता (९ अगस्त १९७५), मद्रास (९ अगस्त १९७५), लखनऊ (२७ नवंबर १९७५)। कुछ प्रसारक केंद्र (रिले सेंटर) भी चालू किए गए, जो प्रमुख केंद्रों से जुड़कर प्रसारण करते थे। इस तरह के प्रसारक केंद्र कानपुर (लखनऊ से जुड़कर) और पुणे (बंबई से जुड़कर) प्रसारक (रिले टॉवर) का काम करते थे। बाद में बंगलौर में भी एक केंद्र की स्थापना हुई। १९७५ में ही अहमदाबाद के 'पीज' क्षेत्र में एक छोटा प्रेषक (ट्रांसमीटर) लगाया गया था।

१९७६ तक दूरदर्शन आकाशवाणी का ही अंग था। बाद में सरकार ने इन्हें अलग-अलग करने का निश्चय किया। १ अप्रैल १९७६ से दूरदर्शन का अस्तित्व अलग हो गया। इसका

नया नाम दूरदर्शन रखा गया। इसके लिए महानिदेशालय की स्थापना की गई, जिसका कार्यालय मंडी हाउस,नई दिल्ली बनाया गया। जिसका काम था समूचे संजाल को संचालित करना। यह सब चंदा कमेटी की सिफारिशों के बाद हुआ।

दूसरा चरण : तेजी से फैलता संजाल

सन् १९७५ में दो बड़ी घटनाएँ हुईं। पहली, भारत ने अंतरिक्ष अनुसंधान में एक बड़ी छलांग लगाई। 'आर्यभट्ट' और एक मौसम उपग्रह छोड़ने में सफलता प्राप्त की। दूसरी यह कि दूरदर्शन प्रसारण के लिए डाक व तार विभाग से जुड़कर माइक्रोवेव प्रणाली की तकनीक से सफलतापूर्वक सहायता ली जाने लगी।

१९७५ से १९७७ का दौर आपातकाल का दौर था। इस दौर में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया तथा जनसंचार माध्यमों पर सत्ता का दबाव बढ़ा। इसी दौर में रेडियो तथा टीवी दोनों केंद्रीय सरकार के अनुचर बने। वे बीस सूत्री कार्यक्रम के भौंपू बन गए। वे सत्ताधारी दल के क्रीड़ांगन बन गए। इससे दूरदर्शन के विकास पर उलटा असर हुआ। वह जितनी तेजी से बढ़ना था नहीं बढ़ पाया। लेकिन एक फायदा यह अवश्य हुआ कि लोगों में सूचना के प्रति गहरी उत्सुकता और जिज्ञासा जागृत हो गई। लोग तत्कालीन दूरदर्शन और रेडियो से ऊब चुके थे। वे उनके सरकारीपन से नाराज भी थे। इस तरह १९७५-७७ के ठीक बाद में दूरदर्शन की भूमिका पर बहस शुरू हो गई।

साइट प्रयोगों की निरंतरता के क्रम में तथा कई केंद्रों, प्रसारक उपकेंद्रों की स्थापना के बाद दूरदर्शन पहले ही विकसित होकर इतना बड़ा संजाल बनने लगा कि १९७६ में रेडियो से उसे अलग करना पड़ा। जैसा कि हम कह चुके हैं, अलग ढाँचे के बाद दूरदर्शन के तेज विस्तार की पूरी गुंजाइश थी लेकिन आपातकाल होने के नाते, अभिव्यक्ति अवरुद्ध रही और लोगों के लिए दूरदर्शन एक सरकारी विभाग बन गया।

अगस्त १९७७ में जब जनता सरकार बनी तो उसने जनसंचार के क्षेत्र में आंतरिक आपातकाल में की गई ज्यादतियों पर एक श्वेतपत्र जारी किया। उसमें कांग्रेस की नेता तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी के उन तमाम बयानों और आदेशों को सँजोकर रखा गया, जिनमें उन्होंने कहा था कि वे इन माध्यमों की 'साख' की कतई परवाह नहीं करतीं। उन्होंने बार-बार कहा कि यह सरकारी माध्यम है और उसे वैसा ही रहना है। आकाशवाणी की आचार संहिता जो दूरदर्शन पर भी लागू होती थी, उन्होंने समाप्त कर दी थी।

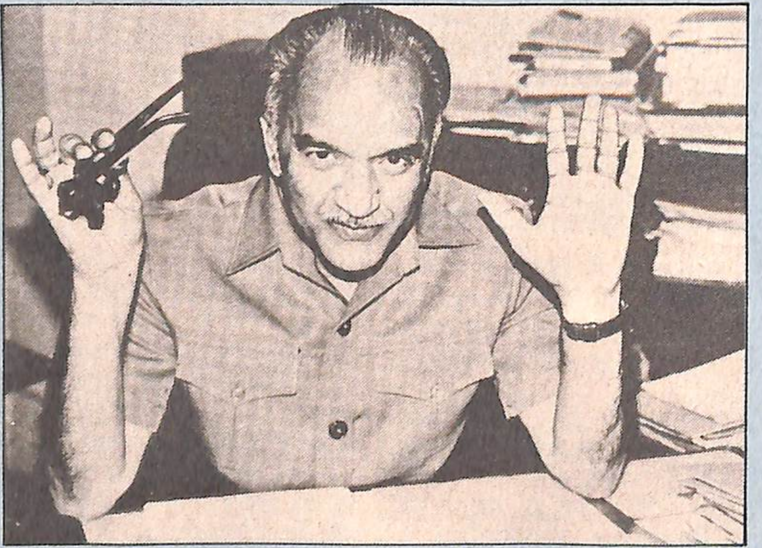
वर्गीज कमेटी

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा जनसंचार माध्यमों की स्वतंत्रता एवं/ अथवा स्वायत्तता का मसला आपातकाल के बाद चुनाव का एक बड़ा मुद्दा बन गया। कांग्रेस को छोड़कर

प्रायोजित कार्यक्रमों की फसल

□ हरीश खन्ना

दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले प्रायोजित धारावाहिकों के चयन के लिए प्रारंभिक दौर में जब मापदंडों का निर्धारण किया जा रहा था तब इस कार्य में **हरीश खन्ना** की भूमिका काफी निर्णायक रही। दूरदर्शन के महानिदेशक तथा प्रायोजित कार्यक्रमों का चयन करने वाली समिति के रूप में उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकेगा। सन १९८५ में पहली बार मंडी हाउस के आँगन में प्रायोजित कार्यक्रम खड़ी फसल की तरह लहलहाने लगे थे। इन कार्यक्रमों में कुछ तो उच्चस्तरीय तथा तकनीकी रूप से भी उत्कृष्ट रहे मगर कुछ कार्यक्रम नीरस, उबाऊ तथा निकृष्ट श्रेणी के होते हुए भी दिखाए गए। ऐसा क्यों हुआ? 'हमलोग/खानदान/ये जो है जिंदगी/ अड़ोस पड़ोस /इधर उधर/शो-थीम/मिस्टर या मिसेज/क्विज टाइम/मशहूर महल' आदि स्तरीय कार्यक्रमों के साथ 'तितलियाँ/सफरनामा/नटखट नारद/बनते बिगड़ते/देखो मगर प्यार से/वाह जनाब' आदि कार्यक्रम भी चुने गए।



कार्यक्रमों के चयन में स्तर की विभिन्नता का दोष खन्ना ने खुले हृदय से स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि चयन समिति के निर्णय हमेशा सही रहे हों, ऐसा नहीं हो सकता। दूरदर्शन, धारावाहिक एवं प्रायोजित कार्यक्रम सभी चीजें नई थी। उस जमाने में हम सभी सीखने की प्रक्रिया से गुजर रहे थे। अपने विचारों को और भी स्पष्ट करते हुए खन्ना ने बताया कि कार्यक्रम बनाने वालों के लिए भी यह विधा नई थी तथा काफी कुछ कमियाँ अनुभवहीनता के कारण भी रह गई थी।

खन्ना का कहना रहा है कि उनके जमाने में कुछ ऐसे धारावाहिक निश्चित रूप से प्रसारित हुए जिनका स्तर काफी निकृष्ट था। जब इन धारावाहिकों का पायलट अंक दिखाया गया था, तब उसे स्तर के अनुरूप पाया गया था। जाँच पड़ताल करने पर यह भी पता चला कि देश के उत्कृष्ट साहित्यकार धारावाहिक विशेष से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए 'देखो मगर प्यार से' नामक धारावाहिक की लेखिका मृणाल पाण्डे थीं तथा निर्देशक सतीश आलेकर थे। इसी प्रकार एक अन्य तथाकथित निकृष्ट धारावाहिक 'वाह जनाब' एक प्राचीन कालजयी कहानी पर आधारित था तथा इसकी पटकथा शरद जोशी द्वारा लिखी गई थी। इतना सब होने के बावजूद प्रारंभिक दौर के हिसाब से कार्यक्रम काफी सफल रहे। खन्ना का कहना है कि उन्होंने इसके बाद नीति बनाई कि जब तक पूरे अंकों की पटकथा तैयार नहीं होती तब तक धारावाहिक को स्वीकृति नहीं दी जाएगी। ■

तमाम विपक्षी दलों ने इसे एक अहम् मुद्दा बनाया। एक माध्यम के रूप में दूरदर्शन और रेडियो की क्या भूमिका हो, खासकर सत्ता के संदर्भ में उसकी स्वतंत्रता कैसी हो, कितनी हो उस मुद्दे पर जनता के बीच विचार-विमर्श होने लगा। लगभग एकजुट विपक्ष ने तय पाया कि यदि उसकी सरकार बनी तो वह इन माध्यमों को 'वास्तविक स्वायत्तता' प्रदान करेगी। इस विपक्ष में कम्युनिस्ट दल शामिल नहीं थे। यद्यपि वे जनता पार्टी केंद्रित विपक्ष के समर्थक थे।

जनता पार्टी की सरकार ने १७ अगस्त १९७७ को अपनी प्रतिज्ञा को मद्देनजर रखते हुए सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के आदेश पर आकाशवाणी व दूरदर्शन को स्वायत्तता देने के सवाल पर विचार करने के लिए ११ सदस्यीय एक कार्य-समूह (वर्किंग ग्रुप) बनाया, जिसमें तत्कालीन कई बड़े बुद्धिजीवी एवं नीतिवेत्ता थे। इनमें बी.जी. वर्गीज को इस समूह का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

इस समूह को 'स्वायत्तता के आर्थिक व कानूनी पहलुओं' (उसकी संसद के प्रति जवाबदेही के साथ) पर विचार करना था। ऐसी संरचना सोचनी थी, जो स्वायत्त भी हो और सरकार से संबद्ध भी रहे। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के कर्मियों की स्थिति नए ढाँचे में क्या हो, इस पर विचार करना था।

इस कार्यसमूह ने अपनी रिपोर्ट यथासमय (फरवरी १९७८) में दे दी। यहाँ इस रिपोर्ट की कुछ सिफारिशों का सार-संक्षेप देना चाहेंगे। (पाठक ध्यान रखें कि यह रिपोर्ट 'आकाशभारती' नाम से आई। इसे दूरदर्शन ही नहीं रेडियो के लिए भी नई परिकल्पना देनी थी। यहाँ हमने रेडियो संबंधी विचारों को यथासंभव छोड़ दिया है।)

'आकाशभारती' ने अपनी सिफारिशें देते हुए कहा कि–

(१) आकाशवाणी और दूरदर्शन एक स्वायत्त राष्ट्रीय न्यास के तहत कार्य करेंगे। यह राष्ट्रीय प्रसारण होगा, जिसका नाम आकाशभारती होगा।

(२) आकाशवाणी तथा दूरदर्शन जन-माध्यम हैं और उन्हें जनता की सेवा करनी चाहिए। इन दोनों माध्यमों को राष्ट्रीय संचार नीति और राष्ट्रीय दर्शन के अनुरूप कार्य करने चाहिए।

(३) यह आकाशभारती नामक संगठन राष्ट्रीय स्तर पर संसद को जवाबदेह होगा और व्यावहारिक तमाम विधानों के लिए केंद्र के अधीन होगा।

(४) इनमें प्रसारित कार्यक्रमों का झुकाव, जो पहले से महानगरीय पक्षधरता के कायल हैं, उन्हें ग्रामीणोन्मुख तथा छोटे शहरों की ओर किया जाना चाहिए। शहरी 'एलीट' की जगह उन्हें ग्रामीणों और गरीबों की ओर झुकना चाहिए। इसके लिए संरचनागत बदलाव लाए जाने चाहिए।

(५) जनता की विविध जरूरतों के अनुकूल तेज निर्णय लेने में सक्षम होना चाहिए।

(६) राज्यों के प्रसारण न्यास या निगमों की जगह राष्ट्रीय न्यास ही एकमात्र न्यास होगा, जो स्वयं एक विकेंद्रित संरचना वाला होगा और स्थानीय जरूरतों को ध्यान में रखेगा।

(७) कार्यक्रम कर्मी तथा इंजीनियर स्टाफ एक-दूसरे से मिलकर काम करेंगे। वे संदेश तथा माध्यम दोनों के वैसे ही प्रतिनिधि होंगे जैसे कि अब हैं।

धर्म की लहरों पर सवार
धारावाहिक : कृष्ण और बाइबिल





(८) आकाशवाणी और दूरदर्शन अलग-अलग नहीं होंगे। इनका नया अंतर्ग्रंथन होगा।

कानूनी व्यवस्था क्या होगी? कर्मियों की सेवा-शर्तें क्या होंगी? कार्यक्रमों का मुख्य रूप क्या होगा? न्यास का कर्तव्याधिकार क्षेत्र क्या होगा? विज्ञापन सेवा कैसी होगी? समाचार और सामयिक कार्यक्रम कैसे होंगे? फ्रेंचाइज स्टेशन (स्वतंत्र निजी केंद्र) कैसे होंगे? विदेश सेवा का ढाँचा क्या होगा? शिक्षा कार्य कैसे होगा? मनोरंजन का रूप क्या होगा? कर्मियों की ट्रेनिंग आदि कैसे बेहतर बनाई जाए। इस तरह करीब २१६ बिंदुओं में आकाशभारती की सिफारिशें थीं।

आकाशभारती का संगठनात्मक ढाँचा इस प्रकार था- *बारह न्यासी *केंद्रीय कार्यकारी बोर्ड (१३ सदस्य) *कानूनी सेवा एकांश, महाप्रबंध (ऑडिट), योजना प्रबंधक, छह सदस्यीय, सूचना एकांश, विदेश सेवा एकांश *क्षेत्रीय कार्यकारी बोर्ड (सात सदस्य) *केंद्र प्रबंधक समेत लेखाधिकारी, कार्यक्रम अधिकारी, इंजीनियर आदि *क्षेत्रीय नियंत्रक, क्षेत्रीय केंद्र निदेशक आदि।

इस प्रसंग में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री ने इस रिपोर्ट को स्वीकार कराने के लिए कोई गंभीर प्रयत्न नहीं किए। पाठक जान लें कि ये मंत्री **लालकृष्ण आडवाणी** थे। आकाशभारती रिपोर्ट उसके बाद कभी ठंडे बस्ते से बाहर नहीं निकली। यों आकाशभारती रिपोर्ट इस माध्यम की प्रकृति और स्वरूप के बारे में कोई बहुत गहन चिंतन अथवा प्रणाली की कायल नहीं थी फिर भी उसने चाहा कि एक न्यास के अंतर्गत दोनों बड़े माध्यमों को स्वायत्तता दी जाए और इन्हें मंत्रालय से हटाकर सीधे संसद के प्रति जिम्मेदार कर दिया जाए।

फिर जनता सरकार गिर गई। और कांग्रेस सरकार सत्ता में आ गई। दूरदर्शन फिर अपने पुराने ढर्रे पर चला गया। लेकिन इस बीच दूरदर्शन के विस्तार में बहुत तेजी आई। वस्तुतः यहीं से विस्तार का युग शुरू होता है। उसका संजाल तेजी से फैलता है।

१९८१-८२ के वर्ष में मद्रास/ बंबई/ दिल्ली/ जालंधर/ बंगलौर के बीच माइक्रोवेव लिंक की स्थापना हो गई। १९८२-८३ में लखनऊ/ श्रीनगर/ आसनसोल/ पणजी केंद्र भी माइक्रोवेव लिंक द्वारा संपर्कित हो गए। इसी दौरान १ अप्रैल १९८२ को बहुउद्देश्यीय संचार उपग्रह 'इन्सैट-१' को छोड़ा गया। इसने दूरदर्शन के तेज विस्तार के रास्ते खोल दिए। १५ अगस्त को तत्कालीन प्रधानमंत्री ने पहली बार लालकिले से एक साथ देशभर को संबोधित किया। यह २१ केंद्रों से प्रेषित हुआ। इसीलिए दूरदर्शन रंगीन हुआ। अगले तीन महीनों में दूरदर्शन हमेशा के लिए रंगीन हो गया। यह एक बड़ी तकनीकी सफलता थी। दूरदर्शन के तेज विस्तार का एक बड़ा कारण यह रहा। पंद्रह अगस्त १९८२ को इन्सैट-१ए सक्रिय हुआ। ५ सितंबर १९८२ को दुर्भाग्यवश यह प्रयोग असफल हो गया। फलस्वरूप दूरदर्शन को इंटलसैट और स्टेशनर-६ उपग्रहों को किराए पर लेना पड़ा।

बयासी के एशियाड खेलों के प्रसारण ने अल्पशक्ति वाले प्रेषकों के प्रयोग की सफलता सिद्ध कर दी। काकीनाडा/ पटना/ शिमला/ जम्मू/ त्रिवेन्द्रम/ गुवाहाटी/ भोपाल/ इंदौर/ देवरिया/ भुवनेश्वर/ मालदा/ ऐजैवल/ इटानगर और पोर्ट ब्लेयर में सौ वाट के बीस प्रेषक लगाए गए। दो प्रेषक नागपुर और पणजी में लगाए गए।

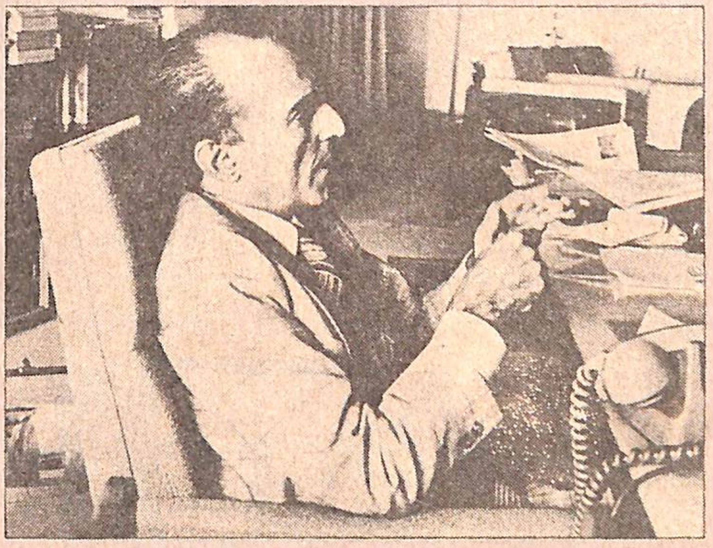
अक्टूबर १९८३ में इन्सैट-१बी के साथ ही

सॉफ्ट और हार्डवेयर में संतुलन

□ एस.एस. गिल

भारतीय दूरदर्शन का इतिहास बिना **एस.एस. गिल** का उल्लेख किए अधूरा ही रहेगा। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के सचिव के रूप में उन्होंने दूरदर्शन के कार्यक्रमों को आकार दिया। साथ ही इन कार्यक्रमों को भारत के कोने-कोने तक दिखाए जाने की व्यवस्था भी की। उनके इस योगदान को स्वीकारते हुए भारत' सरकार ने उन्हें १९८४ में पद्म-भूषण से सम्मानित किया था। सन् १९८५ में गिल ने सेवा से अवकाश ग्रहण किया, तब तक दूरदर्शन के पाँव पूरे भारत में जम चुके थे।

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के सचिव के रूप में गिल साहब की उपलब्धि दुतरफा रही। एक ओर तो दूरदर्शन के नए-नए प्रसारण एवं रिले केंद्र खुले जिसे स्वयं गिल साहब 'हार्डवेयर' के विस्तार की संज्ञा देते हैं। दूसरी ओर नए दिलचस्प धारावाहिकों के माध्यम से दूरदर्शन, परिवार का चहेता सदस्य बन गया। इस गुणवत्ता को वे सॉफ्टवेयर का विस्तार कहते हैं। देश में टी.वी सेट्स के उत्पादन का ठोस आधार देने में भी उनका योगदान महत्वपूर्ण है। वे अपने कार्यकाल में प्रशिक्षित तकनीशियनों एवं कलाकारों की कमी को महसूस करते रहे तथा प्रयास करते रहे कि विश्वविद्यालयों में दूरदर्शन से संबंधित विषयों के प्रशिक्षण के लिए पृथक संकाय प्रारंभ किए जाएँ। दूरदर्शन के कार्यक्रमों के निर्माण में विकेन्द्रीकरण करने की प्रक्रिया में भी उनके प्रयास सराहनीय रहे। विभिन्न प्रदेशों की राजधानियों में कार्यक्रम तैयार करने के लिए सर्वसुविधा संपन्न स्टुडियो बनाए गए ताकि क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध सांस्कृतिक विरासत को राष्ट्रीय धरोहर बनाया जा सके। उनके कार्यकाल में ही महानगरीय चैनल एवं टेलीटैक्स्ट सुविधाएँ प्रारंभ हुई।



दूरदर्शन पर **'सोप ऑपेराओं'** को प्रकाशित करने एवं उन्हें लोकप्रियता के शिखर तक पहुँचाने का श्रेय भी गिल को है। सन् १९८४ की ७ जुलाई से 'हमलोग कीर्तिमानी धारावाहिक का प्रसारण शुरू हुआ था। सामान्य स्तर के कलाकारों को लेकर आम आदमी की जिंदगी के रोजमर्रा के उतार-चढ़ावों पर केंद्रित इस धारावाहिक ने अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। उन्हीं के कार्यकाल में बच्चों के लिए 'विक्रम बेताल/वाल्ट डिज्नी/पंचतंत्र' जैसे धारावाहिकों का प्रसारण दूरदर्शन से प्रारंभ हुआ। प्रायोजित कार्यक्रमों को भी प्रोत्साहन उन्हीं के कार्यकाल में मिला। 'एक कहानी/दर्पण/बसंती' आदि धारावाहिकों ने दूरदर्शन के परिष्कृत रुचि वाले दर्शकों को पर्याप्त संतुष्टि प्रदान की थी।

'न्यूज लाइन' जैसे समाचार विश्लेषण प्रधान कार्यक्रमों ने पत्रकारिता की नई विधा 'टीवी जर्नलिज्म' को भारत में पल्लवित होने का अवसर इसी दौर में दिया। इस प्रकार गिल का कार्यकाल दूरदर्शन के लिए ऐतिहासिक रहा। ■

दूरदर्शन के फैलाव की गति और तेज हो गई। १ जुलाई १९८३ से नवंबर १९८३ तक देश में हर रोज एक प्रेषक/ प्रसारक लगाया गया। यह एक रिकार्ड था। देशभर में प्रसारक प्रेषकों का जाल तेजी से फैला। १९८५ तक कुल १७० प्रेषक (ट्रांसमीटर) लग गए। ७० फीसदी जनता अब टीवी कार्यक्रम देख सकती थी। इन प्रेषकों का निर्माण भारत में ही हुआ। यह एक बड़ी तकनीकी उपलब्धि थी।

एशियाड के वर्ष में सरकार के दो अन्य निर्णयों ने देश में टीवी क्रांति पैदा कर दी। एक निर्णय ने विदेशी रंगीन टीवी सेट और वी सी आर (करमुक्त) लाने/ मँगाने की छूट दी। दूसरे निर्णय ने टीवी सेटों पर लाइसेंस की अनिवार्यता समाप्त कर दी। १९८४ में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद राजीव गाँधी युग में इलेक्ट्रॉनिकी क्षेत्र में विदेशी तकनीक और भारतीय उद्योगपतियों के बीच सहयोग बढ़ा और देश में टीवी निर्माण उद्योग बहुत तेजी से फैला। १९८९ तक आते-जाते भारत में आवश्यकता से अधिक काले-सफेद एवं रंगीन टीवी बनने लगे।

१९८४ का वर्ष दूसरे चैनल के आरंभ का भी वर्ष था। १७ सितंबर १९८४ के दिन दिल्ली में स्थानीय चैनल शुरू हुआ। यह शुरू में दो घंटे के कार्यक्रम प्रसारित करता था। बाद में कलकत्ता/ मद्रास/ बंबई महानगरों में भी चैनल शुरू हुए। १ जनवरी १९७६ को दूरदर्शन की विज्ञापन सेवा पहली बार शुरू हुई। १९८३-८४ में प्रायोजित कार्यक्रमों की शुरूआत हुई। इस तरह दूरदर्शन १९७६ से व्यवसाय के रास्ते पर चल पड़ा। यद्यपि शुरू में वह एक छोटे दुकानदार की मानसिकता में ही था। आय कुछ खास नहीं थी। फिर भी उसने एक रास्ता बता दिया था। निरमा पावडर और वीको टरमेरिक क्रीम इन दिनों के प्रसिद्ध ब्रांड थे। बच्चों में विज्ञापन लोकप्रिय होने लगे। विज्ञापन और उपभोक्तावादी संस्कृति का एक नया संबंध बना। १९७६ में दूरदर्शन की आय ७७ लाख थी। १९८५-८६ तक आते-आते उसकी आय ६२ करोड़ से ज्यादा हो गई।

जोशी कमेटी रिपोर्ट

१९८२ में सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय ने टीवी के तेज विस्तार की संभावनाओं को देखकर एक कमेटी बैठाई। जिसका प्रमुख काम दूरदर्शन के लिए एक आवश्यक और उचित सामग्री (सॉफ्टवेयर) की परिकल्पना करना था। १९८५ में भारतीय टीवी के लिए एक 'भारतीय व्यक्तित्व' शीर्षक से प्रकाशित यह रिपोर्ट दूरदर्शन के इतिहास में एक नई चहल-कदमी थी। पहली बार उसके लिए 'सामग्री' पर विचार किया गया। कार्यक्रम कैसे हों? यह प्रश्न महत्वपूर्ण था। जनता की जरूरतों और कार्यक्रमों में कैसा संबंध हो? टीवी किसका है और किसके लिए है? देश के

सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की दिशा में वह किस प्रकार सहयोगी बन सकता है? वह विकासशील समाज का सूचना संवाहक, शिक्षक और मनोरंजनकर्ता कैसे बने? आदि प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए प्रोफेसर पी.सी. जोशी के नेतृत्व में यह कमेटी (कार्यसमूह) गठित हुई। इसमें आठ सदस्य थे। बाद में पाँच सदस्य और शामिल किए गए।

जोशी-कमेटी नाम से प्रसिद्ध इस रिपोर्ट में दूरदर्शन की भूमिका की समाजशास्त्रीय विधि से पड़ताल की गई। योजनाओं के आयाम क्या हैं? जनसंचार क्रांति के प्रति हमारा भारतीय दृष्टिकोण क्या हो? उसका भारतीय संस्कार कैसा हो? दूरदर्शन का विकास कैसे हुआ है? बदलते हुए भारत को कैसे संप्रेषित किया जाए? एक रचनात्मक संप्रेषणकर्मी के सामने क्या नई चुनौतियाँ हैं? जनसमाज की प्राथमिकताएँ क्या और कैसी हैं? विकास की नई व्याख्याएँ क्या हो सकती हैं? गरीबी की बाधा को कैसे पार किया जाए? परिवार नियोजन और मानव संसाधन विकास किस प्रकार संयोजित किया जाए? महिलाओं की मुक्ति के प्रश्न कैसे हल हों? मनोरंजन का स्वरूप क्या हो? चैनल के प्रश्न कैसे हल करें? दूरदर्शन का ढाँचा कैसा हो? आदि तमाम व्यापक व बुनियादी प्रश्नों पर इस कार्यसमूह ने गहराई से विचार किया। समूह ने कोई 'बदलते भारत' की जरूरतों को केंद्र में रखा और दूरदर्शन को ऐसी सामग्री की दरकार बताई, जो इस बदलाव को रचनात्मक ढंग से तेज करे।

दूरदर्शन के संरचनात्मक ढाँचे को इस तरह बनाने की पेशकश की गई : *महानिदेशक *उपमहानिदेशक *योजना निदेशक *संयुक्त निदेशक (चार) *सहायक निदेशक *सचिवालय स्टॉफ।

कहने की जरूरत नहीं कि कुछ ऊपरी बातों (प्रबंध आदि) को छोड़कर इस कमेटी की सिफारिशों को जल्दी ही भुला दिया गया। १९८५ में जब ये सिफारिशें आ रही थीं तब दूरदर्शन में उपभोक्ता क्रांति के बीज बोए जा रहे थे। एक तरफ कमेटी दूरदर्शन को 'भारतीय व्यक्तित्व' देने के लिए प्रयत्नशील थी, तो दूसरी ओर सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय दूरदर्शन को प्रायोजकों एवं विज्ञापकों के आखेट का स्थल बनाए दे रहा था। १९८९ तक दूरदर्शन की आय २१० करोड़ रुपए से ज्यादा हो चुकी थी। १९९२ तक यह आय ३५० करोड़ रुपए के आसपास थी।

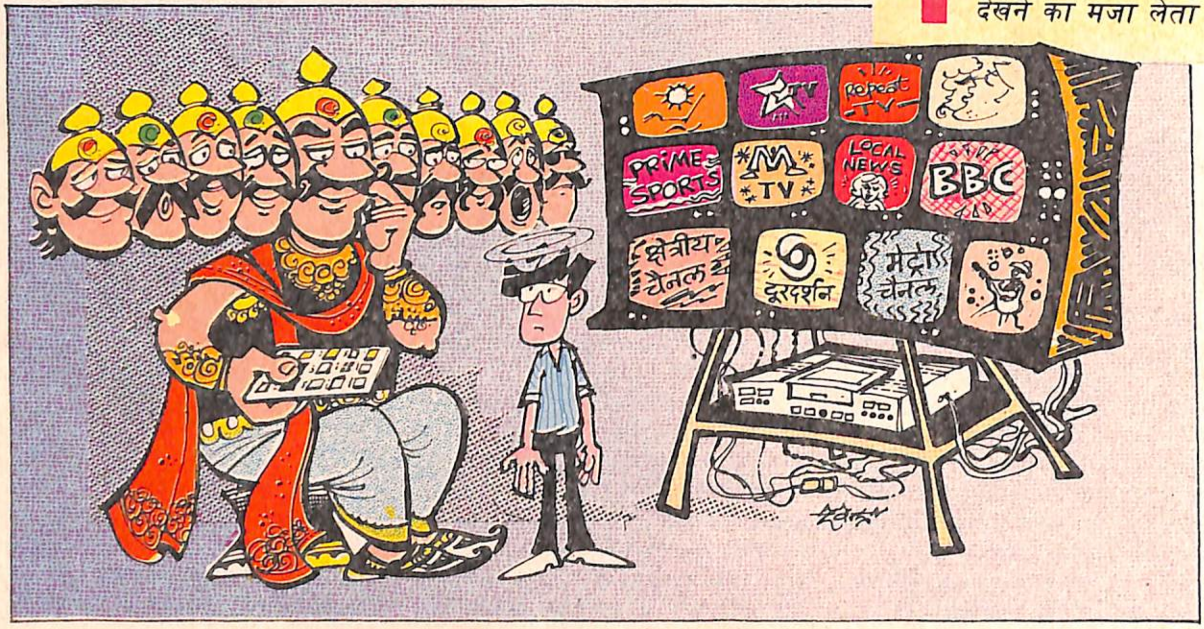
इस तरह १९७६ से आगे १९८९ तक का दौर दूरदर्शन के रंगीन होने, तेजी से प्रेषकों के फैलने और मध्यवर्ग में टीवी सेट्स अनिवार्य हो उठने का दौर है। १९७६ में दूरदर्शन की आय ७७ लाख थी, १९८९ में १६१ करोड़। यह दूरदर्शन का दूसरा चरण था। यह चरण अचानक नहीं आया बल्कि सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य के बदलने के साथ-साथ आया। राजीव गाँधी के युग से कुछ पहले से ही यानी इंदिरा गाँधी के युग में भारत का भूमंडलीकरण होने लगा था। एशियाड इसका प्रमाण था। राजीव युग आर्थिक नीतियों के बदलने का युग था। भारत की अर्थव्यवस्था विश्व व्यवस्था से सीधे-सीधे जोड़ी जा रही थी। खुली और उदार नीतियों का बोलबाला था। तकनीक के क्षेत्र में विदेशी कंपनियाँ भारतीय बाजार में घुस रही थीं। बहुत स्वाभाविक था कि दूरदर्शन इस परिवर्तन का पहला दरवाजा बनता। वह बना। अब भारतीय 'व्यक्तित्व' की तलाश उतनी जरूरी नहीं थी जितनी कि मनोरंजन की। तकनीक और ग्लैमर दोनों आदर्श रूप में स्वीकृत होने लगे। दूरदर्शन एक ऐसे सुपर बाजार में बदलने लगा, जो प्रायोजकों-विज्ञापकों के चलाए चलता था।

लेकिन अभी गनीमत थी। मनोरंजन और जनशिक्षा में तालमेल की बात दबी जुबान में, जब-तब, सुनाई पड़ जाया करती थी। यद्यपि दूरदर्शन बाजार से जुड़ने के लिए अपना संकोच छोड़ चुका था। प्रसार भारती निगम कानून बन चुका था।

तीसरा चरण : स्वतंत्र सैटलाइट टी.वी. का विस्फोट

ठीक इसी ऐतिहासिक बिंदु पर एक निर्णायक घटना हुई। खाड़ी युद्ध के साथ-साथ सैटलाइट टी.वी. ने भारत के सार्वभौम आकाश को बिना बताए भेद डाला और देखते-देखते भारत में डिश एंटेना एवं सैटलाइट टीवी की शुरुआत हो गई। यह काम सीएनएन नामक एक बहुराष्ट्रीय टीवी कंपनी ने किया। १९९१ के फौरन बाद प्रवासी भारतीयों और कुछ अन्यों ने मिलकर पाया कि भारत में एक बड़ा मध्य वर्ग मौजूद है, जो आकाश के खुलने को 'तरस' रहा है। उन्होंने हाँगकाँग से अपना स्टार टी.वी. भारत में सीधे दिखाना शुरू किया। स्टार टीवी ने एक साथ चार चैनल देने शुरू किए। डिश एंटेना और तार के मामूली खर्चे (सौ से डेढ़ सौ रुपया महीना) से लोग घर बैठकर अंतरराष्ट्रीय समाचार, अंतरराष्ट्रीय खेल, फैशन और संगीत सुन-देख सकते थे। डेढ़ सौ रुपए में अंतरराष्ट्रीय स्तर का हुआ जा सकता था। दूरदर्शन के उबाऊ कार्यक्रमों से मुक्ति पाई जा सकती थी। केबल टीवी नेटवर्क

काश, आज मैं रावण होता तो एक साथ दस चैनल देखने का मजा लेता



नई दुल्हन का भ्रम

□ शिव शर्मा

जब **शिव शर्माजी** ने दूरदर्शन के महानिदेशक का पद संभाला था, तब चार प्राथमिकताएँ घोषित की थीं। उनका कहना था कि सबसे पहले वे कार्यक्रमों की सही प्रस्तुति पर ध्यान देंगे। दूसरी वरीयता सही संदर्भ पेश करने के बारे में होगी तथा तीसरी विविधता एवं चौथी कार्यक्रमों के स्तर एवं गुणवत्ता के सुधार की होगी। भारत में दूरदर्शन की प्रगति के इतिहास से सक्रिय जुड़े हुए शिव शर्मा का कहना था कि दूरदर्शन के कार्यक्रमों में कमियाँ हैं। उच्चारण संबंधी दोष हैं। मगर ऐसा होना स्वाभाविक है। भारत में दूरदर्शन काफी नया माध्यम है। उन्होंने सुधार के लिए काफी कार्यक्रमों पर अमल भी किया। कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले कर्मचारियों तथा उद्घोषकों के लिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों, सेमिनारों आदि का आयोजन किया। इसी प्रकार प्रकाश, ध्वनि, डिजाइन, ग्रॉफिक्स, केप्शन आदि के क्षेत्रों में आधुनिकतम शैलियों से दूरदर्शन के कर्मचारियों को परिचित कराने के लिए काफी प्रयास किए।



शिव शर्मा दूरदर्शन की व्यापक आलोचना से काफी पीड़ित रहे। उनका कहना था कि देश के दर्शक वर्ग की रुचियों एवं पसंद में काफी विविधता एवं भिन्नता है। इसलिए एक साथ सभी को खुश एवं संतुष्ट रखना संभव नहीं हो पाता। दुनिया का कोई भी टीवी प्रसारण संगठन अपने सभी दर्शकों को संतुष्ट नहीं रख सकता। शिव शर्मा की मान्यता यह रही कि दूरदर्शन के कार्यक्रमों में ताजगी एवं दिलचस्पी बनाए रखने के लिए नए-नए विचारों एवं कल्पनाओं की आवश्यकता पड़ती है। विचार मंथन की यह प्रक्रिया निरंतर जारी रखने के लिए युवा, ऊर्जावान, उत्साही एवं अथक व्यावसायिक कुशलता-संपन्न लोगों की सेवाएँ ली जानी चाहिए।

दूरदर्शन के अधिकारियों द्वारा धारावाहिकों की स्वीकृति में रिश्वतखोरी के आरोप को वे सदा नकारते रहे। उनका दावा था कि भास्कर घोष एवं हरीश खन्ना के जमाने में भी ऐसी कोई ठोस शिकायत नहीं आई। उनका तर्क था कि भ्रष्टाचार केवल सूचनाओं को बेचने के स्तर तक ही सीमित था। यदि कोई प्रस्ताव स्वीकृत होने की प्रक्रिया से गुजर रहा होता था, तब दलाल एवं कतिपय भ्रष्ट कर्मचारी बंबई, कलकत्ता जाकर उस कार्यक्रम के प्रस्तावक के पास जाकर सौदेबाजी करते एवं रकम ऐंठ लाते थे। ■

के प्राइवेट जाल ने पहले ही दूरदर्शन को स्पर्धा देनी शुरू कर दी थी।

सैटलाइट तकनीक आ चुकी थी। सैटलाइट तकनीक भूमंडलीय तकनीक थी। वह देशों की सीमाएँ लाँघने वाली थी। एक-डेढ़ लाख के एक डिश ने एक सार्वभौम राष्ट्र की सीमाएँ तोड़ दीं। आसमान के रास्ते, तरंगों के सहारे सैटलाइट टीवी ने सीधे अपने दर्शक ढूँढ निकाले। स्टार टीवी ने एक साल में ही दो सौ गुना दर्शकता बढ़ा ली।

सैटलाइट का दौर शुरू हुआ। केबल टीवी का दौर शुरू हुआ। देखते ही देखते दूरदर्शन के दर्शक स्टार टीवी, सी.एन.एन., ए.टी.एन. के दर्शक हो गए।

शुरू में सरकार के कान खड़े हुए। उसने समझा कि केबल टीवी के जाल को रोका जा सकता है। १९९१ में मद्रास हाईकोर्ट के एक फैसले ने केबल टीवी को रोकने से मना कर दिया। यह केबल टीवी की जीत थी और दूरदर्शन की हार। बाद में १९९१ से लेकर १९९२ तक सूचना प्रसारण मंत्री आदि लगातार यह सोचने में व्यस्त रहे कि डिश एंटेना से आ रहे सैटलाइट टीवी को किसी तरह रोका जा सकता है कि नहीं। यह स्पष्ट होने में एक साल लग गया कि डिश को रोकना असंभव है। सैटलाइट तकनीक इतनी आगे बढ़ चुकी है कि तरंगों को आने से नहीं रोका जा सकता। इसी बीच स्टार शहरी मध्यवर्ग के बड़े हिस्सों में फैल गया था। १९९१ तक सैटलाइट प्रसारणों की स्वीकृत दर्शक संख्या का आँकड़ा इस प्रकार था : सी.एन.एन. को देखने वाले (डिश-संबद्ध) दर्शकों की संख्या ४६ प्रतिशत हासिल था। बी.बी.सी. को ७९ प्रतिशत। एम टी.वी. की दर्शकता ५५ प्रतिशत थी। विदेशी सीरियल देखने वाले ७५ प्रतिशत थे। प्राइम स्पोर्ट देखने वालों की संख्या ६१ प्रतिशत थी। दूरदर्शन के दर्शकों का एक बड़ा हिस्सा इधर आ गया था।

दूरदर्शन के इजारे को मिलने वाली यह पहली ऐतिहासिक चुनौती थी और है। दूरदर्शन इस चुनौती से कैसे निपटे यह सवाल प्रमुख हो गया।

१९९१ में नई सरकार/मंत्री ने आते ही ऐलान किया कि १९९० में पारित प्रसार भारती को लागू करके, एक स्वायत्त निगम बनाकर दूरदर्शन को नया रूप दिया जाएगा। (प्रसंगवश 'प्रसार भारती' कोई बहुत क्रांतिकारी कानून नहीं है। वह दूरदर्शन को एक निगम में बदलने और इस तरह स्वायत्त करने की बात करता है। वह दूरदर्शन को संसद के प्रति जिम्मेदार मानता है।) लेकिन एक साल निकल गया। प्रसार भारती पर नई सरकार अमल नहीं कर सकी। तब तक डिश एंटेना- सैटलाइट की चुनौती और बड़ी हो गई थी। पानी सिर के ऊपर से निकल गया था। तब सरकार ने जल्दी-जल्दी दो कमेटियाँ बनाई। **महालिक कमेटी** और **वरदन कमेटी।**

एस.सी. महालिक की अध्यक्षता में बनी कमेटी का मुख्य काम विज्ञापनों की ऐसी नई दरों की व्यवस्था करना था, जो स्टार टीवी की चुनौती के मुकाबले आकर्षक हों। इसके लिए उसे दूरदर्शन के लिए एक नई समय-सारणी भी बनानी थी, ताकि विज्ञापन दूरदर्शन पर बढ़ सकें। आय बढ़ सके। स्टार टीवी पहले ही उसके हिस्से के १५ फीसदी विज्ञापन उड़ा ले गया था। (आजकल महालिक कमेटी चार्ट ही लागू है।)

दूसरी कमेटी **के.ए. वरदन कमेटी** थी जिसका प्रमुख काम सैटलाइट प्रसारण की चुनौती का जवाब खोजना था। वरदन कमेटी ने बताया कि नई तकनीक से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता, कि सैटलाइट प्रसारकों के पास साधनों की कमी नहीं है, कि इन कार्यक्रमों के नएपन ने दर्शकों को आकर्षित किया है। इस

स्थिति ने भारतीय दर्शक के सामने विकल्प के कार्यक्रमों को चुनने के रास्ते खोल दिए हैं। लेकिन इन सबसे सावधान रहने की भी जरूरत है। यह भारतीय दर्शकों की रुचियाँ विकृत कर सकते हैं। ये चैनल गलत सूचना भी देते हैं। इनके मुकाबले के लिए दूरदर्शन को सुधारना होगा। इसके लिए प्रसार भारती के अंतर्गत प्रसारण परिषद् बनाई जानी चाहिए। वह नई चैनल का आरंभ करे। डिश को लाइसेंस लेना अनिवार्य करना होगा, ताकि उन पर कुछ नियंत्रण रहे। इसके लिए प्रसार भारती को आवश्यक सुधार के साथ लागू किया जाना चाहिए।

हम जानते हैं कि ये दोनों कमेटियाँ सैटलाइट चुनौती को पूरी तरह नहीं समझती थी। इसलिए फिर एक नई कमेटी स्थापित की गई जिसके अध्यक्ष **पी.एस. देवधर** थे और जिसमें **निखिल चक्रवर्ती, मृणाल पांडे, हबीब तनवीर** आदि सदस्य थे। इसका काम दूसरे चैनल को निजी कार्यक्रमों के लिए खोलने की नीति और नियम तय करना था। इसे चार महानगरों में अलग-अलग और एक साथ चारों को जोड़कर नए महानगरीय चैनल (मैट्रो) के स्वरूप के बारे में सोचना था। यह भी सोचना था कि स्टार टीवी की चुनौती का मुकाबला करने के लिए मनोरंजन का एक स्थाई चैनल कैसे शुरू किया जाए। इसके जरिए भारतीय टीवी के निजीकरण का मार्ग धीरे-धीरे खोला जाना था।

लेकिन एक दिन मंत्रालय के अधिकारियों ने घोषित किया कि २६ जनवरी १९९३ से मैट्रो चैनल शुरू होने जा रहा है। और फिर ऐन २६ जनवरी को मैट्रो चैनल शुरू हो गया। इसकी 'सामग्री' के बारे में सोचा तक नहीं गया था। घोषणा की रक्षा मगर करनी थी। सो मैट्रो चैनल को फिल्मी सामग्री से काम चलाना पड़ा। देखते-देखते मैट्रो चैनल शुद्ध फिल्मी चैनल हो गया। मनोरंजन फिल्मी हो गया। निराश होकर देवधर कमेटी को इस्तीफा देना पड़ा।

अब स्थिति यह है कि अक्टूबर से जी.टी.वी. चौबीस घंटे कार्यक्रम प्रसारित करने लगेगा। चौंतीस साल की यात्रा में दूरदर्शन जहाँ पहुँचा यह जगह बाजार ही है। अब वह विकास के तमाम प्रश्नों को भूल चुका है। मैट्रो चैनल शुद्ध विज्ञापकों और मनोरंजन उद्योग की इच्छाओं पर नाचने लगा है। राष्ट्रीय प्रसारण के दर्शक मैट्रो की ओर जाने लगे हैं। राष्ट्रीय प्रसारण का इजारा जा रहा है। मुकाबले की प्रविधि दिलचस्प है। जी.टी.वी. फिल्मी है तो मैट्रो भी फिल्मी हो गए हैं। वह फिल्मी गीत दिखाएगा तो मैट्रो भी दिखाएगा। वह नंगई करेगा तो हम भी करेंगे। मुकाबले का मूलमंत्र यह है। इस प्रविधि में मनोरंजन के नए मानवीय तरीके खत्म हो रहे हैं। दूरदर्शन और मैट्रो कुल मिलाकर एक सुपर बाजार बने जा रहे हैं। ■

□ लालकृष्ण आडवाणी

फोकस व्यक्ति नहीं, सूचना हो

*भारतीय जनता पार्टी के शीर्षस्थ नेता **लालकृष्ण आडवाणी** जनता शासन काल के दौरान सूचना एवं प्रसारण मंत्री रहे थे। सरकारी सूचना माध्यम के रूप में दूरदर्शन की भूमिका के संबंध में उन्होंने इस साक्षात्कार में काफी महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। साक्षात्कार के महत्वपूर्ण अंश प्रस्तुत हैं-*

आप जनता शासन के दौरान सूचना एवं प्रसारण मंत्री रहे थे। सरकारी मीडिया के रूप में समाचारों की भूमिका के बारे में आपके क्या विचार हैं?

सरकारी माध्यम की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षा प्रदान करना, सूचना प्रदान करना तथा मनोरंजन जुटाना है। यदि रेडियो तथा दूरदर्शन जैसे साधन समाचारों को पक्षपातपूर्ण ढंग से पेश कर राजनीतिक संतुलन बिगाड़ते हैं, तब वे निश्चित ही प्रजातंत्र को विकृत करने के दोषी हैं। चंद्रा समिति ने भी अपनी रपट में कहा था, कि आकाशवाणी सोवियत शैली पर काम कर रही है। ऐसा होना गलत है क्योंकि भारत एक प्रजातांत्रिक देश है। यहाँ एक दलीय व्यवस्था नहीं है। हमारी संवैधानिक व्यवस्थाएँ ऐसी हैं कि केंद्र में एक पार्टी विशेष का शासन होते हुए भी राज्यों में अन्य दलों का शासन हो सकता है। यदि इस स्थिति में मीडिया केंद्रीय सत्ता द्वारा नियंत्रित रहे तब केंद्र और राज्यों में तनाव की स्थिति आ सकती है। संघीय शासन प्रणाली में एक मुख्यमंत्री का भाषण आकाशवाणी से प्रसारित करने की अनुमति देने या न देने का अधिकार किसी केंद्र संचालक के पास रहना अनुचित है। मगर हमारे यहाँ ऐसा हो रहा है।

दूरदर्शन के बारे में आपके निजी अनुभव कैसे रहे?

मेरा अनुभव यह रहा कि मेरे भाषणों एवं टिप्पणियों को दूरदर्शन के अधिकारियों ने बुरी तरह से सेंसर किया। मैं जब संसद अथवा अन्य किसी स्थान पर बोलता हूँ तब शब्दों के चयन में काफी सावधानी बरतता हूँ। इसलिए चाहता हूँ कि बिना तोड़मरोड़कर मेरे भाषणों को प्रस्तुत किया जाए, मगर ऐसा होता नहीं।

क्या आप सोचते हैं कि कुछ वर्ष पूर्व दूरदर्शन का रवैया भिन्न था?

ऐसा कुछ भी नहीं है। राजीव गाँधी के कार्यकाल में भी उन्हीं के दर्शन ज्यादा करवाए जाते थे। मैंने 'न्यूज लाइन' के एक अंक में इस विषय पर अपने विचार खुले रूप में व्यक्त भी किए थे। दरअसल दूरदर्शन के पास समाचार प्रसारण के बारे में मार्गदर्शिका भी है। इस मार्गदर्शिका के अनुसार, 'समाचारों की रिपोर्टिंग तथ्यात्मक एवं शतप्रतिशत सही होनी चाहिए। केवल ऐसे ही विचारों को समाचार बुलेटिन में शामिल किया जाना चाहिए, जो समाचार का अंश हो। फोकस व्यक्ति विशेष नहीं बल्कि सूचना होनी चाहिए।' यदि इसी मार्गदर्शिका को अधिकारी हृदय से अपना लें तब किसी को शिकायत ही नही रहेगी।

सूचना एवं प्रसारण मंत्री यह कहते



रहते हैं कि समाचार बुलेटिनों में विरोधी पार्टियों को उचित कवरेज मिलता है। इस कथन पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

सन् १९८९ में तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री ने स्वयं आँकड़े देते हुए बताया था कि अप्रैल, मई एवं जून ८९ में इंका को ३६६ मिनट का कवरेज मिला जबकि अन्य दलों को ३० मिनट से भी कम समय (प्रति दल) दिया गया। आँकड़ों एवं दावों का फर्क सामने है।

दूरदर्शन के अधिकारी यह तर्क देते हैं कि सरकारी मीडिया होने के कारण सरकार चलाने वालों का ध्यान रखना उनका फर्ज है?

प्रजातंत्र में सरकार एवं सत्ताधारी दल में फर्क करना जरूरी है। यदि सरकार किसी विषय विशेष पर अपना मत व्यक्त करती है तब विरोधी दलों को भी उसी मंच से उसके बारे में अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होना चाहिए। मैं जब सूचना एवं प्रसारण मंत्री था तब मैंने इस सिद्धांत पर अमल करने की कोशिश की थी। चुनाव आयोग भी ऐसा ही करना चाहता था। हमने प्रसार भारती विधेयक भी इसी मंशा से पेश किया था। ■

संजय खान

आधा हिन्दू
आधा मुसलमान
लेकिन पूरा इन्सान

संजय खान शुरू से बड़े विवादास्पद रहे हैं। कलाकार के रूप में भी और निर्माता निर्देशक और एक व्यक्ति के रूप में भी। इनके आलोचक अधिक और प्रशंसक कम मिलेंगे। दूर से संजय खान हौवा नजर आते हैं। लेकिन जो लोग उनके करीब पहुँचते हैं, वे देखते हैं कि सामान्य लोगों की तरह उनमें भी मानवीय भावनाएँ हैं। उनका हृदय बच्चों की तरह मासूम है।

संजय खान से मेरी मुलाकात कई बार हुई है। इस बार जब नईदुनिया के लिए साक्षात्कार करने की बात आई, तो मुझे एक नए, सुलझे हुए खालिश राष्ट्र भक्त के दर्शन हुए। उनकी भाषा और विचार सुनकर लगता है, कोई बहुत अच्छा वक्ता मंच पर बोल रहा हो।

संजय खान से मेरी बात पारंपरिक तरीके से शुरू हुई-

अगर आप अभिनेता न बने होते तो क्या बनने की अभिलाषा थी?

नौजवानी की इस उम्र में मेरी भी अभिलाषाएँ गुलाबी रंग लिए इतनी स्पष्ट न थीं। लेकिन अभिलाषाएँ तो थीं। सच कहूँ तो कुछ खास सोचने का मौका ही न मिला। बंगलोर में जन्म हुआ। वहीं पढ़ाई पूरी की। बंबई आ गया। बिना किसी कोशिश के 'दोस्ती' फिल्म में काम मिल गया। उसमें मेरी रोमांटिक भूमिका थी। यह फिल्म खूब चली। इसके बाद मेरे पास फिल्मों की कतार लग गई।

जब आप अपने कैरियर की ऊँचाई पर पहुँचे तो आपने बाहर की फिल्में करना एकदम बंद कर दिया, भला ऐसा क्यों?

मैंने देखा कि फिल्म इंडस्ट्री में सिस्टम नाम की चीज गायब होती जा रही है। जहाँ सिस्टम ही न हो वहाँ काम क्या करना? फिल्में भी ऐसी बनने लगीं कि उसका मकसद ही समझ में नहीं आता था। इस इंडस्ट्री में ऐसे लोग आ गए थे जिनका मजहब पैसा हो गया था। लिहाजा फिल्मों से मैंने अपने आप को दूर कर लिया।

ऐसा तो नहीं कि आपने फिल्मों से संन्यास लेने का ही फैसला कर लिया हो?

जी नहीं, बिल्कुल नहीं। इस देश के प्रति मेरे मन में अच्छी भावनाएँ थीं, हैं और रहेंगी। इस मुल्क में सत्तर फीसदी लोग अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे हैं। ऐसे लोगों पर फिल्मों का बड़ा गहरा असर होता है। मैं उन्हें अच्छी फिल्में दिखाना चाहता था। यह सोचकर मैंने निजी फिल्म कंपनी कायम की। साफ-सुथरी फिल्मों को बनाने में भी दिक्कत आती है। उससे भी बड़ी दिक्कत उसे बेचने और थिएटरों तक पहुँचाने में आती है। मैंने एक नहीं तीन फिल्में बनाई- 'चाँदी सोना/अब्दुल्ला और काला धंधा गोरे लोग।' ये फिल्में खूब चलीं। इनमें एक मकसद था।

आज फिल्मों के न चलने का क्या कारण आप समझते हैं?

वही सिस्टम। सिस्टम बिगड़ गया है। आप हिंसा और सेक्स कब तक दिखा सकते हैं। इन्हें देख-देखकर लोगों का हाजमा खराब हो गया है। हमारे फिल्म मेकर जो कि अपने को तुर्रम खाँ समझते हैं, पूरी की पूरी कहानियाँ अमेरिकी फिल्मों से ले लेते हैं। कहीं-कहीं तो सीन-दर-सीन वैसे ही ले लेते हैं। आज तक कभी ऐसा हुआ कि किसी अमेरिकी ने हमारी फिल्मों का आइडिया चुराया हो।

फिल्मों से टेलीविजन की तरफ आपने कैसे रुख किया?

यह इलेक्ट्रॉनिक्स सिस्टम आज की माँग है। इसके जरिए आप बहुत कुछ कर सकते हैं। **टीपू सुल्तान** बनाने का सपना मेरे दिल दिमाग में बहुत दिनों से था। उस महान इंसान की देशभक्ति से मैं बहुत प्रभावित था। अब इतने महान आदमी की कहानी आम तीन घंटे में दिखाने से तो रहे। उसके लिए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का सहारा लेना पड़ा। आपने देखा है। हमने कैसा बनाया। कई मुल्कों में यह सीरियल दिखाया गया। आज भी दिखाया जा रहा है। संयोग से उसे दूरदर्शन पर फिर से शनिवार को दिखाया जा रहा है।

भविष्य की आपकी क्या योजनाएँ हैं?

एक तो मैं 'बजरंग बली' और दूसरे '१८५७' बना रहा हूँ। हनुमानजी ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। अब तक रामायण पर किसी ने गहराई से काम नहीं किया है। रामायण में हनुमानजी का चरित्र महान है। उनसे आज हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उनके जैसा त्यागी, भक्त, ईमानदार, सेवक और वीर महापुरुष संसार के किसी कोने में पैदा नहीं हुआ। यह सीरियल मैं दुनिया की तमाम भाषाओं में डब करूँगा। दुनिया भर को पता चल जाएगा कि हमारे यहाँ ऐसे महापुरुष हुए हैं। मेरा दावा है कि बजरंग बली को बड़ी श्रद्धा से मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख और दुनियाभर के लोग देखेंगे। यह सीरियल अपने आप में बेजोड़ होगा। दूसरा सीरियल मैं बनाना चाहता हूँ '१८५७'। अँगरेजों ने इस देश के इतिहास को बड़ा तोड़-मरोड़ कर लिखा है। यह किताब, इसे किसी अँगरेज ने लिखी है। वह कहता है कि हिंदुस्तानी बड़े जालिम और क्रूर होते हैं। ऐसी कई किताबें हैं। जब भी मैं ऐसी किताबें देखता हूँ तो मेरा खून खौल उठता है। इन बेवकूफों को कौन समझाएगा कि अपनी जमीन पर कोई हमला करेगा तो कोई चुप कैसे बैठ सकता है। आज जो आप हमारे मुल्क में सांप्रदायिकता की आग देख रहे हैं न, इसे अँगरेजों ने लगाई थी। हम '१८५७' से लोगों में भाईचारा/सद्भावना/प्रेम और राष्ट्रीयता की अलख जगाने की कोशिश करेंगे।

मालविका तिवारी और संजय खान :
टीपू सुल्तान के दृश्य में



अंत में एक निहायत निजी सवाल- संजय खान, आपका यह नाम बड़ा भ्रम पैदा करता है, आपका इस तरह के नाम क्या तात्पर्य है?

यही सवाल सालों पहले रायगढ़ में लोगों ने पूछा था। मैं पाटिल साहब के साथ दौरे पर था। मैंने लोगों को बताया था- मैं आधा हिंदू हूँ। आधा मुसलमान हूँ। लेकिन पूरा इंसान हूँ।

● साक्षात्कार ☐ अनिल त्रिपाठी

नवलसिंह से पूछिये उसने यह ताबीज़



उन दिनों नवलसिंह ने खड़े होना भी नहीं सीखा था। उसकी मां उसे गोदी में लेकर गयी ताबीज दिलवाने।

जब दोनों लौट रहे थे तो मां की मुलाकात हो गयी गांव की नर्स से। नर्स ने नवलसिंह के गले में नया-नया ताबीज देखा तो उसने पूछा:

"जब यह तुम्हारे पेट में था तो क्या मैंने तुम्हें टिटनेस के दो टीके नहीं लगाये थे?"

"हां, हां लगाये थे तुम्हीं ने एक-एक महीने बाद" मां ने कहा।

"और फिर जब यह डेढ़ महीने का था तब इसे पोलियो की पहली खुराक, बी.सी.जी. और डी.पी.टी. का पहला टीका नहीं लगा था।" नर्स ने मां से पूछा।

"हां, ये सब भी हुआ था। ये तो इसके कार्ड में भी भरा है।" मां ने जवाब दिया।

"तो फिर ये ताबीज क्यों?" नर्स ने थोड़ा तमक कर पूछा। मां ने कहा "बस वैसे ही।"

मध्यप्रदेश सरकार द्वारा यूनिसेफ के सहयोग से

क्यों पहना है

"क्या इसे आगे डी.पी.टी. के दो और टीके लगवाने और पोलियो की खुराकें पिलवाने का इरादा नहीं है? और खसरे के टीके और बूस्टरों का क्या होगा?" नर्स अब नाराज़ होने लगी थी।

लेकिन माँ ने मुस्कुरा कर कहा "हाँ बहनजी, इसे टीके तो पूरे ही लगवाऊंगी पर आप गुस्सा क्यों हो रही हैं?"

"मैं गुस्सा हो रही हूँ ये ताबीज़ देखकर" नर्स थोड़ा नरम पड़ी।

"आपको बताया ना ये ताबीज़ सिर्फ वैसे ही" माँ ने जोर देकर कहा। अब मुस्कुराने की बारी नर्स की थी। दोनों ने एक दूसरे को देखा और फिर दोनों खिलखिला कर हँस पड़ी। वैसे ही।

नवलसिंह ने यह किस्सा सुना है अपनी माँ से।

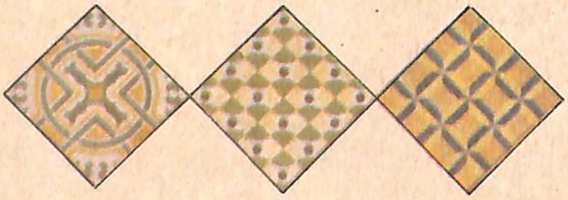
आप भी उससे पूछ कर देखिये कि यह ताबीज़ क्यों? जवाब में नवलसिंह भी मुस्कुरा कर कहता है- बस, वैसे ही।

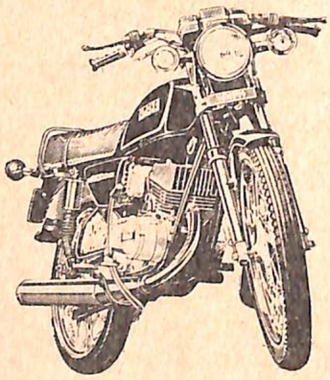
राष्ट्रीय टीकाकरण कार्यक्रम

बच्चे बच्चे की मुस्कान
टीके सेहत की पहचान

जनहित में जारी







□ सन टीवी

आकाश में एक और सूरज

सैटेलाइट टीवी ने हवाई मार्ग से दर्शकों के घरों में पहुँचने के अपने-अपने रास्ते खोज लिए हैं।

सन टीवी तमिल भाषियों को अपनी भाषा में अपनी संस्कृति से परिचित कर मनोरंजन का दावा करता है। ऐसे में मंडी-हाउस के कार्यक्रमों का क्या होगा?

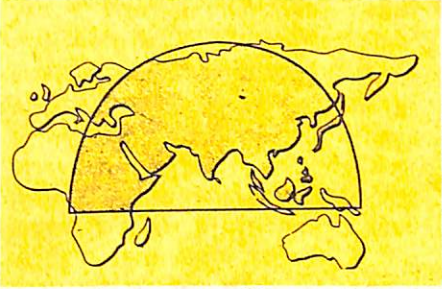
● **अजय वर्मा**

उगता हुआ सूरज तमिलनाडु की लोकप्रिय राजनीतिक पार्टी का चुनाव प्रतीक है। 'सन' टीवी के प्रबंध संचालक कलानिधि मारान इसी लोकप्रिय राजनीतिक दल द्रविड़ मुनैत्र कषघम के नेता मोरसोली मारान के पुत्र तथा पार्टी प्रधान एम. करुणानिधि के नेफ्यू हैं। बिजनेस मैनेजमेंट में स्नातकोत्तर उपाधि लेकर अमेरिका से लौटे २८ वर्षीय कलानिधि ने 'सन' टीवी के संचालन के लिए भी मद्रास स्थित पार्टी मुख्यालय के भवन 'अन्ना अखिलयम' की तीसरी मंजिल को चुना है। सैटेलाइट नेटवर्क के जरिए पूरे तमिलनाडु में २४ घंटे लगातार मनोरंजन कार्यक्रम परोसने की यह योजना है। लोगों का ख्याल है कि इस योजना के फलीभूत होने पर स्थानीय दूरदर्शन केंद्र की आमदनी पर दुष्प्रभाव पड़ेगा तथा प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में पार्टी की पकड़ और भी मजबूत होगी। वैसे कलानिधि का कहना है कि उनके इस प्रोजेक्ट का राजनीति से कतई वास्ता नहीं है। वे कहते हैं कि यह महज संयोग ही है कि 'सन टीवी' नाम तथा पार्टी का चुनाव चिन्ह 'सूर्य' है।

सिर्फ मनोरंजन केंद्रित प्रसारणों तक सीमित रहना तकनीकी विवशताओं का परिणाम है। प्रसारणों में समाचार वाचन या सामयिक घटनाओं पर केंद्रित कार्यक्रमों का अभाव रहेगा। सन टीवी का समझौता ए.टी.एन., एशिया टीवी नेटवर्क से हुआ है। कार्यक्रमों का प्रसारण रूसी उपग्रह 'गोरिजनॉट' के जरिए होगा। निर्धारित कार्यक्रमों को प्रसारण तिथि से पंद्रह दिन पूर्व मास्को भेजना होगा। कार्यक्रम तैयार करने एवं प्रसारण तिथि में अंतराल की इस लंबी अवधि के कारण समाचार प्रसारण या सामयिक विषयों पर कार्यक्रम प्रसारित करना संभव नहीं है।

कलानिधि अपने प्रतिष्ठान के वित्तीय साधनों या वित्तीय विवरण की चर्चा करना पसंद नहीं करते। किंतु 'सन टीवी' के कार्यक्रमों के बारे में रुचिपूर्वक चर्चा करते हैं। कार्यक्रमों के अनुसार प्रति सप्ताह तीन फिल्मों का प्रसारण होगा। इनका समय शाम ६ से ९ के बीच रखा जाएगा। पूर्व में यह समय दोपहर १ से ४ रखा गया था ताकि गृहणियाँ फुर्सत में चलचित्र का आनंद ले सकें। बाजार सर्वे के बाद कार्यक्रम बदला गया। विशुद्ध मनोरंजन के अतिरिक्त स्वास्थ्य, पाकशास्त्र एवं खरीददारी पर आधारित कार्यक्रम भी दिखाए जाएँगे। पुराने जमाने के फिल्मी सितारों, फिल्मों के मनपसंद गानों, हास्य प्रसंगों आदि पर आधारित कार्यक्रमों के अतिरिक्त कोदमबक्कम (मद्रास का हॉलीवुड) की ताजा रपट एवं धारावाहिकों का प्रसारण भी किया जाएगा।

विविधता के लिए खेलकूद, नृत्य, संगीत एवं तमिलजनों की विश्वव्यापी उपलब्धियों की चर्चा भी की जाएगी। प्रयास यह रहेगा कि अधिक से अधिक दर्शकों की रुचि एवं सक्रिय भागीदारी कार्यक्रमों में रहे। एक कार्यक्रम में दर्शक रूबरू होकर प्रिय सितारों



से मनचाहे सवाल पूछ सकेंगे। कलानिधि को विश्वास है कि उन्हें प्रारंभिक स्तर पर ही ५२ लाख दर्शक मिल जाएँगे। तमिल मालाई कार्यक्रम तमिल भारत में होंगे तथा संपूर्ण भारत सहित ८३ अन्य देशों में देखे जा सकेंगे। खासतौर पर एशिया उप महाद्वीप, खाड़ी के देश, सिंगापुर एवं मलेशिया सहित सुदूर पूर्व के वे सभी देश इसके विस्तार में आ जाएँगे, जहाँ तमिल भाषियों का बाहुल्य है। इससे एक ओर तो तमिल भाषियों को अपनी भाषा में कार्यक्रम देखने का अवसर मिलेगा साथ ही वे इन कार्यक्रमों के निर्माण में सक्रिय भागीदारी कर अपनी प्रतिभा को प्रकाशित भी कर सकेंगे।

निर्धारित योजना के अनुसार सन १९९४ के अंत तक लगातार २४ घंटे तक कार्यक्रमों का प्रसारण शुरू हो जाएगा। आधा रास्ता इसी वर्ष के अंत तक तय करते हुए 'तमिल मल्लाई' का प्रसारण समय १२ घंटे कर दिया

टीवी एशिया

भारतीय रजत पट के लगभग दो दशक तक सुपर स्टार रहे अमिताभ बच्चन इन दिनों संन्यासी मुद्रा अपनाए हुए हैं। बोफोर्स कांड से पूरी तरह मुक्त हो जाने के बाद इनके छोटे भाई अजिताभ और पत्नी जया ने मिलकर टीवी **एशिया** की स्थापना की है। यह प्रसारण कंपनी विदेशों में रहने वाले भारतीय मूल के लोगों को हिन्दी में मनोरंजक कार्यक्रम परोसती है।

इस समय पूरे विश्व में सैटेलाइट टी.वी. के क्षेत्र में जबर्दस्त प्रतियोगिता चल रही है। टी.वी. एशिया नाम से २९ अगस्त १९९२ को इसका शुभारंभ किया गया। इसके जरिए भारतीय फिल्में, चित्रहार, लोकप्रिय धारावाहिक प्रसारित किए जाते हैं। 'भारत एक खोज' और रामायण का प्रसारण भी पिछले दिनों किया गया।

एक प्रश्न के उत्तर में अमिताभ ने स्पष्ट किया कि टीवी एशिया में करोड़ों डॉलर खर्च हुए हैं लेकिन यह सब पैसा विदेशी कंपनियों ने लगाया है। टीवी एशिया को कोई भी व्यक्ति उसका सदस्य बने बगैर नहीं देख सकता। इसके प्रत्येक सदस्य को बैंक के क्रेडिट कार्ड की तरह 'स्मार्ट कार्ड' दिए जाते हैं उन्हें टीवी रिसीवर में लगाना होता है तब कार्यक्रम दिखाई देते हैं। पिछले दिनों जया भादुड़ी ने टीवी एशिया के लिए ४०० फिल्में खरीदीं और एक सीरियल भी बनाया है- 'देख भाई देख।' बड़े परदे के दोनों सितारे इन दिनों छोटे परदे के जरिए विदेशी दर्शकों का मनोरंजन कर रहे हैं।

जाएगा। अपनी इन योजनाओं का जिक्र करते हुए कलानिधि कहते हैं, 'हम जानते हैं कि हमारे अधिकांश दर्शक तमिलनाडु के हैं तथा वे चौबीसों घंटे टीवी सेट के सामने बैठकर कार्यक्रम नहीं देख सकते, किंतु व्यापक दर्शक समुदाय की फुरसत की घड़ियों में भिन्नता को देखकर हम २४ घंटे लगातार कार्यक्रम देना चाहते हैं। हो सकता है कि ऐसा करते वक्त हमें कुछ कार्यक्रमों को दुबारा दिखाना पड़ेगा, ताकि विभिन्न क्षेत्रों में 'प्राइम टाइम' पर बढ़िया कार्यक्रम प्रदर्शित हो सकें।

कलानिधि के प्रयास हैं कि सबसे पहले तमिलनाडु के ग्रामीण दर्शकों से गहरा संबंध स्थापित किया जाए। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने 'केबल टीवी ऑपरेटरों' को माध्यम के रूप में चुना है। केबल टीवी ऑपरेटरों की श्रृंखला के जरिए वे अगले वर्ष के अंत तक ढाई करोड़ दर्शकों तक पहुँचना चाहते हैं। ऐसा होने से उनके प्रतिष्ठान का आर्थिक आधार सुदृढ़ होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में दर्शकों की संख्या बढ़ाने के साथ- साथ वे शहरी एवं कस्बाई क्षेत्रों में भी पकड़ बनाए रखना चाहते हैं। खासतौर पर ग्रामीण एवं कस्बाई क्षेत्रों में 'स्टार टीवी' तथा ऐसे ही अन्य प्रतिष्ठानों की पैठ नहीं हो पाई है। ऐसा होने का कारण भाषा है। प्रदेश के ग्रामीण एवं कस्बाई क्षेत्रों के लोग हिंदी नहीं जानते। कलानिधि का कहना है कि तमिल में निर्मित एवं प्रसारित कार्यक्रम ही प्रदेश की ग्रामीण जनता को लुभा सकते हैं। दूरदर्शन का मद्रास केंद्र ऐसा ही कर रहा है। इसलिए अन्य प्रादेशिक केंद्रों की अपेक्षा यह मुनाफे में चल रहा है।

दर्शकों तक पहुँचना आसान काम नहीं है। इस काम के लिए कलानिधि ने जो व्यूह रचना की है उसके अनुसार आठ फुट की डिश एंटीना की जरूरत प्रत्येक केबल ऑपरेटर को होगी, जिसकी कीमत दस हजार रुपए है। 'सन टीवी' ग्रामीण क्षेत्र में डिश एंटीना स्थापित करने वालों को दो हजार रुपए की सबसिडी देगा तथा डिश एंटीना उत्पादकों एवं वित्तीय व्यवस्था करने वाले प्रतिष्ठानों के सहयोग से शेष मूल्य किस्तों में अदा किए जाने की सुविधाएँ भी मुहैया करवाएगा। लक्ष्य यह है कि वर्तमान डिश एंटीनाओं की पाँच हजार की संख्या को दोगुना कर प्रारंभिक स्तर पर ही ३० लाख ग्रामीण क्षेत्रों के नए दर्शकों को तैयार किया जाएगा।

कलानिधि को पूरा विश्वास है कि उनके द्वारा निर्मित एवं पोषित यह योजना बहुत तेज गति से सफलता के शिखर तक पहुँचेगी। वे एक वीडियो समाचार पत्रिका 'पूमलाई' को सफलतापूर्वक निकालकर अच्छा अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। समाचार आधारित इस वीडियो पत्रिका में समाचार रपट, सामयिक विषयों पर आधारित कार्यक्रम, राजनीतिक साक्षात्कार तथा मनोरंजन उद्योग से प्राप्त चटपटी खबरों के टुकड़े रहते हैं। कलानिधि का दावा है कि १५० रुपए मूल्य वाली इस वीडियो पत्रिका की १६०० प्रतियाँ भारत में, एक हजार सुदरपूर्व के देशों में,पांच सौ योरप में तथा १२० अमेरिका में बिक रही हैं। खाड़ी देशों में बिक्री संख्या के बारे में उन्होंने कुछ बताया नहीं।

इन दावों का बाजार सूत्रों ने समर्थन नहीं किया है। पहले साप्ताहिक रहने के बाद यह पत्रिका मासिक हो गई है। अब कलानिधि की योजना है कि 'सन टीवी' के केबल ऑपरेटरों को यह पत्रिका निःशुल्क दी जाए तथा उत्पादक बिक्री का काम विदेशी बाजार में करें। वैसे प्रादेशिक भाषा में सफलतापूर्वक वीडियो पत्रिका जारी रखना काफी कठिन काम है। हिंदी एवं अँगरेजी में अधिक दर्शक संख्या वाली, बेहतर आर्थिक आधार वाली कई ऐसी पत्रिकाएँ असफल सिद्ध हो चुकी हैं।

यह परिवार पत्रकारिता से भी जुड़ा है व

चैनलों की आकाशगंगा

- ☐ स्टार
- ☐ स्टार प्लस
- ☐ जी.टीवी
- ☐ एम. टीवी
- ☐ प्राइम स्पोर्ट्स
- ☐ बीबीसी
- ☐ सी. एन.एन.

छोटे परदे पर पश्चिमी अतिक्रमण का विस्तार **'स्टार'** से शुरू हुआ। एक अनुमान के अनुसार भारत के पाँच लाख परिवार स्टार टी.वी. द्वारा प्रसारित कार्यक्रम देख रहे हैं तथा देश के विभिन्न भागों में प्रतिदिन सैकड़ों नई डिश एंटीना लगाई जा रही हैं। स्टार टी.वी. के कर्णधारों की मान्यता है कि इस क्षेत्र के दर्शकों में सर्वाधिक संख्या भारतीय दर्शकों की है। हिंदी चैनल (जी.टी.वी.) की शुरूआत ने इस संख्या में वृद्धि की है। लगातार २४ घंटे मनोरंजन परोसने वाले स्टार टी.वी. के चैनलों में हिंदी चैनल के अतिरिक्त 'स्टार'/ 'स्टार प्लस'/ 'प्राइम स्पोर्ट्स'/ तथा बी.बी.सी. हैं।

एम. टी.वी. में उच्च स्तरीय तकनीकी कुशलता एवं कंप्यूटर की सहायता से पश्चिमी संगीत एवं नृत्यों को दिलचस्प तरीकों से पेश किया जाता है। इच्छानुसार जब जी चाहे तब रॉक, पॉप, रैप, या हैवी मैटल का आनंद लिया जा सकता है। एम. टी.वी. के लोकप्रिय कार्यक्रमों में 'द यू.एस. टॉप ट्वन्टी काउंटडाउन', 'क्लासिक एम.टी.वी.' व एम. टी.वी. अनप्लग्ड हैं। एम.टी.वी. के कार्यक्रमों के दर्शकों में अधिकांश महानगर के वे किशोर तथा युवक हैं जिनकी शिक्षा दीक्षा एवं लालन पालन पश्चिमी शैली में हुआ है।

स्टार प्लस के कार्यक्रम सर्वाधिक देखे जाते हैं। इसमें विभिन्न प्रकार के मनोरंजक धारावाहिकों के साथ सामाजिक मुद्दों पर आमंत्रित दर्शकों के विचार-विमर्श के कार्यक्रम भी आयोजित किए जाते हैं। पहेलियों, माथापच्ची आदि के कार्यक्रम भी रोचक ढंग से प्रस्तुत किए जाते हैं।

प्राइम स्पोर्ट्स में विश्व की लगभग सभी खेलों की प्रमुख स्पर्धाओं का आँखों देखा हाल प्रसारित किया जाता है। इस चैनल के कार्यक्रमों के जरिए कई ऐसे खेलों एवं स्पर्धाओं के बारे में दर्शकों को पता चलता है जिनके अस्तित्व के बारे में जानकारी भी आम भारतीय दर्शक को नहीं थी। यह कार्यक्रम सभी वर्गों में लोकप्रिय है।

द बी.बी.सी. वर्ल्ड सर्विस टेलीविजन

'कुमकुमम्' नामक पत्रिका समूह का संचालन करता है। तमिल भाषा में इस समूह द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ मध्यम स्तर की सफल मानी जाती हैं।

सन टीवी की अन्य योजनाओं में ऐसी व्यवस्था एवं सुविधा स्थापित करना है जिसके जरिए स्थानीय स्तर पर तैयार सामयिक विषयों के कार्यक्रम मास्को स्थित उपग्रह केंद्र तक तत्काल 'ट्रांसमिट' किए जा सकें तथा उसी दिन उपग्रह के जरिए दर्शकों तक पहुँच सकें। ऐसी व्यवस्था स्थापित करने में भारी मात्रा में धन तो व्यय होगा ही, साथ ही सरकारी कानून कायदों के कई लालफीतों को भी पार करना पड़ेगा। कलानिधि का कहना है कि 'सन टीवी' की प्रारंभिक सफलता के बाद ही वे इस योजना पर अमल की कोशिश करेंगे। पहले दौर की सफलता के बाद ही फिल्मों, धारावाहिकों से भरपूर थाली में समाचार एवं विचार की चटपटी चटनी परोसी जाएगी। ऐसा करना इसलिए भी जरूरी होगा क्योंकि तमिलनाडु में राजनीति एवं फिल्म का गहरा रिश्ता है। हर राजनेता फिल्मों के माध्यम से संभावित मतदाता यानी दर्शक तक पहुँचना चाहता है।

वर्तमान समय में विश्व का सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं विश्वसनीय समाचार सूचना चैनल है। प्रति घंटे प्रसारित होने वाले समाचारों के बीच की अवधि में व्यापार समाचार, आर्थिक समाचार आदि उपयोगी सूचनात्मक सेवाओं के साथ कई शैक्षणिक एवं मनोरंजक कार्यक्रम भी प्रसारित किए जाते हैं। विज्ञान विषयक कार्यक्रमों में ताजा आविष्कारों की भी जानकारी दी जाती है। भारत में समाचार प्रेमी शिक्षित वर्ग में यह चैनल सर्वाधिक लोकप्रिय है।

सी.एन.एन.आई. समाचारों की विविधता तथा व्यापक कवरेज के मामले में सी.एन.एन. आई. (केबल न्यूज नेटवर्क इंटरनेशनल) का नाम विश्व भर में प्रतिष्ठित है। इस प्रतिष्ठान का दक्षिण एशिया ब्यूरो नई दिल्ली में स्थित है। ब्यूरो प्रमुख आशीष रॉय तथा प्रोड्यूसर नंदिनी सूद हैं। सी.एन.एन.आई. द्वारा समाचार आधारित कार्यक्रम ही प्रसारित किए जाते हैं तथा दिल्ली ब्यूरो क्षेत्र के उद्देश्यों की गतिविधियों का लेखा-जोखा रखता है। केवल ऑपरेटरों को स्टार की सुविधा निःशुल्क प्राप्त होती है किंतु सी.एन.एन. के कार्यक्रम प्रसारित करने के लिए उन्हें निर्धारित शुल्क देना पड़ता है। गत वर्ष के खाड़ी युद्ध के बाद सी.एन.एन. घर-घर में एक जाना-पहचाना नाम बन गया है।

ऐसे हुआ 'बुद्धू-बक्से' का जन्म

इडियट-बॉक्स याने बुद्धू बक्से के आविष्कारक जॉन लॉगी बेयर्ड वेस्टइंडीज में आम की चटनी और अमरूद के मुरब्बे को हवाबंद डिब्बों में बंद कर बेचने का काम करते थे। घाटा होने पर इंग्लैंड लौट आए और ऑस्ट्रेलिया से शहद तथा साबुन मँगाकर इंग्लैंड में बेचने लगे। अपनी धुन के पक्के बेयर्ड ने गरीबी में आटा गीला करते हुए भी दुनिया को वह सपना 'खुली आँखों' से दिखाया, जो सिर्फ दंतकथाओं में पढ़ने को मिलता था।

● लोकेन्द्र चतुर्वेदी

विवेक और महत्वाकांक्षा मानवीय संस्कृति के विकास के आधार रहे हैं। विकास के इन दोनों आधारों को कल्पना ने क्षितिज का विस्तार दिया और प्रयासों ने इस विस्तार को मानवीय मस्तिष्क में समेट लिया। काँच के जादुई गोले में दूरदराज देखने की जादुई कहानियों से लेकर महाभारत के युद्ध का हाल महल में बैठकर धृतराष्ट्र को सुनाने वाले संजय की चमत्कारी आँखों तक की मिथकीय कल्पनाओं में दूरदर्शन का अस्तित्व छिपा हुआ था। विज्ञान ने जब इंसानी आवाज को तरंगों के तुरंग पर सवार करा हूबहू हजारों मील दूर तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त कर ली, तब यह मुमकिन लगने लगा था कि किसी दृश्य विशेष को ऐसे तरीके से छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़कर कैमरे में कैद किया जाए और फिर उसे तरंगों पर सवार करा दिया जाए। फिर किसी यंत्र से उन टुकड़ों को पकड़ एक तस्वीर की शक्ल दे छोटे पर्दे पर हूबहू वैसे ही दृश्य की तरह साकार कर दिया जाए।

आयरलैंड के विल्डवी स्मिथ ने पहली बार पता लगाया कि सेलिनियम में फोटो-कंडक्टिविटी का गुण मौजूद है अर्थात् सेलिनियम की छड़ों के सहारे एक छवि को विद्युत तरंगों में परिवर्तित कर तारों द्वारा एक जगह से दूसरी जगह भेजा जा सकता है। स्मिथ का यह विचार काफी कोशिश के बाद भी साकार नहीं हो पाया लेकिन उसने अन्य वैज्ञानिकों को एक राह बता दी। ब्लैकवेल ने १८४७ में यह धारणा व्यक्त की थी कि किसी एक दृश्य को पतली-पतली रेखाओं और बिन्दुओं में बाँटा जा सकता है तथा इन बिन्दुओं और रेखाओं को तार द्वारा अन्य स्थानों में प्रेषित कर पुनः छवि में परिवर्तित किया जा सकता है। ब्लैकवेल तो अपने सिद्धांत को आविष्कार में परिवर्तित न कर पाए मगर उन्हीं के ही सिद्धांत पर १८७५ में अमेरिकी वैज्ञानिक गार्डन कैरी ने प्रारंभिक सफलता प्राप्त की। वे छवि की रूपरेखा को स्थानांतरित कर पाए किन्तु वास्तविक छवि को हूबहू एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने में सफल नहीं हो पाए। सन् १८८४ में जर्मन वैज्ञानिक डॉ.निपकॉव ने इलेक्ट्रिकल टेलिस्कोप का पेटेन्ट लिया। सेलिनियम सेल के जरिए वे ब्लैकवेल के सिद्धांत पर कार्य करते हुए छवि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने में कामयाब हुए। इस बीच जर्मन वैज्ञानिक हर्ट्ज ने रेडियो तरंगों एवं विद्युत चुम्बकीय तरंगों के अस्तित्व को सिद्ध किया तथा इटली के वैज्ञानिक मारकोनी ने वायरलेस के आविष्कार में इन तरंगों का उपयोग किया।

इन सफलताओं के बाद दृश्यों को तस्वीर में बदलकर एक जगह से दूसरी जगह भेजने का काम वैज्ञानिकों को आसान लगने लगा। मगर यह आसान काम १९वीं सदी में पूरा न हो पाया। जब बीसवीं सदी का बचपन चल रहा था तब **जॉन लॉगी बेयर्ड** इंजीनियरिंग की डिग्री होने के बावजूद रोजी-रोटी कमाने के चक्कर में इंग्लैंड छोड़कर वेस्टइंडीज पहुँच गए थे। मन लायक काम वहाँ भी नहीं मिला और बेचारे बेयर्ड को आम की चटनी और अमरूद का मुरब्बा हवाबंद डिब्बों में भरकर बेचने का काम करना पड़ा। फलों के इस व्यापार में भी कुछ दिनों के बाद ही घाटे की स्थिति आ गई और बेयर्ड इंग्लैंड लौट आए। यहाँ आकर वे ऑस्ट्रेलिया से शहद और साबुन मँगाते और उसे इंग्लैंड में बेचते थे। इस बीच उनका स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता गया और डॉक्टरों ने यहाँ तक कह दिया कि पूर्ण विश्राम न करने की दशा में जिंदगी बच नहीं पाएगी। १९२२ में डॉक्टरों की सलाह मानकर बेयर्ड हेस्टिंग्ज में दो कमरों का एक छोटा-सा मकान लेकर आराम की जिंदगी बिताने की सोचने लगे। खाली बैठे-बैठे जब बोर हो जाते तब अपनी पुरानी आकांक्षा पूरी करने के लिए टेलीविजन के आविष्कार के सपनों को साकार करने की कोशिशों में लग

पारिवारिक भावनाओं का होल्डॉल :

आमतौर पर सोप ऑपेरा उस दूरदर्शन श्रृंखला को कहते हैं, जिसमें पारिवारिक पटकथा को आधारित कर भावप्रणय, नाटकीय एवं कई अवसरों पर अतिनाटकीय विशिष्टताओं के द्वारा ऐसी भावनाओं को प्रस्तुत किया जाता है। **सोप ऑपेरा** दो शब्दों से बना है 'सोप' और 'ऑपेरा'। यह जानना अत्यंत रोचक होगा कि इस तरह के नाटकों में **'सोप'** शब्द किस तरह से प्रवेश कर गया। असल में हमें इसके लिए साबुन संज्ञा के दर्शन एवं रसायन को अहमियत देनी होगी तभी हम उसे **'ऑपेरा'** के परिप्रेक्ष्य में सारगर्भित बनाने में सक्षम होंगे। **'सोप'** अर्थात साबुन के अनेक अर्थ हैं और इस शब्द को एक 'स्लेंग' के रूप में भी अमेरिका में उपयोग किया जाता है। साबुन में चिकनाहट रहती है, इसलिए साबुन का एक अर्थ 'चिकना-चुपड़ा', 'जी हुजूरिया' और 'चापलूस' भी होता है। एक और तथ्य भी 'सोप' के साथ उल्लेखित है। विश्वकोष में यह स्पष्ट लिखा है कि ज्यादातर दिन में प्रसारित की जाने वाली दूरदर्शन श्रृंखलाओं को सोप ऑपेरा कहा जाने लगा क्योंकि कम से कम अमेरिका में साबुन के अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठानों द्वारा ये श्रृंखलाएँ प्रवर्तन की गईं। परंतु नाटक के इस प्रकार के प्रस्तुतिकरण के समालोचक यह स्वीकारते हैं कि साबुन के झाग की तरह भावनाओं के यकायक तूफान व नाटकीकरण ने भी मनोवैज्ञानिक धरातल पर इन नाटकों को 'सोप' की श्रेणी में खड़ा कर दिया होगा। शनैः शनैः ऑपेरा में उपसर्ग 'सोप' का स्थाई प्रयोग शुरू हो गया, जो आज ठेठ गाँव के काका भी आराम से समझ लेते हैं।

जहाँ तक 'ऑपेरा' शब्द का सवाल है इसका प्रयोग योरप में अरसों से प्रचलित है। एक संगीतमय नाटक को ऑपेरा माना जाता था, जिसमें वाद्यों के सहारे मंच पर नाटकीय प्रस्तुतिकरण जरूरी समझा जाता था। रोम एवं इटली में भी इसी संदर्भ में इसका प्रयोग होता था। परंतु फ्रांस के ऑपेरा में एक निर्णायक बदलाव आया और पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग होने लगा। इसका यह प्रभाव हुआ कि ऑपेरा में संवाद का प्रवेश हुआ। यह कहना कठिन है कि मानवीय इतिहास के किस काल में यह बदलाव आया होगा। परंतु ऐसा अनुमान है कि योरप में जब पुनर्जागरणकाल में संगीत, साहित्य, संस्कृतियों का आदान-प्रदान विराट स्तर पर हो रहा था, उस समय ऑपेरा में परिवर्तन आया और वह दर्शकों ने स्वीकार किया। दूसरा पहलू यह भी था कि गाने के बजाए संवाद लिखना साहित्यकारों के लिए ज्यादा आसान हुआ होगा। फ्रांस के हास्यजनक ऑपेरा में ये परीक्षण अत्यधिक सफल हुआ। विशेष थिएटर होते हैं जहाँ इस तरह के ऑपेरा प्रस्तुत किए जाते हैं।

सामूहिक स्तर पर **सोप ऑपेरा** उस प्रस्तुतिकरण को कह सकते हैं जिसमें थोड़ा हास्य, थोड़े- आँसू, थोड़े पारिवारिक आदर्श, थोड़े फिजूलखर्ची के आलम, कुछ घरेलू काम के नशे में जीने वाले लोग, कुछ आलसी, कुछ बचत करने वाले, कुछ खाऊ-उड़ाऊ, कुछ त्यागी एवं कुछ मतलबी, कुछ जोशीले संवाद, तो कुछ व्यंग्य, कुछ बशेसर जैसी सहगल की गुनगुनाहट, तो कुछ भागदौड़

> सोप यानी साबुन। साबुन में चिकनाहट होती है; इसलिए उसका एक अर्थ है- चिकना-चुपड़ा, जी-हुजूरिया और चापलूस! साबुन के झाग के समान भावनाओं को उभार कर जो श्रृंखलाएँ 'दिन' में प्रसारित की गईं, वे 'सोप ऑपेरा' की श्रेणी में जा खड़ी हुईं। यह पारिवारिक भावनाओं का ऐसा 'होल्डॉल' है, जिसमें रूमाल से मोजे तक और तौलिए से साबुन तक सब समाहित रहते हैं।

जाते।

तेरह अगस्त १८८८ को एक मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मे बेयर्ड ने जब ग्लास्गो विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया, तभी उनके जेहन में एक तस्वीर उभरी थी। उस उभरती तस्वीर में बेयर्ड ने तरंगों के तुरंग पर तस्वीरों को सवार करा, जी चाही जगहों पर पहुँचाने वाला एक यंत्र देखा था। चाय के खाली खोके, बिस्किट के खाली टिन, पुरानी मोटर (इंजिन) प्रोजेक्शन बेंच, कार्ड बोर्ड और लकड़ी के कुछ टुकड़े, इतना सामान जमा हुआ और फिर शुरू हुआ तस्वीर को तरंग पर सवार कराने का काम।

काम शुरू होने के बाद बेयर्ड को लगा कि उसके पास जमा धन तेजी से खत्म होता जा रहा है और अगर जल्दी ही दूसरी व्यवस्था न हुई तो काम अधूरा रह जाएगा। आर्थिक सहायता की अपील करते हुए उसने लंदन के 'द टाइम्स' में विज्ञापन छपवाया 'बेतार के जरिए देखने के यंत्र का आविष्कारक ऐसे व्यक्ति से संपर्क चाहता है, जो यंत्र के काम-चलाऊ मॉडल को तैयार करने में आर्थिक सहयोग दे सके।' इस अपील के जवाब में उसके पास करीब ४ हजार रुपए आ गए। इन रुपयों से उसने सैकड़ों फ्लेश लेम्प बैटरियाँ खरीदीं और इन सबको एक साथ जोड़कर दो हजार वोल्ट का करंट पैदा करने में कामयाब हो गया। अपने इस अनगढ़ यंत्र को सँवार कर सफलता की सीढ़ी पर बेयर्ड ने पहला कदम ही रखा था कि मकान मालिक ने उससे मकान खाली करवा लिया।

अगस्त १९२४ में बेयर्ड ने लंदन के सोहो इलाके में दो कमरों का एक मकान देखा और उसमें चले गए। २२ फ्रिथ स्ट्रीट के इस मकान में भी बेयर्ड के प्रयोग चालू रहे। फिर दिन गुजरते गए। २ अक्टूबर १९२५ का पवित्र दिन बेयर्ड की जिंदगी का कितना सुखदाई रहा था इसका अंदाज उसके संस्मरणों के एक अंश से स्पष्ट है- 'स्थिति लगातार बिगड़ती जा रही थी। हमारे आखिरी तीस पाउन्ड भी खत्म होने वाले थे कि २ अक्टूबर १९२५ को हर चीज सामान्य ढंग से काम करने लगी। बिल (गुड़िया) की छवि दूसरे कमरे में दिखाई देने लगी जिसका होना अविस्मरणीय लगता था। वह मैंने संभव कर दिखा दिया।'

खुशी से झूमते हुए बेयर्ड नीचे उतरे और दफ्तर में काम करने वाले एक पन्द्रह वर्ष के लड़के विलियम टायनटन को तेज रोशनी के बीच बैठने को राजी करके ऊपर लाए। इस कार्य के लिए टायनटन को ढाई शिलिंग का मेहनताना देना तय किया गया था। तेज रोशनी के बीच टायनटन बैठ गया। ट्रांसमिशन उपकरण के सामने लगी चकरी तेजी से घूमने लगी। बेयर्ड ने फिर दूसरे कमरे में जाकर देखा। वहाँ स्क्रीन पर लड़का साफ नजर आ रहा था। **टायनटन** टी.वी. पर दिखाई देने वाला दुनिया का पहला आदमी बन गया।

इस यंत्र पर कुछ दिन और काम करने के बाद २६ जनवरी १९२६ को बेयर्ड ने रॉयल इंस्टीट्यूट के चुने हुए ५० वैज्ञानिकों को निमंत्रित किया और साथ ही 'द टाइम्स' के रिपोर्टर को भी बुलवाया। उसके तंग कमरे में ५१ लोगों के लायक जगह नहीं थी इसलिए पारी-पारी से लोग आते और इस चमत्कारिक आविष्कार को देखते रहे। २८ जनवरी १९२६ के टाइम्स ने दुनिया में सर्वप्रथम हुए टेलीविजन प्रदर्शन का समाचार छाप दिया।

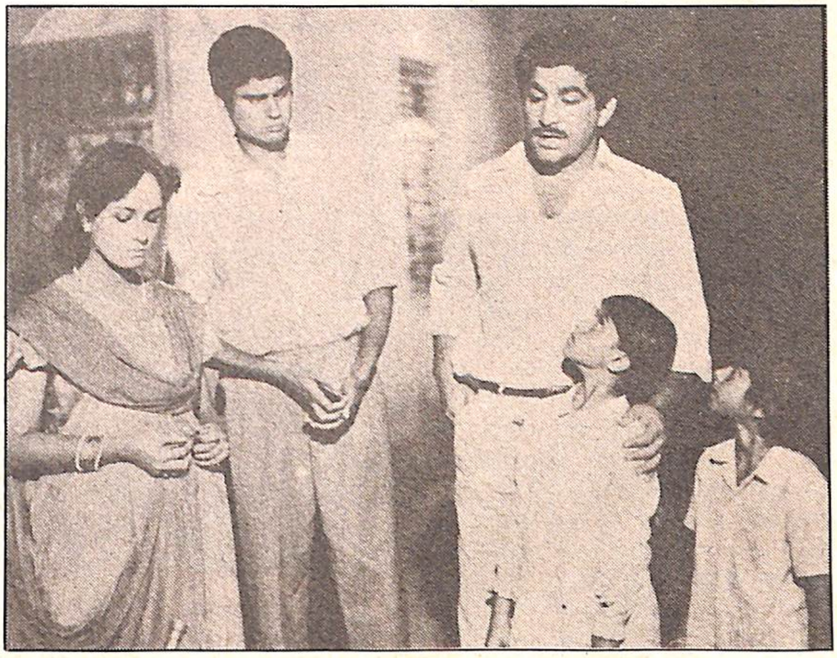
बेयर्ड ने अपने टी.वी.में सुधार का काम

सोप ऑपेरा

● आर.सी. ओझा

एवं कुछ अचम्भे। निजी तौर पर, यदि इजाजत दी जाए, तो मैं सोप ऑपेरा को पारिवारिक भावनाओं का एक 'होल्डॉल' कहना पसंद करूँगा जिसमें रूमाल से मोजे तक और तौलिए से साबुन तक सब कुछ रख सकते हैं।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सोप ऑपेरा बेहद लोकप्रिय प्रस्तुति माना गया है और दूरदर्शन पर इसके दर्शकों का सैलाब यह दर्शाता है कि पारम्परिक त्रासदियों, नाटकों और हास्य रचनाओं के बनिस्बत जनभावनाओं को बहाने के लिए सोप ऑपेरा काफी लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इसके प्रभाव के अहसास ने सोप ऑपेरा के लेखकों पर प्रतिबद्धता का उत्तरदायित्व डाल दिया है। तब ये जरूरी हो गया कि किसी न किसी स्तर पर पटकथा में, चरित्र-चित्रण में, संवादों में, प्रस्तुतिकरण में, दृश्यों और वेष-भूषा में एक विशिष्ट **'ईथॉस'** या लोकाचार प्रस्तुत किया जाए ताकि प्रबुद्धता के स्तर पर एक संवाद स्थापित किया जा सके और साथ ही साथ विचार प्रवाह भी अक्षुण्ण बना रहे। इसलिए सोप ऑपेरा के विकास में दो बातें जरूरी हो गई। एक तो यह कि कहीं न कहीं कोई न कोई आदर्श को उद्देश्य माना जाए और दूसरा चरित्र-चित्रण में नजरिया इस तरह प्रस्तुत किया जाए कि परंपरागत अनुदारवादी विचार भी प्रस्तुत



बुनियाद धारावाहिक में सोनी राजदान, कँवलजीत और दलीप ताहिल

किया जा सके और साथ ही साथ वैज्ञानिक प्रहार भी हो जिससे ढपोल-शंखी व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक बाण चलाए जा सकें। धीरे-धीरे इन तथ्यों का सामंजस्य सोप ऑपेरा की अनिवार्यता हो गई। योरप एवं पाश्चात्य मुल्कों में भी वहाँ के लोकाचार का इसी तरह प्रस्तुतिकरण किया गया। प्रारंभ में तो सोप ऑपेरा में रूढ़िवादी नजरिए को सुरक्षित रखना जरूरी समझा गया परंतु जैसे-जैसे इसका विकसित रूप सामने आने लगा रूढ़िवादी नजरिए पर प्रहार किए गए। आज भी किसी भी सोप ऑपेरा में रूढ़िवादी चित्रण या चरित्र लक्षण के कार्टून में उपस्थित वागले की तरह यत्र-तत्र-सर्वत्र हाजिर रहता है।

आज के सोप ऑपेरा लेखक के लिए यह अति आवश्यक है कि वो रूढ़िवादी व्यवस्था को पूरी तरह से नकार नहीं सकता। रूढ़िवाद

⇨

बराबर जारी रखा और १९२८ में उसने तस्वीरों को तरंगों के जरिए न्यूयार्क तक पहुँचा दिया। अटलांटिक सागर के बीचों बीच जहाज पर बने स्क्रीन पर भी इसी साल लंदन के कार्यक्रम देखे गए। बेयर्ड ने काम जारी रखा और वे इन तस्वीरों में रंग भरने की कोशिशों में लग गए। कुछ लोग उस जमाने में ऐसे भी थे, जो टी.वी. के महत्व को नहीं समझते थे। ऐसे ही लोगों में बी.बी.सी. के तत्कालीन चीफ इंजीनियर भी थे। उनके सामने टी.वी. के जरिए सार्वजनिक कार्यक्रमों के प्रसारण का प्रस्ताव रखा गया तब उन्होंने कहा, 'हमें टी.वी. से कुछ लेना-देना नहीं है क्योंकि इस आविष्कार से व्यावहारिक लाभ की आशा कतई नहीं है।'

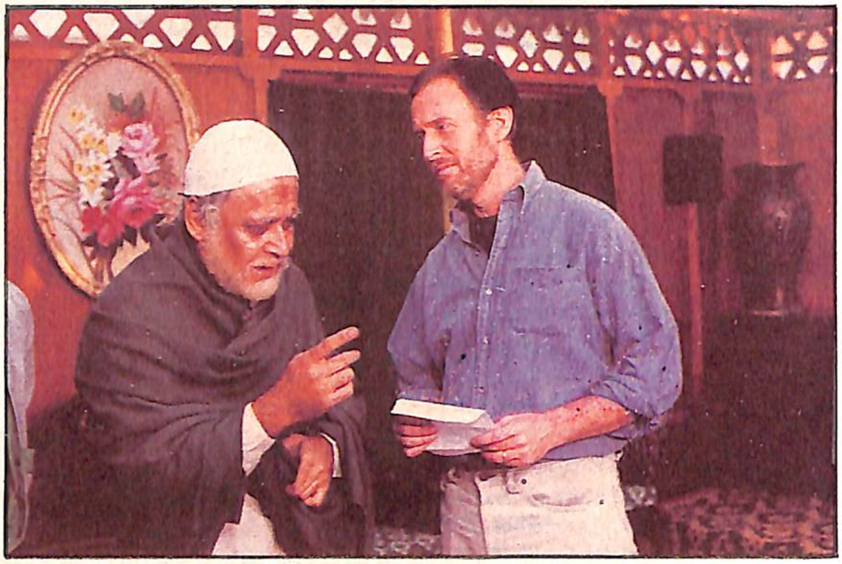
बी.बी.सी. के इस रवैये ने बेयर्ड को काफी निराश कर दिया पर कुछ मित्रों की सहायता से वे टी.वी. की सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध करने में लगे रहे। उसने डर्बी की विख्यात घुड़दौड़ का पूरा प्रदर्शन टी.वी. के जरिए करने में सफलता प्राप्त कर ली। इसके बाद जर्मनी ने बेयर्ड को आमंत्रित कर टी.वी. के सार्वजनिक प्रसारण की योजना शुरू कर दी। बेयर्ड को जर्मनी द्वारा आमंत्रित करने की घटना से ब्रिटिश सरकार चौंकी और उसके आदेश पर बी.बी.सी. ने अपने प्रसारण केंद्रों से बेयर्ड को टी.वी. कार्यक्रम प्रसारित करने की सुविधा दी। टी.वी. पर पहला नाटक १९३० में दिखाया गया। इसका शीर्षक था 'द मैन विद द फ्लॉवर इन हिज माउथ।' इसके ६ वर्ष बाद २ नवंबर १९३६ से बी.बी.सी. ने टी.वी. को नियमित कार्यक्रम का अंग बनाया और प्रतिदिन दोपहर तीन बजे से टी.वी. के कार्यक्रम प्रसारित करना शुरू कर दिया।

इन्हीं दिनों अमेरिका में वाल्डीमार जोवरकिन नामक रूसी मूल के वैज्ञानिक ने इलेक्ट्रॉनिक टी.वी. स्क्रीनिंग विधि का ईजाद किया। इस विधि से तस्वीरों का प्रेषण ज्यादा आसानी और कम खर्चे से हो सकता था। अतः जोवरकिन की इलेक्ट्रॉनिक विधि ज्यादा तेजी से लोकप्रिय होने लगी और बेयर्ड की मेकेनिकल विधि विस्मृतियों के गर्भ में समाने लगी। मारकोनी एण्ड कंपनी के जरिए यह विधि इंग्लैंड में आई और फरवरी १९३७ में बी.बी.सी. ने भी इस विधि को अपना लिया। बेयर्ड की विधि हमेशा के लिए कूड़े के ढेर में फेंक दी गई।

उपेक्षा और संघर्ष को अपनी नियति मानकर बेयर्ड फिर प्रयोगों में जुट गए। इस बार उनकी मंजिल रंगीन टी.वी. और स्टीरियोस्कोपिक विधि की खोज की थी। बेयर्ड को यह मंजिल मिल गई मगर साथ ही वे मौत की मंजिल के पास भी पहुँच गए और जून १९४६ में तस्वीरों की तिलस्म दुनिया को घर-घर पहुँचाने वाला दुनिया से विदा हो गया। टी.वी. आज आधुनिक दुनिया में अनिवार्य हो गया है। उपग्रहों के जरिए दुनिया को टी.वी. ने जोड़ रखा है। अमेरिका में टी.वी. के कार्यक्रम ७० से अधिक चैनलों पर दिखाए जाते हैं और विज्ञापन की दर प्रति मिनट ८० हजार डॉलर है। इसके बावजूद टीवी के आविष्कारक ने उपेक्षा, गरीबी और अभावों में दम तोड़ा। उसकी विधवा और दो बच्चों का भी शायद यही अंजाम होता पर एक टी.वी. कंपनी के दयावान अधिकारी ने उन्हें उबार लिया। इस अधिकारी को जब यह मालूम पड़ा कि केम्ब्रिज की एक तंग कोठरी में बेयर्ड की विधवा अपने दो बच्चों के साथ

में छिपे सनातन आदर्श ही लेखक के सोप ऑपेरा को अलोकप्रिय होने से बचा सकते हैं। पूरी दुनिया में सामाजिक मूल्यों को सुरक्षित रखना सोप ऑपेरा की अनिवार्य शर्त है। यदि मिथकों से छेड़-छाड़ करने की कोशिश की, तो लेखक का पटरा साफ हो सकता है। योरप में १६वीं, १७वीं शताब्दियों तक स्थापित धार्मिक मूल्यों के साथ खिलवाड़ किसी भी लेखक की लुटिया डुबाने के लिए काफी था। इसलिए व्यंग्य के संवाद लिखते समय एक सेल्समेन का चातुर्य अति आवश्यक है। अमेरिका के सोप ऑपेरा में पारिवारिक मूल्यों को आज बहुत अहमियत दी जा रही है ताकि पारिवारिक भावनाओं का प्रस्तुतिकरण और परिवार के भावनात्मक बिखराव को रोका जा सके क्योंकि सोप ऑपेरा वस्तुतः एक पारिवारिक दृश्य माध्यम है। यहीं संपूर्ण हास्य की अभिव्यक्ति भी मजे से की जा सकती बशर्ते हास्य भी स्तरीय हो और उसमें प्रबुद्धता परिलक्षित हो, जैसा कि 'दीदी कॉमेडी शो' में हमें देखने को मिलती है। फूहड़ हास्य देखने वालों को एक क्षण में याद दिला देंगे कि टीवी में ऑफ-ऑन स्विच भी है।

यानी विरोधाभासोंको समानांतर स्तर पर लाकर, द्वंद्व की अपेक्षा एक समन्वयवादी नजरिया पेश करना सोप ऑपेरा को श्रेष्ठता एवं गुणवत्ता प्रदान करता है। यह इसलिए जरूरी है कि सोप ऑपेरा देखने वाले लोग एक तो अनेक वर्गों के होते हैं और फिर उनकी प्रबुद्धता में भी फर्क होता है। मसलन भारत में कोई भी सोप ऑपेरा तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि जरूरत पड़ने पर पाश्चात्य संस्कृति की आलोचना कर प्राच्य संस्कृति की श्रेष्ठता न दर्शाई जाए। **'हमलोग'** में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं जिसमें विदेश से लौटकर आए भाई सालिगराम मुफ्त में सभी की आलोचना के शिकार होते हैं जबकि **'दादी'** आम भारतीय की दादी के रूप में स्वीकारी गई जो गाँवों में भी उतनी ही प्रशंसित रही जितनी नगरों में। इस नाते हमारे सिनेमा भी कई हद तक सोप ऑपेरा हैं क्योंकि आज का दर्शक सुखद अंत का पक्षधर है।



नदी-नाव संजोग : गुल-गुलशन-गुलफाम

भारतीय दूरदर्शन पर सोप ऑपेरा की चर्चा करें तो निश्चित **मनोहर श्याम जोशी** का नाम शिखर पर उभरता है। उनके सोप 'हमलोग'/ 'बुनियाद'/ 'हमराही' श्रृंखलाओं ने इतिहास रचा है। दिल्ली दूरदर्शन केंद्र से पहली श्रृंखला एक अन्य श्रृंखला 'तीसरा रास्ता' २ मई, १९६२ को शुरू हुआ था। इस दिन से लेकर आज तक जोशीजी के सोप ऑपेरा से बेहतर कुछ नहीं है। सबसे लंबा पहला सोप ऑपेरा **'हमलोग'** माना जाता है जिसमें १५६ कड़ियाँ थीं। यह सोप ऑपेरा ७ जुलाई, १९८४ से १७ दिसंबर १९८५ तक चला और इसे दूरदर्शन सप्ताह में दो बार प्रसारित करता था। 'बुनियाद' में १०४ श्रृंखलाएँ थीं।इसमें सोप ऑपेरा के बनिस्बत ऐतिहासिक विषय, विशेष रूप से विभाजन की त्रासदी पर ज्यादा ध्यान आकर्षित किया

बेहद गरीबी की जिंदगी काट रही है तब उसने दूसरे लोगों से चर्चा की और फिर 'बेयर्ड मेमोरियल फंड' स्थापित हुआ। ब्रिटिश नागरिकों ने इस फंड में जी खोलकर दान दिया। इस फंड में प्राप्त धन से न सिर्फ बेयर्ड के परिवार को सहायता पहुँची बल्कि बेयर्ड के आविष्कार से जुड़ी चीजें भी इकट्ठा की गईं। टी.वी. पर सबसे पहले दिखाई देने वाले टायनटन को भी खोज निकाला गया और पुरस्कृत किया गया।

रूसी वैज्ञानिक कार्ल फडिनेण्ड ब्रॉन और पॉल निपकोव ने ही सर्वप्रथम टी.वी. के आविष्कार की राहें खोजीं। इन दोनों वैज्ञानिकों द्वारा खोजे गए रास्ते बिलकुल अलग थे पर मंजिल दोनों की एक थी। ब्रॉन ने १८९७ में पहली बार केथोड के ट्यूब की व्यावसायिक संभावनाओं को खोजा और इसके जरिए 'इलेक्ट्रिक विजन' की बात कही। इसी सिद्धांत के आधार पर ब्लाडीमीर कोस्मा जोवरकिन ने 'इकनोस्कोप' बनाया। इकनोस्कोप के पेटेन्ट के लिए जोवरकिन ने २९ दिसंबर १९२३ को आवेदन किया था।

चूँकि जोवरकिन ने पेटेन्ट के लिए पहले आवेदन किया था और उसी की विधि प्रचलित हुई इसलिए कुछ देशों में जोवरकिन को टी.वी. का आविष्कारक माना जाता है। अमेरिका में तो पाठ्य पुस्तकों में टी.वी. के आविष्कारक के रूप में जोवरकिन का नाम ही पढ़ाया जाता है और बेयर्ड के बारे में कोई जानकारी नहीं दी जाती।

जोवरकिन से एक बार पत्रकारों ने पूछा था- 'क्या आप ही टी.वी. के सच्चे पिता हैं?' तब उनका उत्तर था, 'मेरा दावा यह है कि मैंने जीनोस्कोप का आविष्कार किया। मैं टी.वी. के पिता होने का दावा कतई नहीं करता।' जब बी.बी.सी. ने टेलीविजन को अपनाया तब इंटरलेस्ड स्केन प्रणाली चालू की। इसके अंतर्गत ४०५ रेखाओं की एक सेकंड में २५ बार आवृत्ति होती थी। आवृत्ति का क्रम ऊपर से नीचे १, ३, ५ तथा नीचे से ऊपर २, ४, ६ रहता था। दूसरे देशों की टेलीविजन सेवाओं ने जो स्टेण्डर्ड अपनाए वे भिन्न-भिन्न थे अतः एक देश में प्रसारित हो रहे कार्यक्रमों को दूसरे देश में देखा जाना संभव नहीं हो पा रहा था। यह तय किया गया कि एक अंतरराष्ट्रीय स्तर बनाया जाए जिसमें ६२५ रेखाओं की प्रति सेकंड २५ बार आवृत्ति हो। आजकल उत्तर एवं दक्षिणी अमेरिका तथा जापान को छोड़कर सारे देश यही प्रणाली अपना रहे हैं। टेलीविजन सिग्नल में काफी उच्च फ्रिक्वेंसी का इस्तेमाल होता है (५० लाख सायकल्स प्रति सेकंड न्यूनतम) अर्थात सामान्य रेडियो का शार्ट वेव बैण्ड अपने आप में केवल पाँच टेलीविजन चैनल्स को समाहित कर सकेगा। इसलिए टेलीविजन का प्रसारण व्ही.एच.एफ. तथा यू.एच.एफ. बैण्ड पर होता है (वेरी तथा अल्ट्रा हाई फ्रिक्वेंसी)। इस प्रकार एक बैण्ड में ८० चैनल्स समाहित हो सकती हैं। सैद्धांतिक रूप से विशुद्ध रंगों का विस्तार बैंगनी तरंगों से लाल तक रहता है। विशुद्ध रंगों को वैज्ञानिक भाषा में 'ह्यूज' कहा जाता है। मानवीय आँखें इंद्रधनुष के जिन सात रंगों को देखती हैं वे सब लाल-हरे एवं नीले प्रकाश ह्यूज से मिलकर बनते हैं। रंगीन टेलीविजन इसी सिद्धांत पर कार्य करता है। तीन कैमरा ट्यूब के जरिए किसी दृश्य विशेष को लाल-हरे और नीले सिग्नलों के जरिए एक साथ प्रेषित किया जाता है। रंगीन टेलीविजन के

गया था। यह श्रृंखला ऐतिहासिक तथ्यों से शुरू हुई और बाद में सोप ऑपेरा में तब्दील हुई। 'हमलोग' का पुनः संपादित प्रसारण भी किया गया।

भारत के सोप ऑपेरा की चारित्रिक विशेषताओं से तो दर्शक वाकिफ हैं, परंतु इसी विधा को पाश्चात्य जगत में देखें, तो समकालीन परिदृश्य एकदम साफ हो जाएगा। भारत की तरह ही पाश्चात्य मुल्कों में भी सोप ऑपेरा में स्थाई चरित्र होते हैं, एक श्रृंखलाबद्ध कहानी होती है। एक्शन के बजाए ज्यादा अहमियत संवादों को दी जाती है। विश्व में सभी मुल्कों में सोप ऑपेरा में कहानी के आगे बढ़ने की गति जीवन से धीमी होती है। ऐसा आभास भी होता है कि एक्शन **'ड्रेग'** हो रहा है या किया जा रहा है। अमेरिका में क्लासिकल सोप ऑपेरा एक नाटक होता है, जो ज्यादातर उच्च मध्यमवर्गीय परिवार से ताल्लुक रखता है। अमेरिका के सोप ऑपेरा में पाप-पुण्य की समीक्षा और हिंसा भी रहती है, जो संभवतः भारतीय दर्शकों को सोप ऑपेरा में स्वीकार न हो। परंतु अंततः अच्छाई की बुराई पर विजय होती है। कई अमेरिकी सोप ऑपेराओं में अच्छाई की विजय की अपेक्षा बुरा करने वाले को दंड दिया जाना दर्शक ज्यादा भरोसेमंद समझते हैं।

दुनिया में सोप ऑपेरा की शुरूआत १९३० के दशक के पूर्वार्द्ध में हुई जबकि दिन में रेडियो के जरिए १५ मिनट के लिए श्रृंखलाएँ देना प्रारंभ किया जो बाद में ५० के दशक में दूरदर्शन द्वारा जारी की जाने लगी और समयावधि १५ मिनट से बढ़ाकर ३० मिनट कर दी गई। सोप ऑपेरा ने पूरे सप्ताह अपना अधिकार जमा लिया और प्रातःकाल व दोपहर के पूर्व सोप ऑपेरा नियमित जिंदगी के अंग बने। सोप ऑपेरा में, विशेष रूप से क्लासिकल ऑपेराओं में 'प्रासंगिकता' की खोज में गति आई और पाश्चात्य जगत में सर्वाधिक लोकप्रिय वे प्रोग्राम हुए जिन श्रृंखलाओं में ड्रग के दुरुपयोग, यौन रोगों, और नस्लभेद के विरुद्ध जागरण की चर्चा हो। कभी-कभी श्रम संबंधी सोप ऑपेरा या कामकाजी महिलाओं से जुड़ी समस्याओं को लेकर निर्मित सोप ऑपेरा बहुत लोकप्रिय हुए। इस बदलाव का कारण एक तो वैज्ञानिक सोच रहा और दूसरा विशिष्ट समस्या से जूझते समाज को आईना दिखाना था। सत्तर के दशक में 'ड्रग' समस्या आज के आतंकवाद की तरह बहुत सारगर्भित थी। आतंकवाद पर भी श्रृंखलाएँ बनीं परंतु उनके परिप्रेक्ष्य स्थानीय थे जैसे कि भारत में पंजाब को लेकर अनेक श्रृंखलाएँ दूरदर्शन ने दिखाई परंतु वे प्रभावशाली एवं स्मरणीय नहीं हो सकीं।

विदेशों में एक खूबसूरत सोप ऑपेरा १९७५ में दिखाया गया जो कि नियमित रूप से व्यवसाय-संघ के सौजन्य से ३० मिनट के ⇨



सोप ऑपेरा के सनातन विषय : कबीर

विभिन्न सर्किट इन तीनों रंगों के सिग्नल को एक साथ ग्रहण करते हैं और उन्हें मिलाकर पर्दे पर रंगीन चित्र पेश कर देते हैं। इस सैद्धांतिक विधि में सबसे बड़ी व्यावहारिक दिक्कत यह थी कि टेलीविजन का एक सिग्नल ५० लाख सायकल्स प्रति सैकण्ड के बैण्ड विस्तार में समाहित होता है तब ३ सिग्नल्स डेढ़ करोड़ का विस्तार चाहेंगे। यह बहुत अधिक है। अमेरिकन इंजीनियरों ने इस कमी को दूर करने के लिए एक नई प्रणाली प्रारंभ की। उन्होंने पहले तीन प्रमुख रंगीन सिग्नलों को एक विस्तृत मोनोक्रोम सिग्नल में बदल दिया तथा फिर उसे एक ही सिग्नल के रूप में सामान्य श्वेत-श्याम सिग्नल की तरह ट्रांसमिट कर दिया। टेलीविजन रिसीवर द्वारा इस सिग्नल को पुनः विखण्डित कर रंगीन बना दिया गया। यह काम पिक्चर ट्यूब की मदद से किया गया। इस प्रकार इस प्रणाली से अमेरिका में सन् १९५३ से रंगीन प्रसारण प्रारंभ हुए। धीरे-धीरे इस प्रणाली को विकसित किया गया और रंगीन टी.वी. सभी देशों में प्रचलित हो गए।

> **टीवी के छोटे से बक्से में संभावनाओं की कामधेनु छिपी हुई है।**

प्रारंभिक दिनों में टी.वी. सेट भारी भरकम हुआ करते थे और काफी जगह घेरते थे। ज्यों-ज्यों इनकी उम्र बढ़ती गई त्यों-त्यों आकार घटता गया। पोर्टेबल टी.वी., कैलेण्डर टी.वी., अलार्म घड़ी के आकार के मेज पर रखे जाने वाले टी.वी. यहाँ तक कि घड़ी और अँगूठी के आकार के टी.वी. सेट आने लगे हैं। जर्मनी में सबसे पहले १९८१ में स्टीरियो ध्वनि वाले टी.वी. सेट बनाए गए। ऐसे प्रसारणों को ग्रहण करने के लिए तीन स्पीकर वाले टी.वी. सेट काम में लाए जाते हैं। इस सिलसिले में सबसे ज्यादा स्मरणीय बात यह है कि जितनी तेजी से भारतवर्ष में टी.वी. के प्रसारण क्षेत्र का विस्तार हुआ उतना किसी अन्य देश में नहीं हुआ। भारतवर्ष में कार्यक्रमों का प्रसारण उपग्रहों के माध्यमों से किया जाता है। यदि उपग्रह से प्रसारण की सुविधा न हो तब एक स्थान से प्रसारित कार्यक्रम को पूरे देश में देखा जाना संभव नहीं हो पाता।

उपग्रह को निर्धारित कार्य करने के लिए आवश्यक उपकरणों से सज्जित किया जाता है। इन उपकरणों को काम करने के लिए जरूरी विद्युत शक्ति बैटरियों से प्राप्त होती है। और यह बैटरी 'सूर्य' से शक्ति प्राप्त करती है। इन उपग्रहों के जरिए रेडियो एवं टेलीविजन के संकेत एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक भेजे जा सकते हैं। इस प्रकार का काम करने वाले उपग्रह भू-संचार उपग्रह कहलाते हैं।

भू-संचार उपग्रह का काम दो भागों में बँटा रहता है। पहला काम तो पृथ्वी से आने वाले संकेतों को ग्रहण करना होता है तथा दूसरा काम उन्हें ज्यादा शक्तिशाली बनाकर वांछित स्थानों पर भेजना होता है। संकेत ग्रहण करने वाले यंत्र पृथ्वी के टी.वी. प्रसारण केंद्रों से भेजे गए संकेत ग्रहण करते हैं। इलेक्ट्रॉनिक उपकरण इन संकेतों को कई गुना शक्तिशाली बनाकर दूरदराज महाद्वीपों में बने

INSTANT BEVERAGES & MILK PRODUCTS

by

PATNI FOOD & BEVERAGES LTD.

304, Alankar Chamber, A.B. Road,

Indore, Phone: 31155, 22556

Telex: 0734 : 478

शुद्ध-स्वादिष्ट-सर्वश्रेष्ठ

पापुलर ब्रेड

पापुलर केक

पापुलर बेकरी बिस्किट्स

पापुलर नमकीन बिस्किट्स

—निर्माता—

पापुलर ब्रेड एंड फूड प्रॉडक्ट्स

30, इंडस्ट्रीयल इस्टेट (किला मैदान), इंदौर

☎ 411055, 410655

'नईदुनिया' द्वारा
'दूरदर्शन-सिनेमा'
विशेषांक के प्रकाशन पर
हार्दिक शुभकामनाएँ!

SHAKA

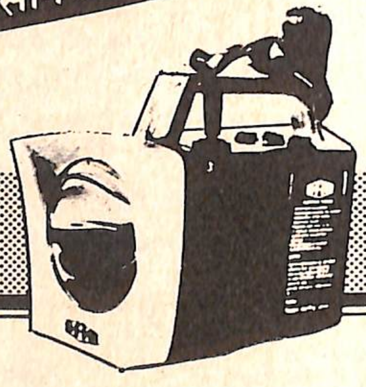
रिचार्जेबल

किसान टॉर्च

SHAKA

की लोकप्रियता देखकर
अन्य टॉर्च के निर्माता
किसान टॉर्च के आगे पिछे
कुछ भी नाम रख कर
माल बेच देते हैं।
किसान टॉर्च का अन्य
कोई मॉडल नहीं है।

किसान टॉर्च
किसान डिलक्स-ड्राय टॉर्च



निर्माता :–

किसान बेटरीज़

10, सियागंज, इंदौर-7, PH: 34350, 33712

लिए दिखाया जाता था। इस श्रृंखला का नाम **'मैरी हार्टमेन, मैरी हार्टमेन'** था। नेटवर्क से निरस्त होने के बाद १९७६ में यह कार्यक्रम सौ से ज्यादा दूरदर्शन केंद्रों से प्रकाशित होता था। नार्मन लीयर द्वारा निर्देशित यह सोप ऑपेरा वस्तुतः सोप ऑपेरा पर सोप ऑपेरा था जिसमें व्यंग्यात्मक ढंग से कोई भी विषय चुन लिया जाता था और कँटीले संवादों द्वारा सामाजिक कमजोरियों पर प्रहार किए जाते थे। पूर्व में ही जब 'शत-प्रतिशत बोलने' के बोर्ड लगे तब मंच से रेडियो की ओर आकर्षण स्वाभाविक था। ब्रॉडवे थिएटर के अनेक चमकीले सितारे आवाज की दुनिया की ओर पलायन करने लगे। इस पलायन में इना क्लेयर, हेलन हेज, जीन इगल्स, ऑलफ्रेड लंट, लिन फांटेन और संगीत हास्य वाले मेक्स बंधु जैसी शख्सियतें शरीक थीं। मेट्रोपोलिटन ऑपेरा के लॉरेंस तिबेत एवं कई अन्य ख्यात शख्सियतें शनैः शनै रूपहले पर्दे की ओर खिंचने लगीं।

सोप ऑपेरा और साप्ताहिक दूरदर्शन कार्यक्रम एक-दूसरे के पर्याय बन गए। सोप ऑपेरा के परंपरागत पारिवारिक विषय से हटकर भी सोप ऑपेरा का श्रृंखला में प्रसारण का चरित्र अक्षुण्ण रखने वाली अनेक श्रृंखलाएँ शुरू हुई जिन्हें पाश्चात्य मुल्कों में **'टेलीविजन नाटक'** का नाम दिया गया, जो पुलिस की कामकाज शैली, कानूनी विषय व चिकित्सा जगत से जुड़ी हुई श्रृंखलाएँ थीं। इसमें १९५५ में दिखाई **'गनस्मोक'** नाम की श्रृंखला काफी लोकप्रिय रही। इसके बाद जाज संगीत लिए **'पीटरगन'** नाम की श्रृंखला आई जो उन दिनों **'लूसी'** शो जैसी लोकप्रिय रही। १९६०-६१ के दौरान सोप ऑपेरा में विषय को लेकर और भी खुलापन आया और जासूसी एवं न्यायालय के दृश्य धड़ल्ले से दिखाए गए। उन दिनों **'करमचंद'** जैसा जासूसी ऑपेरा 'द पेरी मेसन शो' बहुत लोकप्रिय रहा। इसी में १९६१ में एक और श्रृंखला जोड़ दी जो **'द डिफेंडर्स'** के नाम से जानी जाती है। इन श्रृंखलाओं में जासूसी और कोर्ट के दृश्यों का उत्तम समन्वय था। १९५० में जो **'मेडिक'** नाम की श्रृंखला शुरू हुई थी उसमें १९६० में, उस विषय को जारी रखते हुए **'बेन कैसी'** और **'डॉ. किल्दारे'** श्रृंखलाएँ आईं। इन विषयों को सत्तर के दशक में **'मार्कस वेल्बी एम.डी.'** और **'मेडिकल सेंटर'** में जारी रखा गया। डॉक्टर और बीमारियाँ बदलती रहीं, परंतु सोप ऑपेरा की मूलभूत विषय वस्तु में और दर्शकों के चाव में कोई अंतर नहीं आया। सत्तर के दशक के बाद विज्ञान की श्रृंखलाएँ जोर पकड़ने लगीं और चिकित्सा की श्रृंखलाएँ ढीली पड़ गईं। **'स्टार ट्रेक'** बहुत लोकप्रिय हुई जिसमें विलियम शेटनर और स्पॉक के चरित्र में **'लेनर्ड निमोय'** ने खूब ख्याति अर्जित की। अस्सी के दशक में एक यथार्थवादी सोप ऑपेरा आया जिसमें अस्पताल को लेकर नाटकीय शैली में चित्रण किया गया। इसका नाम **'सेंट एल्सवेयर'** था। बाद में पीटर कॉक वाली कोलम्बो और **'टेली सावलस'** की मुख्य भूमिका वाली **'कोजक'** श्रृंखला दर्शकों ने देखी। रोजाना की जिंदगी को चित्रित करती एक श्रृंखला **'हिल स्ट्रीट ब्लूज'** भी बहुत लोकप्रिय हुई। पाश्चात्य संसार में सोप ऑपेरा में अस्सी के दशक में जो उल्लेखनीय बदलाव आया, वह दिन के बनिस्बत रात्रि में सोप ऑपेरा श्रृंखलाओं को दिखाने से संबंधित था। इसमें अत्यंत उल्लेखनीय सोप ऑपेरा, **'डलास'**/ **'डायनेस्टी'**/ **'नाट्स लेंडिंग'** और **'फाल्कन क्रेस्ट'** ऐसे रात्रि सोप ऑपेरा थे जिन्होंने दिन में प्रसारित होने वाले सोप ऑपेरा को मात दे दी। इनमें भावनाओं को अमर्यादित स्तर तक चित्रित किया गया।

सोप ऑपेरा में पाश्चात्य जगत से प्रभाव की संक्षिप्त चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं है। इसमें अँगरेजी की सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार जेन आस्टीन के उपन्यास **'प्राइड एंड प्रेजुडिस'** पर आधारित **'तृष्णा'** सोप ऑपेरा का उल्लेख किया जा सकता है। विश्व के सर्वाधिक महँगे लेखक जिन्होंने २.६ करोड़ की रॉयल्टी ली है, श्री विक्रम सेठ का उपन्यास **'ए स्यूटेबल बॉय'** में वे आस्टीन से प्रभावित हुए हैं और यह सेठ ने प्रीतिश नंदी को दिए गए साक्षात्कार में स्वीकार भी किया है। संभवतः इसलिए सलमान रशदी ने श्री सेठ को कहा बताते हैं कि **'आपने एक बहुत लंबा (१३४९ पृष्ठ) सोप ऑपेरा'** लिखा है। आज तो सोप ऑपेरा पर राजनीति का प्रभाव भी बहुत है जो 'कक्काजी कहिन' में देखा जा सकता है। गजानन बाबू का चरित्र आज के नेताओं का व्यंग्यात्मक चित्रण है।

विधा के रूप में सोप ऑपेरा का भविष्य उज्ज्वल है, परंतु सीमित विषयों को लेकर सोप ऑपेरा बनाना ज्यादा कारगर नहीं हो सकता। जरूरत इस बात की है कि इस विधा में व्यापक विषयों को समाविष्ट किया जाए क्योंकि ईमानदारी से देखा जाए, तो पूरी जिंदगी ही सोप ऑपेरा का विषय है क्योंकि दार्शनिक स्तर पर जिंदगी भी तो एक सोप ऑपेरा है।

रिसीविंग केंद्रों में पहुँचा देते हैं।

विश्व का प्रथम भू-संचार उपग्रह 'टेलीस्टार प्रथम' है। यह जुलाई १९६२ में अमेरिका द्वारा अंतरिक्ष में भेजा गया था। आजकल अंतरिक्ष में सैकड़ों भू-संचार उपग्रह काम कर रहे हैं।

टी.वी. और रेडियो संचार के साधन हैं किन्तु दिक्कत यह है कि इनमें संवाद एक-तरफा ही होता है। टी.वी. पर होने वाले कार्यक्रम जब दर्शक देखते हैं तब वे अपनी प्रतिक्रिया कार्यक्रम प्रस्तुत करने वालों तक पहुँचाना चाहते हैं। अब तक तो ऐसा संभव नहीं था किन्तु हाल ही में अमेरिका में विकसित एक तकनीक से दर्शक तत्काल अपनी प्रतिक्रिया स्टूडियो तक पहुँचा सकते हैं और वहाँ एक कम्प्यूटर उन प्रतिक्रियाओं पर जरूरी कार्रवाई करता है। वार्नर कम्यूनिकेशन ओहियो द्वारा विकसित की गई इस तकनीक को 'माइक्रो प्रोसेसर तकनालॉजी' कहा जाता है। तीस चैनल ३ बैण्ड वाले इस केबल टी.वी. का लाभ सिर्फ अमेरिका ही नहीं बल्कि योरप के कुछ देशों के चुनिन्दा शहर भी ले रहे हैं। इस विधि में दर्शकों के टी.वी. 'क्यूब' नामक विशेष यंत्र के जरिए स्टूडियो से जुड़े रहते हैं। 'क्यूब' में लगे हुए कई बटनों में से विशेष बटन को दबाने से 'दर्शक' की प्रतिक्रिया के स्वर स्टूडियो में लगे कम्प्यूटर में पहुँचना शुरू हो जाते हैं। कम्प्यूटर इन प्रतिक्रियाओं को रेकॉर्ड कर उनका आकलन एवं मूल्यांकन शुरू कर देता है।

यदि किसी शहर के नगर पालिक निगम के मेयर किसी दिन किसी समस्या के बारे में नगर के निवासियों को टी.वी. के माध्यम से बताते हैं तो वे उस समस्या के बारे में नागरिकों की सलाह और सुझाव उसी समय जान सकते हैं। फुटबॉल का मैच देखने वाले अनुभवी और उत्साही दर्शक घरेलू टीम के कप्तान को जीतने के गुर बताने के लिए तत्काल 'कमेन्टेटर' से 'क्यूब' के जरिए संपर्क जोड़ सकते हैं।

१९७७ में बाल वर्ष के समय वार्नर ब्रदर्स ने क्यूब के ३० चैनलों में से एक चैनल बच्चों को समर्पित कर दी थी। छोटे बच्चों के लिए ही कार्यक्रम प्रसारित करने वाले इस चैनल में मनोरंजक कार्यक्रम की भरमार रहती है। इन कार्यक्रमों से हिंसा और सेक्स को बिल्कुल दूर रखा जाता है। क्यूब हाथ में दबाकर टी.वी. देखने वाले बच्चे अपनी फरमाइशें और टिप्पणियाँ करते जाते हैं। कम्प्यूटर इन टिप्पणियों और फरमाइशों के आधार पर अगले कार्यक्रम तैयार करने की योजना बनाता है। इस चैनल में विज्ञापन भी नहीं दिए जाते अतः कार्यक्रम की लय नहीं टूटती।

'क्यूब' का एक फायदा और होता है। मामूली फेरबदल करने से इसका संबंध निकटवर्ती अस्पताल, पुलिस स्टेशन आदि से जोड़ा जा सकता है। एक बार संबंध जुड़ जाने पर विपदा के समय बटन दबाकर तत्काल वांछित सहायता प्राप्त की जा सकती है।

बीसवीं सदी में हुए टी.वी. के आविष्कार ने मात्र आधी शताब्दी में ही मनोरंजन की, शिक्षा की तथा विज्ञान की दुनिया में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इस छोटे से डिब्बे में संभावनाओं की कामधेनु छिपी है। हो सकता है कि इक्कीसवीं सदी आते-आते दूरदर्शन के वर्तमान चमत्कार नई और भावी संभावनाओं के आगे फीके और श्रीहीन नजर आने लगें।

□ विश्व सिनेमा का इतिहास:

गूंगे-युग के यशस्वी तीस साल

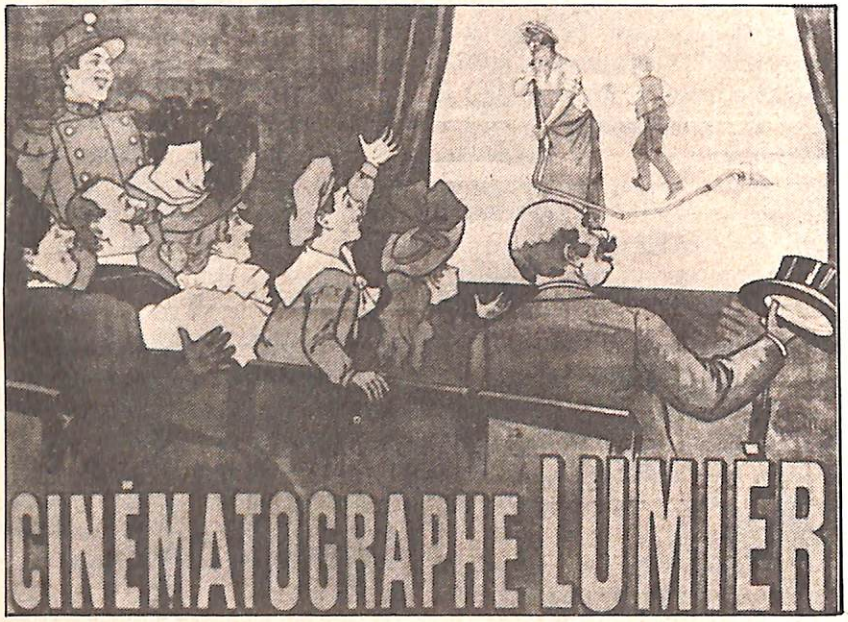
सिनेमा को आज हम सौंदर्यशास्त्र, कला, प्रौद्योगिकी तथा दर्शक समुदाय के मेल से बनी जिस जटिल कला विधा तथा माध्यम के रूप में देख रहे हैं उससे उसके उद्गम की विचित्र परिस्थितियों की कल्पना भी कर पाना बहुत कठिन है। दरअसल सिनेमा का उद्भव और विकास जिस तरह पाँचों महाद्वीपों में लगभग एक साथ हुआ उसे देखते हुए इस इतिहास-कथन के प्रयास में तारीखों और कालक्रम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण और रोचक हो जाता है। पिछली सदी बल्कि सदियों के भौतिकी, रसायनिकी तथा तमाशे की दुनिया के अग्रदूतों की एडवेंचर, जीवट और साहस की भावना तथा एक दूसरे से स्वस्थ प्रतिद्वंद्विता करते हुए भी ज्ञान-विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उनके द्वारा निहायत ही मानवीय सौजन्य से किया गया वह सहयोग कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है जिसने बीसवीं सदी के इस सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वव्यापी माध्यम को आज इस मुकाम पर पहुँचाया है। इसीलिए सिनेमा के प्रारंभिक इतिहास को हम यहाँ कुछ ऐसी झलकियों के रूप में ही प्रस्तुत कर रहे हैं, जो प्रमुख फिल्मों की कलात्मक गुणवत्ता पर फतवेबाजी तथा उन्हें तथा उनके निर्माताओं को सूचीबद्ध करने तक ही सीमित नहीं रहा।

यह सही है कि अंत में जाकर महत्वपूर्ण सर्जक कलावाद का व्यक्तित्व ही किसी फिल्म के आकलन में महत्वपूर्ण हो जाता है। हम निर्देशक को ही किसी फिल्म का असली निर्माता मानते हैं। कई बार उसका लेखक, अभिनेता, निर्माता, डिजाइनर या कैमरामेन तक इसका दावेदार हो जाता है। इसके अलावा यह भी मानना होगा कि **पाथे या मेयर** जैसे कारोबारी तथा **ल्यूमिएर** तथा **क्रेटिएन** जैसे तकनीशियनों के बगैर भी सिनेमा अपने मौजूदा मुकाम पर नहीं पहुँचता। सिनेमा में कला को प्रौद्योगिकीय गहराई से प्रभावित करती है और प्रौद्योगिकी के लिए परिस्थितियाँ अर्थशास्त्र निर्मित करता है। यह सही है कि ध्वनि सिनेमा में क्रांति लाई। लेकिन ध्वनि लाने की जरूरत कुछ आर्थिक कारणों से ही पड़ी। इसी तरह वाइड स्क्रीन का आविष्कार भी परिस्थितियों (टेलीविजन) के कारण ही हुआ। इसी तरह सिनेमा की विषय वस्तु तथा मिजाज भी परिस्थितियाँ ही तय करती हैं।

फिल्मों के इतिहास की चर्चा करते हुए सिनेमा-विधा के एक बड़े विरोधाभास की तरफ भी प्रारंभ में ही इशारा कर देना उचित होगा। दुनिया में सर्वत्र फिल्म निर्माण में हितों का टकराव होता है। फिल्मों में पैसा लगता है और कई बार पैसा खूब कमा भी लेती हैं। फिल्म- निर्माण के सूत्र धन तथा वित्त के विशेषज्ञों द्वारा तय किए जाते हैं। अंततः फिल्मों का सृजन कलाकारों द्वारा ही होता है। जहाँ फायनेंसर निरापद तथा प्रत्याशित की तलाश में रहता है, वहीं कलाकार अनहोनी और नएपन की दुःसाहसी डगर पर चलता है। फिल्मों के प्रारंभिक इतिहास पर नजर डालते हुए यह देखना भी दिलचस्प होगा कि किस वक्त किस फिल्म पर इनमें से कौन-सा तत्व हावी हो गया।

दृश्य-मनोरंजन की शुरूआत

सिनेमा के इतिहास को २८ **दिसंबर** १८९५ से प्रारंभ करना यों तो काफी सुविधाजनक है क्योंकि उस रोज ल्यूमिएर-बंधुओं ने पहली बार पेरिस के सैलून इंडियन में टिकट खरीद कर आई जनता के सामने अपना 'सिनेमाटोग्राफ' पेश किया था। लेकिन यह तारीख केवल सालगिरह मनाने के लिहाज से ही उपयोगी है। सिनेमा कोई एकाएक हुआ आविष्कार न होकर एक बहुत ही जटिल और लंबी विकास-प्रक्रिया है।



ल्यूमिएर बंधुओं के सिनेमाटोग्राफ का पोस्टर : १८९६

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों के दौरान योरप के लोग चाक्षुस-अनुभव के प्रति मुद्रित चित्रों के आगमन के कारण जागरूक हो चुके थे। सन् १८४२ में 'द इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज' नामक पूरी तरह सचित्र पत्रिका का प्रकाशन शुरू हो गया और लोग अपनी दुनिया को चित्रों के माध्यम से जानने में रुचि लेने लगे थे।

शेडो-शो यानी परछाइयों का खेल

परदे पर चलती-फिरती परछाइयों के तमाशे योरप में सत्रहवीं सदी से ही लोकप्रिय थे और उस जमाने में सबसे बड़े **'शेडो-शो'** का प्रदर्शन लंदन के ट्रेफर्ट एंड दोमिनीक थियेटर में खुद दार्शनिक गेटे ने करवाया था। ये शेडो-नाटक ल्यूमिएर ब्रदर्स के 'शो' तक जारी रहे और इस चाक्षुस मनोरंजन में तत्कालीन कलाकारों द्वारा नए-नए प्रयोग कर 'वास्तविकता भ्रम' पैदा किया जाता था। इसी तरह मंच सज्जा के रूप में रंगे हुए परदों के ऊपर रोशनी फेंककर एक और शेडो- शो 'डामोरैमा' के नाम से लोकप्रिय हुआ, और वही आगे चलकर 'पीप-शो' के रूप में कुछ परिवर्तनों के साथ प्रचलित हुआ। झाँक कर बक्से में तस्वीरें दिखाने वाले इस तमाशे की याद बीती पीढ़ी के हमारे देश के लोगों को भी होगी। बाद में इन 'पीप शोज' में फिल्में भी दिखलाई जाती थीं।

उन्नीसवीं सदी में प्रचलित देखने-दिखलाने के मनोरंजनों में सबसे ज्यादा लोकप्रिय हुआ 'मैजिक लैन्टर्न' (जादुई लालटेन) और इस मैजिक लैन्टर्न से ही खास सिनेमा की

प्रौद्योगिकी विकसित हुई। मैजिक लैन्टर्न की कला अपने शिखर पर १८७० से १९०० के बीच पहुँची और इस कला पर असंख्य पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं।

प्रारंभ से ही इन जादुई चिरागों के तमाशागरों को इस बात से बड़ा असंतोष था कि परदे पर परछाइयाँ स्थिर रहती हैं। इसीलिए आगे आने वाले दशकों के दौरान विभिन्न मुद्राओं में चित्रित होने के कारण वे स्थिर क्रिया के बजाए सचल क्रिया का आभास पैदा करती थीं। जैसा कि एनिमेटेड फिल्मों में होता है। 'पेन्टोमिमेज ल्यूमिनियेसे' के साथ सिनेमा का लगभग पदार्पण हो गया था। फर्क यही था कि जहाँ रेइनॉड को चित्र फ्रेम-दर-फ्रेम हाथ से बनाने पड़ते थे, वहीं फिल्मों को फोटोग्राफी पर निर्भर करना

दूरदर्शन के इतिहास के साथ सिनेमा का इतिहास जानना भी इसलिए जरूरी है कि इन दोनों माध्यमों में चोली-दामन का रिश्ता रहा है। 'गुरु' (बड़ा परदा) अपने 'चेले' (छोटे परदे) से आज भले ही मात खा रहा है, लेकिन इनकी परस्पर निर्भरता और अंतर्सम्बन्ध कभी समाप्त होने वाले नहीं हैं।

हेमचंद्र पहारे

इन परछाइयों को चलता-फिरता बनाने की कोशिशें चलती रहीं। फ्रांस में जहाँ एरिएन रॉबर्टसन तथा लंदन में उनके ही अनुगामी फिलिप स्टाहल ने फोकस को केंद्रित कर प्रकाश स्रोत को आगे पीछे कर 'फेन्टस मेजोरिया' नामक तकनीक विकसित की वहीं लैंगडन चाइल्ड ने एक छवि पर दूसरी छवि चस्पा करने की तकनीक 'डिजॉल्विंग न्यूज' विकसित की। इन दोनों तकनीकों ने ही बाद में सिनेमा तकनीक जिस दिशा में विकसित होनी थी उसका संकेत दिया।

आँख की रेटिना (दृष्टि-पटल) पर अंकित होने वाली छवि ऑब्जेक्ट (वस्तु) के हट जाने के बाद भी कुछ क्षणांश के लिए वहाँ बनी रहती है। इस मूल भौतिक सिद्धांत, जिस पर सिनेमा आधारित है, का पता इंसान को आदिकाल से ही था। मसलन बच्चे भी यह जानते हैं कि किसी अंधेरे कमरे में दिए या मोमबत्ती को तेजी से गोल-गोल घुमाने से एक अटूट प्रकाश का गोल घेरा नजर आता है। सन् १८६० के बाद से ही मैजिक लैन्टर्न वालों ने यही प्रभाव पैदा करने के लिए नित नई सुधरी हुई तकनीकों का इस्तेमाल शुरू कर दिया था। इस फिनोमिना (प्रतिभास) के बारे में माइकेल फेराडे जैसे अंगरेज आविष्कारकों के अलावा बेल्जियन जोसेफ प्लेटो तथा आस्ट्रियन सायमन स्टेम्फर ने कई शोध-पत्र प्रकाशित किए। इस सिद्धांत पर आधारित जो कई देखने के खिलौने बनाए गए उनमें प्रमुख थे- **फेने किस्टीस्कोप** (धुरी पर घूमने वाली रेखाचित्रों वाली डिस्क-तश्तरी), घूमते ड्रम के भीतर चित्रित तस्वीरों वाला हॉर्नर का 'जोए ट्रोप' तथा टेबल लैम्प के आकार का एमिल रेइनॉड का 'प्रॅक्सिनोस्कोप'। इनमें रेइनॉड का प्रॅक्सिनोस्कोप सिनेमा के सबसे नजदीक पहुँचा। उसने १८९२ में पेरिस में ही 'पेन्टोमिमेज ल्यूमिनियेसे' का प्रदर्शन किया जिसमें विभिन्न मुद्राओं में हाथ से बनाए गए रेखाचित्रों को परदे पर प्रक्षिप्त कर दिखाया जाता था और चित्रों की एक के बाद एक पड़ता है।

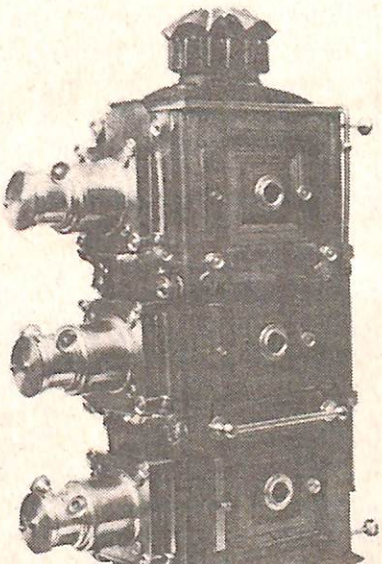
छाया चित्र-कैमरा

फोटोग्राफिक कैमरा के उद्‌गम को स्पष्टतः मैजिक लैन्टर्न के साथ जोड़ा जा सकता है। प्रारंभ के 'कैमरा ऑब्सक्यूरा' में परावर्तित चित्र को अंधेरे कक्ष में परदे पर वांछित आकार में घटा या बढ़ाकर उसकी बाहरी रेखाओं को पेंसिल से चित्रित छवि को बड़ी मेहनत से स्थाई बनाया जाता था। इस दिशा में काम कर रहे वैज्ञानिक जो कि शरीर विज्ञानी से लेकर वेधशालाओं में सितारों की हलचल का अध्ययन करने वाले खगोल विज्ञानी तक बहुत से भिन्न अनुशासनों से संबंधित लोग थे। इन सबकी इच्छा कैमरा ऑब्सक्यूरा की छवि को यांत्रिक या रासायनिक रूप से किसी प्लेट पर स्थाई रूप से अंकित कर देने की थी। अँगरेज रसायन शास्त्री थॉमस तेजवुड सहित कई लोगों ने इस समस्या को हल करने के प्रयास किए लेकिन सफलता मिली जोसेफ नाइसफोर नीएप्के (१७६५-१८३३) को। उसने १८२६ में एक संवेदित प्लेट पर छवि को कैद करने में सफलता प्राप्त की। लेकिन सिनेमा खास की तरह ही फोटोग्राफी भी आविष्कार न होकर ज्ञात समस्याओं को हल करने की एक दौड़ थी। इसमें भाग लेने वाले प्रमुख लोग थे डॉयोर्रमा वाले लुई जेविट मांदे, हैनरी फॉक्स तालबोट (कॅलोटाइप प्रोसेस) 'एडवर्ड मेब्रिज, एटियाने मॅरी, ईस्टमन कोडक तथा सबसे बढ़ कर थॉमस अल्वा एडिसन (१८४७-१९३१)। इन सभी लोगों के प्रयास इस समस्या को हल करने की दिशा में थे कि छाया चित्रों की एक श्रृंखला ऐसे त्वरित क्रम में कैसे बनाई जाए जो किसी क्रिया की चलती-फिरती छवि का आभास दे सके। दौड़ते घोड़े, उड़ते पंछी तथा आकाश में सितारों की गति का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने अंततः इस समस्या का हल खोजा और १८८८ में ईस्टमन कोडक कंपनी द्वारा बाजार में रोल फिल्म के लाए जाने से यह चीज संभव हुई। कोडक की इस रोल फिल्म की मदद से मॅरी ने क्रोनोफोटो-ग्राफे' नामक कैमरा बनाया जिसके द्वारा सैल्यूलॉइड (या गटापाची) की लंबी पट्टी पर क्रमबद्ध छाया चित्रों की श्रृंखला उतारना संभव हुआ। इसी के साथ इन प्रारंभिक आविष्कारकों को इन छवियों को परदे पर प्रक्षिप्त करने वाली एक मशीन (प्रोजेक्टर) बनाने का विचार भी आया।

शेडो-शो : पॅनोरेमस

द्विआयामी स्थिर चित्रों को परदे पर प्रकाशित कर शेडो-शो को एक नया रूप प्रदान किया गया था। प्रसिद्ध चित्रकारों के चित्रों की परदों पर 'पेंट' कर पीछे से रोशनी डालकर दिखलाने का रिवाज योरप में १८वीं और १९वीं सदी के दौरान चला। इसमें रॉबर्ट बार्कर ने एक विशाल बेलनाकार पेंटिंग का शेडो-शो पॅनोरेमस के नाम से दिखलाना शुरू किया। इसमें दर्शक बीच में तंबू के घेरे में बैठते थे और उनके चारों तरफ यह 'पॅनोरेमस' चित्र-माला होती थी जो उन्हें कुछ हद तक यथार्थ का आभास करवाती थी। सन् १७८७ में पेटेंट किया गया बार्कर का यह तमाशा योरप की राजधानियों में सिनेमा के आविष्कार के बरसों बाद तक दिखलाया जाता रहा। यहाँ तक कि 'बोरोदिनों की लड़ाई' नामक तमाशा अभी १९६० में मॉस्को में प्रदर्शित किया गया था।

ब्रिटिश मैजिक लेन्टर्न : १८९०



किनेटोग्राफ

एडिसन की मुलाकात १८८८ में मेब्रिज के साथ हुई। प्राणियों व इंसानों की विभिन्न मुद्राओं को परदे पर प्रक्षिप्त करने वाली मशीन 'ज़ूप्रॅक्सीस्कोप' को देख उसे विचार आया कि जिस तरह ध्वनि को अंकित कर फिर से पैदा करने वाली मशीन फोनोग्राफ उसने बनाई है वैसी ही मशीन छायाचित्र प्रक्षेपण के लिए भी बनाई जा सकती है। उसने तत्काल यह काम अपनी प्रयोगशाला प्रमुख डब्ल्यू. के. एल. डिक्सन को सौंपा और मशीन का पेटेंट भी करवा लिया। अगले ही वर्ष पेरिस में लगी नुमाइश में एडिसन की मुलाकात मॅरी से हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि एक के बाद एक फ्रेम को चित्रित करने के लिए उसे किनारों पर छिद्रित (परफोरेटेड) करने का विचार उसने उसी से लिया। अगले वर्ष (१८९०) की शरद ऋतु आते-आते डिक्सन को छायाचित्रों की प्रति सेकंड ४० फ्रेम की रफ्तार से खींचने में सफलता मिल गई। इस नए उपकरण एवं प्रक्रिया को किनेटोग्राफ नाम दिया गया। इस मशीन के द्वारा पीप-शो (झाँक कर देखने वाला तमाशा) में एक बार में एक व्यक्ति चलती-फिरती परछाइयाँ देख सकता था। सर्कस तथा नृत्य संगीत कलाकारों को एडिसन की प्रयोगशाला में 'ब्लॅक मारिया' नामक कैमरे के द्वारा शूट किया जाने लगा तथा १८९४ में मेसर्स रॉल्फ एंड गॅमन ने किनेटोस्कोप कंपनी की स्थापना की और पूरे अमेरिका तथा योरप में आजकल के वीडियो पार्लरों की तरह किनेटोस्कोप पार्लर फैल गए, जहाँ पीप-शो मशीनों में पैनी के सिक्के डाल चलचित्र का आनंद लेने लगे थे। लेकिन इन 'पीप-शोज' की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इन्हें एक बार में एक ही व्यक्ति देख सकता था जबकि ऊपर यह संकेत दिया गया है कि तस्वीरों के इस तमाशे में सारे नवाचारों के पीछे पैसा-ज्यादा से ज्यादा कमाने की प्रेरणा रही है। यानी अब इन प्रारंभिक तमाशागरों की इच्छा यह थी कि ऐसी तस्वीरें दिखलाई जाएँ जिसे एक साथ बहुत से लोग देखें और उसके लिए पैसे भी चुकाएँ।



घुमंतू सिनेमा (टूरिंग टॉकीज) : १९०२
मॉटर शॉ परिवार

दर्शक : कैसे-कैसे

प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व सिनेमा के अधिकांश दर्शक गरीब मजदूर वर्ग के होते थे। और वे उच्च नैतिकता वाली, उपदेशात्मक फिल्में पसंद करते थे। इसीलिए इन दिनों बाइबल की कहानियों, नीति कथाओं तथा उन अति नाटकीय विषयों पर फिल्में ज्यादा बनती थीं जिनमें बुरे को दंडित और भले को अंत में पुरस्कृत किया जाता था। फिल्में आशावादी होती थीं तथा अमेरिका को सुअवसरों के लिए ऐसे देश के रूप में पेश किया जाता था जहाँ सारी दुनिया से लोग अपनी तकदीर आजमाने आते थे। पारिवारिक जीवन तथा दांपत्य की पवित्रता के विषय पसंद किए जाते थे तथा तुरत-फुरत पैसा कमाना तथा अपनी हैसियत से ऊपर जीना अच्छा नहीं माना जाता था। शायद यह असर उस महारानी विक्टोरिया के युग का था जिसे अँगरेजी साहित्य में 'प्रूडरी' तथा हमारे अपने प्रेमचंद की भाषा में 'मरयादा' के भीतर रहना कहा जाता था।

ल्यूमिएर बंधु और उनका 'सिनेमेटोग्राफ'

ल्यूमिएर ब्रदर्स ने किनेटोस्कोप और मैजिक लैन्टर्न के सिद्धांतों को एक दूसरे से जोड़ने की दौड़ तकनीकी रूप से तो जीती ही, अपना तमाशा सबसे पहले पेश करने में उन्हें जो सफलता मिली उसका कारण यह था कि उनका आर्थिक आधार बहुत ठोस था। **लुई** (१८६४-१९४८) तथा **ऑगस्ते** (१८६२-१९५४) ल्यूमिएर के पिता एन्तोइन का कैमरा बनाने का जमा-जमाया कारोबार था। दोनों भाई क्रमशः १८ तथा २० वर्ष की उम्र में ही पिता के धंधे में शरीक हो गए। पहले उनके पिता का इरादा एडिसन के किनेटोस्कोप के लिए फिल्में निर्मित करने का था। लेकिन दोनों भाई एक ऐसा कैमरा बनाने में लग गए जो फिल्म को 'फोटोग्राफ' भी करती हो तथा 'प्रोजेक्ट' भी। मार्च १८९५ में उन्होंने 'सिनेमेटोग्राफ' नामक मशीन को पेटेंट करवाया। महोगनी लकड़ी तथा पीतल से बनी यह ठोस एवं सुघड़ मशीन आज भी अपनी कारीगरी के कारण लोगों को चमत्कृत करती है।

इसके बाद पूरे साल भर वे विभिन्न फोटोग्राफिक सोसायटियों में अपने इस अजूबे का प्रदर्शन करते रहे। अक्टूबर १८८५ में उन्हें लगा कि उनके इस आविष्कार को एक लोकप्रिय तमाशे के रूप में भुनाने का वक्त आ गया है। अट्ठाईस दिसंबर अठारह सौ पिच्चान्वे के पहले प्रदर्शन से कोई बड़ी हलचल तो नहीं मची (आमंत्रित पत्रकारों ने तो उसकी उपेक्षा ही कर दी थी) लेकिन जनवरी '९६ के आते-आते 'सैलून इंडियन' में बीस मिनट का खेल देखने वालों की कतारें लगने लगीं थीं।

पेरिस में ल्यूमिएर बंधुओं के इस 'शो' के कुछ ही सप्ताहों के बाद इंग्लिश आविष्कारक बर्ट एक्रिस (१८५४-१९१८) तथा रॉबर्ट विलियम पॉल को भी परदे पर चलती-फिरती परछाइयाँ दिखलाने में सफलता मिल गई। जर्मनी में मैक्स स्क्लेडेनोवस्की (१८६३-१९३९) ने ल्यूमिएर बंधुओं के शो के कुछ पूर्व ही अपने 'बायोस्कोप' का प्रदर्शन कर दिया था। लेकिन उसने दो फिल्म पट्टियाँ तथा दो लेंसों का उपयोग करके बड़ी लंबी-चौड़ी ऐसी मशीन के जरिए यह काम किया था, जिसे उस अर्थ में प्रोजेक्टर नहीं कहा जा सकता, जिस रूप में आज हम उसे जानते हैं।

अमेरिका के थॉमस एटमात तथा सी. फ्रेंसिस जेकिन्स के फेंटास्कोप का पेटेंट एडिसन ने प्राप्त कर लिया और एक नया प्रोजेक्ट बाजार में एड़िसन वीटास्कोप के नाम से पेश कर दिया। ल्यूमिएर के सिनेमेटोग्राफ के अमेरिका पहुँचने के दो महीने पहले उसने अपना प्रदर्शन कर दिया था। बहरहाल, सन् १८९६ के दौरान सिनेमा म्यूजिक-हॉलों तथा मैदानी मेलों के जरिए समूचे योरप और अमेरिका में फैल गया।

फ्रांस की सर्वोपरिता का युग : यों ईजाद हुई सिनेमा की बारहखड़ी

सन् १८९६ में आविष्कार मशीनों का हुआ था, माध्यम का नहीं। खुद आविष्कारक

नहीं जानते थे कि आखिर इस अजूबे का वे क्या उपयोग करें। जॉर्जे मेलिए (१८६१-१९३८) ने सर्वप्रथम स्वयं एन्तोन ल्यूमिएर की इस चेतावनी के खिलाफ कि इस महँगी मशीन को खरीद वे बरबाद हो जाएँगे, इस मशीन सिनेमेटोग्राफ का मनोरंजन के लिए उपयोग करना शुरू किया।

पेशे से जादूगर और एक थियेटर के मालिक मेलिए को सिनेमा का पहला प्रामाणिक कलाकार होने का श्रेय प्राप्त है। प्रारंभिक दर्शकों के लिए तो सिनेमा मात्र एक चमत्कार था। तस्वीरें चलती फिरती हैं। कोई भी परिचित दृश्य परदे पर देखना लोगों को रोमांचित करता था। स्टेशन पर रेलगाड़ी का आकर रुकना। कारखाने से मजदूरों का बाहर निकलना। किसी दीवार का गिराया जाना। या क्लब में कुछ लोगों को पत्ते खेलते देखना ही कुछ बरसों तक संगीत-गृहों, थियेटरों तथा मेलों के मैदानों में लोगों को आकर्षित करता रहा। यह तो मेलिए का ही दिमाग था जिसमें सबसे पहले एक मंचीय-रंग कला के माध्यम के रूप में इस आविष्कार का उपयोग करने का विचार आया। घुमंतू सिनेमा-घरों में अपना तमाशा दिखलाने वाले तमाशागरों की लोकप्रियता घटाने के साथ-साथ १८९७ में फ्रांस में ही ल्यूमिएर बंधुओं ने पहला स्थाई सिनेमा-घर स्थापित किया। लंदन में इसकी स्थापना १९०४ में हुई। अमेरिका में जहाँ पहला स्थाई प्रेक्षागार (इलेक्ट्रिक थियेटर) लॉस एंजेलिस में १९०२ में स्थापित हुआ। रूस में उसकी स्थापना १९०५ में हुई। बहरहाल, फ्रांस से इंग्लैंड जाकर मेलिए ने जादुई करिश्मे दिखलाने की नीयत से जो फिल्में बनाई वे सत्तर वर्ष बाद तक भी पेरिस के कुछ छविगृहों में दिखलाई जाती हैं और दर्शक उन्हें देखकर आनंदित होते हैं। आखिर मेलिए की फिल्मों में ऐसी क्या विशेषता थी? मेलिए की फिल्मों में पहली बार ट्रिक फोटोग्राफी के जरिए लोगों के गायब हो जाने, धड़ से सिर के कट कर अलग हो जाने, परियों के हवा में उड़ने आदि के दृश्य दिखलाए जाते थे। मेलिए तथा उनके अन्य समकालीनों ने उस प्रारंभिक युग में जो नए-नए प्रयोग किए या उनसे अनायास हो गए, उन्होंने माध्यम के रूप में सिनेमा की शब्दावली तथा बारहखड़ी दोनों गढ़ना शुरू किया। इस माध्यम की संरचनात्मक विशिष्टताओं, नाटकीय क्षमताओं तथा फिल्म माध्यम की समूची कलात्मक प्रकृति टुकड़ों-टुकड़ों में विकसित हुई और उसमें तो दस-बारह वर्ष का समय लगा लेकिन दृश्य तकनीकों की सारी संभावनाओं का पता तत्कालीन आविष्कारों, कैमरामेनों तथा निर्माताओं ने बहुत ही थोड़े समय में लगा लिया था।

फिल्म द आर्टे

फ्रांस के ल्यूमिएर बंधुओं द्वारा सिनेमा का आविष्कार किए जाने के कुछ ही वर्षों के भीतर सिनेमा बड़ा कारोबार बन गया। मनोरंजन के इस नए माध्यम पर एकाधिकार नियंत्रण स्थापित करने के लिए नए-नए लोग आगे आने लगे। इनमें सबसे बड़ा नाम था चार्ल्स पाथे (१८६३-१९५७) का। मात्र एक ही दशक के भीतर पाथे ने विश्व सिनेमा पर जो फ्रांस का सिक्का जमाया, उसके कुछ अवशेष कुछ देशों में अब तक बाकी हैं। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व पाथे का नियंत्रण फिल्मों के निर्माण, वितरण, प्रदर्शन, नकली उपकरण बनाने-बेचने आदि सभी गतिविधियों पर था। हर देश में उसके एजेंट थे और अमेरिका में उसने एडिसन सहित नौ निर्माताओं से मिल एक एकाधिकारी संगठन बनाया। हालाँकि



चार्ली चेप्लिन (१९१५) : मानवतावादी सिनेमा

इसका स्वतंत्र निर्माताओं द्वारा विरोध तो हुआ ही उनके द्वारा निर्मित फिल्मों में विविधता और गुणवत्ता भी बढ़ी।

पाथे कंपनी ने नए-नए निर्देशकों की नियुक्ति कर फिल्मों में विविधताओं के प्रयास शुरू किए और नई यानी बीसवीं (!) सदी में जो कॉमेडियाँ फर्दिनांद येक्का जैसे निर्देशकों से बनवाई उनका प्रभाव अटलांटिक महासागर के दोनों तरफ नजर आया। इन हास्य फिल्मों का एक प्रमुख तत्व चेज यानी दौड़ (घोड़ा गाड़ियों, मोटरों तथा इंसानों की भी) होती थी। ब्रिटिश निर्माताओं ने वैसे, चेज का उपयोग सस्पेंस (रहस्य-उत्सुकता) तथा रोमांच के लिए भी किया। इन कॉमेडियों में मेक्स लिंडर जैसे हास्य कलाकारों ने फिल्मी अभिनय की नई संभावनाओं को उजागर किया। फ्रांस की इन कॉमेडियों का असर खासतौर से इतालवी तथा रूसी फिल्मों पर पड़ा।

फिल्म निर्माण की सारी गतिविधियों पर एकाधिकार करने की नीयत से पाथे ने 'सिनेमेटोग्राफिक दे ऑटेर दे लात्रीज' के नाम से एक संगठन बनाया जिसने आधुनिक मंचीय तथा साहित्यिक वृत्तियों को फिल्माने का बीड़ा उठाया। इसी आंदोलन को फिल्म द आर्टे का नाम दिया गया। फिल्म द आर्टे ने सभी जीवित लेखकों से मूल पटकथाएँ लिखवाना भी शुरू किया। इसी लहर में बहकर ब्रिटेन में भी शेक्सपियर के 'हैमलेट' तथा हैनरी आठवें जैसे नाटकों तथा डिकेन्स के उपन्यासों पर फिल्में बनीं। रूस में यह लहर इवान द टेरिबल जैसी भव्य वेशभूषा प्रधान फिल्में लेकर आई।

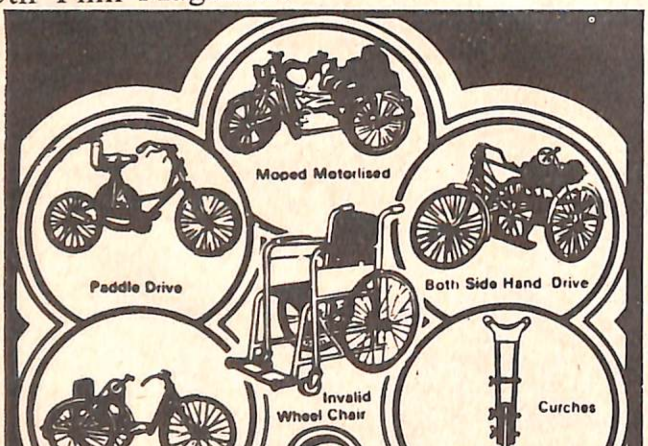
फ्रांस की इन कला फिल्मों ने जहाँ सिनेमा को एक माध्यम के रूप में सामाजिक तथा बौद्धिक सम्मान प्रदान किया, वहीं उन्होंने सिनेमा के हास्य तथा यथार्थवादी विकास को अवरुद्ध भी किया। कला फिल्में और शुद्ध व्यावसायिक फिल्मों की यह तकरार आज भी देखी जा सकती है। वेशभूषा प्रधान भव्य फिल्मों में इटली की ऐनरीको ग्वाजोनी निर्देशित 'कोवाडिस' (१९१२) उल्लेखनीय है जिसमें हजारों एक्स्ट्राओं की भीड़ तथा रोम के जलने के दृश्यों ने 'भव्य तमाशे का एक प्रतिमान स्थापित कर दिया। 'कोवाडिस' फिल्म के बाद में भी कई देशों में मूक तथा टॉकी युग में कई संस्करण बने। इस तरह योरप से आई फिल्मों की मदद से ही अमेरिका में वह फिल्म क्रांति आई जिसने अमेरिकी फिल्म उद्योग को सारी दुनिया में वह सर्वोपरि स्थान दिया, जो उसे अब भी काफी हद तक प्राप्त है।

अमेरिका-अमेरिका : दो सर्वकालिक महान जीनियस डी.डब्ल्यू. ग्रीफिथ तथा चार्ली चेप्लिन

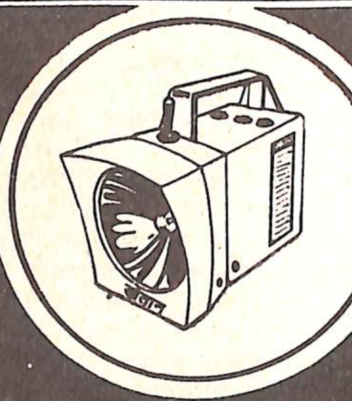
अगस्त १९१४ में योरप में प्रथम महायुद्ध छिड़ने के साथ ही अमेरिका के लिए फिल्म निर्माण के क्षेत्र में प्रतियोगिता एक तरह से खत्म हो गई और उसके साथ ही इस उद्योग पर उसका वर्चस्व कायम होने लगा। लेकिन इसका एकमात्र कारण युद्ध ही नहीं था। अपनी पुराने ढर्रे की फार्मूला फिल्मों के साथ फ्रांस १९१० में चरम बिंदु पर पहुँच



गज़ब मल्हम



Moped Motorised
Paddle Drive
Both Side Hand Drive
Invalid Wheel Chair
Curches
Hand Drive



गया था। ब्रिटेन भी इस बीच इस क्षेत्र में साहित्यिक कृतियों के थियेटरी फिल्मांकन से आगे नहीं बढ़ पाया था। इटली की 'कोबरिया' भी 'कोवाडिस' शैली की अंतिम श्रेष्ठ फिल्म रही। इधर अमेरिका के पास अपने विशाल घरेलू फिल्म-बाजार की सुरक्षा तो थी ही, उसने कुछ ही बरसों में सिनेमा को एक कलात्मक परिपक्वता भी प्रदान कर दी थी। और यह उपलब्धि जिस एक अकेली हस्ती की वजह से संभव हुई थी वह थी डेविस वार्क ग्रीफिथ (१८७५-१९४८) जिनके बारे में उन्हीं के यशस्वी शिष्य एरिक वॉन स्ट्रोनटीम ने उनके निधन के समय कहा था- 'उन्होंने मनोरंजन के इस फूहड़ तथा सस्ते नजर आने वाले माध्यम में सौंदर्य और कविता का समावेश किया।' कला के इतिहास में ग्रीफिथ की बराबरी कोई नहीं कर सकेगा। उन्होंने एक लोकप्रिय यांत्रिक मनोरंजन में से एक स्वायत्त कला विधा निर्मित की तथा उसे ऐसे रूपों तथा कानूनों में बाँधा जिन्हें आगामी पचास बरसों तक कोई चुनौती नहीं दी जा सकी।

ग्रीफिथ की त्रासदी यह थी कि वे एक साहित्यकार बनना चाहते थे। फिल्म क्षेत्र की काफी बड़ी हस्ती बन जाने के बाद भी यह ललक उनमें बाकी रही। उन्हें पहली सफलता १९०७ में तब मिली जब 'ए फूल एंड ए गर्ल' नामक एक पटकथा उन्होंने जेम्स हैकेट को बेची। यह फिल्म सफल नहीं हुई। इसके बाद एडिसन के स्टुडियो को उन्होंने प्रसिद्ध ऑपेरा 'टोस्का' (जो गत वर्ष दूरदर्शन ने सीधे प्रसारित किया था) का फिल्मी संस्करण प्रस्तुत किया। इसे तो पसंद नहीं किया गया लेकिन ऐडविन ऐस पोर्टर ने ग्रीफिथ को अभिनेता के तौर पर अपने यहाँ काम दे दिया। लेकिन पटकथाएँ बेचने की कोशिशें, उन्होंने जारी रखीं। 'एडवेंचर्स ऑव डॉली' उनकी पहली फिल्म थी और इसके साथ ही उनकी मित्रता उनके कैमरामैन बिली ब्रिट्जर से हुई जिन्होंने ग्रीफिथ की सारी मूक फिल्मों का छायांकन किया। बिट्जर को यह देख बड़ा ताज्जुब हुआ कि ग्रीफिथ उस युग में भी पात्र के अनुकूल अभिनेता (कास्टिंग) तथा कथा के मुताबिक स्थल (लोकेशन) के चयन में बहुत सावधानी बरतते थे।

ग्रीफिथ ने अगले पाँच वर्षों में जो कोई ५०० फिल्में बनाईं वे सभी क्लसिक तो नहीं थीं लेकिन उन्होंने सेल्यूलाइड के माध्यम से कथा-कथन की तकनीक को नई ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। ग्रीफिथ की पसंद विक्टोरियाई युग के लेखक थे तथा उनकी नायिकाएँ भी वैसी ही, उस युग के कवियों को आदर्श नायिकाओं जैसी हुआ करती थीं।

बहरहाल फिल्म के द्वारा कथा-कथन की जो सबसे महत्वपूर्ण खोज ग्रीफिथ ने की थी एक दृश्य को कई छोटे-छोटे टुकड़ों (शॉट) में बाँटना था। अपने आप में स्वतंत्र प्रत्येक शॉट को बाद में जोड़कर पूरे दृश्य को पुनः संयोजित किया जाता था। ग्रीफिथ प्रत्येक घटना की नाटकीय गहराई को रेखांकित करते कहानी को टुकड़े-टुकड़े आगे बढ़ाते थे। जहाँ पोर्टर का कैमरा काफी फासले से एक्शन (क्रियाकलापों) को बड़े निस्पृहरूप से दर्ज करता था, वहीं ग्रीफिथ ने यह दर्शाया कि कैमरा भी कथा-कथन में एक सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। अपनी छवियों की संरचना कैमरे को किसी खास स्थान पर रखने तथा चलाने-फिराने से तथा सबसे बढ़ कर जिस गति व लय से छवियों को कट (संपादित) किया जाता था, कहानी में नाटकीय प्रभाव पैदा किए जा सकते हैं। ग्रीफिथ ने क्लोज अप न केवल चेहरों के लिए बल्कि वस्तुओं के भी। छाया तथा प्रकाश के उनके प्रारंभिक प्रयोग आज भी अद्भुत माने जाते हैं। एनॉक आर्डन नामक रेनिसन की लंबी कविता पर आधारित उनकी फिल्म ऑफ्टर मैनी इअर्ज (१९०८) में ही फ्लेश बैक तथा 'फ्लैश फार्वर्ड' जैसी तकनीकें उन्होंने प्रस्तुत कर दी थीं।

ग्रीफिथ ने सिनेमा की भाषा तो विकसित की ही उन्होंने उसके विषयों को भी व्यापकता प्रदान की। सामान्य कॉमेडी, एक्शन तथा ऐतिहासिक फिल्मों के अलावा ग्रीड तथा इनटॉलरेंस में उन्होंने समसामयिक सामाजिक विषयों को भी छुआ। ग्रीफिथ की सर्वकालिक श्रेष्ठतम फिल्म **'बर्थ ऑव ए नेशन'** (१९१५) को माना जाता है जिसमें उन्होंने अमेरिकी गृहयुद्ध की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की थी। दर्शकों के बीच भी इस फिल्म को अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई।

सिनेमा में अमेरिका के वर्चस्व की स्थापना करने वालों में अगला नाम मॅक सेनेट (१८८०-१९६०) का था। आयरिश मूल के सेनेट ने अमेरिका आकर ग्रीफिथ से फिल्म तकनीक के गुर सीख कर कीस्टोन स्टुडियो की स्थापना कर जो कॉमेडियाँ बनाई उन्होंने फिल्म संपादन को एक नई दिशा और कैमरे को नई स्वतंत्रता प्रदान की। कीस्टोन कंपनी ने सन् १९१३ की गर्मियों में अमेरिका की

छोटी-छोटी फिल्में

'कोवाडिस' फिल्म के पूर्व सारी फिल्में एक रील (१५-२० मिनट) की होती थीं। अमेरिकी दर्शक इससे लंबी फिल्मों की कल्पना भी नहीं कर पाते थे। यही हाल ब्रिटेन के दर्शकों का भी था। लंबी फिल्मों में पहली सफलता सारा बर्नहार्ट अभिनीत अडोल्फ जूकोर की 'ल रेइने एलिजबेथ' जिसे चार रीलों में बनाया गया था, को मिली। अमेरिका में तो लम्बी फिल्मों का चलन इतालवी फिल्म कोवाडिस से शुरू हुआ जिसकी नौ रीलें थीं और दो घंटे तक चलती थी। ऐस्टम थियेटर में इसकी टिकट- दर डेढ़ डॉलर रखी गई थी।(आज के हिसाब से भी यह राशि ५० रुपए के बराबर होती है।)

यायावर नाटक कंपनियों (वॉडेविल) में करतब दिखला रहे एक २४ वर्षीय हास्य अभिनेता की सेवाएँ प्राप्त कीं। प्रारंभ में तो सेनेट को लगा कि चार्ल्स (चार्ली) चैप्लिन को लेकर उन्होंने गलती की लेकिन अपनी अगली फिल्म द्वारा चेप्लिन ने उन्हें तथा आने वाले युग के दर्शकों तथा फिल्म समीक्षकों सभी को अपनी मौलिक प्रतिभा का कायल बना दिया।

स्वीडन के अलावा जिस अन्य देश ने अपनी फिल्मों के लिए अपने देश से बाहर बाजार बनाया उनमें डेनमार्क का नाम भी लिया जा सकता है। उसकी फिल्मों की लोकप्रियता का आधार उनके वाल्देमार सिलेंडर, एसरा नीलसन, क्लाश पोब्लोपिपान तथा ओलिंपिक फोन्स जैसे अभिनेताओं की स्वाभाविकता युक्त अभिनय शैली थी। प्रमुख निर्देशक बेंजेमिन क्रिस्टेन्सेन तथा कार्ल थियोडोर ड्रेसर थे।

जर्मनी

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान तथा उसमें पराजय के पश्चात जर्मनी के फिल्म निर्माण के विषय और प्रस्तुति दोनों के लिहाज से काफी उतार-चढ़ाव आए। अपनी प्रौद्योगिकी के क्षेत्र की अनेक उपलब्धियों के बावजूद युद्ध-पूर्व का जर्मनी तो सिनेमा के क्षेत्र में कोई खास नाम नहीं कमा सका था लेकिन युद्ध-काल में, जर्मनी ने सिनेमा के माध्यम को सम्माननीय दर्जा देने की कोशिश की। पॉल डेविडसन ने जर्मन थिएटर की प्रमुख हस्ती मॅक्स राकनाहार्ट की फिल्मों में काम करने के लिए राजी किया।

युद्ध ने भी जर्मनी में फिल्म निर्माण को बढ़ावा दिया। प्यार तथा नफरत फैलाने वाली फिल्मों की बाढ़ से उकताए हुए दर्शकों ने पलायनवादी विषयों को पसंद करना फिर से शुरू किया। जर्मनी विरोधी फिल्मों को बाहर लोकप्रिय होते देख सरकार ने भी वहाँ की प्रमुख फिल्म कंपनियों का आपस में विलय कर एक कंपनी 'यूफा' (यूनिवर्सल फिल्म ए.जी.) की स्थापना कर फिल्मों का स्तर ऊँचा करने का काम उसे सौंपा। नवंबर १९१८ में पराजय के पश्चात, 'यूफा' का नियंत्रण ड्यूट्श बैंक के हाथों में चला गया। पराजय की बदनामी को धोने तथा दुनिया वालों के दिल में गहराई से पैठी नफरत को दूर करने के लिए जर्मनी के अपनी फिल्मों को एक नई बौद्धिकता और कलात्मकता प्रदान की। लेकिन अवाँ गार्दे, अभिव्यक्तिवाद तथा वामपंथी परिवर्तन की लहर जल्दी ही मर गई। सेंसरशिप हटने से कुछ दिनों के लिए सेक्स-फिल्मों का दौर भी आया। 'हायना ऑव लस्ट' तथा समलैंगिकता के विषय पर 'अ मैन्ज गर्ल हुड' जैसी फिल्में भी बनीं।

लेकिन विश्व संस्कृति में जर्मनी को उसका उचित स्थान दिलाने के लिए 'यूफा' ने 'कोलोसाल' जैसी भव्य ऐतिहासिक फिल्में बनवाईं। हंगरी के एलेक्जान्डर कोर्डा ने

ऐतिहासिक हस्तियों की 'निजी जिंदगियाँ' भी प्रस्तुत कीं। लेकिन इस युग की जर्मनी की एक युग-प्रवर्तक फिल्म थी ए.एरिक पॉमर की द केबिनेट ऑव डॉ.कॅलिगरी। इसमें डॉ. कॅलिगरी एक मानसिक चिकित्सालय का प्रमुख है, जो अपने ही एक नींद में चलने वाले रोगी की मदद से कई हत्याएँ करवाता है। लेकिन निरंकुशतावाद-विरोधी इस रूपक के असर को बाद में वह टिप्पणी दे कर काफी कम कर दिया गया था कि यह कथा डॉ. कॅलिगरी के ही एक अन्य मरीज की कल्पना की उपज थी।

बहरहाल जर्मनी ने इस तरह की मनोवैज्ञानिक फिल्मों के जरिए कैमरे की स्वच्छंद गति तथा सूक्ष्म विवरणों की पकड़ तथा भीड़ों के दृश्यों द्वारा दुनिया के सामने आउट-डोर शूटिंग तथा कलात्मक फिल्मों की मिसाल दुनिया के सामने पेश कर दी। हॉरर (आक्रांतक) फिल्मों को अभिव्यक्तिवाद कुछ ज्यादा ही रास आया और पॉल लॅनी ने (हारुन अल रशीद), तथा 'जॅक द रिपर' जैसी फिल्में इसी रंग में बनाई। इसी जमाने के अन्य जर्मन निर्देशक एफ.डब्ल्यू. मुर्नाव थे जिन्होंने कार्ल मेयर की पटकथा पर 'डॉ. जॅकिल एंड मिस्टर हाइड' का एक संस्करण भी बनाया। मुर्नाव ने ड्रेकुला से प्रेरित एक फिल्म के अलावा 'फाउस्ट' भी बनाई जो इस विधा में एक मिसाल मानी जाती है।

प्रथम युद्ध-पश्चात के योरप की कथित कला - फिल्मों की लोकप्रियता अमेरिका के बड़े स्टुडियो निर्माताओं से बर्दाश्त नहीं हुई और उन्होंने स्वीडन से स्टिलर और योस्क्रोम, जर्मनी से पॉल लेनी, मुर्नाव, जैसी योरपीय प्रतिभाओं को अमेरिका लाना शुरू किया। एम.जी.एम. ने ग्रेय गार्बो के चक्कर में मौरिट्ज शिलर को अपने यहाँ बुलाया। हंगरी से कोर्डा और मारकेल कर्टिज जैसे आप्रवासी कलाकारों को झपट कर अमेरिका ने अपनी श्रेष्ठता सिनेमा पर साबित कर के रख दी। अमेरिका के इस धावे से केवल एक ही देश बच रहा और उसने अपने ढंग से मूक युग की तीन महान प्रतिभाओं को जन्म दिया। वे थे पुडोवकिन, कुलेशोव तथा आइजेन्स्टीन।

रूसी फिल्मों के तीन व्याकरण पुडोवकिन, कुलेशोव, आइजेन्स्टीन

बीस के दशक के दौरान पूर्व सोवियत संघ ने भी कलात्मक सिनेमा को खूब परवान चढ़ाया। युद्ध-काल के पूर्व वहाँ भी भावुकतापूर्ण वेशभूषा प्रधान नाटकीय विषयों को फ्रेंच ढंग की मसखरों वाली कॉमेडियों और रहस्य-रोमांचक तथा जासूसी फिल्मों की एक जैसी खुराक दर्शकों को मिलती रही थी। लेकिन १९१७ की अक्टोबर क्रांति ने रूस में लेनिन के वरदहस्त के साथ सिनेमा को एक सामाजिक- शैक्षिक माध्यम का दर्जा प्रदान किया। लेनिन ने अपने शिक्षा- कोमिसार (मंत्री) से स्पष्ट कह दिया: 'सिनेमा हम लोगों के लिए सबसे महत्वपूर्ण कला है।' लगभग इन्हीं दिनों मात्र १८ वर्ष के युवा डिजाइनर लेव कुलेशोव ने एक पत्रिका में सिनेमा के सैद्धांतिक पक्ष पर लेखों की जो शृंखला प्रकाशित की वह अपने वक्त से बहुत आगे थी। लेनिन की पत्नी क्रुप्स काया के मार्गदर्शन में जहाँ बहुत सी शैक्षिक फिल्में बनीं वहीं स्टॉलिन, जो कि उन दिनों गणतंत्रीय मामलों के कोमीसार थे, ने सिनेमा को जन-प्रचार का सबसे सशक्त माध्यम कहते हुए उसका राष्ट्रीयकरण कर दिया। लेकिन राष्ट्रीयकरण ने तत्कालीन सोवियत युवाओं को सिनेमा में भी जो कुछ पुराना है उसे त्याग नए को स्थापित करने को प्रेरित किया।

रूस का क्रांतिकारी सिनेमा : रूस के इन युवा फिल्म निर्माताओं के काम पर सबसे ज्यादा वैचारिक प्रभाव कवि मायकोवस्की की कविताओं का पड़ा। सन १९२० में कुलेशोव को एक स्टुडियो (बल्कि वर्कशॉप) दिया गया। कच्ची फिल्म की बहुत किल्लत थी लेकिन सारी अड़चनों के बावजूद कुलेशोव ने १९२२ में 'मोन्ताज़' शैली में अनेक प्रयोग किए और वे 'कुलेशोव-प्रभाव' के रूप में प्रख्यात हुए। बाद में उसी युग के एक अन्य सिनेमा-गुरु आइजेंस्टीन ने कहा कि कुलेशोव की मोन्ताज शैली कई मानों में ग्रीफिथ की संपादन शैली से बहुत आगे थी। अपने विभिन्न प्रयोगों और विचारों को क्रियान्वित करते हुए कुलेशोव मंडली ने एक व्यंग्य हास्य फिल्म 'द स्ट्रेंज एडवेंचर ऑव मिस्टर वेस्ट इन द लैंड ऑव द बोल्शेविक्स' (१९२४) बनाई जिसमें एक अमेरिकी रूस की यात्रा कर इस देश के बारे में अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होता है।

कुलेशोव की सैद्धांतिक स्थापनाओं का बचाव उन्हीं के यशस्वी शिष्य पुडोवलिन ने अपनी पुस्तकों 'फिल्म तकनीक' तथा 'फिल्म अभिनय' और वृत्त चित्र 'मेकेनिक्स ऑव द ब्रेन' द्वारा किया। पुडोवकिन की ही अन्य महत्वपूर्ण फिल्म थी 'चेस फीवर' (१९२५)।

वैसे, कुलेशोव-पुडोवकिन का यह कहना कि फिल्म-कला उस समय शुरू नहीं होती जब कलाकार अभिनय करना शुरू करते तथा दृश्यों का फिल्मांकन शुरू होता है बल्कि वह संपादन के साथ शुरू होती है। काफी अतिरंजित लगता है तथापि मोन्ताज के महत्व पर यह बहस काफी लंबी चली। वह जो भी हो, 'मदर' के संशोधित फिल्म संस्करण सहित पुडोवकिन की मूक फिल्मों की उपलब्धियाँ स्वयंसिद्ध हैं। सन् १९२७ में इसी टीम ने यादगार फिल्म 'एन्ड ऑव सेंट पीटर्सबर्ग' बनाई।

सोवियत फिल्मों की दूसरी कलात्मक धारा के प्रणेता सेतोलोथ मायर होल्ड थे जिन्होंने क्रांति के पूर्व केवल दो फिल्में बनाईं और बाद में अपनी सारी शक्ति मॉस्को आर्ट थियेटर को समर्पित की और वहाँ प्राकृतिकतावाद के खिलाफ अवाँ गार्दे आंदोलन को आगे बढ़ा अपने नए विचारों, के द्वारा क्रांतिकारी कला के मठाधीश का दर्जा प्राप्त किया। उस युग में युवा कलाकार उन्हें देवता की तरह पूजते थे उन्हीं में सर्जेई मिरवाकलोविच आइजेन्स्टीन (१८९८-१९४८) भी थे। एक यहूदी परिवार में जन्मे आइजेन्स्टीन क्रांतिकारी दल में अपनी सेवाएँ देकर सीधे मायर होल्ड़ा के स्टुडियो में पहुँचे। वहाँ उन्होंने सर्जेई युत्केविच के साथ मिल दो लघु वृत्त फिल्में- इनफ सिम्प्लिसिटी इन एवरी वाइज मॅन तथा 'ग्रॅस मॉस्क' वास्तविक कारखानों में शूटिंग करते हुए बनाई। उनकी 'स्ट्राइक' (१९२४) से ही सोवियत कालजयी मूक-फिल्मों का शानदार युग शुरू होता है। औद्योगिक दमन के विषय पर बनी इस फिल्म में आइजेन्स्टीन ने परंपरागत कथा-कथन शैली के स्थान पर काल क्रमीयता को तरजीह दी और 'जनता' को नायक बना दिया। यथार्थवादी पुट देने के

मैजिक-लैन्टर्न

मैजिक लैन्टर्न का इतिहास १७वीं सदी तक जाता है और समूचे योरप में घुमन्तू तमाशागर गाँव-गाँव जाकर इसका प्रदर्शन करते थे। इस 'तरकीब' में खुरदरे काँच की पट्टियों पर अर्द्ध पारदर्शी रंगों से चित्रित चित्रों के पीछे, से लाइम लाइट द्वारा रोशनी डालकर उन्हें परदे पर प्रक्षिप्त किया जाता था। प्रारंभ में रोशनी के तेज न होने से ये 'शो' ज्यादा लोकप्रिय नहीं थे लेकिन १९वीं सदी में चित्रों को प्रकाशित करने के बेहतर तरीकों के आगमन से उनकी लोकप्रियता बढ़ी। इंग्लैंड के कारीगरों द्वारा पीतल और महोगनी लकड़ी से बनाई हुई मैजिक लैन्टर्न कारीगरी का उत्कृष्ट नमूना होती थीं। लाइम लाइट की मदद से लंदन के एल्बर्ट हॉल में काफी स्पष्ट छवियाँ प्रस्तुत की जाने लगीं। बहरहाल मैजिक लैन्टर्न इस सिद्धांत पर काम करता है कि किसी भी प्रकाशित वस्तु को आवर्द्धक-काँच (मेग्निफाईंग ग्लास) के सामने रखकर किसी अंधेरे प्रकोष्ठ में परदे पर दिखलाने पर उसकी उल्टी परछाई पड़ती है तथा उस परछाई का आकार वस्तु (ऑब्जेक्ट) से प्रकाश-स्रोत तथा परदे की सापेक्ष दूरी के मुताबिक घटाया-बढ़ाया जा सकता है। बुनियादी तौर पर यही सिद्धांत आज के सिनेमा-प्रोजेक्टरों में भी काम करता है। हालाँकि आज के ये उपकरण बहुत परिष्कृत किए जा चुके हैं।

कला फिल्म, हूँह! !

जर्मनी में १९२०-२५ के बीच बनी 'केलिगरी', 'मदाम दुवारी' तथा 'लास्ट लाफ' जैसी फिल्मों ने अमेरिकी दर्शकों को इस कदर प्रभावित किया कि बिल रोजर्स ने अपनी कॉमेडी फिल्म 'द रोपिन फूल' में व्यंग्य करते हुए एक उप- शीर्षक दिया था- 'यदि आपको यह लगता है कि फिल्म कुछ खास नहीं है तो मैं नकली दाढ़ी लगाकर कहूँगा, इसे जर्मनी में बनाया गया है तब आप कहेंगे, यह तो वाकई आर्ट- फिल्म है!!

लिए वास्तविक कारखानों, सड़कों, कामगार बस्तियों तथा खुद मजदूरों को फिल्माया गया।

लेकिन आइजेंस्टीन की कीर्ति वास्तव में १९०५ की क्रांति की यादगार में बनाई गई उनकी उस फिल्म **'बेरल शिप पोटेमकिन** पर आश्रित है जिसे फिल्म माध्यम के पारखी और पंडित, जिज्ञासु छात्र, सभी पाठ्य पुस्तक की तरह पढ़ते देखते हैं। मजे की बात यह है कि दस वर्ष बाद गुरु और शिष्य पुडोवकिन तथा आइजेंस्टीन एक ही विषय व एक ही 'लोकेशन' पर क्रमशः 'एंड ऑव सेंटपीटर्सबर्ग' तथा 'अक्टूबर' बना रहे थे तो दोनों के मोन्तेज के बारे में भिन्न दृष्टिकोण चर्चा का विषय बने। जहाँ पुडोवकिन 'शॉट्स' को सहज क्रम में जोड़ना पसंद करते थे वहीं आइजेंस्टीन मानते थे कि "हर शॉट" एक ऐसे 'धक्के' की तरह होना चाहिए जो दर्शक की विचार प्रक्रिया को उत्तेजित करे तथा उसके मानस पर अपनी छाप छोड़े। ये 'धक्के' कम्बस्टंन एंजिन में होने वाले विस्फोटों जैसे ही होते थे।"

सोवियत मूक सिनेमा की इन तीन महान हस्तियों के अलावा वर्तोव, अलेक्जांडर डवझेंको तथा कितने ही अन्य क्रांतिकारी कलाकार भी थे, जिन्होंने नई-नई प्राप्त सृजनात्मक स्वतंत्रता का पूरा फायदा उठाया लेकिन यह सारा उत्साह एक दशक के भीतर ही चुक गया और रूसी सिनेमा अफसरशाही के शिकंजे में फँसता चला गया।

जापान

प्रथम युद्ध के बाद में फ्रांस के वर्चस्व की समाप्ति के बाद वहाँ जहाँ 'प्रभाववादी सिनेमा' के अंतर्गत अवां गार्दे प्रथम तथा अवां गार्दे द्वितीय जैसे सौंदर्य शास्त्रीय आंदोलन लुई देलुक, मार्सेल ले हर्बियर, धनवादी कलाकार दादा तथा अति यथार्थवादी सल्वॉडोर डाली के असर में जारी था, धुर पूरब के देशों में **जापान** और भारत में संख्या की दृष्टि से ढेरों फिल्में बनीं वहीं एक भी शीर्षक उनमें से याद रखने लायक नहीं साबित हुआ। विश्व बाजार में जापान का प्रवेश पाँचवें दशक में जाकर ही हुआ।

सन् १९१९ से १९२७, जबकि ध्वनि और सवाक् फिल्मों का आगमन हुआ, तक ब्रिटेन तकनीकी और आर्थिक दोनों ही दृष्टि से पिछड़ा रहा और वहाँ ७५ प्रतिशत समय सिनेमा घरों में अमेरिकी फिल्मों का ही प्रदर्शन होता रहा। मूक-युग के प्रमुख बर्तानवी फिल्म निर्माताओं में माइकेल बालकॉन (वुमन टू वुमन १९२४) अल्फ्रेड हिचकॉक ('लॉजर' : १९२६) नोएल कॉवर्ड ('इजी वर्चू' : १९२७), एंटनी ऐंस्क्विथ ('शूटिंग स्टार्ज') आदि थे।

वास्तव में बीसवीं सदी के तीसरे दशक में अमेरिका का फिल्मी साम्राज्यवाद इतना प्रखर हो चुका था कि अन्य देशों के राष्ट्रीय सिनेमाओं को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए संघर्ष करना पड़ा। आखिर इस दशक के दौरान अमेरिका में कैसी फिल्में बन रहीं थीं? कौन उन्हें बना रहा था? क्या थे उनके विषय? इन सवालों के संक्षिप्त जवाबों के साथ ही हम सिनेमा के मूक-युग के इस सरसरी सर्वेक्षण का समापन करेंगे।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति और सन् २९ की मंदी के बीच का समय अमेरिका में युद्ध में विजय, व अपने स्वयं की विराट प्राकृतिक संसाधन क्षमता भुनाने के अलावा चमत्कारी प्रौद्योगिक और सामाजिक तरक्की हुई। उद्योगों को हैनरी फोर्ड की शैली में नए ढंग से संवाद कर भारी निवेश किए गए। अमेरिका का उपभोक्तावाद अपनी चरम सीमा को दूर कर रहा था। इन सभी बातों का असर वहाँ के फिल्म उद्योग पर भी पड़ा और अप्रवासी प्रतिभाओं के आगमन ने उसे देश का पाँचवें क्रम का उद्योग बना दिया। युद्ध समाप्त होते-होते हॉलैंड ने अपना स्पष्ट

मूक-युग में बड़े परदे के सीरियल

प्रथम युद्ध-काल के दौरान लगभग सभी देशों में साहसिक कथाओं पर धारावाहिक फिल्में आजकल के टीवी सीरियलों की शैली में बनीं। इसकी शुरूआत १९०८ में फ्रांस के विक्टोरिया जॅस्से ने 'निक कार्टर' के एडवेंचरों से की। ब्रिटेन में जहाँ 'एडवेंचर्स ऑव लेफ्टिनेंट रोज' बनी, वहीं अमेरिका में एडिसन कंपनी ने पहला सीरियल 'व्हाट हैपंड टु मेरी?' जारी किया। इसके बाद तो ढेरों सीरियल फिल्में आई और उनकी खासियत यह थी कि वे नायिका प्रधान थीं। हॉलिवुड की रहस्य-कथाओं की निर्विवाद स्टार पर्ल व्हाइट थी। वैसे हर देश के अपने सीरियल तथा उनके सुपर मेन या सुपर वुमन-नुमा नायक-नायिका थे। फ्रांस में लुई फ्यूइले ने इस तरह की फिल्मों को भी एक विशिष्ट कला विधा का दर्जा दिया। हालाँकि वे स्वयं 'कला-वला' जैसी ऊँची बातों में विश्वास नहीं करते थे। उनका सबसे प्रसिद्ध सीरियल 'फेन्टोमस' था। वे फोटोग्राफी अच्छी उसे ही मानते थे जो आँखों को एकदम भा जाए।

हॉलिवुड

सन् १९०९ में धूम-धड़ाके के साथ फल-फूल रहे फिल्म-उद्योग पर नियंत्रण के उद्योग से संबंधित घटकों के बीच खूँखार संघर्ष छिड़ा। प्रारंभ से ही थॉमस अल्वा एडिसन ने अपना पेटेंट सिनेमा-उपकरणों पर स्थापित करने का प्रयास किया था। सन् १९०९ की पहली जनवरी को एडिसन, पाथे, बायोग्राफ, वीटा ग्राफ, एस.एन.ए. सहित नौ प्रमुख फिल्म निर्माताओं ने मिलकर एक न्यास की स्थापना की और अपने पेटेंट उसे सौंप उससे बदले में लायसेंस प्राप्त किए। एडिसन को उसकी बिकी हुई फिल्मों पर रॉयल्टी दी गई। जॉर्ज इस्टमन (कच्ची फिल्म बनाने वाली एकमात्र कंपनी) से अनुबंध किया गया कि वह सिर्फ पेटेंट्स कंपनी को ही अपनी फिल्म बेचे।

अमेरिकी फिल्म उद्योग पर अपना एकाधिकार स्थापित करने की इन कोशिशों का स्वतंत्र निर्माताओं ने विरोध किया। इस पर पेटेंट कंपनी के सदस्य जब हिंसा तथा बल प्रयोग का भी सहारा लेने लगे तो इसका विरोध भी विलियम एच.फॉक्स जैसे वितरकों ने किया। सन् १९१३ के आते-आते ट्रस्ट कंपनियों की दादागिरी तो कम हो गई लेकिन उसके दादाओं से डर कर फिल्म निर्माताओं ने फिल्में बनाने के नए स्थल तलाश करने शुरू कर दिए।

इस लिहाज से अमेरिका के पश्चिमी तट पर लॉस एंजिलस को खास तौर से पसंद किया गया क्योंकि एक तो वहाँ से मैक्सिको की सीमा नजदीक थी जहाँ वक्त पड़ने पर भागकर जाया जा सकता था, दूसरे मौसम फिल्मांकन के लिए बढ़िया था, बारहों महीने वहाँ धूप खिली रहती थी तथा तीसरे मजदूर तथा जमीन-जायदाद सस्ते थे। यहीं हॉलिवुड की स्थापना १९१४ में हुई और वह देश के फिल्म निर्माण का प्रमुख केंद्र बन गया।



फिल्म गोस्टा बर्लिंग्स सागा (स्वीडन १९२४) में ग्रेटा गार्बो

औद्योगिक चरित्र अपना लिया था। स्टुडियो प्रणाली ने अपनी जड़ें मजबूत कर फिल्म निर्माण की सारी गतिविधियों पर जो एकाधिकार स्थापित किया उसमें जो सबसे ज्यादा सक्षम थे उन्हीं का अस्तित्व कायम रह सका। यूनिवर्सल के कार्ल लॅंबले, एम.जी. एम. के विलियम फॉक्स तथा लुई वी. मेमद, वॉर्नर ब्रदर्स तथा एडॉल्फ़ जुकॉर जैसों ने अपनी फिल्मों के जरिए उक्त अमेरिकी जीवन को पूरी तरह, गोकि किंचित विकृत रूप में, प्रतिबिंबित करना शुरू किया।

बीस के दशक के प्रारंभ में उद्योग कुछ नैतिक विवादों की चपेट में भी आया और उसे प्रतिष्ठित कारोबार बनाने के लिए कुछ आचरण संहिताएँ भी बनाई गईं। बहरहाल अब फिल्मों में सब कुछ 'उत्कृष्टतम' बनाने की एक दौड़-सी शुरू हुई। इस दौड़ की पहली प्रवृत्ति नैतिकता के मानदंडों में उन्मुक्तता तथा 'सेक्स' के निर्बंध प्रदर्शन के रूप में व्यक्त हुई। अमेरिकी नारी की मुक्ति, कामकाजी औरतों तथा नैतिकता के बंधनों के ढीले होने के साथ जो जाज-युग फिल्मों में प्रारंभ हुआ उसके अग्रदूत थे सेसिल वी. डी-मिल (१८८१-१९५९) 'ओल्ड वाइव्ज फॉर न्यू' (१९१८) जैसे गुदगुदाने वाले शीर्षकों जैसी फिल्में एरिक वॉन स्टोहम ने भी बनाईं। उनकी 'ब्लाइंड हजबंड्ज' (१९१९) तथा 'फूलिश वाइव्ज'(१९२०) ने नैतिक स्वच्छंदता को काफी परिष्कार के साथ परोसा। वैसे पुराने जमाने की भावुकता लिए मेरी कॉरेली तथा हॉल केन की रूमानियत वाली ग्रीफिथ की फिल्में भी लोकप्रिय हो रही थीं।

इसी दौर में गिरोहों के टकराव की 'गैंगस्टर' फिल्में, जो अपने शिखर पर ध्वनि के आगमन के बाद पहुँची, भी बननी शुरू हो चुकी थीं। इनमें वॉन स्टर्नबर्ग की श्रृंखला, 'अंडर वर्ल्ड', 'द ड्रॅगनेट', तथा 'डॉक्स ऑव न्यूयॉर्क' उल्लेखनीय थीं। कुछ फिल्में युद्ध की प्रतिक्रिया के रूप में भी बनीं। इनमें चेप्लिन की 'शोल्डर आर्म्ज', ग्रीफिथ की 'हार्ट्स ऑव द वर्ल्ड' तथा अपार सफलता अर्जित करने वाली किंग विडॉर की 'द बिग परेड' (१९२५) भी थीं। युद्ध की फिल्मों में हवाई जहाजों की लड़ाइयाँ दिखलाने वाली फिल्में काफी लोकप्रिय हुईं।

फिल्मों का वह सदाबहार विषय 'वैस्टर्न' जिनमें कर्तव्यनिष्ठ शेरिफ आदिवासी अमेरिकनों यानी रेड इंडियन्स की बस्तियों पर अपने घोड़े दौड़ाते हुए, भरमार बंदूकों से पलक झपकते शत्रुओं को उड़ा देते थे, की लोकप्रियता में फेयर बैंक्स द्वारा उनका मजाक बनाने वाली फिल्मों के कारण कोई कमी नहीं आई थी। बल्कि बीस के दशक में ही वैस्टर्न फिल्मों का असली फार्मूला तैयार हुआ तथा किंग बैगोर की टंबल वीड्जे (१९२५) जेम्स क्रूज की 'द कव्हर्ड वेगन' (१९२३) तथा जॉन फोर्ड की 'द आयरन हॉर्स' तथा 'थ्री बैड मैन' अपनी भव्यता से आज भी दर्शकों को चमत्कृत करती है।

'द मार्क ऑव जोरो' (१९२१) के साथ फेयर बैंक्स ने वेशभूषा प्रधान, हैरत अंगेज दिलेर डाकू वाली फिल्मों की जो श्रृंखला शुरू की उसका असर हमारे अपने देश में भी होमी वाडिया और डी. बिलिमोरिया तथा नादिया जॉन कावस की फिल्मों पर देखा गया। रुडॉल्फ वेलेंटिनो ने 'शेख' (१९२१) के द्वारा विदेशी अरब रूमानियत को परदे पर लोकप्रिय बनाया।

सेसिल बी. डी मिल की पकड़ जनता की नब्ज पर बहुत सटीक थी। दर्शकों की बदलती रुचि को देख एक बार फिर बाइबल की कथाओं पर आधारित पौराणिक विषयों को 'द टेन कमांडमेंट्ज' (१९२३) तथा 'द किंग ऑफ किंगज' (१९२७) में पेश किया। लेकिन भव्यता में इससे भी दो कदम आगे रही १९२७ में बनी 'बेनहर'। वैज्ञानिक खोजों के विषय ने भी कुछ निर्माताओं को आकर्षित किया। रॉबर्ट फ्लॅहर्टी ने दक्षिण प्रशांत की आदिम जातियों पर नेनूक ऑव द नॉर्थ १९२४ में तथा १९२६ में मोअना फिल्में बनाईं। टार्जन की कथाओं पर आधारित फिल्में भी बकायदा बनी।

दो रील की कॉमेडियों की जगह पूरी लंबाई की फीचर फिल्मों ने ले ली। इस क्षेत्र में चार्ली चेप्लिन की 'द किड' (१९२१) तथा 'गोल्ड रश' (१९२५) तो बनी ही। वास्तव में यह युग सितारा कॉमेडियनों का था। बस्टार कीरन, बुजुर्ग बच्चा रेमंड ग्रीफिथ, ग्लोरिया स्तान्सन तथा मॅरियन डेवीस कुछ अन्य प्रमुख हास्य अभिनेता/८

सीसिल बी.डी मिल

बीस के दशक के सबसे ज्यादा प्रभावशाली निर्देशक संभवत: सीसिल बी.डी मिल ही थे। दर्शकों की रुचि को भाँपने तथा उसे सही परिष्कार देने में उनका कोई सानी नहीं था। प्रथम युद्ध-काल के परिवर्तनशील 'मूडों' को उन्होंने अपनी 'द स्क्वा मेन' जैसी फिल्मों में शानदार ढंग से प्रतिबिंबित तो किया ही, युद्ध की समाप्ति पर उस युग के मूड को भी सामाजिक-सेक्सी कॉमेडियों के बल पर बहुत ही सटीक ढंग से प्रस्तुत किया। उनकी फिल्मों ने रईसी, फुर्सती वर्ग और नैतिक स्वच्छंदता के तत्कालीन अमेरिकी मूड को प्रस्तुत किया। साथ ही १९२३ में 'द टेन कमांडमेंट्स' जैसी भव्य पौराणिक फिल्म की तरफ मुड़ने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई।

लेकिन जरा देखिए कि बीस के दशक के इस निष्णात तमाशागर के बारे में पॉल रोथा की यह टिप्पणी हमारे अपने, बाद के शांतारामों, मनोज कुमारों, मनमोहन देसाइयों तथा सुभाष घइयों पर कितनी सटीक बैठती है।सीसिल बी.डी मिल के फिल्मी कैरियर को संक्षिप्त में इस तरह बयान किया जा सकता है- 'एक छद्म कलाकारिता युक्त ऐसा व्यक्ति जिसमें भव्य और विराट के प्रति अद्भुत आकर्षण था, जिसमें निचले स्तर की आम जनता की कुरुचि को पहचानने की निहायत ही चालाकी भरी समझ थी और उसने इस घटियापन, बनावटीपन तथा दुःसाहसिकता को ही कला के नाम पर बड़े प्यार के साथ दर्शकों को परोसा।'

अभिनेत्रियों के नाम हैं।

मौलिक लेखकों की साहित्यिक रचनाओं के साथ दुराचार अन्य देशों के तरह अमेरिका में भी हुआ तथा इसका शिकार सिन्क्लेयर लुईस तथा स्कॉट फिट्जेराल्ड जैसी हस्तियों को भी होना पड़ा। साम्यवाद का हव्वा खड़ा करने वाली फिल्में भी काफी बनीं। इनमें उल्लेखनीय नाम था थॉमस डिक्सन द्वारा लिखित 'बोल्शेविज्म ऑन ट्रायल'।

युद्ध काल ने 'न्यूज रील' यानी समाचार चित्रों को सिनेमा कार्यक्रम का एक अनिवार्य अंग बना दिया था। बीस के दशक के समाप्त होते-होते हर बड़ी फिल्म कंपनी अपना स्वतंत्र समाचार चित्र प्रभाग गठित कर चुकी थी। इनके द्वारा सिनेमाई हस्तियाँ अपने राजनीतिक संपर्क सूत्रों को सुदृढ़ बनाती थीं। राष्ट्रपति हूसर ने उनके चुनाव अभियान में एम.जी. एम. द्वारा निर्मित 'हर्स्ट न्यूज रीलों' के योगदान के प्रति सार्वजनिक रूप से कृतज्ञता व्यक्त की थी।

सिनेमा घरों में दोयम दर्जे का एक लोकप्रिय कार्यक्रम एनिमेटेड कार्टून फिल्में भी हो गई थीं। अखबारों की कार्टून पट्टियों के लोकप्रिय पात्र 'मट्' और 'जॉफ' के पात्रों पर फिल्में भी बनाई गई। पैट सुलिवन की 'फेलिक्स द केट',, मैक्स फ्लीशर का पात्र वोको द क्लाउन तथा वॉल्ट डिज्नी की एलिस इन कार्टून लैंड तथा ऑस्वाल्ड व लकी रैबिट की कार्टून फिल्में मुख्य फ़िल्मों के साथ दिखलाया जाने वाला अतिरिक्त आकर्षण होती थीं। वाल्ट डिज्नी का मॉस्मिर चूहा तो मिकी माउस ध्वनि फिल्मों के आगमन के साथ बना।

लेकिन सिनेमा में बीस के दशक के उत्तरार्द्ध में जो क्रांति ध्वनि के आगमन के साथ हुई उसके बारे में सबसे ज्यादा आश्चर्य की बात तो यही है कि वह इतने विलंब से क्यों हुई। एडिसन ने चलचित्रों की परिकल्पना अपने फोनोग्राफ के ही विस्तार के रूप में की थी। स्वयं ल्यूमिएर बंधुओं ने सिनेमेटोग्राफ को फोनो ग्राफ के साथ संयुक्त करने के एक शुद्धत: सैद्धांतिक प्रस्ताव को १८९६ में ही पेटेंट करवा लिया था। सन् १९०० की पेरिस में हुई 'एक्सपोजिशन' नुमाइश में भी बोलती फिल्मों की तीन प्रणालियाँ अपने प्रारंभिक, अनगढ़ रूप में पेश की गईं थीं।

बहरहाल सिनेमा की जुबान खुलने में तीस वर्ष का समय लगा और १९२७ में जब **'जाज सिंगर'** नामक पहली सवाक् ध्वनि फिल्म पेश की तो उसने चेप्लिन के मुताबिक मूलत: दृश्य माध्यम को श्रव्य भी बना दिया और मूक युग को ग्रीफिथ व स्वयं चेप्लिन जैसे अग्रदूतों को इस माध्यम के बारे में बिल्कुल नए ढंग से सोचने को बाध्य किया। लेकिन वह एक बिल्कुल अलग कहानी है। मूक- फिल्मों के असली रोमांच और एड्वेंचर की बराबरी संभवत: 'टॉकी' कभी नहीं कर पाएगी। ■

हर घर में विकसित होता टी.वी.-कल्चर

● **सूर्यकांत नागर**

आज से कोई पैंतीस वर्ष पूर्व जब भारत में टीवी की शुरूआत हुई थी तब क्या उसके पीछे कोई निश्चित नीति या सुविचारित योजना थी? शायद नहीं। इसी प्रकार जब १९८४ में टीवी का अंधाधुंध विस्तार शुरू हुआ तब भी सामाजिक उत्थान, शिक्षा, नारी-चेतना या सांस्कृतिक जागृति जैसा कोई स्पष्ट लक्ष्य उसके सामने नहीं था। दरअसल यह विस्तार राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए था। इसका मुख्य उद्देश्य तथाकथित उपलब्धियों को गिनाकर तथा राजनेताओं को आदिवासियों की झोपड़ी में जाता हुआ दिखाकर अपना वोट-बैंक मजबूत करना था। और मनोरंजन? हाँ उसके नाम पर भी अधिकांश फूहड़ कार्यक्रम ही परोसे करती है। किन्तु पुरुष-प्रधान समाज में स्वयं उसका पति उसकी उपलब्धियों को पचा नहीं पाता। मझली भटकी हुई युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है और लल्लू अकर्मण्य पीढ़ी का। बसेसुर की पत्नी की पति-परमेश्वर वाली छवि के प्रति सहानुभूति कम और आक्रोश अधिक उपजता है और शायद इसी में इस चरित्र की सार्थकता भी है। देश विभाजन के बाद की त्रासदी को चित्रित करते, पंजाबी वातावरण के **'बुनियाद'** ने भी लोगों को प्रभावित किया। एक आदर्श, संघर्षरत, दृढ़-निश्चयी नारी के रूप में लाजोजी ने दर्शकों को सोचने-समझने के लिए काफी कुछ दिया। विशिष्ट भाषा-प्रयोग के कारण लोगों का मनोरंजन भी हुआ तथा उन्होंने इससे जुड़ाव भी महसूस किया। 'इस करके' 'यह तो होना ही हुआ जी,' 'देखने लग पड़े हैं,' जैसे शब्द प्रयोग खूब चल पड़े थे।

□ टीवी कल्चर का पहला नजारा यह देखने को मिला कि राजनेताओं के मुखौटे गरीब आदिवासी की झोपड़ी में प्रवेश करते हर घर में दिखाई दिए।
□ □ शादी/जन्म/शवयात्रा और उठावने के कार्यक्रमों का समय टीवी सीरियल तय करने लगे।
□ □ □ 'क्या आपको घर छोड़ दूँ'- जैसे जुमले हर युवक, हर युवती को देख बोलने लगा।

गए जिनसे न तो दर्शकों को स्वस्थ मनोरंजन मिला और न ही सामाजिक परिवर्तन की दिशा में ठोस कुछ हो पाया।

पिछले एक दशक के धारावाहिकों पर नजर डालें, तो ऐसे धारावाहिकों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक है जिन्होंने दर्शकों को प्रभावित या उद्वेलित किया। इनमें भी लंबे धारावाहिकों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण थी। सोप ऑपेरा की तर्ज पर बने 'हमलोग' और 'बुनियाद' के अलावा 'दादी माँ जागीं/ बीवी नातियों वाली/ रामायण/ महाभारत/ नुक्कड़/ भारत एक खोज/ तमस/ टीपू सुल्तान/ चाणक्य/ कक्काजी कहिन जैसे सीरियल एक हद तक दर्शकों पर अपनी छाप छोड़ सके।

'हमलोग' एक घरेलू धारावाहिक था जिसमें परंपरागत निम्न-मध्यम वर्गीय परिवार के छोटे-बड़े सुख-दुखों और संघर्षों को चित्रित किया गया था। इसमें बड़की जैसी पढ़ी-लिखी लड़कियों के लिए आगे आने की प्रेरणा थी। वह संकोची लड़की, डॉक्टर प्रेमी के माध्यम से अपनी शक्ति को पहचानती है और विद्रोह 'हमराही' हमलोग की अगली कड़ी प्रतीत होता है, जिसमें समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह और नारी-उत्पीड़न के वैसे ही लटके-झटके और उतार-चढ़ाव हैं जैसे हम लोग. में थे। उल्लेखनीय है कि 'हमलोग' की भाँति 'हमराही' के **वर्तमान** लेखक भी मनोहर श्याम जोशी हैं।

नारी-चेतना के नाम पर **रजनी**/स्वयं सिद्धा/ उड़ान/ प्रथम प्रतिश्रुति/ स्त्री/ तितलियाँ/ और भी हैं राहें/ अधिकार जैसे धारावाहिक भी आए, किन्तु दो-एक को छोड़ शेष काफी 'लाउड' थे। समस्या की गहराई तक जाने की तड़प कहीं नहीं थी। अन्याय के विरुद्ध, अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाली 'रजनी' की तात्कालिक प्रतिक्रिया तो प्रेरक लगती थी, लेकिन रोजमर्रा की वास्तविक जिन्दगी में क्या यह संभव है? जिस तरह की विकृतियाँ समाज, राजनीति और प्रशासन में घर कर चुकी हैं, उनके चलते अकेली रजनी क्या कर सकती है? हमारे जीवनानुभव इससे सर्वथा भिन्न हैं। हाँ, प्रथम प्रतिश्रुति की नायिका बाल-विवाह और बहु-विवाह जैसी

कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष करती है, लेकिन कमजोर निर्देशन के कारण यह सीरियल भी वांछित प्रभाव नहीं छोड़ पाया। **'उड़ान'** की कल्याणी सिंह एक खास मकसद के लिए लड़ती है और अंततः कामयाब होती है। कुछ जासूस-कथाओं में नायक-जासूस के साथ एक चुलबुली खूबसूरत स्त्री पात्र का होना, नारी के इस्तेमाल की कोशिश के अलावा क्या है। कुछ धारावाहिकों ने स्त्री की छवि को बनाने के बजाए बिगाड़ने का काम अधिक किया है। तितलियाँ/ एयर होस्टेस/ और भी हैं राहें जैसे धारावाहिकों में ध्यान केवल शहरी महिलाओं पर केन्द्रित रहा। दूरदर्शन में बैठे लोगों का ध्यान ग्रामीण महिलाओं और उनकी समस्याओं की ओर कम ही गया, जबकि आज भी भारत की सत्तर फीसदी आबादी गाँवों में बसती है।

सर्वाधिक तहलका मचाया 'रामायण' और महाभारत ने। दोनों धारावाहिकों ने लोगों को पागलपन की हद तक बाँधा। जिस भक्तिभाव, और निष्काम कर्म के सिद्धांत को जीवन में उतारा? कोई स्थाई छाप वे समाज पर छोड़ सके?

इस सिलसिले में 'भारत एक खोज' का उल्लेख अनिवार्य है। भारतीय इतिहास, साहित्य और संस्कृति जैसे गंभीर विषयों पर इतनी उद्देश्यपूर्ण किंतु रोचक प्रस्तुति इस बात का प्रमाण है कि प्रतिभा और ईमानदारी हो तो ऐसे प्रयास भी सफल होते हैं। भारतीय सभ्यता का पूरा विकास-क्रम हमें इसमें देखने को मिलता है।

तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग ने इन सीरियलों की आलोचना भी की। कभी कथा को लेकर, कभी वेशभूषा को लेकर, कभी भाषा को लेकर और कभी अभिनय को लेकर। कुछ लोगों ने तो भारत-जैसे धर्म-निरपेक्ष देश में ऐसे धार्मिक धारावाहिकों को अनुमति देने पर ही आपत्ति उठाई। माताश्री, पिताश्री और भ्राताश्री जैसे शब्द प्रयोगों की जमकर खिल्ली उड़ाई। यहाँ तक कहा गया कि डॉ. राही

खण्ड : चार

बुद्धुओं का बक्सा, बुद्धुओं के द्वारा और बुद्धुओं के लिए



तल्लीनता और नियमितता से लोगों ने इन्हें देखा, उसकी मिसाल मिलना मुश्किल है। इन धारावाहिकों के प्रसारण के समय सड़कें सुनसान हो जाती थीं। समारोह, शवयात्रा और उठावने का समय धारावाहिकों को ध्यान में रखकर तय किए जाते थे। रेल और बस रोककर इन्हें देखा जाता था। सवाल उठता है कि इन सब के बावजूद क्या लोगों ने इन धार्मिक-पौराणिक आख्यानों के आदर्शों मासूम रजा से 'महाभारत' की पटकथा और संवाद क्यों लिखवाए गए। इस तरह का संकुचित सोच 'चाणक्य' के समय भी देखने को मिला, जब उसमें 'राष्ट्र', राष्ट्रीय एकता और अखंडता जैसे शब्दों के इस्तेमाल, भगवा-ध्वज के प्रदर्शन तथा 'हम करें राष्ट्र आराधन' जैसे गीत को स्थान दिया गया। धर्म निरपेक्षता के मामले में अपनी नासमझी और अपना छुई-मुई रूप सरकार और जनता ने

टीवी-कल्चर



हास्य श्रृंखला ये जो है जिंदगी : राकेश बेदी-शफी इनामदार

'तमस' के समय भी दिखाया। यह आशंका व्यक्त की गई कि इसके प्रदर्शन से साम्प्रदायिक दंगे भड़केंगे। विभाजन के तत्काल बाद की त्रासदी को पेश करता यह धारावाहिक गोविन्द निहलानी की सूझबूझ से एक ऐसे रूप में सामने आया जिससे साम्प्रदायिक भावना तो नहीं भड़की, बल्कि मस्जिद में सूअर फेंकने जैसी घृणित कार्रवाई के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं, यह बात ज्यादा शिद्दत से उभर कर आई। निश्चित ही 'तमस' एक श्रेष्ठ प्रस्तुति थी। छोटे पर्दे पर यह भीष्म साहनी से बढ़कर गोविन्द निहलानी की कृति थी जिसने दर्शक वर्ग को झकझोर कर रख दिया था।

हिन्दू-सिख या हिन्दू-मुस्लिम एकता के नाम पर भी दूरदर्शन ने ऐसे चलताऊ, सतही, फूहड़ और अस्वाभाविक धारावाहिक दिखाए जिन्हें देखकर दूरदर्शन वालों की अदूरदर्शिता पर हँसा ही जा सकता है। शायद वे यही मानते रहे कि दो सम्प्रदाय के लोगों को गले मिलते दिखा देने या सस्ती नारेबाजी करा देने से ही क्रांति हो जाएगी और साम्प्रदायिक सौहार्द की गंगा बहने लगेगी। सरकार का छुई-मुई रूप उस समय भी देखने में आया जब 'बूंद-बूंद' जैसे विचारोत्तेजक सीरियल के प्रदर्शन को इसलिए रोक दिया गया, क्योंकि आलोकनाथ का चेहरा-मोहरा विपक्षी नेता विश्वनाथ प्रतापसिंह से मिलता-जुलता है।

शिक्षा व्यवस्था और ड्रग्स के खिलाफ **'चुनौती'** जैसे कुछ धारावाहिक आए अवश्य, पर वे भी किशोर- युवा वर्ग पर कोई स्थाई प्रभाव नहीं छोड़ पाए। इसके विपरीत दूरदर्शन पर दिखाए जाने वाले विदेशी गीत- संगीत और नृत्य के कार्यक्रम, फैशन शो तथा रंगीन, चमकीले, आकर्षक विज्ञापनों ने युवा वर्ग को बुरी तरह प्रभावित किया। कसी हुई जींस, उससे लटकती 'की चेन', कान में बाली, साबुन- शैम्पू, घने बालों का राज, मोटर साइकल के पीछे बैठी सुकन्या, झरने में नहाते हुए शीतल पेय का सेवन और 'क्या तुम्हें घर छोड़ दूँ?' जैसे जुमलों ने युवा पीढ़ी पर खूब असर डाला। दूरदर्शन पर अँगरेजी के बोलबाले से पता नहीं समाज के किस वर्ग को लाभ पहुँचा। देर रात की अश्लील फिल्में बच्चे और किशोर भी देखते रहे हैं। परिवार-नियोजन संबंधी फूहड़ और कल्पनाहीन विज्ञापनों ने बच्चों के मन में कल्पनातीत जिज्ञासाएँ जाग्रत की हैं। पारिवारिक जीवन में होते इन छेदों को पता नहीं कोई देख पा रहा है या नहीं?

रही-सही कसर स्टार टीवी/ जीटीवी/ एम टीवी/ आदि ने पूरी कर दी। इनके द्वारा हमारी सांस्कृतिक विरासत पर सीधा हमला किया जा रहा है। आयातित संस्कृति के लिए दरवाजे और चौड़े हो गए हैं। रही-सही भारतीय मानसिकता अब पूरी तरह पश्चिमी रंग में रंग जाएगी। उधर टीवी कार्यक्रमों के कारण लोगों ने मिलना-जुलना, एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना वैसे ही कम कर दिया है। सामाजिक विघटन का यह क्रम अब और तेजी से बढ़ेगा। स्टार टीवी कनेक्शन लेना स्टेटस सिम्बल बनता जा रहा है। जगह-जगह पर डिश एंटेना कुकुरमुत्तों की तरह उग आए हैं। हमारे यहाँ दूरदर्शन और समाचार पत्रों में सिगरेट और शराब को विज्ञापित करने पर प्रतिबंध है, पर विदेशी चैनलों पर ये विज्ञापन शान से दिखाए जा रहे हैं। इस विरोधाभास का कोई उत्तर है? या कि केवल कानूनी प्रतिबंध से किसी सामाजिक बुराई को समाप्त किया जा सकता है? कई प्रश्न हैं।

कुल मिलाकर सही अर्थों में सामाजिक बदलाव या क्रांति लाने में दूरदर्शन असफल ही रहा है। हाँ, सामाजिक-पारिवारिक दूरी कायम करने और समाज को पश्चिमी ढाँचे में ढालने की दिशा में वह निश्चित ही अहम् भूमिका निभा रहा है। ■

भारत में वीडियो मैगजीन का इतिहास तीन वर्ष पुराना भी नहीं है। इतने छोटे समय में ही इन पत्रिकाओं की न केवल बाढ़-सी आ गई है बल्कि इन्होंने पत्रकारिता की दुनिया में तहलका मचाते हुए अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। यही नहीं, अखबारों और छपी पत्रिकाओं की तुलना में यह मैगजीनें अधिक योग्य पत्रकारों को अपनी ओर से आकर्षित करने में तथा दर्शकों के मन में अपने लिए एक अहम् स्थान बनाने में सफल रही हैं।

अखबार बनाम

भारत दुनिया के उन गिने-चुने देशों में है, जहाँ वीडियो पत्रिकाएँ इतनी जल्दी और इतनी ज्यादा लोकप्रिय हो गई हैं। अमेरिका, इंग्लैंड और पश्चिम योरप के विकसित देशों में इन पत्रिकाओं की आवश्यकता इसलिए महसूस नहीं हुई क्योंकि वहाँ सरकारी टेलीविजन के अलावा प्राइवेट चैनल भी मौजूद हैं। इन चैनलों पर प्रोड्यूसर अपने पसंद के प्रोग्राम बना और दिखा सकता है। अन्य विकासशील देशों में अखबारों को ही पूरी तरह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। अतः फिल्मों के माध्यम से सत्य को उजागर करने का तो प्रश्न ही नहीं होता।

भारत में वीडियो मैगजीन की शुरूआत 'इंडिया टुडे' संस्थान ने **न्यूजट्रैक** से १९८८ में की। शुरू में दर्शकों और आलोचकों ने इसे गंभीरता से नहीं लिया। उन्हें लगा यह किसी मनचले संपादक की हल्की-फुल्की खोज है, जो दो-चार संस्करणों के बाद समाप्त हो जाएगी। जिस देश में दूरदर्शन अपने लिए फिल्मी कार्यक्रमों और गानों के अलावा कोई खास स्थान न बना पाया हो, जहाँ अखबारों की कुल प्रसार संख्या और पाठक वर्ग नितांत सीमित हो, वहाँ सौ सवा सौ रुपए खर्च करके कोई नीरस समाचार कार्यक्रम क्यों देखने लगा?

वीडियो पत्रिकाओं की तुलना में फिल्म डिवीजन की उन न्यूजरील पत्रिकाओं से की जा सकती है जिन्हें काफी वर्षों से हिन्दी और अँगरेजी फिल्मों से पहले सिनेमाघरों में दिखाया जाता रहा है। आम अनुभव है कि दर्शक इस न्यूजरील के शुरू होते ही अपनी सीट छोड़कर हॉल से बाहर चले जाते थे। तब अपने पैसे खर्च कर अपने घर में हिन्दी फिल्मों के बजाए कोई इन पत्रिकाओं को क्यों देखेगा यह शंका सभी के मन में थी।

पहले दो वर्षों के दौरान 'इंडिया टुडे' की **न्यूजट्रैक** को कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। लेकिन १९९० में वि.प्र. सिंह सरकार द्वारा मंडल आयोग की सिफारिशें लागू करने और

उसके जवाब में भारतीय जनता पार्टी द्वारा राम मंदिर बनाने के लिए निकाली गई रथयात्रा के कारण जो हिंसा फैली और देश भर में जो आंदोलन शुरू हुए उनसे इन पत्रिकाओं को एक मौका मिला कि वह अपनी जीवंत रिपोर्टिंग के माध्यम से दर्शकों का मन

वीडियो पत्रिकाएँ अपने लिए वह आदर-भाव पैदा नहीं कर पाई हैं, जो मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं को मिला है। वीडियो पत्रिकाओं के संपादक जो विषय चुनकर काम करते हैं, वह अखबारों जैसा ही होता है। फर्क सिर्फ इतना है कि यह लोग कागज-कलम के बजाए कैमरे की आँख का इस्तेमाल करते हैं।

वीडियो पत्रिकाएँ

● **ओम गुप्ता**

जीत सकें। यही कारण है कि आमतौर पर तीन-चार हजार प्रतियाँ बेचने वाली न्यूजट्रैक इस आंदोलन के दौरान १५-२० हजार प्रतियाँ बेचने लगी।

इन आंदोलनों के दौरान न्यूजट्रैक को मिली सफलता से प्रेरित होकर हिंदुस्तान टाइम्स संस्थान ने **'आई विटनेस'**, संजय डालमिया की कंपनी इंडिपेंडेंट टेलीविजन ने **इंडिया व्यू** और धीरूभाई अंबानी की कंपनी ने **ऑब्जर्वर न्यूज चैनल** के नाम से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक खबरों वाली पत्रिकाएँ शुरू कीं। लगभग इसी समय बंबई में अमित खन्ना ने **बिजनेस प्लस** और **पीपल्स प्लस** नामक आर्थिक और व्यक्तित्व प्रधान पत्रिकाओं की नींव डाली। इसके अलावा बंबई और मद्रास से **लहरें** और **बुश स्टार ट्रैक** तथा **साईनाथ** जैसी फिल्मी पत्रिकाएँ शुरू हुई जिन्होंने फिल्म फेयर और स्टार एंड स्टाइल की शैली में फिल्मी सितारों के इर्दगिर्द होने वाली फिल्मी और गैर-फिल्मी घटनाओं को आधार बनाकर कुछ मनोरंजक पत्रिकाएँ शुरू कीं।

इन सब पत्रिकाओं के बावजूद आज भी इंडिया टुडे की न्यूजट्रैक का स्थान पहले नंबर पर है। उसकी आक्रामक शैली और तेज तर्रार रिपोर्टिंग का कोई भी राजनीतिक या फिल्मी पत्रिका मुकाबला नहीं कर पा रही है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि यह सब पत्रिकाएँ पाँच हजार प्रतियों के इर्दगिर्द अपना तानाबाना बुने हुए हैं।

औसतन एक पत्रिका का दाम १३५ रुपए होता है, और इसकी अवधि एक घंटे से डेढ़ घंटे तक होती है। हर संस्करण में ६ से लेकर १० विषय दर्शाए जाते हैं। हर विषय अमूमन इंटरव्यू प्रधान रहता है। कोशिश यह की जाती है कि पिछले पखवाड़े या महीने में जो भी महत्वपूर्ण घटना घटी हो और उसमें जिन नेताओं या प्रमुख व्यक्तियों ने भाग लिया हो उनसे सीधे सवाल पूछे जाएँ और फिर अतिरिक्त दृश्यों के माध्यम से एक ऐसी कहानी बुनी जाए जो कि दर्शकों का मन मोह ले।



बाबरी ढांचा को ढहाने के दृश्य वीडियो पत्रिकाओं के द्वारा घर-घर में देखे गए

वैसे तो यह काम दूरदर्शन के समाचार विभाग को करना चाहिए लेकिन प्रारंभ से ही दूरदर्शन सत्तारूढ़ दल और उसकी सरकार के हितों तथा प्रचार कार्य को ही प्रमुखता देता रहा है। इस कारण उससे यह उम्मीद नहीं की जाती कि वह सभी पक्षों और खासकर विपक्षी दलों के विचारों का समावेश करेगा। इन पत्रिकाओं ने इसी कमी को पूरा करने की कोशिश की है।

यह कार्य विभिन्न समाचार पत्र और पत्रिकाएँ भी करती रही हैं, पर लिखे हुए स्याह-सफेद शब्दों के स्थान पर जब हिलते-डुलते और बोलते हुए पात्र अपनी बात कहते हैं, अपने विपक्षी की बात काटते हैं और उस पर पत्रिका का संवाददाता या संपादक अपनी टिप्पणी जड़ता है, तो वही विषय जो छपे हुए शब्दों में नीरस सा दिखाई देता है अचानक बहुत ज्यादा सनसनीखेज हो उठता है। यदि विषय मंडल या मंदिर जैसा संवेदनशील हो, तो वह दर्शकों के मन को उद्वेलित कर देता है। ऐसा इन दोनों आंदोलनों में हुआ भी। इसके कारण जितना विवाद छिड़ा उसे देखकर इस माध्यम की क्षमता का पता लगता है।

अखबारों के विपरीत इन पत्रिकाओं पर अभी भी सेंसर के नियम लागू होते हैं। फिल्म बनाने के बाद उसे सेंसर के लिए भेजना पड़ता है और अक्सर सेंसर उस पर अपनी कैंची भी चलाता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के कारण यह दर्शकों को इतना ज्यादा उत्तेजित कर सकता है कि उससे समाज में कानून और व्यवस्था की स्थिति खराब हो सकती है। इसी सरकारी तर्क के पक्ष और विपक्ष में काफी कुछ कहा जा सकता है और कहा भी गया है, लेकिन जिस प्रकार पिछले वर्ष मंडल और मंदिर को लेकर भारतीय समाज उद्वेलित हुआ उससे कोई भी उत्तरदायी सरकार अपना मुँह नहीं मोड़ सकती। फिर भी अभी वीडियो पत्रिकाओं के सेंसर को लेकर बहस जारी है और फैसला बाकी है।

विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने आते ही दूरदर्शन को स्वायत्तता प्रदान के लिए प्रसार भारती बिल को लागू करने और दूरदर्शन पर एक प्राइवेट चैनल बनाने की

बात सिद्धांततः स्वीकार कर ली। अगर ऐसा हो गया तो अन्य विकसित पश्चिमी देशों की भाँति भारत में भी इन वीडियो पत्रिकाओं का भविष्य अंधकारमय हो जाएगा क्योंकि जो काम एक वीडियो पत्रिका कार्यक्रम तैयार करके और उसकी हजारों प्रतियाँ बनाकर घर-घर भेज कर पूरा करती है वह एक ही चैनल पर एक केंद्रीय बिंदु से हर घर में पहुँचाया जा सकेगा।



मंडल आयोग का कवरेज कर वीडियो-पत्रिकाएँ चर्चित हो उठीं

जब-जब भी फिल्म, दूरदर्शन या वीडियो पत्रकारिता जोर मारती है तब-तब अखबारों और पत्रिकाओं के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लगाए जाते हैं। पर दुनिया में संचार माध्यमों के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि अखबारों का स्थान कोई दूसरा माध्यम नहीं ले सकता। अखबारों को अभी भी बाइबल जैसा दर्जा प्राप्त है। यानी इनमें जो कुछ छपता है वह ध्रुव सत्य होता है, ऐसी धारणा है। अखबारों की खबरों का अक्सर खंडन हो जाने के बाद भी लोगों का उन पर से विश्वास डिगा नहीं है।

इसके विपरीत वीडियो पत्रिकाएँ अभी तक अपने लिए वह आदर भाव पैदा नहीं कर पाई हैं क्योंकि इन्होंने अभी तक अखबारों पर आश्रित रहना छोड़ा नहीं है। इन पत्रिकाओं के संपादक जो विषय चुनते हैं और उन पर जिस प्रकार काम करते हैं वह लगभग अखबारों और पत्रिकाओं जैसा ही है, फर्क सिर्फ इतना होता है कि यह लोग कागज और कलम के स्थान पर कैमरे का इस्तेमाल करते हैं। कैमरा काफी घिनौनी सच्चाई पर्दे पर पेश कर सकता है बशर्ते उसको इस्तेमाल करने वाला पूरी ईमानदारी से काम ले। यह पत्रिकाएँ अभी अपने लिए स्थान बना रही हैं। इनके व्यक्तित्व और कलेवर का निखार हो रहा है। कभी-कभी इक्का-दुक्का विषयों और उन पर बनी पाँच-सात मिनट की फिल्मों को देखकर एक बिजली- सी जरूर कौंधती है लेकिन उन सब का स्तर समान रूप से ऊँचा नहीं होता।

इन पत्रिकाओं का एक आर्थिक पहलू भी है जो कभी-कभी इनके अस्तित्व पर सवालिया निशान लगा देता है। वीडियो पत्रिका के एक संस्करण पर पाँच से दस लाख रुपए खर्च होते हैं जबकि आमदनी इसके मुकाबले नहीं हो पाती है। न्यूजट्रैक की संपादिका **मधु त्रेहन** के अनुसार वह तीन वर्षों के अस्तित्व के बावजूद अभी अपनी हानि को पूरी तरह से समाप्त नहीं कर पाई है। अभी भी उनकी पत्रिका घाटे में ही चल रही है।

अखबारों और पत्रिकाओं की तुलना में वीडियो पत्रिकाओं में काम करने वाले लोग उधार काम नहीं करते क्योंकि फिल्म और दूरदर्शन के लिए धारावाहिक कार्यक्रम बनाने वालों ने इन लोगों को काम कराने के फौरन बाद नकद पैसे देकर उनकी आदतें बिगाड़ रखी हैं। इसलिए यह लोग वीडियो पत्रिका चलाने वाले संस्थानों से तुरंत भुगतान की माँग करते हैं। इस कारण भी इन पत्रिकाओं के लिए बजट मुहैया कर पाना मुश्किल हो रहा है।

एक वीडियो पत्रिका के मुकाबले एक पाक्षिक या मासिक पत्रिका पर डेढ़ दो लाख रुपया खर्च होता है। उसके लिए विज्ञापन भी ज्यादा आसानी से मिल जाते हैं और उसका दाम भी पाँच-दस रुपए रहता है जिसे कोई भी मध्यवर्गीय व्यक्ति खरीदकर या किराए पर लेकर पढ़ सकता है। इसके विपरीत वीडियो पत्रिका १३५ रुपए में आती है। उसका किराया दस रुपए होता है, और उसमें प्रति विज्ञापन का खर्च भी दस-पंद्रह हजार से कम नहीं होता। उसमें काम करने वाला रिपोर्टर भी पाँच-सात हजार की अपेक्षा रखता है। बाकी लोगों की तनख्वाहें भी इसी अनुपात में रहती हैं। इतना महँगा सौदा होने के कारण कोई छोटा-मोटा संस्थान इस काम में हाथ नहीं डाल सकता।

अखबारों के लिए तो प्रशिक्षित संवाददाता और उपसंपादक आसानी से मिल जाते हैं लेकिन वीडियो पत्रिकाओं का इतिहास बहुत संक्षिप्त होने के कारण यहाँ अनुभवी, योग्य और प्रशिक्षित लोग नगण्य हैं। जो अच्छे हैं वह बहुत मोटी तनख्वाहें माँगते हैं और जो लोग मिलते हैं उन्हें काम नहीं आता। अत्यधिक प्रतिद्वंद्विता होने के कारण अधकचरे लोगों से जो काम लिया जाता है वह मुकाबले में कहीं नहीं ठहरता। इसी वजह से अधिकांश पत्रिकाओं का स्तर बहुत ही लचर और घटिया है।

वीडियो पत्रिकाओं में अखबारों और छपी हुई पत्रिकाओं के मुकाबले एक खतरा और है। वह है शालीनता, सभ्यता और व्यक्ति की निजी जिंदगी की सीमा लांघने का। एक-दो पत्रिकाओं से जल्दी से सफलता हासिल करने के चक्कर में कुछ ऐसी कहानियाँ इन पत्रिकाओं ने शामिल की जिनमें समाज और राजनीति के महत्वपूर्ण व्यक्तियों पर कीचड़ उछालने की कोशिश की गई।

इसके बाद सरकार बहुत ज्यादा चौंक गई और उसने इन पत्रिकाओं पर कड़ा नियंत्रण लगाने की कोशिश की। जब उसका विरोध हुआ तो तनावपूर्ण स्थिति पैदा हुई। अभी तक अखबारों की भाँति इन पत्रिकाओं के लिए कोई लिखित आचार संहिता नहीं है। एक सेंसर अधिकारी जरूर है पर वह भी काफी लचीलापन और उदारता बरतता है।

लिहाजा वीडियो पत्रिकाएँ कितने दिन और किस रूप में जीवित रहेंगी, विकसित होंगी या एक अप्राकृतिक मौत मर जाएँगी, यह कहना अभी मुश्किल है। हो सकता है कि निकट भविष्य में खास विषयों पर विशिष्ट पत्रिकाएँ और निकलें लेकिन अपने वर्तमान ढर्रे व स्वरूप में विशुद्ध समाचार वीडियो पत्रिकाओं का भविष्य बहुत ज्यादा उज्ज्वल दिखाई नहीं देता है। कभी न कभी इस संबंध में सरकार और सेंसर को भी एक निश्चित आचार संहिता तैयार करनी होगी।

यह भी संभव है कि बहुत जल्दी इन पत्रिकाओं के संपादक अदालतों के कठघरे में खड़े दिखाई दें और कहीं दूरदर्शन ने अपने दरवाजे प्राइवेट चैनल के लिए खोल दिए तो इन पत्रिकाओं का भविष्य पूरी तरह से समाप्त हो जाएगा।

□ यूजीसी कार्यक्रम :

पूरा देश : एक कक्षा

● सरला चतुर्वेदी

शिक्षा का विस्तार इतना अधिक व्यापक हो चुका है कि स्कूल/ कॉलेज एवं विश्वविद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों में निरंतर विकसित हो रहे ज्ञान को समाहित कर पाना नितांत असंभव हो गया है। कृत्रिम बुद्धि, सुपर कण्डक्टिविटी, दुतरफा टेलीविजन तथा ऐसे ही अन्यान्य सैकड़ों नए क्षेत्रों तथा संभावनाओं से यह संसार भरा है जिसमें हम रह रहे हैं। यदि केवल पाठ्य पुस्तकों को ही ज्ञान प्राप्ति का आधार माना जाए, तब हमारे देश के लाखों छात्र शिक्षा के क्षेत्र में दुनिया भर में हो रही ताजी गतिविधियों से अनजान रहेंगे।

ज्ञान पिपासु छात्रों को वांछित जानकारियों की खुराक देने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने सारे देश को कक्षा का स्वरूप देते हुए १५ अगस्त १९८४ से दूरदर्शन के माध्यम से शैक्षणिक कार्यक्रमों का प्रसारण शुरू किया है। प्रत्येक कार्य दिवस नियमित रूप से प्रसारित होने वाले इन कार्यक्रमों का लाभ महानगरों से लेकर दूरदराज तक के ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले छात्रों को मिलता है तथा नई चीजें सीखने में उनको लगातार प्रेरणा मिलती है। इन कार्यक्रमों के जरिए देश के प्रत्येक छात्र को सीखने के समान अवसर मिलते हैं तथा सुविधाओं की कमी एवं अच्छे शिक्षकों के अभाव के कारण होने वाली असमानता को काफी हद तक दूर किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न आयामों में विश्व भर में हो रही तरक्की का ब्योरा देकर भारतीय छात्रों की बौद्धिक क्षमताओं को विकसित कर आसपास की दुनिया को बेहतर तरीके से समझने का मौका देना कार्यक्रम का उद्देश्य था। इस प्रकार पाठ्यपुस्तकों की सीमित दुनिया से परे पिछले नौ वर्षों से प्रसारित हो रहे यह कार्यक्रम उस गवाह का काम करते हैं जिसके जरिए ज्ञान की रोशनी तथा जानकारियों की ताजी हवा मिलती है। साथ ही जिसके द्वारा बाहरी दुनिया में हो रही प्रगति को देखा भी जा सकता है।

इन कार्यक्रमों को शुरू करने के पूर्व लगभग प्रत्येक संभावित समस्या से जूझने की तैयारी की गई थी तथा यह परिकल्पना भी की गई थी कि आने वाले वर्षों में दूरदर्शन का विस्तार देशव्यापी और घना होता जाएगा। कई ऐसे क्षेत्र भी दूरदर्शन के प्रसारण की सीमाओं में आ जाएँगे, जो अब तक विकास कार्यक्रमों के लाभ से वंचित रहे हैं तथा जहाँ तक आधुनिक सुविधाओं की पहुँच नहीं हुई है। इन सारी बातों पर विचार मंथन के बाद **'देशव्यापी कक्षा'** का जन्म हुआ। उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे छात्रों को श्रेष्ठ शिक्षकों एवं उच्च गुणवत्ता वाले दृश्य-श्रव्य साधनों की सेवाओं का लाभ मिला। यद्यपि शुरूआत में संचालन संबंधी कुछ तकनीकी दिक्कतें आईं। समय/ उपकरण/ निर्माण सुविधाओं/ प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी के बावजूद पंद्रह अगस्त १९८४ से यह कार्यक्रम शुरू हुए हैं।

धीरे-धीरे कार्यक्रम की लोकप्रियता बढ़ी एवं निर्माण की प्रक्रिया प्रणाली का विकेन्द्रीकरण भी प्रारंभ हुआ। राष्ट्रभर की रचनात्मक प्रतिभाओं को विशाल मंच मिला। चार शैक्षणिक मीडिया रिसर्च केन्द्रों एवं दो दृश्य-श्रव्य रिसर्च केन्द्रों की मदद से प्रारंभिक दिनों में कार्यक्रम तैयार होते थे। अब सात शैक्षणिक मीडिया रिसर्च सेन्टर्स (ई एम आर सी एस) तथा सात दृश्य-श्रव्य रिसर्च सेन्टर्स (एवीआरसी) में कार्यक्रम तैयार किए जा रहे हैं। सागर में भी एक नया दृश्य-श्रव्य रिसर्च सेन्टर खुल रहा है तथा यहाँ आगामी दो वर्षों में नियमित कार्य शुरू हो जाएगा।

> यूजीसी कार्यक्रमों की उपादेयता बढ़ानी है, तो इसे अँगरेजी के साथ हिंदी में भी प्रसारित करना आज की अनिवार्यता है।

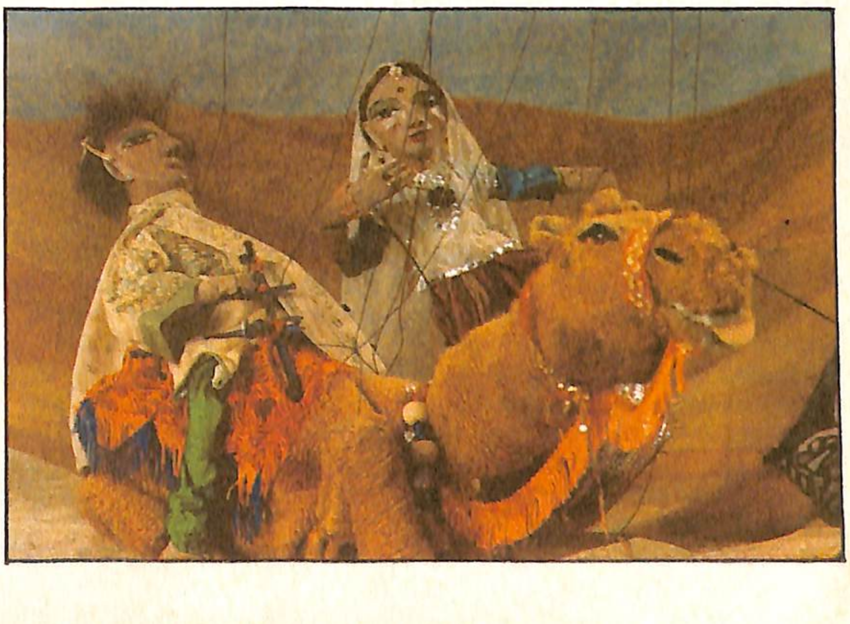
प्रत्येक कार्यक्रम में व्याख्यान/ प्रदर्शन/ वृत्तचित्रों/ आदि की सहायता से विषय को विस्तार से समझाया जाता है। शिक्षक, निर्माता एवं शोधकर्ता तीनों मिलकर कार्यक्रम को उपयोगी एवं सारगर्भित बनाने का प्रयास करते हैं। पटकथा लेखन, शूटिंग, एडिटिंग तथा प्रिव्यू तक प्रत्येक चरण में काफी निकट रहकर कार्य करते हैं। प्रत्येक कार्यक्रम में उच्चकोटि के बौद्धिक स्तर के साथ टेलीविजन की तकनीकी विधा के उत्कृष्ट स्वरूप को देखने का अवसर दर्शकों को मिलता है।

प्रारंभिक दौर में कुछ आयातित कार्यक्रम भी कुछ माह तक प्रसारित किए गए। बाद में देश में ही तैयार किए गए कार्यक्रम प्रसारित किए जाने लगे। फिलहाल ८० प्रतिशत कार्यक्रम वे होते हैं जिनका निर्माण स्वदेश में किया जाता है। शेष २० प्रतिशत कार्यक्रम विषयानुसार आवश्यक होने के आधार पर आयातित होते हैं। विदेशी कार्यक्रमों का प्रसारण अब अनिवार्य नहीं रहा है। चयन के आधार पर ही ऐसे कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। देश के विभिन्न मीडिया केन्द्रों में अब तक दो हजार से अधिक कार्यक्रम तैयार किए जा चुके हैं।

इस सिलसिले में वर्ष १९९१ का काफी महत्व है। देशव्यापी कक्षा कार्यक्रम में विभिन्न स्थानों के आठ केन्द्रों पर ऐसी सुविधाएँ मुहैया कराई गई कि छात्र कार्यक्रम देखकर टी.वी. के माध्यम से दिल्ली केन्द्र पर मौजूद विषय विशेषज्ञों से शंकाओं का समाधान करवा सकें। 'टॉक बेक' की यह सुविधा धीरे-धीरे अन्य केन्द्रों को भी दी जाएगी। इन कार्यक्रमों से विद्यार्थियों को काफी फायदा पहुँच रहा है तथा शोधकर्ताओं एवं वैज्ञानिकों को भी काफी नई जानकारियाँ मिल रही हैं।

अध्यापन के इस देशव्यापी कार्यक्रम को काफी हद तक सफलता मिली है किन्तु कार्यक्रमों में सुधार एवं नए विचारों के प्रवेश के लिए अब भी काफी गुंजाइश है । इस हेतु सभी लोगों का सहयोग माँगा जाता है।

रेगिस्तान का जहाज : कामिनी कौशल की कृति



महत्वपूर्ण तिथियाँ

प्रथम प्रसारण प्रारंभ तिथि	१५ अगस्त १९८४
द्वितीय प्रसारण प्रारंभ तिथि	१६ फरवरी १९८५
प्रथम वीडियो स्पर्धा (वार्षिक) की तिथि	फरवरी १९८८
परसूट कार्यक्रम प्रारंभ तिथि	३० नवंबर १९८९
राष्ट्रीय टॉक बैक प्रयोग योजना का प्रारंभ	नवंबर १९९१
द वीक अहेड का प्रारंभ	७ दिसंबर १९९१
'युअर्स सिंसियरली' का प्रारंभ	३१ मार्च १९९२

सन् १९८४ से प्रतिवर्ष निर्मित कार्यक्रमों की संख्या

१९८४-८५	१०९
१९८५-८६	१८६
१९८६-८७	२७४
१९८७-८८	२५८
१९८८-८९	३७२
१९८९-९०	४२७
१९९०-९१	४५१
१९९१-९२	४८१
१९९२-९३	५२५

शिक्षक, शोधकर्ता, वैज्ञानिक, इंजीनियर, विद्यार्थी या किसी विषय विशेष से रुचि रखने वाले अनुभवी लोगों की सलाह का स्वागत किया जाता है। कार्यक्रमों को दर्शकों की जरूरत के अनुसार तैयार किया जाता है। इसे बनाने के लिए किसी खास प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती। प्रत्येक मीडिया केन्द्र प्रशिक्षण सत्र, कार्यशाला तथा बैठकों का आयोजन करता है। इनके जरिए निर्माण प्रक्रिया एवं प्रणाली आसानी से समझी जा सकती है तथा भागीदारी को प्रभावशील बनाया जाता है।

निष्ठा एवं लगन की भावना से कार्यक्रमों में लीन होने वाले नए-नए विषयों का सुझाव देते हैं तथा निर्मात्री टीम इन रचनात्मक सुझावों को अमल में लाकर नए-नए कार्यक्रमों का निर्माण करती हैं। इच्छुक दर्शकों को विभिन्न मीडिया केन्द्रों के कार्यक्रमों के बारे में नियमित जानकारी दिए जाने की व्यवस्था भी है।

इन कार्यक्रमों का उद्देश्य है शिक्षा की गुणवत्ता को उन्नत एवं समृद्ध बनाकर अपडेट किया जाए तथा पाठ्यक्रम की कमियों एवं सीमाओं को दूर किया जाए। कार्यक्रमों के जरिए विषय विशेष में दर्शकों की रुचि जागृत करना तथा उनमें अधिक जानकारी प्राप्त करने की क्षुधा जागृत करना। लक्ष्य कुछ देना नहीं बल्कि जानने एवं पाने के लिए प्रेरित करना है। इसलिए कार्यक्रम किसी निश्चित पाठ्यक्रम को आधार बनाकर तैयार नहीं किए जाते। उन्हें नई परिकल्पनाओं, समस्याओं तथा विभिन्न क्षेत्रों के विकास एवं समस्याओं को सम्मिलित रूप से देखने का प्रयास किया जाता है।

दूरदर्शन के दर्शकों को दूरदर्शन पर गुस्सा क्यों आता है?

● के.एल. अरोरा

सेंसर बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेट द्वारा पहले से ही सेंसर की हुई फिल्मों पर दूरदर्शन के अधिकारी क्योंकर कैंची चलाते हैं? क्या उन्हें अच्छी भली फिल्मों को काटपीट कर बेमजा करने में परपीड़न का सुख मिलता है? आखिर क्या वजह है कि सेंसर द्वारा पास की गई फिल्मों के दृश्य विशेष एवं संवाद मंडी हाउस वाले काट देते हैं जबकि फिल्मों की कहानी के विकास के लिए वे बहुत जरूरी होते हैं। दर्शकों तथा फिल्म निर्माताओं को गुस्सा दिलाने वाले ऐसे काम करना दूरदर्शन वालों के लिए क्यों जरूरी हैं?

दरअसल दूरदर्शन वालों की अपनी एक नियमावली है। यद्यपि वे सार्वजनिक रूप से इसे स्वीकार नहीं करते मगर पारिवारिक इकाई को दर्शक मानकर कुछ खास दृश्यों को गायब कर देते हैं एवं संवाद विशेष को मूक (सायलेंट) बना देते हैं। ऐसा क्यों किया गया इसका कारण कोई भी अधिकारी नहीं बताएगा क्योंकि सारे काम 'ऑफ द रेकॉर्ड' होते हैं। ऐसी स्थिति में कई बार निर्माताओं ने आपत्ति ली तथा मामला अदालत की चौखट तक पहुँचने की नौबत भी आ गई। गौतम घोष/ श्याम बेनेगल/ अडूर गोपाल कृष्णन/ तथा जाहनु बरूआ ने सार्वजनिक रूप से वक्तव्य प्रसारित कर दूरदर्शन द्वारा अपनी फिल्मों को काट-छाँट कर विकृत रूप में प्रदर्शित करने की आलोचना की। यद्यपि तथाकथित 'पारिवारिक कोड' कोई लिखित दस्तावेज नहीं हैं, किंतु दूरदर्शन के प्रभारी (प्रोड्यूसर) कार्यक्रम अधिकारी इससे भलीभाँति परिचित हैं। अलिखित होने के कारण इन नियमों में काफी लचीलापन भी रहता है। प्रत्येक प्रभारी इसे अपने हिसाब से लागू करता है।

कतिपय शब्दों एवं उद्‌गारों को दूरदर्शन अपमानजनक मानता है तथा उन्हें हटा देता है। मसलन **हरिजन, गिरिजन** आदि। हरिजन यानी प्रभु के लोग, महात्मा गाँधी द्वारा गढ़ा गया शब्द है तथा अवर्णों एवं शोषित जातियों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। आजकल हरिजन इस शब्द को अपमानजनक मानते हैं। इसी प्रकार 'चमार', 'मोची' तथा अन्य छोटा पेशा करने वाले लोगों के व्यवसाय से जुड़े कुछ शब्द अपमानजनक मान लिए गए हैं। चूँकि दूरदर्शन सरकारी मीडिया है अतः वह किसी भी सम्प्रदाय या व्यवसाय से जुड़े लोगों की नाराजगी मोल लेना या उनकी भावनाओं पर चोट नहीं पहुँचाना चाहता।

इसी प्रकार गालियों वाले उद्‌गार चाहे वे फिल्मी पात्रों पर सटीक हों, टेलीकास्ट नहीं किए जाते। उदाहरण के लिए 'हरामजादा', 'उल्लू का पट्ठा' मगर यह रोक 'कुत्ते का बच्चा' के लिए नहीं है, यदि यह गाली खलनायक या गुंडे को दी गई हो। जननेंद्रियों से जुड़ी हुई गालियाँ तो पूर्णतः वर्जित हैं ही। दूरदर्शन का सोचना है कि ऐसे शब्दों के प्रसारणों से दर्शकों खासकर बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। यह बात अलग है कि बच्चे पड़ोसियों या स्कूल से काफी मोटी-मोटी गालियाँ पहले ही सीख चुके होते हैं। मगर दूरदर्शन उनको बिगाड़ने के हर आरोप से बचना चाहता है।

प्रणय दृश्य एवं प्रेम प्रदर्शन की प्रगाढ़ एवं उत्तेजक स्थितियों को पारिवारिक इकाई के सामने दिखाया जाना ठीक नहीं है। दोपहर एवं शाम को प्रदर्शित होने वाली फीचर फिल्मों में से ऐसे सारे दृश्य काट दिए जाते हैं। देर रात की फीचर फिल्मों में ऐसे दृश्य आमतौर पर बने रहते हैं। जनवरी '९३ में प्रदर्शित ऐसी ही देर रात वाली फिल्म **'डेविल इन द फ्लेश'** में प्रदर्शित किए गए कुछ दृश्यों पर तथा काटे गए कुछ अंशों को लेकर काफी विवाद हुआ था।

वैसे इन फिल्मों में भी यदि किसी दृश्य में प्रणय प्रदर्शन ज्यादा ही गर्मजोशी के साथ हो रहा हो, तब उस दृश्य को भी या तो निकाल फेंका जाता है या फिर उसकी 'गर्मी' को कुनकुनाहट में बदल दिया जाता है। देर रात को जो फिल्में दिखाई जाती थीं उनमें **'ए'** सर्टिफिकेट प्राप्त फिल्में, इंडियन पेनोरमा में प्रदर्शित अवार्ड जीतने वाली फिल्में तथा लीक से हटकर विषय वाली फिल्मों के साथ लोकप्रिय विदेशी फिल्मों का भी प्रदर्शन किया जाता था। ऐसी फिल्मों में से भी कतिपय वर्जित विषयों वाली फिल्मों से परहेज रखा जाता था। मसलन समलैंगिकता तथा अप्राकृतिक यौन संबंधों वाली फिल्मों का प्रदर्शन नहीं किया जाता था। यदि किसी फिल्म में उपरोक्त विषय वाले दृश्य होते थे तब उन दृश्यों को काट दिया जाता था। नेशनल फिल्म डेवलपमेंट कार्पोरेशन द्वारा समलैंगिकता पर निर्मित **'बदनाम बस्ती'** का

घोषित प्रसारण इसी कारण ऐन वक्त रोक दिया गया तथा उसका प्रसारण बाद में भी नहीं हुआ। वैसे सामान्य तौर पर देर रात को दिखाई जाने वाली फिल्मों में कतर ब्यौंत नहीं की जाती थी। जब देर रात की फिल्मों का प्रसारण शुरू हुआ था तब पहले एक चेतावनी प्रसारित की जाती थी कि केवल प्रौढ़ दर्शक ही इस फिल्म को देखें। बाद में ऐसी चेतावनी का प्रसारण बंद कर दिया गया क्योंकि पालकों ने शिकायत की कि ऐसी चेतावनी से बच्चों की उत्सुकता बढ़ती है तथा वे फिल्म देखने के लिए प्रोत्साहित होते हैं।

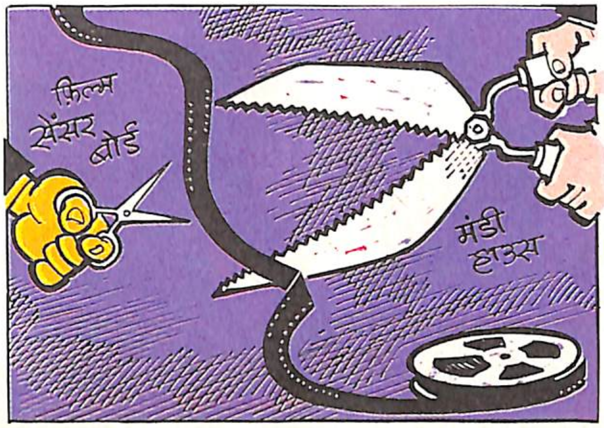
एक ऐसा समय भी था जबकि दूरदर्शन से प्रसारित होने वाली फिल्मों से कैबरे नृत्य हटा दिए जाते थे मगर अब जी टी.वी. एवं स्टार प्लस द्वारा तगड़ी टक्कर दिए जाने के कारण कैबरे नृत्यों के प्रति दूरदर्शन ने नर्म रुख अपनाना शुरू किया है। अब वह यही ध्यान रखता है कि नग्नता तथा फूहड़ता का प्रदर्शन कैबरे नृत्य में अधिक न हुआ हो। नृत्यों एवं हास्य दृश्यों में भी फूहड़ एवं अश्लील मुद्राओं वाले दृश्य दूरदर्शन काट देता है।

पूर्व में हेलन या मीना टी. के नृत्यों में जब कैमरा उनकी खूबसूरत टाँगों पर टिकता था तब इस दृश्य को उड़ा दिया जाता था, गीत की धुन चलती रहती थी। उतने समय के लिए अन्य प्राकृतिक सात्विक दृश्य परदे पर आता था। अब यह स्थिति नहीं रही है। दूरदर्शन के अधिकारियों में काफी उदारता की भावना आ चुकी है तथा उनके सोच का दायरा भी व्यापक हो गया है।

यदि कोई दृश्य विशेष कहानी के विकास के लिए जरूरी है मगर उसमें फूहड़ या अश्लील संवाद या चुटकुला फिल्माया गया है तब दृश्य काटा नहीं जाता उसकी आवाज गायब कर दी जाती है। समस्या प्रादेशिक भाषा वाली फीचर फिल्मों के साथ यह आती है कि ध्वनि तो शांत हो गई मगर सब टाइटल का क्या किया जाए। अतः पूरा दृश्य ही उड़ा दिया जाता है।

हिंसा से भी दूरदर्शन को खासा परहेज है। मारपीट एवं हिंसा के दृश्य यदि निरुद्देश्य होते हैं तब उन्हें काफी कम कर दिया जाता है। वैसे आजकल एक्शन दृश्यों के मामले में भी काफी उदारता बरती जा रही है। इसी प्रकार स्त्रियों एवं बच्चों के साथ किए जा रहे नृशंस व्यवहार वाले दृश्य भी काट दिए जाते हैं। यदि कहानी के विकास में इनकी जरूरत होती है तब थोड़ा-सा अंश दिखा दिया जाता है।

कई बार अन्य कार्यक्रमों को समायोजित करने के लिए फिल्म का समय कम कर दिया जाता है। अक्सर ऐसा खेलकूद स्पर्धाओं का सीधा प्रसारण करने के लिए किया जाता है जिनका प्रसारण दूरदर्शन फिल्मों की बजाए



ज्यादा महत्वपूर्ण मानता है या जिनकी लंबाई दो घंटे वाली औसत फिल्मों की लंबाई से ज्यादा होती है। यदि लंबी अवधि वाली फिल्मों का प्रदर्शन पूर्व निश्चित है तब निश्चित समय से पूर्व शाम पाँच बजे से ही उनका प्रसारण शुरू कर दिया जाता है।

बलात्कार के दृश्यों से तो दूरदर्शन को खासा परहेज रहता है। यदि बलात्कार किसी फिल्म कथा जैसे 'दोराहा' (रामदयाल) का केंद्रीय विषय है तब उस दृश्य विशेष को इतना ज्यादा काट दिया जाता है कि मूल दृश्य मात्र प्रसंग की ओर इशारा बनकर रह जाता है। इसी प्रकार मदिरापान वाले दृश्य भी काफी काट दिए जाते हैं। यदि संभव हुआ तब उन्हें पूरी तरह से हटा दिया जाता है। कई बार मदिरापान एवं धूम्रपान के बच्चों पर होने वाले बुरे असर को दर्शाने के लिए ऐसे दृश्यों को जान-बूझकर हटाया नहीं जाता।

कुछ फिल्मों का प्रसारण घोषणा के बावजूद भी कतिपय राजनीतिक दबावों के कारण रोक दिया जाता है। 'आई लव यू रोजा' नामक फिल्म १९८९ में प्रारंभ में प्रदर्शित की जानी थी। यह फिल्म यहूदी समाज की उस प्रथा पर केंद्रित थी जिसमें पति की मृत्यु होने पर स्त्री को अपने देवर से विवाह करना पड़ता है। इस फिल्म का प्रसारण घोषणाओं के उपरांत भी रुकता रहा तथा अंततः चार वर्ष बाद फिल्म प्रदर्शित हो पाई। इसी विषय पर केंद्रित राजेन्द्रसिंह बेदी द्वारा लिखित 'एक चादर मैली सी' (हेमा मालिनी- ऋषि कपूर) दूरदर्शन द्वारा दिखाई जा चुकी है।

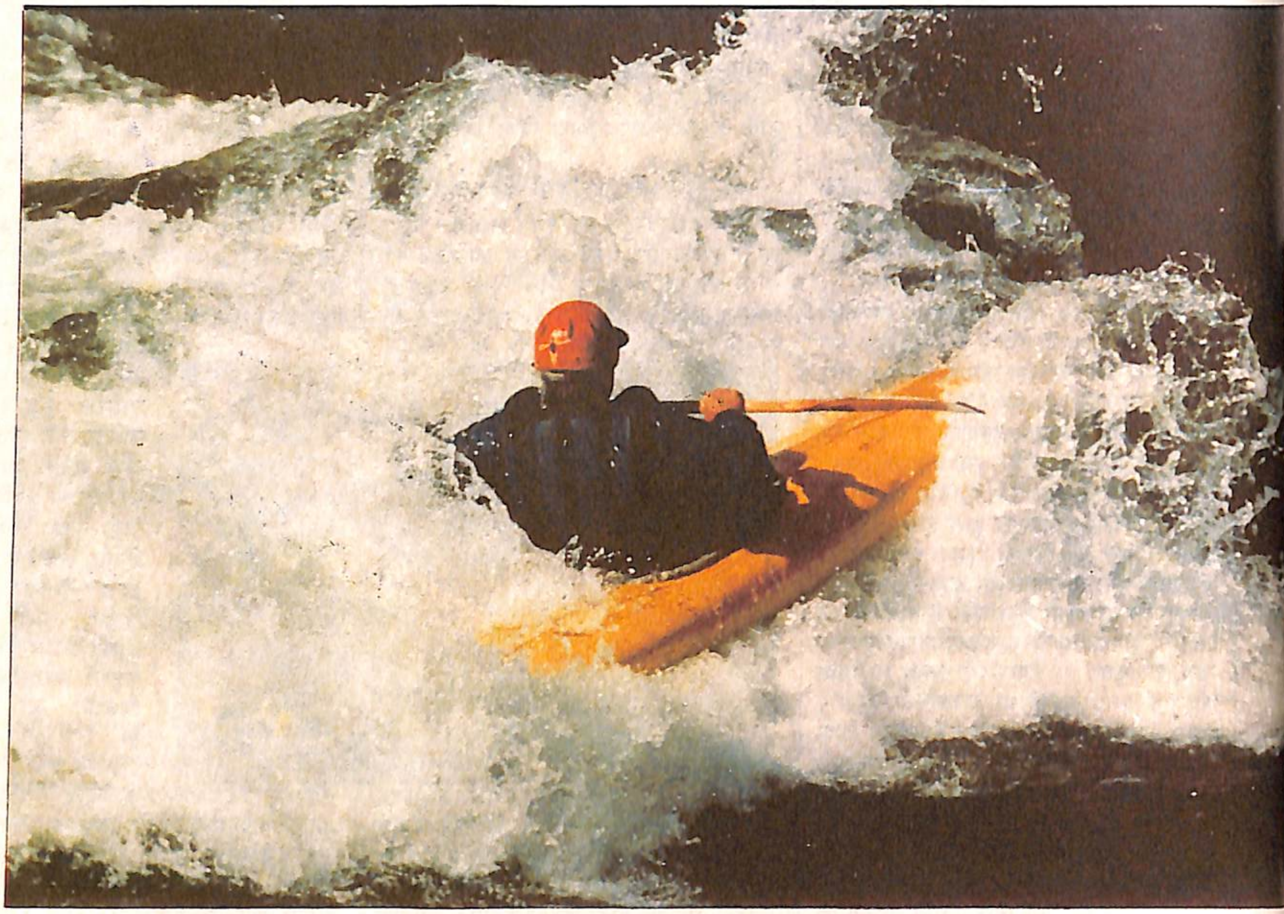
नग्न स्त्री या स्त्री के कूल्हे, टाँगें, वक्ष आदि दिखाना दूरदर्शन पसंद नहीं करता। इसे अनैतिक माना जाता है। धारणा यह है कि कच्ची उम्र के दर्शकों पर ऐसे दृश्यों का खराब असर पड़ेगा।

कई बार दूरदर्शन पूर्व घोषित फिल्म का प्रदर्शन न करके दूसरी फिल्म को दिखा देता है। इसके कई कारण होते हैं, फिल्म के प्रिंट या कैसेट में तकनीकी खराबी। फिल्म के प्रिंट या कैसेट की समय पर उपलब्धि न हो पाना। किसी व्यक्ति या संस्था द्वारा स्थगन आदेश ले आना अथवा दूरदर्शन पर राजनीतिक प्रभाव पड़ना। इनमें कोई भी कारण घोषित फिल्म के स्थान पर अन्य फिल्म दिखाए जाने का हो सकता है। मगर कई बार ऐसा भी हुआ है कि वैकल्पिक व्यवस्था न होने के कारण दूरदर्शन द्वारा खराब गुणवत्ता वाले प्रिंट दिखाए गए। ऐसे मामलों में हमेशा क्षमा माँगना भी दूरदर्शन की परंपरा नहीं रही है।

कुछ राजनीतिक विषयों को दूरदर्शन छूना भी नहीं चाहता। इनमें आतंकवादियों तथा नक्सलवादियों का नाम प्रमुख है। हाँ यदि किसी फिल्म में ऐसे तत्वों का विनाश दिखाया गया है तब काफी सावधानी के साथ प्रदर्शन की अनुमति दी जाती है। पूना फिल्म संस्थान के स्नातक महमूद हुसैन द्वारा अंग्रेजी में बनाई गई फिल्म 'अनवांटेड' दूरदर्शन द्वारा अब तक प्रदर्शित नहीं की गई। छः वर्ष पूर्व प्रसारण हेतु दी गई इस फिल्म का भविष्य अधर में है क्योंकि इसमें एक छात्रा को नक्सलवादी से प्यार करते हुए दिखाया गया है।

प्रसारण नियमों के अनुसार वर्जित है

- *मित्र राष्ट्रों की आलोचना।*
- *सम्प्रदाय अथवा धर्म विशेष की आलोचना।*
- *विकृत एवं अश्लील तत्व।*
- *कानून व्यवस्था को भंग करने या हिंसा को प्रोत्साहित करने वाला प्रसंग दृश्य अथवा संवाद।*
- *न्यायपालिका की अवमानना।*
- *राष्ट्रपति अथवा न्यायपालिका की निष्ठा के विरुद्ध कोई बात।*
- *राष्ट्रीय एकता के विरोध में कोई बात।*
- *किसी व्यक्ति की नामजद आलोचना।*
- *आम चुनाव अथवा उपचुनाव के समय दूरदर्शन चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित मार्गदर्शक सिद्धांतों का पालन करता है। इसलिए चुनाव के समय किसी ऐसे अभिनेता/ अभिनेत्री या उनके पति/ पत्नी द्वारा अभिनीत फिल्मों का प्रसारण नहीं किया जाता।*



लहरों का उफान...

भारत-आपके साहस को एक चुनौती!
भारत किसी भी व्यक्तिं के साहस और रोमांच के लिए
किसी असीमित चुनौती से कम नहीं। हिमालय की ऊँचाइयं
पर पर्वतारोहण। घने और लुभावने जंगलों में ट्रैकिंग।
दूर-दूर तक फैली बर्फीली सरजमीं पर स्कीइंग, ऊपरी गंग

आपका भारत
आपकी कल्पना से कहीं अधिक।



... पर्वत छुएँ आसमान

की उफनती धारा में राफ्टिंग, समुद्र की मदमस्त लहरों पर विंड-सर्फिंग/नौकायान, मछली पकड़ना, स्कूबा डाइविंग और हैंड-ग्लाइडिंग... सभी कुछ तो है भारत में! बस आपमें चाहिए रोमांच की चाहत और सफर पर निकल पड़ने की तमन्ना।

पर्यटन विभाग
भारत सरकार

अपराध ही मनोरंजन और सांस्कृतिक विध्वंस

● जीवनसिंह ठाकुर

पहले फिल्मों में खलनायक बाकायदा नायक से लड़ते हुए भी सामाजिक जीवन मूल्यों के प्रति विनाशकारी नहीं था। वह कपड़े पर लगे कीचड़ के समान था, जो धो लेने पर साफ हो जाता था और कपड़ा सुरक्षित रहता था। आज किसी फिल्म में कोई नायक नहीं है, बल्कि पूरी फिल्म ही खलनायक हो गई है। हमारे युवक फिल्म देखें या टीवी, उनके मन में थ्रील/फायरिंग/लूट/हत्या/रैप/डकैती के प्रति प्रशंसा भाव भर गया है।

साहित्य, लोक मंच, थियेटर, बाद में फिल्म तकनीक ने दुनिया पर बड़ा गहरा असर डाला। टी.वी. की शुरूआत ने दुनिया के सामने एक ऐसा झरोखा खोल दिया था जिससे लगने लगा था कि हम सांस्कृतिक निकटता, भ्रातृ भाव और इंसानी रिश्तों में गर्मी और निकटता पा सकेंगे।

दूसरे महायुद्ध ने संसार को वास्तविकता से रूबरू करा कर इंसानी विनाश के प्रति सचेत किया। वहीं पूरी दुनिया दो और फिर तीन खेमों में बँट गई। संपूर्ण दुनिया के संदर्भ में यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है। स्वतंत्रता आंदोलनों का स्वरूप एशिया और विशेषकर भारत (अखंड भारत) में ठेठ मानवीय गरिमा को प्राथमिकता देता हुआ आगे बढ़ रहा था। तकनॉलॉजी के हिंसक और आक्रामकता के समक्ष भारतीय पक्ष कुटुम्बकम् की भावना से प्रेरित रहा। १८८२ के आनंदमठ के प्रकाशन से एक विशिष्ट भंगिमा देश के समक्ष उभरी, उसने नकली मूल्यों के खिलाफ संघर्ष का बीड़ा उठाया।

संपूर्ण स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान कहीं भी इंसानी मूल्यों और गरिमा के विरोध में गतिविधियाँ नहीं थीं। ब्रिटिश शोषण, अत्याचार के खिलाफ लड़ते हुए भी ब्रिटिश नागरिक, साहित्य, धार्मिक रूप से कटुता नहीं थी। दादा साहेब फालके से लगाकर शांतारामजी तक की फिल्मों में कटुता का अभाव है। उनके स्वर, केंद्रीय भाव रचनात्मक हैं। यह भाव पिछली पाँच शताब्दी के अहिंसक आंदोलन का हिस्सा था, जो संत, साहित्यकार, सूफी चला रहे थे। सम्यक रूप से यह आंदोलन धार्मिक कट्टरता के खिलाफ सांस्कृतिक मुख्यधारा का संघर्ष था। यह संघर्ष विश्व स्तर पर विश्व युद्धों और उपरांत पैदा हुई कुटिल राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता, आर्थिक साम्राज्यवाद के घिनौने आक्रमण के खिलाफ था। आर्थिक साम्राज्यवाद १९४० तक जान गया था कि प्रत्यक्षतः देशों पर कब्जा बनाए रखना लाभ का सौदा नहीं है। अतः उसने सांस्कृतिक चेतना पर सुनियोजित हमले की तैयारी की, क्योंकि सांस्कृतिक चेतना के रहते न तो देश मरता है न सामाजिक मूल्य नष्ट हो सकते हैं। अतः स्वतंत्रता और गरिमा के जज्बे का दबाव बना रहता है। देश, कौम जिंदा रहते हैं।

भारतीय फिल्में अंततः सांस्कृतिक मूल्यों के आंदोलन का हिस्सा रही हैं। उसने कभी ऐसा आभास एक लंबे समय तक नहीं दिया कि वह स्वतंत्र अस्तित्व या देश समाज के जीवन दर्शन से पृथक है। पौराणिक फिल्मों से लगाकर सामाजिक फिल्मों तक में जो केंद्रीय भाव था वह था सामाजिक मान्यताओं, उच्चतर जीवन मूल्यों की रक्षा। कहीं कोई पात्र इधर से उधर नहीं हो पाता था। खलनायक बड़ा ही प्रतीकात्मक होता था। दर्शक हिंसक नहीं था। वह चाहता था कि इसका दिल बदले। सही बात समझे, समाज में अपना सही उचित स्थान पा ले। तत्कालीन फिल्मों में मानवीय भावनाएँ खलनायक थीं। इन भावनाओं का जीवन मूल्यों के अनुसार 'ट्रीटमेंट' होता था। खलनायक बाकायदा नायक से लड़ते हुए भी सामाजिक जीवन मूल्यों के प्रति विनाशकारी नहीं था। यह कमोबेश हमारे वास्तविक जीवन का प्रकटीकरण था। 'बंदिनी/ अछूत कन्या/जागृति/आनंदमठ में नायक सामने दिखते हुए भी सार्वजनिन था। खलनायक इतना विरल था कि हमारे चारों तरफ महसूस होता था। लगता था, सांस्कृतिक कपड़े में लगे कीचड़ को धो लेना चाहिए। खलनायक धुलकर कपड़े को स्वच्छ कर देता था। कपड़ा सुरक्षित रहता था।

१९५० के बाद की बिमलरॉय की 'दो बीघा जमीन/मदर इंडिया (मेहबूब)/आवारा/जागते रहो (राजकपूर)/प्यासा (गुरुदत्त)/परख/भाभी (बलराज अभिनीत)' आदि में बाकायदा इंसानी भावनाओं के संघर्ष के साथ आर्थिक, सामाजिक जीवन के खलनायकों से जूझना भी है। लेकिन ये नायक-खलनायक दोनों ही सामाजिक जीवन के शाश्वत मूल्यों की तरफ झुकते, बहते नजर आते हैं। 'मदर इंडिया' के बिरजू की बगावत समाज तोड़ने की नहीं बल्कि जिंदगी सहज, सरल हो, जिंदगी जीने की आजादी हो। मूल्यों के विकास में भागीदारी की ललक थी। सुक्खीलाला (कन्हैयालाल) का चरित्र समाज का जाना-पहचाना चरित्र है। वह चरित्र तोड़क नहीं, बाधक है। इसी बाधक की पुत्री को

ऐसी सादगी बहुत कम देखने को मिलती है धारावाहिकों में





कयर का एक दृश्य



मीता वशिष्ठ : ख्याल गाथा

लेकर भागते बिरजू को गोली मारती हुई माँ (नरगिस) समाज के जीवन मूल्यों की खातिर बेटे का बलिदान करती है। यहाँ माँ खलनायक नहीं है बल्कि मूल्य है। लाला की तिजोरी तोड़ कर बिरजू धन नहीं लूट रहा है वह सिर्फ माँ के कंगन लाता है। पारिवारिक जीवन में माँ की गरिमा की वापसी। बलिदान सभी एक दूसरे के पूरक हैं।

देवानंद की **'गाइड'** तमाम आधुनिकताओं के बावजूद ठेठ सामाजिक जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों की रचनात्मकता से जुड़ी है।

इसमें खलनायक इतना विरल है कि वह हवा की मानिंद चारों तरफ है। उसे शिल्पकार की तरह नायक (मूल्यों) का संघर्ष साफ करता चलता है। राजकपूर की 'मेरा नाम जोकर' विश्व जनिन मानवीय भावना के नायक, आसपास फैले, महसूसने की हद तक सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था का खलनायक है। 'राजू' एक शाश्वत मूल्य की तरह जीवित रहता है। वह बेहद कारुणिक और वैचारिक गंध छोड़ता है।

१९६७ के गैर कांग्रेसवाद,, १९६९ के कांग्रेस विभाजन के साथ ही नक्सली आंदोलन देश में पनपा। समानांतर रूप से देश में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक विध्वंस का युग भी शुरू हुआ। आधुनिक टेक्नॉलॉजी का आयात किया गया। बड़े दूरगामी समझौते किए गए। बिना सोचे-समझे टेक्नॉलॉजी के आयात के बीच देश की राजनीति में अपराधी, असामाजिक तत्वों की घुसपैठ हुई। राजनीति इस तरह विकसित हुई कि कस्बाई, शहरी क्षेत्र, क्षेत्र विशेषों में राजनीति का अपराधीकरण हो गया। कालांतर में राजनीति अपराधी हो गई। राजनीति के इस दौर ने फिल्मों पर गहरा असर डाला। अभी तक परंपरागत साहूकार फिल्मों में पैसा उधार देते थे। इसमें भी पैसा हीरो की सामाजिक प्रतिष्ठा को ध्यान में रखा जाता था। निर्देशक, लेखक आदि की छबि देखी जाती थी। इसी व्यवस्था के बीच १९५० से १९७० तक की फिल्में बनी थीं। जैसा कि ऊपर कहा है, राजनीति के अपराधीकरण ने फिल्मों में स्मगलरों, नशीली दवाओं के व्यापारियों, इनके साथ अवैध धंधों के सभी सरगनाओं को घुसपैठ करने का मौका दिया। इनके पास देश-विदेश में अथाह दौलत थी। और था उच्चस्तरीय राजनीतिक संपर्क-सूत्र।

इस पूरी प्रक्रिया के बीच योजनाबद्ध रूप से भारतीय सांस्कृतिक विरोधी तत्व, विदेशी तोड़क शक्तियाँ परोक्ष रूप से दाखिल हो गईं। स्मगलरों, विदेशी ताकतों ने फिल्मों तथा कालांतर में दूरदर्शन के चैनलों से भयावह सांस्कृतिक हमला शुरू कर दिया। यह एक तरह से चालीस साला लापरवाही और नादानी में सांस्कृतिक नीति के योजनाबद्ध न होने का नतीजा भी था। संस्कृति नीति न होने की वजह से, सेंसर बोर्ड, सरकारी महकमे, पटकथा, संवाद, प्रस्तुतिकरण समझने में असफल रहे या वे दौलत की चमक से चुँधिया गए। फिल्मों में कालेधन, गुमनामी पैसा, षड्‌यंत्र के चलते योजनाबद्ध रूप से भारतीय जीवन मूल्यों को ध्वस्त करने, भारत के प्रति आस्था, लगाव कम करने, वैचारिक क्षमता घटाने और अराजक मानसिकता बनाने का काम जोर-शोर से शुरू किया गया। स्मगलरों को 'हीरो' बनाया जाने लगा। पूरी फिल्म स्मगलर को 'ग्लोरिफाइज'' (भव्यता प्रदान) करती थी (है)। दिखाने को तो उससे लड़ता हीरो भी है। लेकिन पूरी पटकथा का तानाबाना इस तरह होता है कि हीरो का संघर्ष भी 'स्मगलर' की भव्यता बढ़ाते हुए उसे केंद्रीय पात्र का दर्जा देता है। चाहे पर्दे पर हीरो ज्यादा नजर आए, लेकिन फिल्म का संपूर्ण प्रभाव चकाचौंध पैदा करने वाली व्यवस्था की तरफ जाता है।

इस कालेधन की साजिश ने फिल्म तथा

अन्य टी.वी. पर अपनी पकड़ को मजबूत करते हुए अब भारतीय संवेदना और सच्चाइयों के खिलाफ मोर्चा खोल दिया है। अब पूरी फिल्म अपराध, अपराधकर्मियों पर बनने लगी। पारिवारिक भावना जो घर, पड़ोस, मोहल्ले, शहर से होते हुए राष्ट्र से जुड़ती हैं, कहीं भी इन फिल्मों नजर नहीं आती। इन फिल्मों के धनदाताओं ने उन्हीं फिल्मों पर पैसा लगाया, जो करुणा, ममता, सांस्कृतिक मूल्यों के खिलाफ ज़ाती है। मूल भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्र का क्षरण होता हो, मंदिर में बलात्कार, हिंदू संत को ढोंगी, भारतीयता की खिल्ली उड़ाने तथा उद्धारक के रूप में भारतीयता से इतर व्यक्ति का अवतरण आम हो गया है। मानवीय संवेदना के खिलाफ होने के साथ स्थापित सांस्कृतिक संबद्धता को उखाड़ने का सुनियोजित प्रयास आकाश और फिल्मी हमले से हमारी युवा पीढ़ी पर किया गया है। फिल्मों के अपराधीकरण और राजनीति के अपराधीकरण को पृथक करके नहीं देखा जा सकता। इन दोनों से निर्मित विदेशी साजिश को दाखिल होने की गली भी बन चुकी है। स्वयं अपराध इतनी भव्यता से परोसा गया है कि इसके सामने तमाम व्यंजन फीके पड़ रहे हैं। 'अपराध ही मनोरंजन' अपराध ही भव्यता का रास्ता बताया जा रहा है। आज औसतन बीस वर्ष आयु समूह का व्यक्ति टी.वी. पर गंभीर धारावाहिक नहीं देखता। उसे समाचार देखने-सुनने की कतई रुचि नहीं। टॉकिजों में चल रही पुरानी या नई अच्छी फिल्म देखने का टेस्ट नहीं है। उसकी भाषा में आक्रामकता है। और सबसे बड़ी बात है अपराध फिल्मों के प्रति जबरदस्त आकर्षण। वह स्टार टी.वी./ जी टी.वी./ केबल टी.वी. से चिपका है और उसमें भी थ्रील, फायरिंग, लूट, रैप, डकैती, हत्या के प्रति प्रशंसा भाव घर कर गया है।

देश के सामने सबसे बड़ा संकट स्मगलरों को हीरो और उनके प्रति रुझान बढ़ना है। अपराध, धोखा, अराजक संस्कृति सामाजिक प्रक्रिया में शामिल हो रही है, जो हमारी सामाजिक संवेदनाओं के आधार को लील रही है।

इस दौर की फिल्मों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आज की फिल्मों का कोई नायक नहीं है। बल्कि संपूर्ण फिल्म ही खलनायक है। खलनायक हमारा नेतृत्व करने लगा है। हाल ही में जो आतंकवादी पकड़े गए हैं उनके बयानों, पुलिस पूछताछ से पता चला है कि वे ए.के. ४७ या ५६ रायफल लेकर इसी अराजक मानसिकता के प्रतिनिधि हैं, जिसकी किसी चीज में आस्था नहीं है। यदि वह लड़ रहा है तो किसलिए? बोल रहा है तो क्यों? हत्याएँ कर रहा है तो क्यों? इसके जवाब में एक अनास्था, शून्य में भटकता चेहरा टिक जाता है। चेतना शून्य, किसी झटके से 'एक्शन' में आने वाले पुतलों की तरह।

आज फिल्मों के अपराधीकरण तथा राजनीति के अपराधीपन से, विदेशी सैटेलाइट टी.वी. की तिहरी मार से बेदम युवा पीढ़ी के समक्ष संस्कारित न हो पाने का शून्य है। भारत ने पिछले सात हजार बरस में अनेक दुष्चक्र झेले हैं। सांस्कृतिक विनाश झेला है। लेकिन इस बीसवीं सदी के अंत तक सांस्कृतिक विलुप्तिकरण तक का खतरा पैदा हो गया है। हम जिस सांस्कृतिक सभ्यता की नुमाइंदगी करते हुए पहचाने जाते हैं, वह मानव भीड़,

खेल-खिलाड़ियों के प्रति दूरदर्शन का उपेक्षा भाव

दूरदर्शन इन दिनों रोजमर्रा के जीवन का आवश्यक अंग बन गया है। किसी जमाने में (और एक हद तक आज भी) जो महत्व बड़े पर्दे का था, वह महत्व या उससे भी अधिक महत्व छोटे पर्दे का हो चुका है। दूरदर्शन की बात करें, तो जिस तेजी से यह माध्यम लोकप्रिय हुआ था, उससे भी अधिक तेजी से उसकी लोकप्रियता घट रही है। कोई ग्यारह वर्षों पहले दिल्ली एशियाड के समय दूरदर्शन का संजाल पूरे देश में फैला दिया गया था। एशियाड में हुए खेलकूद का तब लोगों ने भारी लुत्फ उठाया था। स्पष्ट ही दूरदर्शन को पहली लोकप्रियता खेलों के माध्यम से मिली थी। किंतु उन्हीं खेलों को अब दूरदर्शन पर दोयम महत्व भी नहीं मिल रहा है।

दूरदर्शन पर फिल्मों, संगीत, परिसंवाद, साक्षात्कारों को जितना देखा जाता है, पसंद किया जाता है, उतना ही खेलों को भी। किंतु दुर्भाग्य से दूरदर्शन में बैठे आला अफसरों की निगाह में शायद खेलकूद जैसे निकम्मा काम है। फिल्मों को देखते समय दर्शक उसमें अपने और अपने परिवेश को सतत् खोजता रहता है और जब उसे ऐसी फिल्में मिल जाती हैं, तब वह उन फिल्मों का प्रशंसक बन जाता है। फिल्मों की तुलना में खेल और खिलाड़ियों से दर्शक अपने आप को अधिक समीप पाता है, उनमें उसे स्वयं का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। किंतु ठीक इसी बात की दूरदर्शन सतत उपेक्षा कर रहा है। दूरदर्शन के मुकाबले विदेशी टेलीविजन नेटवर्क पर खेलकूद को अधिक समय और अधिक महत्व मिलता है और उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी है। समूचे योरप में रात को सोने से पहले टेलीविजन के दर्शक किसी फुटबॉल मैच को देखना नहीं भूलते। किंतु हमारे दूरदर्शन के लिए खेलकूद सिर्फ क्रिकेट तक सिमट कर रह गया है।

वर्षों से माँग की जा रही है कि जिस तरह से आकाशवाणी प्रतिदिन शाम को स्वतंत्र रूप से खेल समाचार प्रसारित करता है, उसी तरह से दूरदर्शन से भी खेल समाचारों का समय अलग से निर्धारित किया जाए। किंतु अभी तक तो यह संभव नहीं हो सका है। खेल मंत्रालय ने अपने तईं कुछ प्रयास किए और दूरदर्शन पर किन खेलों और उनकी प्रतियोगिताएँ प्रसारित की जाएँ, इसकी प्राथमिकताएँ भी तय कर दी गईं। किंतु लगता है कि खेल और सूचना प्रसारण मंत्रालय में किसी भी स्तर पर तालमेल नहीं बैठ पा रहा है। क्या कारण है कि हॉकी और बेडमिंटन जैसे लोकप्रिय खेलों की राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं का सीधा

● सुरेश गावड़े

जिस देश के नागरिकों को पीने का पानी सहज़ता से उपलब्ध नहीं होता, वहाँ का दूरदर्शन रंगीन जल-क्रीड़ाएँ दिखाता है। मोटर साइकल या कार रेस बतला कर युवा वर्ग को बेतरतीब वाहन चलाने की सीख आखिर क्यों दी जा रही है?

प्रसारण नहीं हो सका? क्रिकेट के साथ भी दूरदर्शन के अधिकारी हास्यास्पद और गैर जिम्मेदाराना व्यवहार करते हैं। मसाला मैचों का तो धूमधाम से सीधा प्रसारण हो जाता है पर क्रिकेट की राष्ट्रीय चैंपियनशिप रणजी ट्रॉफी के अंतिम मैच का सीधा प्रसारण दूरदर्शन नहीं करता।

फिल्मों के प्रसारण से मनोरंजन होता है यह निर्विवाद है। किंतु खेलों के प्रसारण से होने वाला लाभ उससे भी बढ़कर है। खेलों के प्रसारण से मनोरंजन के साथ-साथ नई पीढ़ी को खेलने का प्रशिक्षण भी अनायास मिल जाता है। सुनील गावस्कर, मोहिंदर अमरनाथ,

विजय अमृतराज इन सितारा खिलाड़ियों ने दूरदर्शन से जो कार्यक्रम प्रसारित किए वे बेहद लोकप्रिय हुए थे। गावस्कर, मोहिंदर या विजय स्वविवेक से जिन कार्यक्रमों का निर्माण कर सकते हैं क्या शक्तिशाली दूरदर्शन वैसे कार्यक्रम स्वयं नहीं बता सकता? आज तो दूरदर्शन का 'एप्रोच' यह है कि किसी स्पर्धा का सीधा प्रसारण करना यानी उस स्पर्धा पर एहसान करना जैसा है। उसमें भी भ्रष्टाचार का बोलबाला है। फिर दूरदर्शन अपनी सुविधा पहले देखता है। खेल और खिलाड़ियों की बाद में। 'प्राइम टाइम' में यदि कोई स्पर्धा होती है तो उसके प्रसारण से दूरदर्शन स्पष्ट इंकार कर देता है। इसी कारण कई अवसरों पर कई खेलों की राष्ट्रीय स्पर्धाओं के अंतिम मुकाबले तपती धूप में आयोजित किए गए हैं।

खेलकूद के नाम पर दूरदर्शन प्रति सप्ताह रविवार को स्पोर्ट्स राउंडअप प्रसारित करता है। किंतु इस कार्यक्रम में जिन खेलों का प्रसारण किया जाता है, उन खेलों से भारतीय खेलप्रेमियों और खिलाड़ियों का कोई संबंध ही नहीं है। स्पोर्ट्स राउंडअप कार्यक्रम में प्रायः मोटर साइकल और कार रेस, जल क्रीड़ाएँ या फिर गॉल्फ को प्रसारित किया जाता है। बताइए कि क्या संबंध है इन खेलों का भारतीय खेल संसार से? कदापि नहीं। जिस देश में आदमी पीने के पानी के लिए मोहताज हो, उसे आप जल क्रीड़ाएँ बताकर क्यों तड़पाते हो? मोटर साइकल और कार रेसों को देखकर युवा पीढ़ी अनियंत्रित ढंग से वाहन चलाए तो क्या इसका दोष दूरदर्शन का नहीं है? इस लीक से हटकर अमूमन टेनिस स्पर्धाओं के नतीजे दूरदर्शन नियमित रूप से प्रसारित करता है। मोनिका सेलेस, स्टेफी ग्राफ, जिम कूरियर, बोरिस बेकर, सितारा खिलाड़ी हैं और दर्शनीय भी। पर क्या राजीव बग्गा, पप्पू यादव, कमलेश मेहता या सेजल शाह सितारा खिलाड़ी नहीं हैं? क्या वे दर्शनीय नहीं हैं। हम अपने इर्दगिर्द जो उपलब्ध है उनकी आसानी से उपेक्षा कर बाहर क्यों ताकझाँक करते हैं? शायद कार रेसों और जलक्रीड़ाओं के कैसेट दूरदर्शन को मुफ्त में मिलते हों? कुछ अर्से पहले **डॉ. नरोत्तम पुरी** और **जसदेवसिंह** जैसे ख्यात और जानकार खेल समीक्षक अक्सर दूरदर्शन पर खेल पहेलियाँ लेकर उपस्थित होते थे, किंतु वह सिलसिला भी अब थम गया है। दूरदर्शन के पास अच्छे कमेंटेटरों का भी अखरने वाला अभाव है। वे ही घिसे पिटे कमेंटेटरों को देख-सुनकर दूरदर्शन के श्रोता और दर्शक जम्हाइयाँ लेने लगे हैं। पर उन्हें देखना-सुनना लाचारी है। नए कमेंटेटरों को अवसर नहीं देने की दूरदर्शन की क्या विवशता है, समझ में नहीं आता। इतने वर्षों में दूसरा बॉबी तल्यारखान यह देश ढूँढ़ नहीं सका है। नए केंद्रीय खेलमंत्री मुकुल वासनिक और सूचना प्रसारण मंत्री के.पी. सिंहदेव दोनों ही खेलप्रेमी हैं और स्वयं खिलाड़ी रहे हैं। इसलिए उम्मीद की जा सकती है कि दूरदर्शन पर खेलों की नियति बदलेगी।



मानव मंडी, प्रयोगशाला, अनास्थी, अराजक इंसानों के अकेलेपन, खीझे हुए मन, शून्य मस्तिष्क की साँय-साँय बियाबानों का रेगिस्तान होता जा रहा है।

एक बात गौरतलब है कि भारत की गरीबी और आस्था विश्वासी, ग्रामीण समुदाय के आर्थिक अभाव ने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से दूर रखा है। इस कारण काफी बड़ा हिस्सा बच गया है। गरीबी का दुर्भाग्य भी भाग्य बन गया है। लेकिन ऋण की खेप और आसान किस्तों पर उपलब्ध उपकरणों के आकर्षण ने हर सोचने समझने वाले को थर्रा दिया है। स्थिति चिंताजनक है। चिंता करते रहने के बजाए हमें सांस्कृतिक युद्ध में कूदना होगा।

दूरदर्शन :

उपभोक्तावादी चरित्र और टूटती ग्राम्य-संस्कृति

□□□ **दूरदर्शन गाँवों पर जो अप-संस्कृति थोप रहा है, वह सरासर आपराधिक कर्म है। इससे गाँवों की लोक-संस्कृति के नष्ट होने के खतरे उत्पन्न हो गए हैं।**

● **प्रकाश कांत**

जब दूरदर्शन शुरू किया गया था तब उम्मीद की गई थी कि वह सामाजिक बदलाव का एक कारगर औजार साबित होगा। यह उम्मीद इसलिए भी गलत नहीं थी कि दूसरे कई सारे मुल्कों ने जिनका आर्थिक; सामाजिक और दूसरा पिछड़ापन भारत जैसा ही था, उन्होंने अपने इस पिछड़ेपन के अभिशाप से तेजी से छुटकारा पाने के लिए दूरदर्शन का भी जबर्दस्त इस्तेमाल किया था। रूस, चीन जैसे मुल्क तो लंबे वक्त तक इस माध्यम का इस्तेमाल जन-शिक्षा के फैलाव के लिए करते रहे। इन पूर्व साम्यवादी मुल्कों ने इस माध्यम को खुला नहीं छोड़ते हुए उसे राज्य-नियंत्रित बनाए रखा। पिछड़ेपन की अंधी सुरंग से निकलने के लिए अपनी प्राथमिकताओं को मद्देनजर रखते हुए इस माध्यम का प्रयोग सुनिश्चित किया। इसीलिए, बहुत कम वक्त में वे अपने लक्ष्यों को पा सकने में सफल हो सके। भारत जैसे देश के लिए भी ऐसा ही करना जरूरी था। यह इसलिए भी संभव था कि यह माध्यम राज्य- नियंत्रित ही था। आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन और निरक्षरता जैसे मसलों से निपटने के लिए यह नियंत्रण उपयोगी हो सकता था। लेकिन, ऐसा किया नहीं जा सका।

एक ऐसा देश जिसके छह लाख गाँवों के समाज की पुनर्रचना एक अनिवार्यता बन चुकी हो, वहाँ दूरदर्शन सहित सारे मीडिया की भूमिका महत्वपूर्ण बन जाती थी। एक जमाने में कहा भी गया था कि रंगीन दूरदर्शन गरीबी दूर करेगा। लेकिन वह पश्चिमी अप-संस्कृति और अमानवीय भौतिकवाद के बेशर्म फैलाव का माध्यम बनकर रह गया।

यह वाकई एक हैरतनाक सचाई है कि अपनी शुरूआत से लेकर आजादी बाद के दो दशकों तक हिंदी सिनेमा तो जन-शिक्षा और सामाजिक बदलाव का जरिया बना रहा जबकि दूरदर्शन ऐसा कुछ नहीं कर सका। इसके बावजूद कि सिनेमा निजी हाथों में था। उसने बाल विवाह, बेमेल विवाह, जात-पाँत, छुआ-छूत जैसी बहुत सारी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ एक तरह का धर्मयुद्ध लड़ने में इमदाद की। आजादी की जंग का भी वह संवाहक बना। अछूत कन्या/ दुनिया न माने/ पतिता/ शहीद जैसी फिल्में इसकी मिसाल हैं। दूसरी ओर सामाजिक-आर्थिक क्रांति का संदेश देने वाली फिल्में भी इसी दौर में बनीं। जैसे, ख्वाजा अहमद अब्बास की फिल्में। बाद में श्याम बेनेगल की। चार दिल, चार राहें, शहर और सपना, अंकुर, निशांत जैसी फिल्में देखकर अविश्वास ही होता है कि तमाम व्यावसायिक खतरे उठाकर इस तरह की फिल्में बना पाने वाला जज्बा आखिर कैसा रहा होगा। खैर, एक ओर इस तरह की फिल्में बनीं। फिल्मों ने ही कौमी एकता का संदेश बिना उसे एक घटिया राजनीतिक नारा बनाए लोगों तक पहुँचवाया। (शांताराम की पड़ोसी)। दूसरी ओर सामाजिक बदहाली को भी उसने समूचेपन में समझकर रखने की एक ईमानदार कोशिश की। चाहे फिर वह जागते रहो और बूटपालिश हो (राजकपूर) या फिर दो बीघा जमीन (विमल राय) या फिर मदर इंडिया (मेहबूब खान), यह सिलसिला



शहरी सभ्यता गाँव में

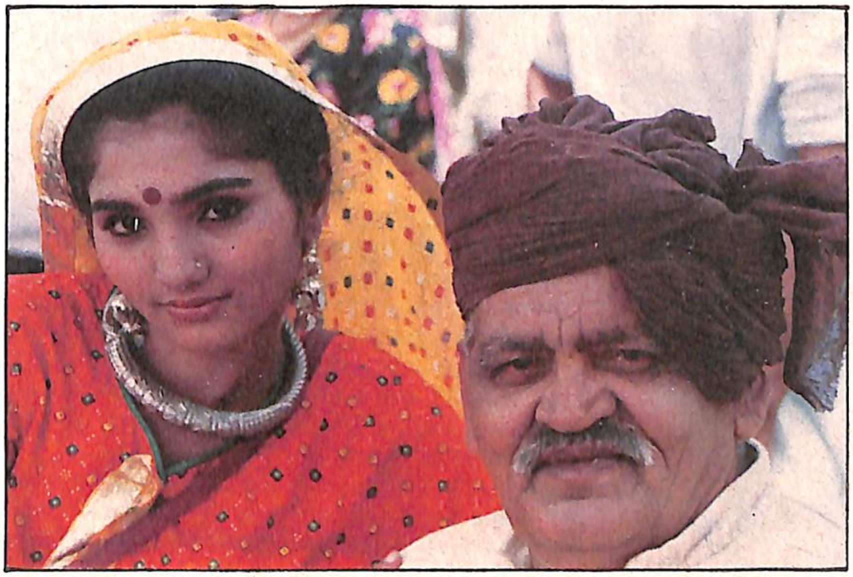
आगे भी जारी रहा। 'आक्रोश' (गोविन्द निहलानी), 'गर्म हवा' (सत्यू), 'पार' (गौतम घोष), 'दामुल' (प्रकाश झा) इसी सिलसिले की फिल्में हैं। यह आरोप सही है कि बाद की फिल्में अपनी इस सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारी को लगातार नहीं बनाए रख सकीं। वे काले पैसे को खपाने और काली कमाई करने का एक बेहतर जरिया मान ली गईं। इस कोशिश में उन्होंने सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का सरलीकरण करते हुए उन्हें भुनाया। (मनोज कुमार की फिल्में)। इसके साथ ही कई किस्म की नकारात्मक और समाज विरोधी प्रवृत्तियों को फैलाया। इस वक्त वे यही सब कर रही हैं।

बहरहाल, फिल्मों के बरखिलाफ दूरदर्शन ने अपनी शुरूआत से ही कभी इस तैयारी का आभास नहीं दिया कि वह अपने सामाजिक-आर्थिक दायित्वों के निर्वाह को लेकर संजीदगी के साथ सोच रहा है। हालाँकि, इस तरह की घोषणाएँ उसकी ओर से बराबर की जाती रहीं। जबकि, वह फूहड़, बेमानी और बेहूदा कार्यक्रम बताना जारी रखे रहा।

ऐसा होने की बहुत सारी वजहें रहीं। जैसे, खुद सरकार का इस मामले को लेकर बहुत ज्यादा आश्वस्त नहीं रहना। उसे आधे-अधूरे मन से लेना। या कि इस माध्यम पर नियंत्रण अधकचरे और यथास्थितिवादी मंत्रियों, अफसरों के हाथों में होना। वैसे भी, इस तरह के माध्यमों का इस्तेमाल रचनात्मक प्रतिबद्धता वाले लोग ही कर पाते हैं। वे जानते होते हैं कि उन्हें क्या करना है और वे क्या कर सकते हैं। बदकिस्मती से इस तरह के लोग दूरदर्शन में रहे ही नहीं। अगर रहे भी तो वे जरूरी जोखिम उठाने से बचते रहे। और फिर उन्हें हटा दिया गया। दूरदर्शन की स्वायत्तता का विचार इसी हादसे की वजह से पैदा हुआ। हालाँकि, स्वायत्तता का मतलब निजीकरण कर देना कतई नहीं था। जबकि, दूरदर्शन की बदहाली का रोना रोने वाले इस मसले को सरकार बनाम निजी कंपनियाँ इसी संदर्भ में लेते रहे। और, फतवा देते रहे कि बदहाली से छुटकारा निजीकरण के बिना नहीं हो सकता। उन्हें भी अब कुछ-कुछ समझ में आने लगा होगा कि निजीकरण से किस तरह का जहर लोगों के भीतर उतारा जा सकता है। और कि, विदेशी चैनलों के जरिए वह उतारा भी जा रहा है।

जब मामला सत्तर-पिचहत्तर फीसदी लोगों का हो, जो कि इस महादेश के छह लाख गाँवों में रह रहे हों, तब यह लाजिमी हो जाता है कि दूरदर्शन ही नहीं बाकी तमाम चीजों को गाँव केंद्रित बनाया जाना चाहिए। लेकिन, बाकी तमाम चीजों की तरह ही दूरदर्शन ने भी इस बहुसंख्यक जनता के साथ धोखाधड़ी

की है और विदेशी चैनलों के आ जाने के बाद उनके साथ मिलकर वह एक मुकम्मल साजिश का हिस्सा बन गया है। दरअसल दूरदर्शन का एकदम दूरदराज के गाँवों तक विस्तार कर देने के पीछे सरकार के पास कोई खास कारण नहीं था। सिवाए, एक चमत्कारिक दुस्साहस के प्रदर्शन के। अस्सी के दशक के उत्तरार्ध में जिस किस्म की पश्चिमी टेकनालॉजी का हमारी खालिस देसी गरीबी को रातों-रात गायब कर देने के लिए जरूरी समझा गया और जिस तरह कम्प्यूटर संस्कृति आकार लेने लगी, दूरदर्शन का विस्तार भी उसी का एक हिस्सा था। यह एशियाड के आयोजन के तुरंत बाद का वक्त था। देखते ही देखते सुदूर गाँवों को दूरदर्शन के दायरे में घेरा जाने लगा। एक ओर तो यह घेरेबंदी थी दूसरी ओर यह भी नजर आ रहा था कि इतने संभावनापूर्ण माध्यम के इस्तेमाल लायक न, तो हमारे पास योग्यता है और न ही तैयारी। हमें कतई इल्म नहीं था कि इस माध्यम का आखिर किया क्या जाए। चिराग से पैदा हुआ एक पूरा जिन्न और अलादिनी पिद्दी-सी समझ! इसकी एक जबर्दस्त मिसाल नई शिक्षा नीति के अंतर्गत गाँवों के स्कूलों में चलाई जा रही ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड योजना। इस योजना में ग्रामीण स्कूलों को रंगीन टी.वी. सेट उपलब्ध करवाए गए थे। लेकिन इन सेटों के माध्यम से गाँव के बच्चों को क्या दिखाया जाना है, इसका कोई अता-पता नहीं था। बच्चों को लेकर जो थोड़े बहुत कार्यक्रम आते भी हैं वे खालिस अँगरेजी में हुआ करते हैं। जिन्हें समझ पाना महानगरों के बच्चों के लिए ही संभव रहा करता है। इन टी.वी. सेटों से या तो अँगरेजी में ये शैक्षिक कार्यक्रम आते हैं या फिर रानी और लालपरी जैसी फिल्में! परिणामस्वरूप स्कूलों में या तो फिल्में दिखाई जा रही हैं या फिर टी.वी. सेट बंद पड़े हैं। पूरे दूरदर्शन का यही हश्र हुआ है। दूरदर्शन से या तो तकरीबन रोज-रोज चित्रहार दिखाए जा रहे हैं या फिर फिल्म या घटिया धारावाहिक। इसका सबसे ज्यादा नुकसान उठाना पड़ रहा है-गाँव के दर्शकों को। क्योंकि उनके पास अपने ग्रामीण अर्थतंत्र के टूट चुकने के बाद अब इस माध्यम से चिपके रहने के लिए काफी वक्त हुआ करता है। सो, इतनी सारी मानव ऊर्जा, समय और पैसा लगाने के बाद उन तक पहुँच रहा है एक खास किस्म का धीमा जहर, जो कि सिर्फ एक पीढ़ी को ही नहीं, बल्कि आने वाली कई नस्लों को मार डाला करता है।



लहरी सिंह : ठेठ गाँववासी

सामाजिक बदलाव खासकर गाँवों के संदर्भ में सामाजिक बदलाव की दिशा में दूरदर्शन के निष्क्रिय बने रहने के लिए अकेले दूरदर्शन को जिम्मेदार और दोषी मानना इकतरफा होगा। बुनियादी मुद्दा है-खुद सरकार का इस मामले में निष्ठा और ईमानदारी! तीसरी दुनिया के साथ यही हुआ है। वहाँ की सरकारों ने बातें तो हमेशा ही बहुत बड़ी-बड़ी कीं, लेकिन अपने अर्द्ध सामंती-अर्द्ध पूँजीवादी चरित्र के चलते इस मामले में कभी सक्रिय वैचारिक ईमानदारी का परिचय नहीं दिया। वैसे भी ये सरकारें जिन हितों और तत्वों का प्रतिनिधित्व करती थीं, उनके लिए फायदा यथास्थिति को बनाए रखने में ही था। यही वजह रही कि दूरदर्शन तो ठीक वहाँ शिक्षा जैसे नाजुक मामले में भी लापरवाही बरती गई। शिक्षा इन देशों की प्राथमिकता की सूची में कभी नहीं रही। उसे सिर्फ रस्म अदायगी की खातिर लिया गया। हमारे यहाँ तो और भी बुरी हालत रही। तमाम कमीशनों और शिक्षा नीतियों के बावजूद शिक्षा को बदलाव का औजार बनाना तो दूर की बात रही, आजादी के इतने सालों के बाद भी उसका पूरा-पूरा फैलाव तक नहीं किया जा सका। जब शिक्षा की यह हालत रही तो दूरदर्शन जैसी दूसरी चीज के बारे में कोई सकारात्मक उम्मीद करना तो फिजूल ही था। जन-शिक्षा के नाम पर इस माध्यम ने ऊब पैदा कर देने वाले उपदेश देने के अलावा कुछ नहीं किया। या फिर सरकारी योजनाओं की सूचना देने का वह एक जरिया बना रहा। इसके अलावा नेताओं के भाषणों को उलीचते रहने का भी। बाआसानी सोचा जा सकता है कि इससे गाँवों को आखिर क्या कुछ हासिल हो रहा होगा।

यह बात अच्छी तरह से समझ ली जानी चाहिए कि गाँवों को लेकर हमारे यहाँ राजनीति चाहे जितनी की गई हो, महानगरों में बैठे मुक्तिदाताओं को गाँवों की असली हालत का कोई अंदाज नहीं रहा। दूरदर्शन को तो बिल्कुल भी नहीं। इसीलिए वे पंजाब और हरियाणा की खेती की चर्चा अपने कृषिदर्शन कार्यक्रम में कर रहे होते हैं तब बिल्कुल नहीं जान रहे होते कि मालवा या निमाड़ की खेती की दिक्कतें बिल्कुल दूसरी हो सकती हैं। किस्सा कोताह, गाँवों को लेकर दूरदर्शन के पास एक भी कायदे का कार्यक्रम नहीं रहा। सिवाए सरकारी योजनाओं का शोर मचाते रहने के और नसीहतें देते रहने के। जब तक विदेशी चैनल शुरू नहीं हुए थे, तब तक तो और भी उम्मीद बाकी थी कि शायद स्वायत्तता मिल जाने के बाद यह माध्यम अपने संपूर्ण कायाकल्प से गुजरते हुए गाँवों के बारे में रचनात्मक रूप से कुछ सोचने लगे और आर्थिक-सामाजिक बदलाव का सिलसिला शुरू हो सके। लेकिन, हुआ यह कि विदेशी चैनलों के शुरू होते ही दूरदर्शन के सामने अपने अस्तित्व का संकट पैदा हो गया और दूसरी तमाम चिंताएँ छोड़कर उसे अपने प्राण बचाने के अभियान में जुट जाना पड़ा। जिसका उसे एक ही तरीका सूझा-ज्यादा से ज्यादा फिल्मी गीत और फिल्में। साथ ही कई-कई चैनल! गाँवों में भी अब डिस्क लगने लग गई हैं तो जाहिर है कि दूरदर्शन के लिए अब गाँव भी सुरक्षित नहीं रह गए हैं। इस मोर्चे पर भी उसे अस्तित्व की लड़ाई लड़नी पड़ रही है। जहाँ तक विदेशी चैनलों का ताल्लुक है, उनका एकमात्र लक्ष्य है ज्यादा से ज्यादा पैसा बटोरना। वे यहाँ समाज सेवा करने या धर्म प्रचार के लिए नहीं आए हैं। वे यहाँ आकर क्या करेंगे, इसके बारे में उन्हें अनुमति देने के पहले सोचा जाना चाहिए था। अब जब वे आ ही गए हैं तो गाँवों को भी वे गर्मागर्म दृश्य देखने को मिलेंगे जिनकी उन्होंने कभी पहले कल्पना भी नहीं की थी। रही बात दूरदर्शन द्वारा दिखाए जाने वाले चित्रहारों और फिल्मों की, तो उनका ही यह सुफल है

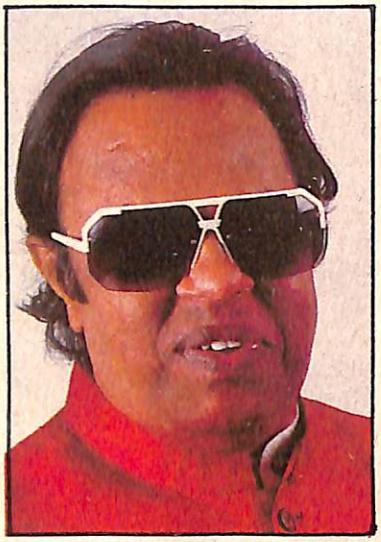
□ जब सत्तर फीसदी लोग गाँवों में रहते हों, तब यह लाजिमी हो जाता है कि दूरदर्शन के कार्यक्रम गाँव केंद्रित हों।

दूरदर्शन पर

● राजा दुबे

फिल्म के नाम पर जो कुछ पिछले अस्सी सालों से दिखाया जा रहा है और टी.वी. पर जो कुछ पिछले दस-पंद्रह सालों से दिखाया जा रहा है उस पर यदि हम एक उड़ती नजर भी डालें तब भी एक मोटा फर्क हमें इन दो मीडिया के बीच साफ नजर आ जाएगा। यह फर्क है गीत-संगीत जैसे प्रभावी तत्व के समुचित उपयोग का। टीवी माध्यम से जुड़े अधिकांश निर्माता गीत-संगीत जैसी विधाओं की या तो सर्वथा उपेक्षा करते हैं या फिर इन विधाओं का बड़ा चलताऊ उपयोग करते हैं। टीवी सीरियल और टेलीफिल्म के निर्माताओं ने गीत-संगीत जैसी प्रभावी विधाओं की यह उपेक्षा सायास की हो अथवा अनायास मगर इस उपेक्षा के कारण ही टीवी कार्यक्रम न तो प्रेक्षकों के मन पर स्थाई प्रभाव ही छोड़ पाए हैं और न ही सार्वकालिक या यादगार बन पाए हैं।

भारतीय सिनेमा इतिहास के आठ दशक के अतीत को यदि हम टटोलें, तो हम पाएँगे कि ज्यादातर सिने दर्शकों के मानस पटल पर वे ही फिल्में स्थाई छाप छोड़ पाई हैं, जो गीत-संगीत की दृष्टि से समृद्ध थीं। गीत-संगीत तभी से फिल्म मीडिया का प्राण रहे हैं जबसे फिल्मों ने बोलना आरंभ किया था। राजकपूर और वी. शांताराम जैसे निर्माता-निर्देशकों ने तो फिल्मों को सांगीतिक प्रस्तुति का पर्याय ही बना दिया था। किसी भी फिल्म को गीत-संगीत के माध्यम से प्रेक्षकों के दिलो-दिमाग में उतार देने का। ऑल टाइम हिट फार्मूला ऐसा परवान चढ़ा कि फिल्म निर्माण के बाकी तत्व मसलन अच्छी कहानी, बेहतर प्रस्तुतीकरण और उत्कृष्ट अभिनय गौण हो गए और गीत-संगीत का माधुर्य सिरमौर हो गया।



फिल्मी दुनिया के हर सफल फार्मूले को यथावत छोटे परदे पर भी उतारने वाले टीवी से जुड़े निर्माता-निर्देशक इस गीत-संगीत वाले पक्ष को कैसे भुला बैठे इस बात की पड़ताल जितनी जरूरी है उससे ज्यादा जरूरी है कि यह जानना कि गीत-संगीत जैसी विधा छोटे परदे पर हाशिए पर कैसे चली गई। गीत-संगीत टीवी प्रसारणों के साथ नहीं फबता हो ऐसा भी नहीं है। इंदौर के एक सुविज्ञ टीवी दर्शक ने तो टीवी पर प्रसारित बीसियों सीरियल्स के टाइटिल सांग्स को केवल इसलिए ऑडियो कैसेट्स पर दर्ज कर रखा है क्योंकि उसको बार-बार सुनना अच्छा लगता है। फिर इन विधाओं के प्रति टीवी निर्माताओं ने यह सौतेलापन कब और क्यों अपनाया?

जिस समय टीवी के लिए सीरियल्स और टेली फिल्मों का निर्माण हो रहा था तब उसी शुरूआती दौर में मंडी हाउस ने सोकाल्ड मनोरंजन को दो भागों में बाँटना आरंभ किया। एक, फिल्मी और दूसरा 'गैर फिल्मी' या 'फिल्मेतर' मनोरंजन। मंडी हाउस वालों ने टीवी पर एक ओर तो 'चित्रहार' और 'रविवारीय फीचर फिल्मों' का प्रसारण प्रारंभ किया था वहीं दूसरी ओर गैर फिल्मी मनोरंजन के रूप में विदेशी मनोरंजन धारावाहिक 'लूसी शो' दिखाया जाता था। फिल्मी और फिल्मेतर मनोरंजन वाला यह विभाजन मंडी हाउस में आगे भी जारी रखा और दूरदर्शन के इतिहास का पहला सोप-ऑपेरा 'हम लोग' बना तो फिल्मी अंदाज में मगर गीत-संगीत वाला पक्ष यहाँ भी उपेक्षित रहा। उसी कालखंड में मंडी हाउस वालों ने 'शो-थीम' बनाया जो फिल्मों के अंशों के संकलन से बनाया गया था।

मंडी हाउस ने इस मामले में अपनी पूर्ववर्ती संस्था आकाशवाणी का निर्देशक सिद्धांत ही अपनाया, जहाँ फिल्म संगीत और फिल्मेतर संगीत का स्पष्ट विभाजन था। फिल्मी गीत-संगीत के प्रति मंडी हाउस की बेरुखी का अंदाज आप इसी बात से लगा सकते हैं कि एक दशक पहले प्रसारित फिल्मी गीत-संगीत संवाद के कार्यक्रम 'शो-थीम' से इन दिनों के 'फिल्म टाइम' के बीच तीन-चार फिल्म आधारित प्रश्नमंच को छोड़कर फिल्मी गीत-संगीत का एक ही कार्यक्रम टेलीकास्ट हुआ था- सुनहरी यादें। इस बीच फिल्मी गीतों के सफर पर आधारित एक कार्यक्रम और भी प्रसारित हुआ और ऐसे प्रसारण ने फिल्मेतर कार्यक्रमों को गीत-संगीत से सर्वथा अलहदा बनाए रहना और छोटे परदे को फिल्मी और फिल्मेतर होने के

कि गाँवों के स्कूलों में फिल्मी शैली में छेड़-छाड़ और प्रेमपत्रों का आदान-प्रदान शुरू हो गया है। दरअसल, यह एक पूरी संस्कृति को तबाह करने का मामला है। दूरदर्शन गाँवों में जो संस्कृति थोप रहा है, वह असल में अप-संस्कृति है यह सरासर आपराधिक कर्म ही है कि पहले से चली आ रही संस्कृति, लोक-संस्कृति को नष्ट कर उसकी जगह एक अप-संस्कृति या सांस्कृतिक विरूपता लाद देना।

यूँ भी दूरदर्शन का चरित्र कभी जनवादी नहीं रहा। जब शासन-प्रशासन का सारा तौर-तरीका ही बुर्जुआ रहा हो, तब अकेले दूरदर्शन से ही जनवादी हो जाने की उम्मीद करना बेमानी था। वह जनवादी या क्रांतिकारी हो ही नहीं सकता था, ज्यादा से ज्यादा वह सुधारवादी हो सकता था। वैसे भी अगर वह पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ इतना भी हो जाता तो भी काफी रहता। लेकिन, अफसोस कि उससे यह भी नहीं हो सका।

अब तो खैर दूरदर्शन पूरी तरह मध्यमवर्गीय मानसिकता की गिरफ्त में आ ही चुका है। उसके सारे कार्यक्रम मध्यमवर्ग की रुचियों, जरूरतों को मद्देनजर रखकर ही तैयार किए जा रहे हैं। उसके पास जो कुछ है, वह सिर्फ मध्यमवर्ग को ही दिखाने के लिए है। ज्यादा से ज्यादा वक्त भी इसी वर्ग के लिए दिया जा रहा है। माना कि, दूरदर्शन के दर्शकों का एक बड़ा वर्ग मध्यम वर्ग ही है। लेकिन, इसका मतलब यह भी तो नहीं कि इसकी सजा जरूरी तौर गाँव वालों को मिले। उन्हें जान-बूझकर एक नकली और झूठी दुनिया में लाकर पटक दिया जाए। दूरदर्शन आखिर कब समझेगा कि वह अपने दोपहर के प्रसारणों में इस-उस चीज का रायता या अचार बनाने की विधियाँ बताता रहता है उनसे गाँव की महिलाओं का कोई खास लेना-देना नहीं है। गाँव में खाने के नाम पर इस तरह के पाखंड अब भी नहीं किए जाते। दूरदर्शन आखिर कब जानेगा कि गाँव की महिलाओं की समस्याएँ, परेशानियाँ और चिंताएँ बिल्कुल ही दूसरी हैं। जबकि वह शहरी मध्यमवर्गीय महिलाओं की समस्याओं, जरूरतों और कारगुजारियों को ग्रामीण महिलाओं के सामने बतौर मॉडल के पेश करता चला जा रहा है। रोज एक नया व्यंजन बनाने की विधि बताई जा रही है। रोज किसी कॉलोनी की औरतों की सभाएँ करवाई जा रही हैं।

अब थोड़ी-सी जरूरी बात उस उपभोक्ता संस्कृति की जो इन दिनों दूरदर्शन के माध्यम से गाँवों में पहुँचाई जा रही है। सरकार ने जान लिया है कि दूरदर्शन एक सोने का अंडा

गीत-संगीत का पहलू उपेक्षित

मिथक ने घाटे में बनाए रखा।

टीवी सीरियल्स और टेलीफिल्म भी अंततः बनाई तो उसी तर्ज पर गई थीं जिस तर्ज पर फिल्में बनाई गई थीं या बनाई जा रही थीं अतः संसाधनों के स्तर पर तो टीवी प्रोडक्शन भी उतना ही साधन संपन्न था जितना फिल्म प्रोडक्शन था। जी.पी. सिप्पी, रामानंद सागर, बी.आर. चोपड़ा और संजय खान जैसे ख्यात फिल्मकार जब टीवी प्रोडक्शन से जुड़े, तो रवीन्द्र जैन, राजकमल और नौशाद जैसे नामवर संगीतकार भी टीवी पर आए। इन नामवर संगीतकारों ने टाइटिल संगीत और बैकग्राउंड -म्युजिक के अलावा 'रामायण', 'महाभारत' और 'स्वोर्ड ऑफ टीपू सुल्तान' के लिए कुछ अच्छी गीत-संगीत रचनाएँ भी गढ़ीं। ऐसी रचनाएँ अपवाद स्वरूप ही देखने-सुनने को मिलीं।

नामवर संगीतकार ही नहीं नए संगीतकार लुईस बैंक्स ने भी कुछ अच्छी धुनें रचीं। टीवी सीरियल्स में अच्छे गीतों और धुनों की गुंजाइश न होती हो ऐसा भी नहीं है। 'फूलवंती' धारावाहिक में हृदयनाथ मंगेशकर की धुनों पर लता मंगेशकर ने जो गीत गाए थे वो इस संभावना को प्रमाणित करते हैं। यह सच है वो लता मंगेशकर का होम प्रोडक्शन था और लता मंगेशकर जैसी महँगी गायिकाओं को ले पाना हर टीवी प्रोड्यूसर के लिए संभव भी नहीं है। इससे इस विधा की जरूरत तो कम नहीं हो जाती। टीवी सीरियल्स में गीत-संगीत के कुछ असफल प्रयास भी 'बुनियाद', 'हम लोग' अथवा 'फिर वही तलाश' में भी किए गए थे। कुल मिलाकर टीवी प्रोडक्शन के पास गीत-संगीत के नाम पर संसाधन तो पर्याप्त हैं, जरूरत है तो उसके समुचित उपयोग की।

गीत-संगीत का उपयोग कथ्य और विषय को तरल बनाकर प्रवाहमान बनाए रखने में होता रहा है। अब ऐसा तो नहीं है कि कथ्य का यह प्रवाह केवल फिल्मी कहानियों के लिए जरूरी हो और टीवी कहानियों के लिए न हो। वास्तव में टीवी सीरियल्स में गीत-संगीत की संभावनाओं की ठीक-ठीक पड़ताल कभी हुई ही नहीं। पहले तो यह माना गया कि तेईस से पच्चीस मिनट के एक एपिसोड में गीत-संगीत की ज्यादा गुंजाइश ही नहीं है। बाद में यह माना गया कि दो-तीन मिनट का एक गीत आसानी से एकमोडेट हो सकता है। इतने सुभीते के बावजूद टीवी सीरियल्स या टेलीफिल्म में गीत-संगीत का परहेज यह बताता है कि टीवी निर्माता अभी भी इस मामले में जोखिम उठाने वाली स्थिति में नहीं आ पाए हैं। जहाँ तक टीवी प्रोडक्शन के निर्माण और उसके प्रसारण का सवाल है इसमें हर स्तर पर भारी जोखिम शामिल हो गया है अतः यदि निर्माता टीवी प्रोडक्शन में गीत-संगीत शामिल करने का जोखिम भी उठा लें, तो वो गैर मौजू नहीं होगा।

कभी-कभी एक प्रयोग की असफलता बाद के कई संभावित प्रयोगों की भ्रूण हत्या का सबब भी बनती है। टीवी पर पिछले सालों में सुप्रसिद्ध साहित्यकारों की काव्य कृतियों के गायन का एक टीवी सीरियल बनाया गया था। जो प्रोडक्शन की खामियों और त्रुटिपूर्ण चयन के कारण इतना उबाऊ बन गया है कि इस सीरियल का हश्र देखकर कोई भी निर्माता अपने प्रोडक्शन में गीत-संगीत डालने से डरता है। अब तो सारा दारोमदार उन निर्माताओं पर ही बचता है जो बीती बिसार कर जोखिम उठाने की ताकत रखते हों।

टीवी सीरियल्स अथवा टेलीफिल्मों में गीत-संगीत के समुचित समावेश की राह की एक और दुविधा है छोटे परदे पर भव्यता का न होना। फिल्मों में निर्माताओं की कल्पनाशीलता और कोरियोग्राफर्स की महत्वाकांक्षा ने गीत-संगीत के सिक्वेन्स को इतना भव्य बना दिया है कि ऐसा हर सिक्वेन्स फिल्म की लागत में लाखों की बढ़ोतरी कर जाता है। भव्यता के इसी आतंक ने संभवतः टीवी सीरियल्स के निर्माताओं को गीत-संगीत की विधा से दूर रखा। टीवी के लिए सीरियल बनाने वालों की माली हालत वैसे ही बहुत अच्छी नहीं होती है ऐसे में खर्चीले डांस-साँग सिक्वेन्स कैसे संभव होंगे? इसी दुविधा के कारण टीवी सीरियल्स में आज भी गीत-संगीत का समावेश बड़ा सीमित ही हो पा रहा है।

टीवी सीरियल्स अथवा टेली फिल्म में वैसे कहानी की माँग के अनुरूप साधारण मगर मर्मस्पर्शी गीत-संगीत के टुकड़े तो डाले ही जा सकते हैं। उसी तर्ज पर जैसे बड़जात्या बंधुओं के राजश्री प्रोडक्शन में प्राकृतिक दृश्यावलियों के परिप्रेक्ष्य में गीत-संगीत रखे जाते हैं। वैसे भी 'रूप की रानी...' फिल्म में भव्यता के तले जिस प्रकार गीत-संगीत ने दम तोड़ा है उसे देखते हुए तो भव्यता की यह अनिवार्यता एक बहाना ही लगती है।

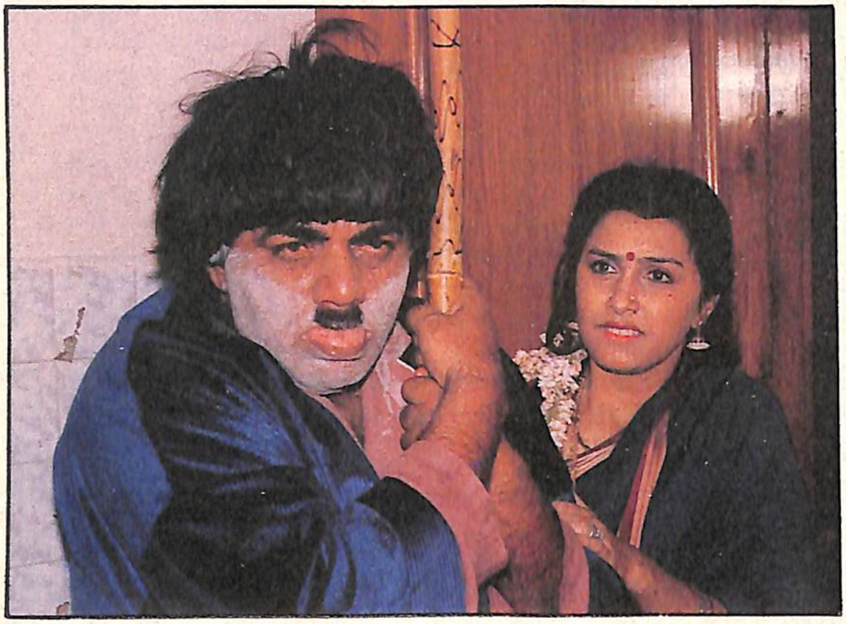
अब जबकि टीवी भी मनोरंजन का बहुश्रुत-बहुदृश्य माध्यम बन गया है, उसे गीत-संगीत जैसी विधाओं से समृद्ध किया जाना जरूरी है। उसे अब नकली अवरोधों से रोका नहीं जाना चाहिए।

देने वाली मुर्गी है। एक बार यह जान लेने के बाद उसका सोच ज्यादा से ज्यादा विज्ञापन बटोरना हो गया है। कार से लेकर हेयर रिमूवर तक और सूटिंग-शर्टिंग से लेकर केयर-फ्री तक के उसे विज्ञापन चाहिए।

□□ पंजाब और हरियाणा की खेती दिखाते समय कोई यह नहीं सोचता कि मालवा और निमाड़ की खेती की दिक्कतें क्या हैं?

जाहिर है कि जिस तेजी से उपभोक्ता समाज खड़ा करने की कोशिश की जा रही है, वे सब बहुराष्ट्रीय और देशी कंपनियों की जरूरतों को देखते हुए है। लेकिन, इससे गाँव के समाज में एक खास तरह की हीनताबोध विकसित होने लगा है। यह सीधा-सा तर्क आखिर क्यों नहीं समझा जा रहा कि ज्यादा से ज्यादा रोजगार पैदा किए बिना गाँवों में एक पूरा उपभोक्ता समाज और संस्कृति का निर्माण नहीं किया जा सकता और रोजगार के मामले में गाँवों का यह हाल है कि वे तेजी से उजड़ते जा रहे हैं। उनके अपने पारंपरिक रोजगार उनसे छिनते चले जा रहे हैं और नए रोजगार वहाँ पैदा नहीं हो रहे हैं। ऐसे में, जरूरी क्रयशक्ति कहाँ से आ पाएगी और दूरदर्शन द्वार बहु-विज्ञापित माल कैसे बिकेगा। लेकिन, दूरदर्शन को इस बात की फिक्र नहीं। उसे तो विज्ञापन चाहिए। चाहे वे महँगे से शेम्पू और हेयर कंडीशनर के हों या नए फ्रीज के। इस परजीवी संस्कृति ने गाँवों में एक अजीब-सी बौखलाहट पैदा करनी शुरू कर दी है।

जब तक नई आर्थिक नीति और तथाकथित आर्थिक सुधारों का सिलसिला शुरू नहीं हुआ था, तब तक तो यही लग रहा था कि दूरदर्शन गाँव के समाज की पुनर्रचना के लिए सच में कुछ सकारात्मक और कारगर पहल करेगा। लेकिन, अब तो यह उम्मीद भी जाती रही। अब खतरा सीधा सामने तनकर खड़ा है कि दूरदर्शन की इस सोची-समझी साजिश या कि लापरवाही के चलते गाँवों का एक जरूरी पुनर्निर्माण तो नहीं हो पाएगा, हाँ, वहाँ जो कुछ भी श्रेष्ठ और सुंदर बचा हुआ है वह भी बहुत जल्दी खत्म हो जाएगा। इस बर्बादी के लिए जिम्मेदार इस देश की दोगली राजनीति, अंतरराष्ट्रीय आर्थिक हितों की संरक्षक देशी अर्थनीति तो होगी ही, इसके साथ-साथ दूरदर्शन जैसे माध्यम भी बराबरी से जिम्मेदार होंगे और तब फैसले के वक्त दूरदर्शन के पास अपनी सफाई में कहने के लिए ज्यादा कुछ नहीं होगा। ■



टी ली...

आप कह सकते हैं कि जो दुर्दशा आकाशवाणी की हुई है वैसी ही स्थिति दूरदर्शन की बनने जा रही है। इसके लिए सरकारशाही और नौकरशाही को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। अफसर लोग पेट भरते हैं और सरकार तमाशा देखती रहती है और मीडिया चरित्र का यह फिल्मांकन चलता रहता है। एशियाड से दूरदर्शन के विस्तार की कथा अधिक लंबी नहीं है और दस साल में ही दूरदर्शन को बुढ़ापे ने घेर लिया है। इसमें काम करने वाले

मेहमूद-चन्ना रूपारेल : बसेरा

व्यंग्य

आओ, सीरियल-सीरियल खेलें!

● **दिलीप गुप्ते**

लोग चाहे जो कहें, टीवी सीरियल बनाना बच्चों का खेल है। दूसरे खेलों में चोट लगने के, हारने के अवसर होते हैं मगर सीरियल बनाने में कोई रिस्क नहीं है। सीरियल बनाने के खेल में न नेट-प्रैक्टिस की जरूरत होती है, न फिटनेस की। सीरियल वह चिन्दी है जिसे पाकर चूहा किसी आलीशान क्लॉथ मार्केट में एयर कंडीशन शो रूम खोलने के ख्वाब देख सकता है। एक बार सीरियल बनाने की मंजूरी भर मिल जाए, फिर सीरियल बनाना ओलिंपिक में भारत के हारने जितना सरल काम है।

दूरदर्शन का सबसे प्यारा विषय है पंजाब समस्या। जहाँ कहीं भी पगड़ीधारी सिख दिखा दूरदर्शन मत्था टेक देता है। पंजाब समस्या पर सीरियल बनाना बड़ा आसान है। भैंस की जुगाली जितना। अभी तक के पंजाब संबंधी सीरियल देखकर 'नया' सीरियल ठोक दीजिए। लगता है, दूरदर्शन ने आतंकवादियों को धमकी दे रखी है कि जब तक पंजाब को लेकर बने हमारे सीरियल खत्म नहीं हो जाते तब तक हथियार मत डालना वर्ना बुरा होगा। के.पी.एस.गिल के कारण आतंकवादियों ने हथियार टाँग दिए। डाल दिए हैं। मगर निराश होने की जरूरत नहीं। पंजाब समस्या नहीं तो क्या, असम समस्या तो है। काश्मीर समस्या तो है। त्रिपुरा, मणिपुर, तमिलनाडु...समस्याओं की क्या कमी? बस, हरजिंदर सिंघ की जगह हरेन्द्र या हैदर कर दीजिए। गुलाबसिंह को गुलाब खान कर दीजिए। गोगाई कर दीजिए। एस.गुलाब कर दीजिए। वेश और परिवेश बदल दीजिए और साल भर तक सीरियल परोसते रहिए।

दूरदर्शन को नशीली दवाओं के विरोध में सीरियल फेंकने का भी नशा है। नशेड़ियों पर जितने भी सीरियल आए हैं, एक जैसे हैं। फर्क सिर्फ उतना ही है जितना मेंड्रेक्स के नशे में और एल.एस.डी. के नशे में और ब्राउन शुगर के नशे में होता है। ऐसे सीरियलों में न अच्छे संवादों की जरूरत होती है, न अच्छे अभिनय की, न अच्छे निर्देशन की।

सस्ती प्रेम कहानियों पर भी सीरियल बनाए जा सकते हैं। 'हमराही' और 'फिर वही तलाश' में और क्या है? फुटपाथ पर बहुत सी सस्ती, रूमानी किताबें बिकती हैं। कोई भी उठा लीजिए। या फिर आज की फिल्मों से प्रेरणा लीजिए।

हास्य सीरियल बनाना हो तो इस बात का ध्यान रखें कि उसमें हास्य न हो। ज्यादा जानकारी के लिए मंडी हाउस के उस पान वाले से संपर्क करें जिसका एक 'हास्य' धारावाहिक सुबह चिपकाया जाता था।

मुस्लिम संस्कृति पर सीरियल बनाते वक्त एक बात याद रखिए कि पृष्ठभूमि चाहे बंगाल, केरल की हो, उसके पात्र ठेठ जामिया मिलिया के प्रोफेसरों जैसी उर्दू बोलें। दूरदर्शन की ही तरह आप भी अपनी समझ टीवी सेट जितनी सीमित कर लीजिए कि काजी नजरुल इस्लाम ने मुस्लिम होने के बावजूद बंगला भाषा में कविताएँ रचीं। मुस्लिमों को उर्दू के साथ नत्थी करने की खुशफहमी में दूरदर्शन ने 'टीपू की (जंग खाई) तलवार में महान देशभक्त टीपू को कन्नड़ में न बोलना दिखाकर अकबर के जमाने की उर्दू बोलता दिखाया। दूरदर्शन का बस चले तो वह बोस्निया के मुसलमानों से भी गालिब की उर्दू बुलवा ले।

सीरियल बनाने के खेल में एक सुभीता यह भी है कि दूरदर्शन पर भ्रष्ट हिंदी भी फेंकी जा सकती है। अधिकारी या तो अनपढ़ होते हैं या हिंदी विरोधी। आप 'त्रिपुरा' को सलमा आपा की तरह 'तिरूपरा' बोलें तो भी कोई भौं टेढ़ी नहीं करेगा। वेदप्रकाश की तरह 'मत्स्य' को मतस्य' कहें तो भी कोई आपके मुँह में काँटा डालकर वह गलत शब्द नहीं निकालेगा।

बच्चों को लेकर सीरियल बनाना हो तो उन्हें पढ़ते हुए कभी भी न बताइए। उन्हें हमेशा अमीर बताइए ताकि वे गरीबों की मदद कर सकें। व्यंजनों पर ऐसे सीरियल बनाएँ जिसमें काजू, बादाम, शुद्ध घी, केसर, पिश्ते वगैरा हों। इससे उस दर्शक को लाभ होगा जो राशन के गेहूँ की रोटी पर एक बूँद वनस्पति घी देखने को तरस जाता है।

विषय तो बहुत हो गए। अब कुछ सावधानियाँ। सीरियल ऐसे बनाएँ कि दूरदर्शन वाले बाद की कड़ी पहले और पहले की कड़ी बाद में बता सकें। सीरियल के

ली...ली...मसूर की दाल

● **जयसिंह**

कई बूढ़े चेहरे आप गिन चुके होंगे और दुआ करते होंगे कि ये सामने न आएँ। आपने देखा होगा 'पत्रों के उत्तर' कार्यक्रम हफ्ते में एक दिन आता है। पत्र पढ़ने वाली वाचिका और उत्तर देने वाले एक थुलथुल देह, क्षीण और भर्राई आवाज वाले सज्जन क्या बोलते हैं। वही आकाशवाणी की तर्ज पर घिसे पिटे जवाब जो अर्थहीन होते हैं। कभी कभार एक महिला दिखाई देती है जो स्कूल में डंडा दिखाकर बच्चों को पढ़ाने की तर्ज पर कुछ बोलती रहती है अपने थोड़े दाँतों का प्रदर्शन करते हुए। मुझे इन महानुभावों के नाम मालूम नहीं आप पता लगा सकते हैं।

कहने की शायद जरूरत नहीं है कि आकाशवाणी का सारा भ्रष्टाचार बगैर किसी मेहनत के दूरदर्शन में जा घुसा है। लोग तो आकाशवाणी के ही थे जिन्हें अपनी अनुभवहीनता के बावजूद इस नएं मीडिया को संभालना था, जिन्होंने अपने बचाव के लिए पहले से ही पट्टिकाएँ बना ली थीं- **रुकावट के लिए खेद है।** दर्शक चिढ़ें, रोएँ और कुछ भी कहें, इससे इनका कोई वास्ता नहीं है। जब पहाड़ी नाले की तरह पैसा बहकर सामने आया, तो अफसरों की आँखें चौंधिया गई। ऐसी हालत में आकाशवाणी का रेडीमेड भ्रष्टाचार काम आया। कहते हैं कि मंडी हाउस के सामने एक पान वाला जो काम करा सकता है वह कोई मंत्री भी नहीं करा सकता। सारा लेनदेन टेबल के नीचे चलता है। जानने वाले तो इससे भी अधिक अजीबोगरीब बातें जानते हैं।

आकाशवाणी में आजकल यह चल रहा है कि कोई दावत दे देता है, तो उसका कांट्रेक्ट पक्का हो जाता है। खिलाना-पिलाना, सामाजिक रिश्ते बनाने की एक सीढ़ी है। लेकिन दूरदर्शन के अफसरानों के लिए दावत छोटी चीज है। वहाँ किसी 'एपीसोड' की मंजूरी के लिए लाखों का वारान्यारा चलता है। रहा गुणवत्ता का सवाल तो आप ऐसे अफसरों से क्या बात कर सकते हैं, जो इसके किसी पहलू के बारे में बिल्कुल अनघड़ हैं।

दूरदर्शन के आरंभिक दिनों की कहानी काफी सुखद है। तब दर्शकों को अच्छे स्तर के कार्यक्रम देखने को मिलते थे। रविवार की फिल्म के लिए कमरों में भीड़ लगा करती थी। चित्रहार का स्तर भी बेहतर था। 'रामायण' और 'महाभारत' काल में सड़कों का स्यापा सभी ने देखा है। बसें रुक जाती थीं और रेलें लेट हो जाती थीं। 'हमराही' और 'बुनियाद', तमस, तलाश और फ्लॉफ शो जैसे उच्चस्तरीय एपीसोड ने समा बाँधा था। लेकिन समय का फेर देखिए, दूरदर्शन ने जब इनमें से कुछ एपीसोड को रिपीट किया, तो दर्शकों का मन ऊब गया। सभी को दूरदर्शन की दयनीयता पर तरस आने लगा। यह सब हुआ है 'केबल टीवी' की वजह से, जो ऐसा ग्लेमर लेकर कूदा है कि दर्शक हक्के-बक्के रह गए है। जीटीवी/स्टार टीवी/एशिया टीवी नित नए स्वादिष्ट पकवान परोस रहे हैं और दर्शक चटखारे ले रहे हैं। अब दूरदर्शन क्या करें। मंडी हाउस की निष्क्रियता, दयनीयता और भ्रष्टाचार की पोल खुल गई और बाजार में टिके रहने के लिए उसने हाथ-पाँव मारना शुरू कर दिया। फिल्लम शरणम् गच्छामी- यानी 'फिल्म शो' जैसा मन सुहाता कार्यक्रम शुरू करके एक मजबूरी को निगला और उल्टी चली हवा को थामने की कोशिश की गई। लेकिन सवाल यह है कि बाजार में टिके रहने के लिए क्या दूरदर्शन वे सारे लटके-झटके कर पाएगा, जो केबल टीवी कर रहे हैं। अच्छे कार्यक्रमों के साथ अच्छे विज्ञापन भी जुड़े रहते हैं। केबल वाले खासा विज्ञापन व्यवसाय अपने पक्ष में कर चुके हैं और दूरदर्शन की आमदनी मारी जा रही है। डर यह है कि हजारों से लाखों और लाखों से करोड़ों की आमदनी तक पहुँचने वाला दूरदर्शन कहीं घाटे में नहीं पहुँच जाए। बाजार में उसकी 'टी ली ली ली मसूर की दाल' जो हो रही है, उससे तो ऐसा ही लगता है कि वह 'कोयले का इंजन' ही बनकर रह जाएगा। इंजन तो बना ही रखा है, संपादकों और समाचार वाचिकाओं ने जो केरल को

यदि फिल्मों और चित्रहारों का प्रसारण दूरदर्शन पर बंद कर दिया जाए, तो घर-घर के टीवी के शटर 'डाउन' हो जाएँगे।

पात्रों के पास फ्रिज, फोन, कार, बंगला होना चाहिए वर्ना आपको भारत की गरीबी दिखाने वाला कहा जाएगा। आपके सीरियल रवि शास्त्री की बल्लेबाजी की तरह लंबे, उबाऊ और नीरस होने चाहिए। जमाने को दिखा दीजिए कि सीरियल खींचने का विशेषाधिकार सिर्फ मश्याजो (मनोहर श्याम जोशी) के ही पास गिरवी नहीं रखा है।

और खास बात। सीरियल पास करवाने के लिए मंडी हाउस की संस्कृति की जानकारी होना जरूरी है। वहाँ हर निर्माता के अपने-अपने दाऊद सेठ होते हैं।

तो अब शुरू हो जाइए। गेट सेट-गो!

कहाँ गए वो लोग : देश भक्ति के नाम पर



केरला और कर्नाटक को कर्नाटका बोलते नहीं शर्माती। कभी-कभी तो समाचार इतने घटिया तरीके से और चबा-चबा कर पढ़े जाते हैं कि उब आने लगती है। अशुद्ध उच्चारण, गलत जानकारियाँ और हास्यास्पद विश्लेषण, दूरदर्शन की एक खूबी है, तो लोग विश्व समाचारों के लिए स्टार टीवी की ओर क्यों न मुड़ें? दोष प्रस्तुतिकरण का है। सरकारी प्रचार का भोंडा प्रदर्शन हमेशा ही हास्यास्पद होता है और अक्सर उसे 'बकवास' मानकर टीवी बंद कर दिया जाता है। यह सच है कि इन तमाम वर्षों में भी दूरदर्शन समाचारों के प्रति दर्शकों में विश्वसनीयता पैदा नहीं कर पाया। तकनीकी दोष भी कुछ कम नहीं। यह देखा जा सकता है कि वाचिका और वाचक एक दूसरे का मुँह ताकते कुछ सेकंड गँवा देते हैं कि कौन शुरू करे।

टीवी के सामाजिक प्रभाव और कुप्रभाव की चर्चा भी की जा सकती है। बच्चों ने अपनी पढ़ाई खराब की। आउटडोर गेम्स छोड़े और बुद्धू बक्से के सामने स्वयं को कमरे में बंद कर लिया। टाफियों, चाकलेटों और फास्ट फूड की चटपटी चीजों के विज्ञापनों ने बच्चों की जबान से लार टपकाना शुरू कर दिया। गृहणियाँ अपना ज्यादा समय टीवी को देने लगीं और मन भावन नई-नई चीजों पर जी ललचाती रहीं। गृहस्थी में जो समय बचता वह आदमी के काम में आता। इसे प्रभाव या कुप्रभाव कुछ भी कहें। यह तो होना ही था। गले में जब घंटी बँधी है, तो चलने पर वह अवश्य ही बजेगी, चाहे मधुर बजे या कर्कश बजे। देहात में लड़कियों ने फैशन सीखा। हो सकता है, घर छोड़कर भाग जाने की रिहर्सल भी की हो। लेकिन एक बात सच है कि देहात में टीवी लोगों को अंधेरे से उजाले में ले आया। अब तो वे 'डिस्क' युग में भी प्रवेश कर चुके हैं और यह धंधा खूब पनप रहा है। जहाँ तक दूरदर्शन के राजनीतिक दुरुपयोग का प्रश्न है, यह बहुत ही दुखान्त कथा है। जब रामायण का प्रसारण शुरू हुआ तो धर्म भीरु लोग गद्‌गद्‌ हो गए। चिंतनशील व्यक्तियों के लिए यह कोरा 'इपिक' था, एक काल्पनिक गाथा। लेकिन चिंतनशील व्यक्तियों के पास सिवाय नाक भौं सिकोड़ने के और रखा ही क्या है? मंदबुद्धि लोगों ने इस 'एपिक' को धर्म से जोड़ा और धर्मान्धिता का जो जहर देश में फैला, वह आज भी जिन्दा है। इसके लिए दोषी कौन है? निश्चित ही दूरदर्शन। सागर बंधुओं और दूरदर्शन ने तिजोरियाँ भरीं और लोग एक दूसरे के गले काटने में लगे रहे। इसके बाद आया- 'महाभारत' इसने दबी छिपी धार्मिक भावनाओं और अंधविश्वासों को पुनः उभारा और देश में सांप्रदायिकता का पारा ऊपर चढ़ता ही गया। अब तीसरी गलती दूरदर्शन 'बाइबिल' दिखाकर कर रहा है। कोयले के इंजन से निकली चिंगारियाँ की आग से कोई कैसे बच सकता है? ■

दूरदर्शन पर समाचार उलझे हुए समीकरण

□ भारत में आज भी रोटी की गरीबी के मुकाबले सूचना की गरीबी कहीं ज्यादा है। □ □ राष्ट्रीय समाचारों में सूचना-प्रसारण मंत्री को लड्डू बाँटते दिखाकर आखिर दूरदर्शन साबित क्या करना चाहता है?

● संदीप श्रोत्रिय

किसी भी सूचना माध्यम के लिए समाचारों का महत्व रीढ़ की हड्डी की तरह ही होता है। यह रीढ़ जितनी सुदृढ़ होगी माध्यम उतना ही प्रतिष्ठित होगा। दूसरी तरफ अगर रीढ़ कमजोर होगी, तो माध्यम की विश्वसनीयता भी संदेह के घेरे में आ जाएगी। हालाँकि किसी भी सूचना माध्यम के आकाओं को यह बात समझनी चाहिए, लेकिन दूरदर्शन के समाचारों को देखने से यही महसूस होता है कि उनकी समझ में यह बात अभी तक नहीं आई है। और यही वजह है कि दूरदर्शन आज तक 'बुद्धू बक्से' की परिभाषा से बाहर नहीं निकल पाया है। भारत जैसे देश में, जहाँ जनसंख्या का साक्षरता प्रतिशत बहुत अधिक नहीं है, जनसंचार के इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों की भूमिका निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है। जब लोग लिखे हुए शब्द को पढ़ने की स्थिति में नहीं होते हैं, तब बोले जाने वाले शब्द और देखे जा सकने वाले दृश्यों का सहारा काफी बड़ा होता है। ऐसे में रेडियो और दूरदर्शन का महत्व स्पष्ट हो जाता है। लेकिन हमारे यहाँ रेडियो और दूरदर्शन की विश्वसनीयता पर अक्सर प्रश्नचिन्ह लगाए जाते हैं। एक ओर जहाँ दुनिया में 'प्रसारण पत्रकारिता' संचार के क्षेत्र में नित नए आयाम रच रही है, वहीं दूसरी ओर हमारे देश में प्रसारण पत्रकारिता को विश्वसनीयता के स्तर पर ही खारिज कर दिया जाता है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यह माध्यम हमारे यहाँ सरकारी नियंत्रण में है। लेकिन किसी भी अन्य सरकारी विभाग की ही तरह वे अंततः इस देश की सर्वशक्तिमान प्रजा के प्रति ही जिम्मेदार है। जैसा कि किसी भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में होता है, सरकार जनता के लिए, जनता के द्वारा और जनता की ही है और इस तरह हमारे देश में दूरदर्शन संसद के मार्फत जनता के प्रति ही जवाबदार है। लेकिन क्या यह समीकरण वास्तव में इतना सीधा और सरल है? यदि ऐसा ही है तो फिर समाचार पत्रों और इन इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के चरित्र में इतना फर्क क्यों दिखाई देता है?

पिछले कुछ सालों से अधिकतर सत्ताधीश अखबारों को यह सलाह देते हुए दिखाई देते हैं कि उन्हें विपक्ष की भूमिका नहीं निभानी चाहिए। इसी तरह दूसरी ओर से आवाज आती है कि रेडियो और टी.वी. को भी सत्ता पक्ष की भूमिका निभाने से रोका जाना चाहिए। शायद यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है, जो कि सरकारी जनसंचार माध्यमों और गैर सरकारी जनसंचार माध्यमों के चरित्र में फर्क का संकेत करता है, लेकिन यहाँ इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए, प्रत्येक जनसंचार माध्यम को खारिज या स्वीकृत करने वाले लोग एक ही हैं। अंततः जनता ही किसी जनसंचार माध्यम को या तो स्वीकार करेगी या फिर अस्वीकार कर देगी। और जब रेडियो, टी.वी. या अखबार की वफादारी जनता के प्रति ही है, तो किसी किस्म के घर्षण या प्रतिघर्षण की स्थिति तो पैदा ही नहीं होनी चाहिए। लेकिन क्या सचमुच ऐसा ही है? लोग दूरदर्शन को सरकारी प्रचार तंत्र कहकर पल्ला झाड़कर खड़े हो जाते हैं, लेकिन अगर सरकारी कहे जाने वाले इन प्रचार तंत्रों की नीतियों और निर्देशों का एक बार भी अध्ययन किया जाए, तो हम पाते हैं कि इन माध्यमों के जरिए कहीं कोई ऐसी व्यवस्था नहीं की गई है कि जनता से किसी सूचना को छिपाया जाए या किसी व्यक्ति विशेष की बातों को अतिरिक्त महत्व दिया जाए। मिसाल के तौर पर प्रसारण माध्यमों के लिए पार्थसारथी कमेटी द्वारा जारी समाचारों संबंधी निर्देशों में शुरू में ही स्पष्ट कहा गया है कि समाचारों में कोई भी समाचार अपनी 'न्यूज वैल्यू' के आधार पर शामिल किया जाए। राजनीतिक विवादों के मामले में हर पक्ष को उचित स्थान मिलना चाहिए और इस मामले में रेडियो और टी.वी. का रवैया उद्देश्यपूर्ण और सही होना चाहिए। इसी कमेटी ने यह भी कहा है कि समाचारों की प्रस्तुति और रिपोर्टिंग की विधि उन मूलभूत सिद्धांतों से मेल खाते हुए होनी चाहिए, जो राष्ट्रीय नीतियों के आधार हैं। साफ जाहिर है कि

अगर हम इन निर्देशों का शब्दशः पालन करें, तो दूरदर्शन की विश्वसनीयता को फिर से विवाद के घेरे से बाहर निकाला जा सकता है। लेकिन स्थिति इसलिए गंभीर है कि समाचार सेवा प्रभाग के बार-बार जोर देने पर भी समाचारों से जुड़े अधिकांश संपादकों और संवाददाताओं ने इन निर्देशों को पढ़ना तक जरूरी नहीं समझा। यह बात बताते हुए पिछले दिनों समाचार सेवा से जुड़े एक वरिष्ठ अधिकारी ने यह स्वीकार किया कि ज्यादातर संपादकों को इन निर्देशों की जानकारी भी नहीं है। ऐसी स्थिति में हम यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि इन समाचार अधिकारियों के सहारे इतने बड़े प्रजातांत्रिक देश की आम जनता के प्रति दूरदर्शन द्वारा अपनी जिम्मेदारियों को पूरा किया जा सकता है। दूसरी तरफ जो कुछ हिम्मतवाले अधिकारी सही दिशा में कार्य करने का प्रयास भी करते हैं। उन्हें राजनीतिज्ञों के क्रोध का शिकार होना पड़ता है। हाल ही में भोपाल दूरदर्शन के समाचार संपादक को मानव संसाधन मंत्री श्री अर्जुनसिंह की भोपाल में आयोजित राजनीतिक सभा के दृश्य समाचारों में न दिखाने के सही निर्णय से भी राजनीतिज्ञों के आक्रोश का शिकार होना पड़ा। ऐसा प्रायः होता रहता है। यही वजह है कि दूरदर्शन के राष्ट्रीय समाचारों तक सूचना मंत्री किसी मंदिर में लड्डू बाँटते हुए भी दिखाई दे जाते हैं।

इन दिनों समाचारों में संसद की कार्रवाई के कवरेज को लेकर वाद-विवाद चल रहा है। यही वजह है इस मुद्दे पर विचार करने के लिए सांसदों की एक समिति बनाई गई है, लेकिन ऐसी समितियों के माध्यम से आज तक किसी समस्या का कोई स्थाई हल नहीं निकला, तो अब क्या उम्मीद की जा सकती है। इन दिनों दूरदर्शन को अंतरराष्ट्रीय रंग में रंगने का अभियान चल रहा है। खासतौर पर समाचारों में पिछले महीनों में काफी बदलाव आया। विदेशी टीवी की तरह दूरदर्शन के न्यूजरीडर भी दर्शकों से आँखें मिलाकर खबरें सुनाते हैं। पीछे की तरफ दूरदर्शन की खिड़की दिखाई देती है। जिसमें खबरों के दृश्य नक्शे और तस्वीरें दिखाई जाती हैं और तो

दूरदर्शन के समाचारों में विश्वसनीयता कतई नहीं है, इसीलिए लोग अखबारों पर अधिक विश्वास करते हैं।

और समाचारों के पहले और बाद में नया त्रिआयामी प्रतीक चिन्ह और नई हस्ताक्षरी धुन (सिग्नेचरट्यून) भी सुनाई देती है। उधर समाचारों के कवरेज के मामले में भी कुछ सुधार हुआ है। लेकिन आज भी दूरदर्शन का उन परंपराओं से कोई लेना-देना नहीं है जिससे कोई भी समाचार माध्यम जाना जाता है। जैसे कि दूरदर्शन ने समय का अनुशासन मानना आज तक नहीं सीखा। एक-दो मिनट तो वे यूँ आगे चले जाते हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो। कहीं ऐसा तो नहीं कि ये परंपरा भारतीय रेलवे से उधार ले रखी हो। आज भी लोग आकाशवाणी के समाचार सुनना ज्यादा पसंद करते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि दूरदर्शन अभी परिपक्व नहीं हुआ है। भारत में रेडियो का आगमन अब से कोई साठ साल पहले दुनियाभर में रेडियो प्रसारण की शुरूआत के लगभग साथ-साथ ही हुआ था जबकि दूरदर्शन की आमद बहुत देर से हुई है। अमेरिका में पहला टी.वी. प्रसारण १९३० में हुआ था और ब्रिटेन में १९३६ में टीवी आया जबकि हमारे यहाँ सामान्य प्रसारण दिल्ली के दर्शकों के लिए १९६५ में किया गया और देश भर में विस्तार का काम १९८२ में एशियाड के समय किया गया था। इसीलिए आकाशवाणी के पास जहाँ परंपराएँ और प्रतिभाएँ हैं वहीं दूरदर्शन आज भी प्रयोगों के दौर से गुजर रहा है। दूरदर्शन की उम्र को भुलाकर उसे जल्दी जवान बनाने की कोशिशें कितनी सार्थक हैं यह तो आने वाला समय ही बताएगा लेकिन फिलहाल आज के हालात और योजनाओं को आधार बनाकर अंदाजा तो लगाया ही जा सकता है।

यह सही है कि अगर टीवी को पढ़ा और



बालों में गुलाब का फूल और सलमा सुल्तान

*दूरदर्शन के पर्दे पर बरसों से समाचार पढ़ने वाली **सलमा सुल्तान** और दूरदर्शन एक-दूसरे से कुछ इस तरह जुड़ गए हैं कि वे दूरदर्शन से अलग अपनी कल्पना भी नहीं कर सकतीं। ठीक उसी तरह सलमाजी के अपने घर के हर कौने पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट नजर आती है। घर की साज-सज्जा भव्य होते हुए भी सलमाजी की तरह ही सरल एवं सहज नजर आती है। भोपाल मेरा पहला प्यार है... कहने वाली सलमाजी बताती हैं कि कैसे भोपाल में उनका बचपन और किशोरवस्था गुजरी। सन् ६७ से वे दिल्ली आ गईं। ''तब से आज तक दिल्ली की ही हो गई हूँ। यहाँ बहुत कुछ मिला है मुझे। लेकिन भोपाल पलट कर बार-बार जाना चाहती हूँ। दिल्ली में सब कुछ होते हुए भी कुछ अपना नहीं लगता। जबकि भोपाल पहुँच कर लगता है कि जैसे चिड़िया अपने घोंसले में पहुँच गई है।'' सलमाजी की बड़ी बहन मैमुना सुल्तान भोपाल में राजनीति में हैं। उनकी शादी परिवार वालों ने तय की है। पति इंजीनियर हैं। दो बच्चे हैं। वैसे तो लोकप्रिय व्यक्ति होने के कारण सलमाजी की जीवन शैली पर कोई खास फर्क नहीं पड़ा है। लेकिन एक बात का उन्हें जरूर दुख है कि हर जगह पहचाने जाने की वजह से वे शॉपिंग के दौरान चीजों के भावताव नहीं कर पातीं। दुकानदार जो माँगे वह कीमत देनी ही होती है।*

आप अपने आपको दूरदर्शन के परिप्रेक्ष्य में कैसे विश्लेषित करती हैं?

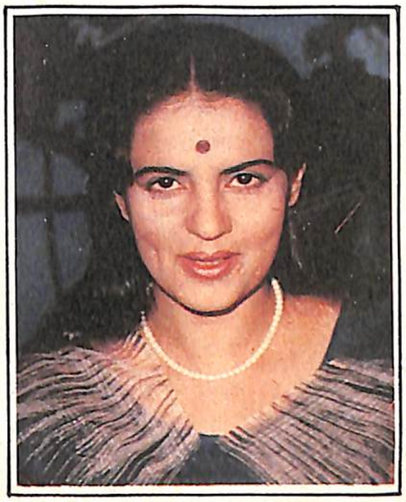
सलमाजी कहती हैं- जिंदगी को टीवी से सीखा और टीवी को जिंदगी से या यूँ कह लें कि सन ६७ से जब से दूरदर्शन ज्वाइन किया है टीवी और मेरी एक साथ एक मुस्तकिल ग्रोथ हुई है। कुल जमा जो मेरा व्यक्तित्व बना है, उसमें दूरदर्शन की एक बड़ी हिस्सेदारी है।

संघर्ष भी करना पड़ा?

संघर्ष तो किया। लेकिन मैं इस मामले में भाग्यशाली रही कि मुझे अपनी जीविका के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। संघर्ष किया अपने को स्थापित करने के लिए। हर रोज, सीखा। अपनी खामियाँ खुद निकालीं। बहुत लोगों ने बहुत तरह की आलोचनाएँ कीं। उन तमाम लोगों की आलोचनाओं को शांति से सुना। फिर देखा कि कौन सी आलोचना उचित है कौन सी अनुचित।

आप तो अँगरेजी साहित्य की छात्रा रही हैं, हिन्दी समाचार वाचन क्यों चुना?

समाचार पढ़ने का मौका इस तरह अचानक मिला कि चुनने का प्रश्न नहीं उठा। दूसरे अँगरेजी की छात्रा होने के बावजूद मध्यप्रदेश और खासतौर पर भोपाल से होने के कारण हिंदी और उर्दू दोनों पर ही नियंत्रण था। कुछ ऐसा लगा ही नहीं कि हिंदी में पढ़ने के लिए कोई विशेष प्रयास करने पड़े हों। समाचारों की शुरूआत भी कुछ यूँ हुई कि एक रोज हिंदी के समाचार वाचक किसी कारणवश समाचार पढ़ना नहीं



चाहते थे। वे समाचार प्रसारण के कुछ ही देर पहले अचानक अपना सिर मुँडवाकर स्टुडियो में पहुँच गए। मैं उस समय उद्घोषणाएँ करती थी। इमर्जेंसी की उस स्थिति में प्रोड्यूसर ने कहा कि इनसे पढ़वा लेते हैं। उद्घोषणाओं की तो रिकॉर्डिंग होती है। लेकिन समाचारों का तो सीधा प्रसारण होता है। उस दिन डर भी बहुत लग रहा था। दिल धड़क रहा था। हम उस दिन बेधड़क समाचार पढ़ गए। तब से अब तक सिलसिला जारी है।

आप तो पंद्रह-बीस बरसों से समाचार पढ़ रही हैं। इस बीच कई नए लोग आए। क्या आपको कॉम्पिटिशन करनी पड़ी है?

नहीं, और किसी से तो नहीं अब अपने आप से ही कॉम्पिटिशन करती हूँ। इतने बरसों से समाचार पढ़ रही हूँ फिर भी लगता है कि हर रोज सीखना होता है। बाद में अपनी ही रिकॉर्डिंग देखकर अपनी खामियाँ पता चलती हैं।

समाचार पढ़ते वक्त समाचारों की विषयवस्तु से क्या आप प्रभावित होती हैं?

नहीं, बल्कि समाचार पढ़ते वक्त हम अपनी तमाम भावनाओं से अपने को पूरी तरह काट लेते हैं। न ही समाचार के किसी हिस्से से हम निजी तौर पर प्रभावित होते हैं और न ही, निजी जिंदगी के दुख हमारे चेहरे से झलकते हैं। दुनिया भर की जानकारी देते वक्त विचारों को बंद कर एक तरह का मानसिक संतुलन बनाए रखना होता है।

क्या आप मानती हैं कि महिला समाचार वाचिकाएँ और उद्घोषिकाएँ अपनी साज-सज्जा पर कुछ ज्यादा ही ध्यान देती हैं?

इसमें हर्ज ही क्या है? हमारी संस्कृति हमारी वेशभूषा सभी कुछ बहुत सजावटी और कलात्मक है। हमें अपनी संस्कृति के अनुरूप ही दिखना होता है। हमारे यहाँ महिलाओं के लिए जितने वस्त्र, आभूषण हैं उतने विदेशों में तो नहीं हैं। मेरे बालों में गुलाब लगाने के बारे में भी पहले काफी बहस होती थी। कहा जाता था कि यह दूरदर्शन के पर्दे पर काफी खटकता है। स्टाफ में ही बहस थी। गुलाब लगाने या न लगाने के बारे में। खैर, गुलाब तो हमने नहीं हटाया।

आपके पास तो साड़ियों और गहनों से अलमारियाँ भरी होंगी?

नहीं! बल्कि मुझे भी आश्चर्य होता है कि लोगों को ऐसा आभास क्यों होता है कि मैं हमेशा नई-नई साड़ियाँ ही पहनती हूँ। जबकि मेरी अलमारियाँ तो नहीं भरी हैं। हाँ! पहनने का तरीका कुछ ऐसा है कि नया लगता है।

आपको प्रशंसकों की चिट्ठियाँ किस प्रकार की मिलती हैं?

दर्शक मुझे अपने घर की एक सदस्य की तरह मानते हैं। एक कलाकार के लिए लोगों का यह प्यार बहुत जरूरी है। मेरे फैन जो चिट्ठियाँ लिखते हैं उनमें तारीफ भी होती है, आलोचना भी। कोई कहता है आप माथे पर बिंदी लगाया कीजिए। आप पर फलाँ साड़ी खूब फबती है।

● **प्रस्तुति : शिखा परिहार**

सुना जा सकने वाला अखबार बनाना है तो समाचार बुलेटिन को अंतरराष्ट्रीय स्वरूप दिया जाना भी बहुत जरूरी है। लेकिन ये प्रयास बहुत सोच समझकर सही दिशा में किए जाने चाहिए। तकनीकी और साज-सज्जा के स्तर पर यह सब करने में दूरदर्शन के पास जोश और कोष तो बहुत है लेकिन होश की काफी कमी है।

अति उत्साह में दूरदर्शन वाले यह भूल जाते हैं कि किसी भी परिवर्तन से पहले कुछ तैयारियाँ की जाती हैं। जब बी.बी.सी. और ए.बी.सी. की तर्ज पर समाचार वाचकों के लिए ''टेलीप्राम्पटर'' लाया गया, तो दूरदर्शन वालों में ऐसा उत्साह था कि जैसे बावले गाँव में ऊँट आ गया हो। तुरत-फुरत बिना प्रशिक्षण दिए समाचार वाचकों को इस यंत्र के सामने बैठा दिया गया। इसके पर्दे पर दिखाई देने वाले समाचार उन्हें पढ़ने थे जिसकी वजह से दर्शक को यह भ्रम होता है उसे देखकर ही खबरें सुनाई जा रही हैं। प्रशिक्षण के अभाव में स्थिति यह है कि आज भी कुछ समाचार

वाचकों को टेलीप्राम्पटर की ठीक से आदत नहीं पड़ी है और वे अक्सर अपने कागजों पर ही भरोसा करते हैं। ऐसे में रामू दामोदरन की याद आती है जो बिना टेलीप्राम्पटर के ही यों पढ़ते थे जैसे सारी घटना खुद ही देखकर आ रहे हों। उधर समाचार संकलन को चुस्त-दुरुस्त बनाने के लिए संवाददाताओं की भरती की प्रक्रिया भी शुरू हो गई है लेकिन दूरदर्शन ने जिन शर्तों पर नियुक्ति देने का प्रस्ताव किया है वह भी नतीजों के प्रति संशय पैदा करता है। ये संवाददाता पाँच-पाँच वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त किए जाएँगे और इनके काम को देखकर उनके 'कॉन्ट्रेक्ट' का नवीनीकरण किया जाएगा। पहली बात तो यह है कि इस पर हर वक्त असुरक्षा की तलवार लटकती रहेगी जिससे बेहतरीन प्रतिभाओं को आकर्षित नहीं किया जा सकेगा। दूसरे जब आज भी नौकरी की पूरी सुरक्षा होने के बावजूद लोग 'सुरक्षित चलो' का उसूल अपनाते हैं तो नई शर्तों के हिसाब से स्थिति क्या होगी यह समझा जा सकता है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि प्रसारण से जुड़े बड़े-बड़े 'माध्यम-पुरुष' अपनी छोटी-बड़ी गलतियों की सजा अन्य विभाग में रहकर काट लेते हैं क्योंकि केंद्रीय सूचना सेवा के तहत कई विभाग होते हैं। लेकिन दूरदर्शन के इस नए "कैडर" से किसी से अगर ऊपर वाले नाराज हो गए, तो नौकरी पर ही बन आएगी।

यों भी अगर दूरदर्शन अपने समाचारों को अंतरराष्ट्रीय स्तर का बनाना चाहता है तो यह तय है कि केवल तकनीक सुधार की योजनाओं से काम नहीं चलेगा। संवाददाताओं के साथ-साथ उसे अपने प्रस्तुतकर्ताओं को भी प्रशिक्षित करना होगा। विदेशी न्यूजरीडर केवल खबरें ही नहीं पढ़ते वरन् समाचार से संबंधित व्यक्तियों से जीवंत साक्षात्कार भी लेते हैं। उनके सवाल किसी व्यक्ति की छबि बनाने के लिए नहीं होते वरन् खबर के आगे पीछे की तमाम खबरें निकालने के लिए ही होते हैं। समाचार संकलन के लिए कुछ निर्णयों की खबरें निश्चय ही चौंकाने वाली हैं। दूरदर्शन ने मौके पर जाकर तुरंत खबरें बटोरने के लिए हेलिकॉप्टर खरीदने का निर्णय लिया था। इस निर्णय के पीछे शायद यह विचार रहा होगा कि भारत जैसे विशाल देश में समाचार संकलन के सामान्य साधन नाकाफी हैं लेकिन गंभीरता से सोचने पर यह शेखचिल्ली के सपने से कम नहीं लगता। आखिर हेलिकॉप्टरों की मदद से दूरदर्शन अपने दर्शकों को क्या देना चाहता है? सही है कि इनकी मदद से कुछ घटनाओं के हवाई दृश्य खूबसूरती से दिखाए जा सकते हैं। बाढ़ हो या सूखा, भूकंप आया हो या जंगलों में आग लगी हो, हेलिकॉप्टर की मदद से दूरदर्शन के लिए हवाई दृश्य लिए जा सकते हैं।

आजकल भी इन प्राकृतिक आपदाओं के समय जब प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री या अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति जब स्थिति का जायजा लेते हैं तो दूरदर्शन की टीम उनके साथ होती ही है। लेकिन अगर दूरदर्शन हेलिकॉप्टर खरीद रहा है तो निश्चय ही उसका उद्देश्य इतना ही नहीं होगा। जब हम हेलिकॉप्टर की मदद से घटना स्थल पर पहुँचकर घटना विशेष के कवरेज की बात सोचते हैं, तो यह व्यावहारिक नहीं लगती। लगता है कि सुई का काम करने के लिए तलवार की खरीदी की जा रही है। यह तो अच्छा हुआ कि समय रहते ही यह तुगलकी निर्णय रद्द कर दिया।

इन परिस्थितियों के बीच अपने दिमागी संतुलन की हर रोज परीक्षा देने वाले समाचार वाचकों की हालत पर तरस खाया जाना चाहिए, लेकिन दिक्कत यह है कि वे भी अपने निर्दोष दर्शकों पर बुरी तरह अत्याचार करते दिखाई देते हैं। बरसों बरस बीत जाने के बावजूद **शम्मी नारंग** ने स्कूल को स्कूल कहना नहीं सीखा। वे उसे अपनी पंजाबी हिंदी में 'सकूल' ही कहते हैं। **सलमा सुलतान** ने अपनी जुल्फों में नए पेचो-खम तो पैदा कर लिए लेकिन उत्तरप्रदेश को उत्त-प्रदेश ही कहती हैं। वे गलतियों पर गलतियाँ यूँ करती हैं जैसे पुलिस की कोई लारी यातायात के नियमों की परवाह किए बिना भागती फिरती है। **जे.वी. रमण** पुराने चावल हो गए हैं भले ही वे चावलों में कंकर ज्यादा परोसते हों। ले देकर कर हिंदी समाचारों की नैया **सरला महेश्वरी, शोभना जगदीश, अविनाश कौर सरीन** और कभी-कभार **मंजरी जोशी** ही खेती हैं। उधर अँगरेजी समाचारों की हालत हिंदी की तुलना में इस मायने में बेहतर है कि उनके पास **रिनी खन्ना** से **सुकन्या** तक

आंध्रप्रदेश के मूल निवासी **जे.बी. रमण** ने सन् १९७९ में जब हिन्दी समाचार पढ़ने शुरू किए थे उस वक्त वे मानते थे कि उन्हें हिन्दी बोलना ठीक से नहीं आता। तेलुगु व अँगरेजी भाषी पाए। फिर भी कभी-कभी उत्सुकतावश मेरे छात्र मुझसे दूरदर्शन के बारे में कोई सवाल या मेरे परफार्मेंस के बारे में कोई रिमार्क दे देते हैं, तो इसे मैं स्वस्थ रूप से लेता हूँ।

अब आप जे.बी. रमण से उनके ही बारे में जानिए

रमणजी का कहना है कि हिन्दी समाचार पढ़ने की जिम्मेदारी उस समय उन्हें जबरन दे दी गई, जबकि वे हिन्दी के इच्छुक नहीं थे। अब तो वे हिन्दी के ही होकर रह गए हैं। दूरदर्शन की ओर आपका रुझान कैसे हुआ? पूछने पर उन्होंने बताया कि उनका दूरदर्शन के प्रति कोई आकर्षण या रुझान नहीं था। न ही दूरदर्शन के ग्लैमर ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। बस एक दोस्त के कहने पर अनिच्छा से ही अँगरेजी और हिन्दी दोनों का 'ऑडिशन' दे दिया। दोनों में ही उनका चयन हो गया। लेकिन उनसे कहा गया कि आप हिन्दी समाचार ही पढ़िए। उन्होंने बहुत मना भी किया कि उन्हें अच्छी हिन्दी नहीं आती। लेकिन उनकी सुनी नहीं गई और वे हिन्दी के ही समाचार वाचक बन गए। लगभग १५ बरसों से हिन्दी समाचारों के पर्याय बन चुके रमणजी अपनी निजी जिन्दगी में काफी विनम्र, धीरे और कम बोलने वाले व्यक्ति हैं। वे दिल्ली विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के शिक्षक हैं। आपके छात्र आपको विशेष मानते होंगे? पूछने पर रमणजी कहते हैं–'हाँ, शुरू में छात्रों को थोड़ा सा अजीब लगता है, लेकिन धीरे-धीरे सबको आदत हो जाती है। मैं कोशिश करता हूँ कि दूरदर्शन की मेरी छबि मेरे पढ़ाई के काम में दखल न दे

समाचार पढ़ने के पहले आप किस तरह की तैयारी करते हैं? पूछने पर रमणजी ने बताया कि इतने वर्षों के अनुभव के बाद अब कैमरे का सामना करने के लिए उनमें पर्याप्त आत्मविश्वास विकसित हो गया है। लेकिन समाचार पढ़ने के लिए हर दिन उनके लिए एक नया दिन ही होता है। अपनी स्क्रिप्ट का पूर्वाभ्यास भी वे समाचारों के एक-दो घंटे पहले करते हैं। रमणजी बताते हैं कि पूर्वाभ्यास के अलावा समाचारों के दौरान आ जाने वाली किसी भी आकस्मिक मुसीबत के लिए उन्हें हर रोज मानसिक रूप से तैयार रहना पड़ता है। हो सकता है कभी चूहा स्टूडियो में टपक पड़े। मक्खियाँ मुँह पर भिनभिनाने लगें। एक बार तो कैमरे का जूमलैंस ही गिर गया। तकनीकी खराबी तो कभी भी हो सकती है।

यह पूछने पर कि हमारे दूरदर्शन के समाचारों की गुणवत्ता की तुलना जब भी अंतरराष्ट्रीय समाचार मापदंडों से होती है तो हम पीछे खड़े नजर आते हैं, ऐसा क्यों? रमणजी ने बताया–'मैं यह कतई मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि हमारे समाचारों की गुणवत्ता किसी से कम है। पहली बात तो यह कि पहले हमें अपने भारतीय संदर्भों एवं उसकी

कई अच्छे वाचक हैं। यही वजह है कि **कोमल जी.बी.सिंह** और **नीति रवीन्द्रन** का इन दिनों न आना भी अखरता नहीं है। फिर भी रमण के छोटे भाई दिखाई देने वाले **निर्मल एण्ड्रयूज** जैसों को बर्दाश्त करना बहुत मुश्किल होता है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर के चक्कर में पड़े दूरदर्शन के लोगों को पहले अपने स्टूडियो की मक्खियों से निजात पानी चाहिए। फिर यह समझना चाहिए कि वे समाचारों के बाद गलत पट्टिका दिखाते हैं, कि अगला समाचार बुलेटिन फलाने बजे। वे समझते हैं कि अँगरेजी में पट्टिका दिखाई तो अँगरेजी के समाचार हो गए और हिंदी में दिखाई तो हिंदी के। उन्हें यह भी देखना होगा कि जो समाचार पढ़े चेहरा भी उसी का दिखाया जाए। साथ ही हर देशी-विदेशी दृश्य के साथ दूरदर्शन का 'चिन्ह' दिखाने का भी कोई औचित्य नहीं है। कई बार एक ही दृश्य में सी.एन.एन. भी लिखा होता है और दूरदर्शन भी। ऐसी न जाने कितनी गड़बड़ियाँ हैं जिनके रहते हम समाचारों को मनोरंजक पहेली कार्यक्रम की तरह गलतियाँ खोजो स्पर्धा में जुटे रहते हैं।

शुरू से अब तक दूरदर्शन समाचारों की हालत को देखने पर लगता है कि हमने तकनीकी प्रगति भले ही कर ली हो लेकिन समाचारों की गुणवत्ता में कोई खास सुधार नहीं आया है। **राजेन्द्र माथुर** के शब्दों में आज भी रोटी की गरीबी के मुकाबले सूचना की गरीबी कहीं ज्यादा है। और सरकारी दूरदर्शन इस दिशा में असरकारी हो पाएगा फिलहाल तो ऐसा नहीं लगता।

पृष्ठभूमि के अनुसार ही अपने समाचारों की तुलना करनी चाहिए। हमारे यहाँ संसाधनों की कमी है। मौजूदा संसाधनों से हम कहीं अच्छा काम कर रहे हैं। वर्ष ७३-७४ में जब दूरदर्शन पर समाचार पढ़े जाते थे, तब वे ठीक रेडियो की तरह ही होते थे। आज तो हमारे यहाँ जिस तरह समाचारों के साथ विजुअल्स का तालमेल होता है वह काबिले तारीफ है। भविष्य में समाचारों को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए कई योजनाएँ बन रही हैं। बस, हम टेक ऑफ की स्थिति में हैं।

दूरदर्शन में जिस तरह भ्रष्टाचार और पक्षपात चलता है, उसी के चलते कार्यक्रमों की गुणवत्ता पर असर नहीं पड़ता है?

मैं यह नहीं कहता कि दूरदर्शन में भ्रष्टाचार नहीं है, लेकिन मैं यह भी जोड़ना चाहूँगा कि दूरदर्शन में भी उतना ही भ्रष्टाचार है, जितना कि देश के अन्य क्षेत्रों में है। यह हमारी समूची कार्यप्रणाली या मानसिकता का ही एक हिस्सा है। सिर्फ दूरदर्शन को इसका दोषी बताना ठीक नहीं है।

आप अनिच्छा से दूरदर्शन में आ गए, लेकिन क्या आप इससे मिली लोकप्रियता को एंजाय नहीं कर रहे हैं?

अब तो बिलकुल नहीं करता। शुरू में जरूर थोड़ा बहुत करता था। अब तो इसके नुकसान ज्यादा होते हैं, जिससे मुझे बहुत कोफ्त होती है। यह ठीक है कि इस लोकप्रियता की वजह से एक फायदा मुझे हुआ है कि आम आदमी की तरह रोजमर्रा की समस्याओं से मुझे नहीं जूझना पड़ता। हर जगह पहचाना जाता हूँ, इसलिए चाहे बैंक हो या इश्योरेंस का काम हो, जल्दी से काम हो जाते हैं।

चलते-चलते उनके परिवार के बारे में पूछने पर रमणजी बताते हैं, वे अपने भाई- भाभी और बहनों के साथ रहते हैं। शादी क्यों नहीं की? पूछने पर उसी गंभीरता से बताते हैं। बस यूँ ही। कोई खास वजह नहीं थी। हो सकता है अब कर लूँ। या कभी न करूँ।

● **प्रस्तुति : शिखा परिहार**



□ *शोभना जगदीश :*

पन्द्रह मिनट में पन्द्रह रंग

शोभना जगदीश को अभी दूरदर्शन पर खबरें पढ़ते बहुत ज्यादा समय नहीं बीता है लेकिन अपने साफ उच्चारण और प्रभावी आवाज के जरिए उन्होंने जल्दी ही अपनी एक जगह बना ली है। शोभनाजी, सलमा सुल्तान और मीनू सहित ऐसी महिला हैं, जो दूरदर्शन की स्टॉफ कर्मचारी हैं। उपरोक्त तीनों महिला समाचार वाचिकाओं के अलावा सभी समाचार वाचिकाएँ दूरदर्शन में अनुबंध के तौर पर काम कर रहीं हैं। शोभना दिल्ली के पहले लखनऊ दूरदर्शन में थीं। शास्त्रीय संगीत की छात्रा रहीं शोभना की तमाम शिक्षा लखनऊ में ही हुई। उनके पति दक्षिण भारतीय हैं और दूरदर्शन में वरिष्ठ कैमरामेन हैं। प्रस्तुत है उनसे हुई संक्षिप्त बातचीत-

अंतरराष्ट्रीय टीवी चैनलों की घुसपैठ से आप लोगों को अतिरिक्त दबाव का सामना करना पड़ रहा है?

यह तुलना ही गलत है। प्रतियोगिता तो वैसे भी हर रोज होती है कि हम अधिक से अधिक गुणवत्ता दें। लेकिन विदेशी टीवी से हमारी तुलना उचित नहीं है। क्योंकि विकसित और विकासशील देशों के मीडिया की तुलना नहीं की जा सकती। एक वो हैं जो गले-गले तक खाने से भरे हुए हैं। सी.एन.एन. है, बीबीसी है, जो लोगों को पकी पकाई रोटियाँ परोस रहे हैं। दूसरी तरफ वे लोग हैं जिनकी दो जून रोटी की जद्दोजहद ही खत्म नहीं होती। शिक्षा का बड़ा अभाव है। ऐसे में हम लोगों को सारा सच कैसे दिखा सकते हैं। उसके दूरगामी परिणाम क्या हो सकते हैं यह सोचना पड़ता है। विकसित देशों में शिक्षा की समस्या नहीं है। वे सारे सच को देखकर अपने विवेक से फैसला कर सकते हैं। अब मान लें कि कहीं कोई धार्मिक स्थल को तोड़ा जा रहा हो, तो बीबीसी तो उसे तुरंत दिखा देगा। हमें

समाचार-वाचक को पन्द्रह मिनट में पन्द्रह विविधताओं से गुजरते हुए अपने चेहरे के हावभाव बदलना होते हैं। अभिनय से अधिक कठिन काम है अच्छी तरह समाचार- पढ़ना।



सोचना पड़ेगा कि जो दूरदराज गाँवों में एक बड़ा अशिक्षित तबका है उस पर इस दृश्य का कितना गहरा असर हो सकता है। शब्द से ज्यादा प्रभाव चित्र डालते हैं। हमें अपनी सीमाओं में ही काम करना होता है।

कहा जाता है कि समाचार वाचन में वाचक की भावनाएँ शामिल नहीं होतीं, तो क्या आप इसे एक्टिंग कहेंगे?

सीधे एक्टिंग भी नहीं कहा जा सकता। न ही हम रोबोट की तरह काम करते हैं। भावनाएँ भी होती हैं लेकिन बहुत नियंत्रित होती हैं। नाटकों में एक व्यक्ति को एक ही पात्र निभाना होता है जबकि इस विधा में एक चरित्र को प्रतिपल अपना रूप बदलना पड़ता है। एक वक्त में १५ परिस्थितियों से गुजरना होता है। एक क्षण पहले किसी हादसे की खबर पढ़नी होती है और अगले ही क्षण किसी क्षेत्र की उपलब्धि की, तो उसके अनुसार ही चेहरे के भाव भी बदलने पड़ते हैं।

समाचार वाचक से क्या यह अपेक्षा होती है कि वह स्वयं भी दुनिया भर की जानकारी रखे। उसे तो दूसरों के द्वारा तैयार की गईं खबरें पढ़नी होती हैं?

नहीं, यह सोचना बिल्कुल गलत है। समाचार वाचक के लिए यह बहुत जरूरी है कि उसे दुनिया के बारे में कुछ हद तक तो जानकारी हो। तभी वह समाचारों के साथ मानसिक तालमेल बना सकता है। समाचार पढ़ना सिर्फ बोलने तक ही सीमित नहीं है। उसकी गहरी समझ भी बहुत जरूरी है। तभी आप पर्याप्त रूप से संवाद स्थापित कर सकते हैं। आलेख में कोई गलती है, तो उसे सुधारने की क्षमता वाचक में होना चाहिए। जैसे अभी हाल ही में एक समाचार के दौरान स्क्रिप्ट में गलती से लिखा गया था "ब्रिटिश प्रधानमंत्री जेम्स बेकर"। उस समाचार को मुझे रिहर्सल करने का मौका भी नहीं मिला था। अचानक जैसे ही यह पंक्ति सामने आई दिमाग ने काम किया और मुँह से बस 'ज' निकला ही था कि मैंने तुरंत सुधारकर 'ब्रिटिश प्रधानमंत्री जॉन मेजर' पढ़ा।

दूरदर्शन वैसे भी विवादों से जुड़ा है। महिला होने के नाते क्या आपको भी किन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ता है?

महिला होने के नाते कोई खास समस्याओं का सामना तो नहीं करना पड़ा। मेरे पति भी दूरदर्शन में हैं, इस वजह से मेरे लिए यहाँ काम ज्यादा आसान हो गया। एक तो वे मुझे यहाँ की सही-गलत बातों और मेरे परफॉर्मेंस के बारे में ज्यादा अच्छे से बता पाते हैं। दूसरे, दूरदर्शन एक ग्लैमर का मीडिया तो है ही। तरह-तरह की अफवाहें खूब उड़ती हैं।

अपने परिवार के बारे में बताइए?

मैं अपने आपको बहुत भाग्यशाली मानती हूँ। हमारा अंतरजातीय विवाह है। पति दक्षिण भारतीय आयंगर ब्राह्मण हैं और मैं अग्रवाल। हम दोनों में बहुत गहरी समझदारी है। ससुराल वाले भी मुझे बहुत चाहते हैं। यह बात अलग है कि बाहर की तमाम व्यस्तताओं के बावजूद मैं अपने को पूर्ण तभी मानती हूँ जब मेरा घर भी व्यवस्थित हो। जब दफ्तर से घर लौटती हूँ, तो लगता है कि घर का हर कोना मुझे बुला रहा है।

खूब 'फेन मेल' आती होंगी?

हाँ, बहुत खूबसूरत चिट्ठियाँ आती हैं। मेरे परफॉर्मेंस के बारे में लोग लिखते हैं। लेकिन कई लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ भी लिखते हैं। बहुत अच्छा लगता है कि लोग पर्दे पर हमें देखकर यह विश्वास बना लेते हैं कि यह जो व्यक्ति है इस पर हम पूरा भरोसा कर सकते हैं। अपने दिल की बात बता सकते हैं। ■

निर्मल एण्ड्रुज

आय. ए. एस. समाचार वाचक

दूरदर्शन के दर्शकों के लिए यह दृश्य कतई अपरिचित नहीं होगा कि कभी समाचारों के दौरान समाचार-वाचक अपने बाल सँवारते दिख जाएँ या अपनी सूरत निहारते.... कुछ ऐसा ही वाकया **निर्मल एंड्रुज** के साथ हो चुका है। निर्मलजी कहते हैं कि महिला समाचार वाचकों को सजने-सँवरने में ज्यादा वक्त लगता है। लेकिन वे शर्माते हुए यह भी स्वीकारते हैं कि एक बार कैमरे की आँख ने उन्हें भी अपने बाल सँवारते पकड़ लिया था और इस दृश्य को हजारों लाखों दर्शकों ने टीवी पर देखा। ऐसी घटनाएँ आखिर क्यों होती हैं, यह बताने के लिए निर्मलजी किस्सा सुनाते हैं। हुआ यों कि उन दिनों न्यूज रूम और उसका नियंत्रण कक्ष अलग-अलग मंजिलों पर होते थे। आजकल तो दूरदर्शन भवन की एक ही मंजिल पर आमने-सामने दोनों कक्ष बनाए गए हैं। उस समय समाचार वाचन और रिकॉर्डिंग के बीच कान में लगे एक छोटे से उपकरण के जरिए तालमेल बैठाना पड़ता था। समाचार प्रसारण शुरू होने के ठीक पहले वाचकों का आवाज परीक्षण किया जाता है। उस रोज कान पर लगे छोटे से उपकरण पर संदेश आया कि आवाज परीक्षण दीजिए। इस संदेश के तुरंत बाद वह उपकरण खराब हो गया। नियंत्रण कक्ष से प्रसारण शुरू होने का संदेश निर्मलजी को मिल ही नहीं पाया। उधर कैमरा उन पर फोकस हो चुका था। रात्रि समाचारों का सीधा प्रसारण शुरू हो गया। इधर उन्होंने समझा कि अभी तो आवाज टेस्ट हुई है। प्रसारण का संदेश आना बाकी है बस फिर क्या था, निर्मलजी ने सोचा मौके का फायदा उठाकर अपने बाल सँवार लिए जाएँ। वे कंघी से अपने बाल सँवारते रहे तथा एक तरफ लगे टीवी मॉनीटर सेट पर अपने को निहारते रहे। उधर देश भर के दर्शक भी उनकी इस अदा को देखते रहे। लगभग १५-२० सेकंड बाद निर्मलजी को अहसास हुआ कि कुछ गड़बड़ है। समझ में आते ही उन्होंने तुरंत अपनी पोजीशन ली और समाचार पढ़ने में जुट गए। **लेकिन क्या आप यह नहीं मानते कि समाचार-वाचन के दौरान एकाध बार नहीं बल्कि ऐसी गलतियाँ एक तरह से आम बात हो गई हैं, अक्सर ही समाचार वाचक हकलाते हुए गड़बड़ करते हुए दिखाई देते हैं?**

.... सवाल सुनकर निर्मलजी कहते हैं अच्छा हुआ आपने यह सवाल पूछ लिया। आखिर दर्शकों को यह खुलासा करना बहुत जरूरी है कि ऐसा क्यों होता है। लोग अक्सर सोचते हैं कि जब इन्हें स्क्रिप्ट पहले मिल जाती है, तो भी ये हकलाते क्यों हैं .. दरअसल इसमें गलती किसी की भी नहीं होती। कमी है हमारे यहाँ अत्याधुनिक उपकरणों की। एक तो यह कि कैमरे के नीचे लगे छोटे से ऑटो स्क्रीन पर जब समाचार आलेख आता है तो कई बार इस स्क्रीन पर लाल रंग फैल जाता है। पंक्तियाँ ठीक से दिखाई नहीं देती। दूसरे, अत्याधुनिक तकनीक के अभाव में समाचार प्रोड्यूसर को भारी दबावों में काम करना पड़ता है। सीधा प्रसारण होने के कारण प्रोड्यूसर की जरा सी चूक भी दूरदर्शन के पर्दे पर बहुत बड़ी दिखाई देती है। उसे करीब दस-बारह व्यक्तियों को एक साथ संचालित करना

□ शम्मी नारंग

दर्शक भ्रमित करते हैं!

दूरदर्शन में आप अपने को क्या महसूस करते हैं?

दूरदर्शन के बिना अब हमारी जिंदगी रसविहीन जान पड़ती है। दूरदर्शन हमारा पूरक है। दूरदर्शन ने मुझे यश, मान, शोहरत और पैसा सब कुछ दिया है।

दूरदर्शन में आने से पहले आप क्या करते थे?

दूरदर्शन में आने से पहले में मैं इंजीनियर था। कभी सोचा भी नहीं था कि मीडिया के क्षेत्र में भी आऊँगा।

सर्वप्रथम दूरदर्शन की शुरूआत कहाँ से की?

मैं जब इजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ता था, तो हमारे एक प्रोफेसर ने मेरी आवाज सुनकर कहा कि वाइस आफ अमेरिका में मेरे एक मित्र हैं मैं तुम्हें उनसे मिलवाऊँगा। १९७८ में वे मुझे अमेरिका ले गए। वहाँ वाइस आफ अमेरिका की हिंदी सर्विस के लिए मेरी वाइस टेस्ट की गई। मैं सिलेक्ट हो गया। दो वर्ष बाद वॉइस आफ अमेरिका की हिंदी सेवा छोड़कर बाद में भारत आ गया।

आपने दूरदर्शन कब ज्वाइन किया?

मैंने १९८३ में दूरदर्शन ज्वाइन किया। जब भारत में खबरों का दौर चल रहा था। जैसे ब्लू स्टार ऑपरेशन। इंदिराजी की मौत। राजीवजी का आना। उस समय मैं दूरदर्शन में नया था। दूरदर्शन और वाइस आफ अमेरिका में तकनीकी और प्रशासनिक तरीके में बहुत अंतर है।

भाषाई अशुद्धियों के बारे क्या विचार हैं?

मैं मानता हूँ कि समाचार वाचकों से भाषाई अशुद्धियाँ होती हैं, लेकिन लोग अपने पत्रों द्वारा समाचार वाचकों को और भ्रम में डाल देते हैं।

क्या आपको परिवार के सदस्यों द्वारा सहयोग मिलता है।

मेरी पत्नी घर आने पर बताती है कि शम्मी आज तुम्हारी टाई ठीक तरह से नहीं बँधी थी। चेहरे का एक्सप्रेशन सही नहीं था। आगे मैं और अच्छी तरह तैयारी कर जाता हूँ।

● **प्रस्तुति : ब्रजनंदन सिंह**

होता है। अलग-अलग कामों में लगे व्यक्तियों का तालमेल बनाने के लिए समाचारों की दूरी २० मिनट की अवधि में प्रोड्यूसर को तनाव झेलते रहना होता है। इस पूरी अवधि में उसे हर मिनट एक नया काम संभालना पड़ता है। रंग मिश्रण/ आवाज संचालन/ दृश्य-श्रव्य समायोजन के दौरान कई बार प्रोड्यूसर के हाथ में दोनों समाचार वाचकों की स्क्रिप्ट के पन्नों की अदला-बदली हो जाती है। इससे कैमरा उस वाचक पर केंद्रित हो जाता है, जिसकी बारी नहीं होती और न ही उस समाचार वाचक ने उस पन्ने की रिहर्सल की होती है। बस इसी वजह से हड़बड़ी फैल जाती है और समाचार वाचक घबराहट में हकलाने लगते हैं।

निर्मलजी का मध्यप्रदेश से गहरा ताल्लुक है, क्योंकि वे सिर्फ समाचार वाचक ही नहीं बल्कि मध्यप्रदेश कैडर के वरिष्ठ आई.ए.एस. अधिकारी हैं। वर्तमान में वे दिल्ली में मध्यप्रदेश सरकार के स्थानीय कमिश्नर हैं। मध्यप्रदेश में पंद्रह से अधिक वर्षों तक रहने के कारण वे अपने को एक तरह से मध्यप्रदेशी मानते हैं। वे रहने वाले पंजाब के हैं। क्या अफसरी और समाचार वाचन के कार्य क्षेत्र के बीच कोई समस्या आती है? पूछने पर निर्मलजी बताते हैं कि वे दोनों कामों को बिलकुल अलग-अलग रखते हैं। अपनी अफसरी की नौकरी को प्राथमिकता देते हैं और समाचार वाचन दूसरे नंबर पर आता है।

क्या दफ्तर में इस लोकप्रियता की वजह से उन्हें कोई विशेष महत्व दिया जाता है?

पूछने पर निर्मलजी कहते हैं कि विशेष महत्व की बात तो नहीं होती, सिवाय इसमें कि लोगों से घुलने-मिलने में उन्हें आसानी होती है। निर्मलजी अफसर बनने से पहले से आकाशवाणी से जुड़े रहे हैं।

● **शिखा परिहार**

शीला चमन

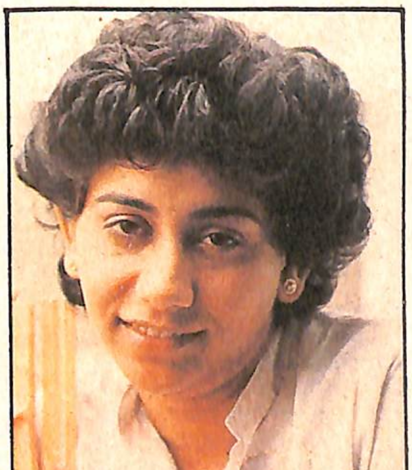
यदि समाचार वाचिकाओं की सौंदर्य स्पर्धा हो तब विजय मुकुट निश्चय ही **शीला चमन** के शीश को श्रृंगारित करेगा। सन् १९७१ में वे 'मिस इंडिया' की पदवी प्राप्त कर चुकी हैं। पिता खाद्य निगम में अधिकारी रहे थे इसलिए उन्होंने चौदह स्कूलों एवं तीन महाविद्यालयों में रहकर अपनी शिक्षा पूरी की। आकाशवाणी की विदेश सेवा के लिए साक्षात्कार एवं प्रेस रिव्यू के जरिए उनका कैरियर शुरू हुआ। दूरदर्शन पर वे पहली बार महिला कार्यक्रम 'मिरर ऑफ द वर्ल्ड' की उद्घोषिका के रूप में आईं। अगस्त १९८५ से वे समाचार वाचिका के रूप में छोटे परदे पर आने लगीं। उनके पति बलदेव चमन फौज के पूर्व अधिकारी हैं तथा कम्प्यूटर व्यवसाय से जुड़े हैं। शीला को समाचार पढ़ने में आनंद तो मिलता है, मगर वे इस काम को केवल पार्ट टाइम में ही करना चाहती हैं। □

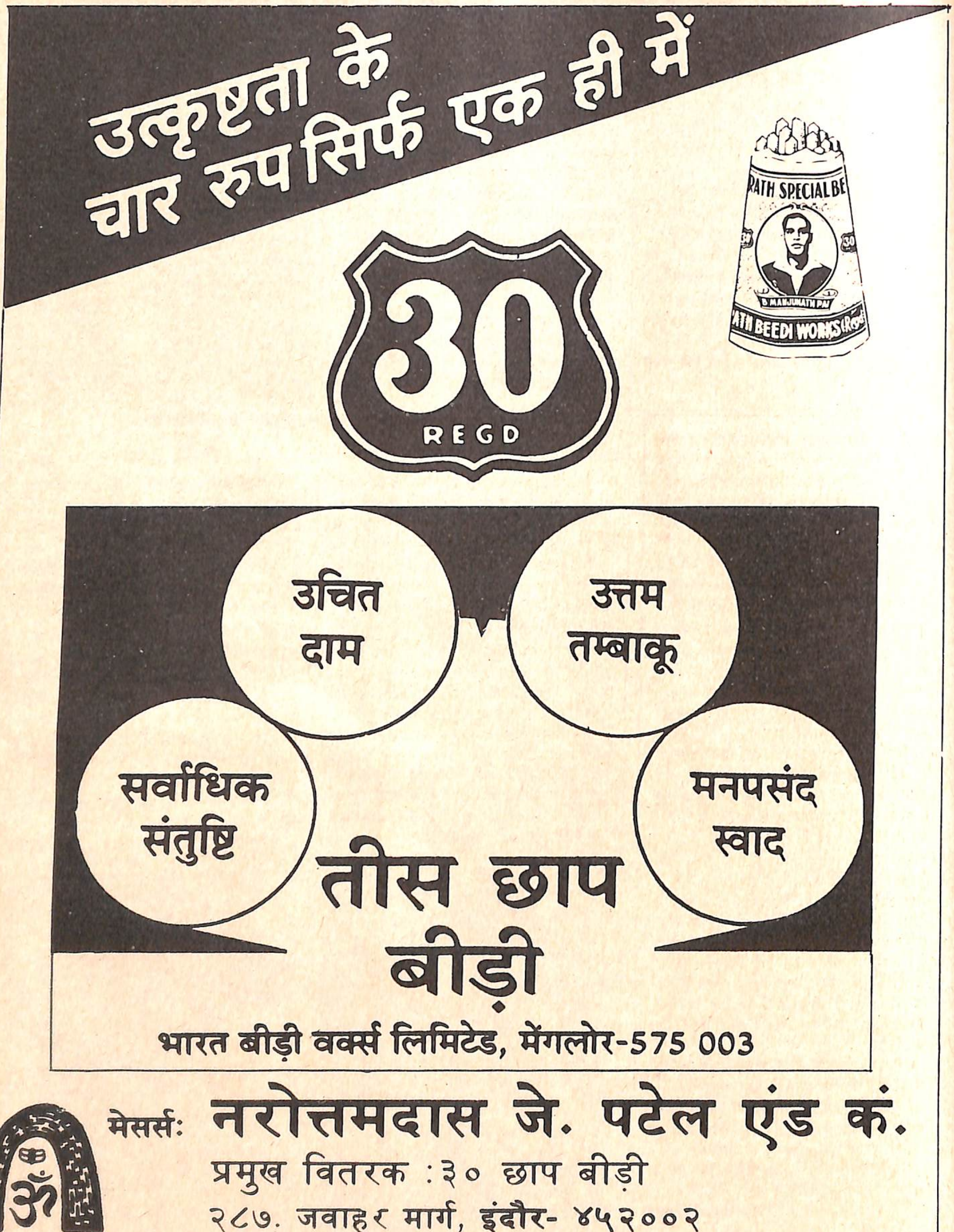


रिनी खन्ना

अँग्रेजी समाचार वाचिकाओं में लगभग दोषहीन प्रस्तुति के लिए परिचित **रिनी खन्ना** की प्रारंभिक शिक्षा कान्वेट स्कूलों में हुई। पिता वायुसेना में अधिकारी थे। इस कारण वे देश के विभिन्न भागों में रहकर वहाँ की भाषाओं एवं सांस्कृतिक विशिष्टताओं से परिचित होती रहीं। विद्यार्थी जीवन के अंतिम पाँच वर्ष दिल्ली में रहकर बिताए तथा स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद पत्रकारिता में डिप्लोमा लिया। छात्र जीवन के दौरान वे वाद-विवाद, भाषण आदि स्पर्धाओं में भाग लेती रहीं तथा नाटकों में अभिनय एवं कार्यक्रमों में कॉम्पीयर के रूप में काम करती रहीं। सन् १९८६ से वे आकाशवाणी में समाचार वाचिका के रूप में कार्य करने लगीं तथा कुछ माह बाद दूरदर्शन में आ गईं।

समाचार वाचिका के रूप में अपने अनुभवों




उत्कृष्टता के
चार रुप सिर्फ एक ही में
30
REGD
उचित दाम
उत्तम तम्बाकू
सर्वाधिक संतुष्टि
मनपसंद स्वाद
तीस छाप
बीड़ी
भारत बीड़ी वर्क्स लिमिटेड, मेंगलोर-575 003
मेसर्स: नरोत्तमदास जे. पटेल एंड कं.
प्रमुख वितरक : ३० छाप बीड़ी
२८७. जवाहर मार्ग, इंदौर- ४५२००२

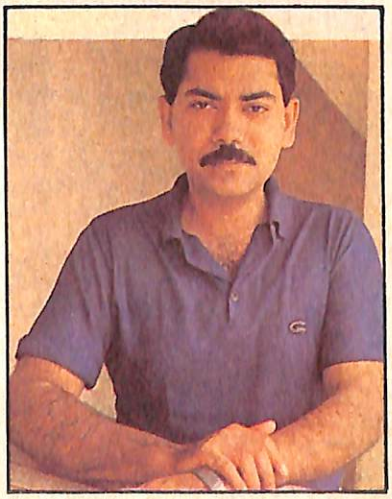
का जिक्र करते हुए वे बताती हैं कि रात्रिकालीन बुलेटिन की तैयारियाँ शाम ५.३० से शुरू हो जाती हैं। इस काम में प्रोड्यूसर तथा न्यूजरीडर की अहम् भूमिका होती है। शाम सात बजे से समाचारों की टाइपिंग का काम शुरू हो जाता है। इसी दौरान समाचार वाचक/ वाचिका, सम्पादक से चर्चा करती हैं तथा चाहे तो शब्दों, वाक्यों आदि के बारे में सुझाव भी दे सकती हैं। आठ बजे तक सारे कागज तैयार हो जाते हैं। इसके बाद मेकअप का काम शुरू होता है। बीच में दिखाई जाने वाली फिल्म्स, क्लिपिंग आदि का निर्णय भी शाम को ही कर लिया जाता है।

रिनी अपना मेकअप स्वयं ही करती हैं। समाचार वाचिका के रूप में काम करने के साथ-साथ वे कई अन्य व्यावसायिक कार्यक्रमों में 'कॉम्पीयर', 'सूत्रधार' एवं प्रस्तुतिकर्ता के रूप में कार्य भी करती हैं। इसके साथ ही वे वृत्तचित्रों के लिए स्क्रिप्ट भी लिखती हैं। रिनी के पति दीपक खन्ना एक विदेशी वायुसेवा में अधिकारी हैं। □

◆ ◆ ◆

भास्कर भट्टाचार्य

'अल्फा प्लस' में क्विज मास्टर के रूप में छोटे पर्दे पर प्रकट हुए **भास्कर भट्टाचार्य** दिल्ली में रंगमंच अभिनेता के रूप में काफी प्रसिद्ध हैं। नाटकों में अभिनय के साथ-साथ वे निर्देशन का काम भी करते हैं। सेंट स्टीफेन कॉलेज में पढ़े हुए भास्कर ने दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स से अर्थशास्त्र में एम.ए. की उपाधि ली तथा सरकारी नौकरी का मोह त्याग रंगमंच से जुड़ गए। अपनी प्रभावशाली आवाज का उपयोग उन्होंने आकाशवाणी तथा फिल्म्स डिवीजन के वृत्तचित्रों में किया। उन्होंने 'क्विज टाइम' नामक धारावाहिक के निर्देशन में भी सहयोग दिया तथा सन् १९८४-८५ से दूरदर्शन पर समाचार वाचक के रूप में कार्य करने लगे। उनका कहना है कि तकनीकी तरक्की ने समाचार वाचन को काफी क्लिष्ट बना दिया है क्योंकि वाचक को अब 'विज़ुल्स' के साथ तालमेल बैठाकर बोलना पड़ता है।



◆ ◆ ◆

उषा अलबुकर्क

फौजी परिवार में जन्मी **उषा** ने अपना अधिकांश विद्यार्थी-जीवन छात्रावासों में बिताया। अभिनय, नृत्य एवं गायन के प्रति उन्हें बचपन से लगाव था। पढ़ाई-लिखाई में वे सदा अव्वल रहती थीं। मद्रास विश्वविद्यालय से एम.ए. करने के बाद उन्होंने समाचार वाचिका के रूप में आकाशवाणी केंद्र पर काम करना शुरू किया। मद्रास से वे बंबई आई तथा बाद में दिल्ली में नियुक्त हुई। दूरदर्शन से तब से जुड़ी हैं, जब इसमें रंग नहीं थे। एक आदर्श माता, पत्नी एवं पुत्री के रूप में भी वे उतनी ही सफल हैं, जितनी कि एक समाचार वाचिका के रूप में। समाचार वाचन के अतिरिक्त वे वृत्तचित्रों में कमेंट्री भी करती हैं। उन्होंने कई शैक्षणिक फिल्मों में निर्देशक, पटकथा लेखिका, कॉम्पीयर एवं निर्माता के रूप में कार्य किया है।



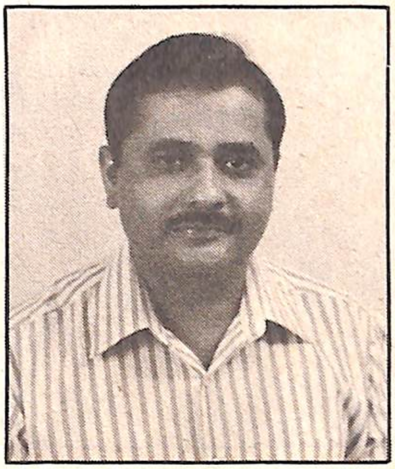
◆ ◆ ◆

मीनू

मीनू अँग्रेजी समाचार वाचिका होने के साथ-साथ दूरदर्शन के नियमित स्टाफ में भी हैं। समाचार पढ़ने की अपनी विशिष्ट शैली के कारण वे काफी लोकप्रिय हैं। नियमानुसार उन्हें सप्ताह में कम से कम तीन बार समाचार पढ़ने होते हैं। यदि कोई अन्य अनुबंधित

□ *शुभेन्दु अमिताभ*

अधिकांश वाचक 'पार्ट-टाइमर' हैं



दूरदर्शन में आप कैसे आए? इससे पहले आप क्या करते थे?

पेशे से मैं (इंडिया टुडे में) पत्रकार हूँ। पहले दूरदर्शन में नहीं आया बल्कि आकाशवाणी में समाचार संपादन का कार्य करता था। वह साढ़े तीन-चार वर्ष तक किया।

अधिकतर समाचार वाचक समाचार पढ़ते समय अशुद्धियों पर ध्यान नहीं देते हैं।

बात आपकी सौ फीसदी सही है। क्योंकि जिन समाचार वाचकों का चयन किया जाता है, उनमें भाषा का ज्ञान है या नहीं इस पर ध्यान नहीं दिया जाता है। मैं अगर गलती से किसी दिन गलत शब्द बोल जाता हूँ, तो मन इतनी आत्मग्लानि से भर जाता है और उस दिन ऐसा लगता है कि मैंने जानबूझकर अपनी भाषा के साथ नाइंसाफी की। उस दिन दूरदर्शन द्वारा दिया गया चेक भी नहीं लेता हूँ। क्योंकि हमारा पूरा परिवार विशुद्ध हिंदी साहित्य का अच्छा ज्ञान रखने वाला माना जाता है।

दूरदर्शन ने समाचार वाचकों को क्या-क्या सुविधाएँ दी हैं?

समाचार वाचकों को सुविधाओं के नाम पर केवल नाम कर रखा है। जैसे राष्ट्रीय समाचार पढ़ने वाले को पाँच सौ रुपए प्रतिदिन और स्थानीय समाचार पढ़ने वाले को दो सौ पचास रुपए प्रतिदिन तथा सरकारी गाड़ी की सुविधा दे रखी है।

क्या वाचकों को समाचारों के अलावा मीडिया का भी ज्ञान होता है?

दूरदर्शन के अधिकतर समाचार वाचक तो कहीं न कहीं जॉब करते हैं। समाचार पढ़ने का पार्ट-टाइम काम करते हैं। इसलिए उन्हें दूरदर्शन के समाचारों के अलावा अन्य समाचारों का कोई पता नहीं होता है। मैं और उमेश जोशी पेशे से पत्रकार हैं, इसलिए दूरदर्शन के समाचारों के अलावा अन्य समाचारों से भी अनभिज्ञ नहीं रहते हैं। □



समाचार वाचक अनुपस्थित रहता है तब वैकल्पिक रूप से काम करना पड़ता है। मीनू ने सन् १९७३ से दूरदर्शन से रिश्ता जोड़ा। बिना आकाशवाणी की सीढ़ियाँ चढ़े वे सीधे ही छोटे परदे पर दमकने लगीं। साप्ताहिकी प्रस्तुत करने वाली वे पहली उद्‌घोषिका रहीं तथा हिंदी से अँग्रेजी की ओर मुड़ीं। 'आप और हम' तथा संगीत एवं नृत्यों के अनेक कार्यक्रमों में वे हिंदी प्रेमी श्रोताओं एवं दर्शकों को प्रभावित करती रहीं। इसके बाद वे हिंदी समाचार वाचिका के रूप में परदे पर आईं तथा धीरे-धीरे अँग्रेजी समाचार वाचिका के रूप में स्थापित हुई। □

◆ ◆ ◆

□ *मंजरी जोशी :*

गहन गम्भीर

*लखनऊ की रहने वाली और साहित्यिक माहौल में पली-बढ़ी **मंजरी जोशी** ने टीवी में समाचार वाचिका के रूप में अपना एक अलग स्थान बना लिया है। समाचार वाचिका के रूप में आने से पहले भी मंजरी जोशी टीवी कार्यक्रम में सक्रिय थीं। सच तो यह है कि साहित्यकार पिता 'रघुवीर सहाय' की पुत्री होने के बावजूद मंजरी का झुकाव टीवी की तरफ है। वे अपने बारे में कहती हैं- 'मेरी प्रेरणा के स्रोत मेरे पिता हैं। उनसे ही प्रेरित होकर मैंने टीवी में कार्यक्रम देने शुरू किए थे। जैसे शुरू में मैंने विज्ञान पर आधारित 'क्यों कैसे' कार्यक्रम दिया। मेरा उपग्रह दूरदर्शन से प्रसारित 'चौपाल-गाँव' ग्रामीण महिलाओं पर आधारित कार्यक्रम काफी लोकप्रिय रहा था। शायद ही मेरी भाषा में त्रुटि होती है। और फिर टीवी पर कार्यक्रम देना भी तो एक तरह की पत्रकारिता है।'*

टीवी में आने के बाद लोगों का रुझान मॉडलिंग या फिल्मों की तरफ चला जाता है। क्या आपको भी ऐसे प्रस्ताव मिले थे?

शुरू में मेरे पास कई प्रस्ताव आए थे। मैं स्वीकार नहीं कर सकती थी। ऐसा नहीं है कि मुझे मॉडलिंग में रुचि नहीं थी। मॉडलिंग से अच्छी ख्याति मिल जाती है। अच्छा पैसा मिलता है। मैं तो आम जीवन जीने वालों में से हूँ। अलग जीवन कैसे जी सकती हूँ।

आपका पारिवारिक जीवन और जवाबदारी?

मैं पारिवारिक जिम्मेदारी को ज्यादा अहमयित देती हूँ। मैंने बी.एस-सी. की है।



'रशियन' भाषा में एम.फिल किया है। अब 'रशियन कविताओं' में पी-एच.डी. कर रही हूँ। कविताओं पर रिसर्च कुछ सालों के लिए स्थगित कर दी है। वजह बताते हुए मंजरी कहती हैं कि बच्चों को दस साल की उम्र तक माता-पिता की नजदीकी का अहसास होना चाहिए।

इतने दिनों से दूरदर्शन के साथ काम कर रही हैं, क्या आप संतुष्ट हैं?

मंजरी कहती हैं-'मैं अपने कार्य से संतुष्ट हूँ।' परंतु ऐसा कभी-कभी होता है। कुछ लोगों के साथ सामंजस्य नहीं बैठा पाते हैं, विशेषकर उन लोगों के साथ जिनका कार्य करने का नजरिया अलग होता है। जो कार्य को गंभीरता से नहीं लेते हैं।'

● **अनामिका**

◆ ◆ ◆

□ *रमा पाण्डे :*

नौकरशाही हावी

दूरदर्शन में आप अपने को कैसा महसूस करती हैं?

दूरदर्शन में आने पर मैं स्वयं को 'क्रिएटीव' एवं समाज के लोगों का अपने प्रति प्यार पाकर फूली नहीं समाती हूँ। मैं टी.वी. मीडिया को सर्वाधिक महत्व देती हूँ।

दूरदर्शन में आप कैसे आईं, इससे पहले आप क्या करती थीं?

मैं दूरदर्शन में ४ जनवरी १९७३ में आई और आने से पहले जयपुर में लेक्चरर थी। दूरदर्शन की सेवा के लिए मैं एक वर्ष तक प्रति सप्ताह जयपुर से दिल्ली आती जाती थी क्योंकि उस वक्त हम दिल्ली में सेटिल नहीं थे।

क्या आपने कोई दूरदर्शन से संबंधित व्यावसायिक कोर्स किया है?

हाँ, मैंने दूरदर्शन में आने के बाद कार्यक्रमों के प्रोडक्शन की महत्ता महसूस की

गीतांजलि अय्यर

अँग्रेजी समाचार वाचिकाओं में सर्वाधिक विवादास्पद रहने का कीर्तिमान **गीतांजलि अय्यर** का है। समाचार प्रसारण के समय कागजों को गलत क्रम से जमाने का उनका प्रकरण चर्चित रहा है। धारावाहिक 'खानदान' में उनकी अतिथि भूमिका को लेकर भी विवाद हो चुका है। गीतांजलि ने समाचार वाचिका के रूप में अपना कैरियर सन् १९६६ से आकाशवाणी से शुरू किया था।

सन १९७१ में वे दूरदर्शन में आईं। एक समाचार वाचिका के रूप में उनकी गुणवत्ता की सराहना हुई। ताज ग्रुप ऑफ होटल्स के विक्रय एवं विपणन विभाग में कार्य करते हुए



और मैं दो वर्ष का प्रोडक्शन कोर्स करने हॉलैंड चली गई। मैंने दूरदर्शन में प्रोडक्शन का भी कार्य किया है।

क्या आपने भारतीय दूरदर्शन के अलावा मीडिया से जुड़ी संस्था में कार्य किया है?

मैंने सात वर्ष तक बी.बी.सी. की सेवा की है। प्रोडक्शन कोर्स करने के बाद इंग्लैंड में बी.बी.सी. का ऑफर मिल गया था।



बी.बी.सी. सेवा क्यों छोड़ दी?

यह बात सौ फीसदी सही है कि विश्व में किसी दूरदर्शन पर इतना भरोसा नहीं किया जाता, जितना बी.बी.सी. पर। लेकिन मैंने अपने देश की सेवा को ध्यान में रखते हुए हिन्दुस्तान आकर यहाँ सेवा करना चाहा।

समाचार पढ़ते समय भाषाई अशुद्धियाँ हो रही हैं, इस संदर्भ में क्या विचार हैं?

समाचारों में भाषाई अशुद्धियाँ पाया जाना हम लोग भी महसूस करते हैं। लेकिन हम विवश हो जाते हैं संपादन पर, जो समाचार संपादक संपादित करके दे देता है। हम उसे पढ़ देते हैं। सारी जिम्मेदारी समाचार संपादक की होती है। वह समाचारों को सही रूप में संपादित कर न्यूज रीडर को दें।

पिछले दिनों सरकार ने एक कमेटी बनाई समाचार वाचकों की निगरानी के लिए इसके बारे में आपके क्या विचार हैं?

सरकार ने जो कमेटी बनाई थी वह कमेटी सही कार्य करने में सक्षम नहीं हो पाई क्योंकि दूरदर्शन पर हमारे राजनीतिज्ञ और ब्यूरोकेट पूर्ण रूप से हावी हैं। उसके चलते दूरदर्शन में सुधार संभव नजर नहीं आता है।

● **प्रस्तुति ; ब्रजनंदन सिंह**

वे अनुबंध के आधार पर समाचार वाचन करती रही हैं। अभिनय का शौक उन्हें बचपन से ही रहा है। दिल्ली के नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा तथा एक अन्य नाट्य संस्था यात्रिक से भी वे जुड़ी हैं। उन्होंने अल्काजी के प्रशिक्षण संस्थान में अभिनय का पाठ्यक्रम भी किया है। वृत्तचित्रों में आवाज देना तथा व्यावसायिक कार्यक्रमों का संचालन करना उनके प्रिय कार्य हैं। □

नीति रवीन्द्रन

अँग्रेजी में समाचार पढ़ने वाले दूरदर्शन के महिला एवं पुरुष वाचकों में **नीति रवीन्द्रन** को हर दृष्टि से उत्कृष्ट माना जाता है। सुगठित देह, निश्छल चेहरे एवं मृदुल वाणी वाली यह समाचार वाचिका पिछले पंद्रह से



अधिक वर्षों से अपनी उत्कृष्ट छवि बनाए हुए है। सन् १९६६ में आकाशवाणी पर कुछ दिनों समाचार वाचिका के रूप में कार्य करने के बाद वे पत्रकारिता की ओर मुड़ीं तथा यू.एन.आई. से सम्बद्ध हो गईं। पति वायुसेना में थे, अतः भारत भर में घूमने का मौका मिलता रहा। इसी दौरान वे नागपुर में यू.एन.आई. की ब्यूरो मैनेजर भी रहीं। बाद में जब वे माँ बनीं तथा पति गौहाटी में पदस्थ हुए, तब उनकी पत्रकारिता पर विराम लग गया। जब पति ने वायुसेना से त्यागपत्र देकर दिल्ली आकर एयर इंडिया में नौकरी की तब नीति के जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। सन् १९७६ से वे दूरदर्शन में फ्री-लांसर के रूप में कार्य करने लगीं। उन्होंने फिल्म्स डिवीजन में भी काम किया तथा अन्य कई व्यावसायिक उपक्रमों में अपनी आवाज दी। नीति को होमियोपैथी का शौक है। □

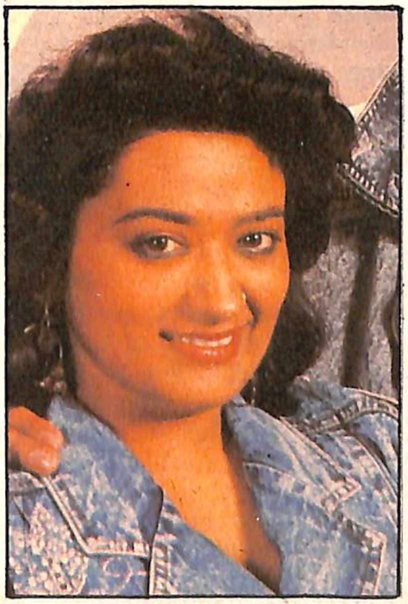
◆ ◆ ◆

कोमल जी.बी. सिंह

कोमल अपने छात्र जीवन में सफल कॉम्पीयर के रूप में काफी चर्चित रहीं।



साधना श्रीवास्तव : मोहक मुस्कान



सरला माहेश्वरी : निर्दोष वाचन



सुस्पष्ट एवं प्रभावशाली स्वर उन्हें आकाशवाणी की चौखट तक ले आया। दिल्ली से प्रसारित युववाणी कार्यक्रम से उनकी लोकप्रियता का आयाम और भी बढ़ा। सन् १९७७ में वे दूरदर्शन के समाचार वाचक पैनल में सम्मिलित हुईं। दूरदर्शन के साथ-साथ वे आकाशवाणी पर भी समाचार वाचिका के रूप में कार्य करती रही हैं। कोमल का कहना है कि उन्हें घबराहट समाचार पढ़ते वक्त नहीं होती, मगर जब कभी असत्य समाचार पढ़ने होते हैं, तब उन्हें दुख होता है। □





मृणालिनी

मृणालिनी जसपाल सिंह मनोविज्ञान की छात्रा रही हैं तथा उन्हें हस्तरेखा विज्ञान से गहरी दिलचस्पी है। रिटायर्ड फौजी अधिकारी की इस पुत्रीने अपनी बहन के साथ मिलकर निर्यात व्यवसाय किया। सन् १९७५ से वे समाचार वाचिका के रूप में आकाशवाणी से जुड़ीं तथा १९८४ से प्रीति बेदी के साथ उन्होंने दूरदर्शन पर समाचार पढ़ना शुरू किया। मृणालिनी का कहना है कि समाचार वाचन को वे व्यवसाय नहीं अपितु शौक मानती हैं। इसलिए पूरी निष्ठा एवं लगन के साथ पूर्व तैयारी कर यह काम करती हैं। अपने मेकअप, खासतौर पर साड़ी का चुनाव वे सावधानीपूर्वक करती हैं। समाचार वाचनकक्ष की पृष्ठभूमि नीली है इसलिए वे लाल एवं हरा रंग नहीं पहनतीं। समाचार जिस दिन पढ़ने होते हैं, उस दिन वे अपने बालों को ओबेराय इण्टर काण्टीनेन्टल में जाकर सेट करवाती हैं। उन्हें पुरुष साथी के साथ समाचार पढ़ना अच्छा लगता है। उनका कहना है कि अन्य महिला समाचार वाचिकाओं के साथ खबरें पढ़ने से आपसी स्पर्धा की भावना बढ़ती है। ■

दूरदर्शन पर नारी

आधी दुनिया का आधा-अधूरा चित्रण

उषा चौकसे

भारतीय धर्मशास्त्र और संविधान, नारी के महत्व और पुरुषों से समानता के अधिकार को स्वीकार करते हैं परंतु व्यावहारिक जीवन में समाज नारी को आज भी दोयम दर्जे का नागरिक मानता है। दुःख इस बात का है कि दूरदर्शन का दृष्टिकोण भी दिखावे की सहानुभूति का है। गत १२ वर्षों में बमुश्किल १२ सीरियल औरत का सही चित्र प्रस्तुत करते हैं। दूरदर्शन के विज्ञापनों में नारी की छवि शोषण की ही है। दूरदर्शन ने बच्चों और नारी की अवहेलना की है। बच्चों के कार्यक्रम दोपहर में आते हैं, जब वे स्कूल में होते हैं। औरतों के विषय में समाज के दोहरे मापदंड और पाखंड को तोड़ने में दूरदर्शन अहम् भूमिका का निर्वाह कर सकता है। आधुनिक भारतीय स्त्री को समाज के कर्णधारों ने सुविधाजनक चारित्रिक खाँचों में बाँट रखा है और दूरदर्शन भी इसी पूर्वाग्रह का शिकार है। इस विषय में दूरदर्शन ने संख्या पर ध्यान रखा है ताकि संसद के पटल पर कोई सवाल नहीं पूछा जाए। परंतु उच्च गुणवत्ता के नारी प्रधान कार्यक्रम बनाने की कोशिश नहीं की गई है। एक मृणाल पांडे के कूकने से बसंत नहीं आता।

अब तक प्रसारित कार्यक्रम में **पुकार** नामक श्रृंखला श्रेष्ठ थी। इस श्रृंखला में आधुनिक भारतीय महिला का चित्रण विश्वसनीयता के साथ हुआ है। एक कथा में अनिता कँवर, महिला फिल्मकार है और उसका पति दिलीप धवन प्रोफेसर है। नायक की माँ उसके घर आती है और उसे अपनी आधुनिका बहू का व्यवहार समझ में नहीं आता। वह अपने काम में इतनी व्यस्त नजर आती है कि पति के लिए समय नहीं निकाल पाती। माँ अपने बेटे को बहुत दुबला देखती है और बेटे के इस कथन पर विश्वास नहीं करती कि वे दोनों बहुत सुखी हैं। कथा के अंत में सास महसूस करती है कि बहू ने विगत कई महीनों से शकर आदि छोड़ रखी है क्योंकि पति को मधुमेह हुआ है और सही पथ्य के लिए उसे प्रेरित करने के लिए खुद भी उन्हीं सख्त बंधनों से बँधी है, जो स्वयं उसके लिए जरूरी नहीं।

इसी श्रृंखला में एक कहानी बनारस के विधवा आश्रम से शुरू होती है जहाँ विधवा पर बहुत अत्याचार होते हैं। निर्धारित घंटों तक भजन गाने पर ही खाने को कुछ मिलता है। विधवा नायिका की कहानी फ्लैश बैक मे दिखाई है कि जमींदार घराने में उसका विवाह हुआ था। उसका पति आधुनिक विचारों का था और उसने अपनी पत्नी को अध्ययन-मनन के लिए प्रेरित किया। परिवार के दूसरे सदस्य सामंतवादी विचारधारा से ग्रसित हैं। बिल्ली के भाग्य से छींका टूटता है। दुर्घटना में पति की मृत्यु हो जाती है। गर्भवती पत्नी को घर से निकलने के लिए बाध्य किया जाता है। वह बच्चे को जन्म देती है और पाल-पोसकर बड़ा करती है। उसका पुत्र अपनी पत्नी के कहने में आकर अपने ताऊ पर जायदाद के लिए मुकदमा दायर करता है। विधवा माँ इस मुकदमेबाजी के खिलाफ है क्योंकि बिना परिश्रम किए धन प्राप्त करने की धारणा को वह पसंद नहीं करती। ताऊ मुकदमा जीतने के लिए अपने छोटे भाई के विवाह को नकारते हैं और उसे कुल्टा सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इससे खिन्न होकर वह विधवा आश्रम में आती है और यहाँ भी अन्याय के खिलाफ लड़ती है।

इसी श्रृंखला में राजस्थान के एक गाँव की खोखली परंपरा की आलोचना है जिसके तहत तीसरी कन्या की बलि दी जाती है। विद्रोहणी माँ मंदिर में अपनी बेटी को जहर की बूटी देने के बदले तलवार लेकर खड़ी हो जाती है। इसी श्रृंखला में निर्माण और अभिनय उच्च श्रेणी का था। अनिता कँवर श्रेष्ठ अभिनेत्रियों में से एक हैं और छोटे परदे की 'मदर इंडिया' है।

बासु चटर्जी का **रजनी** अत्यंत लोकप्रिय कार्यक्रम था जिसमें महानगर के मध्यम श्रेणी की परिवार की रजनी अधिकारों के लिए लड़ती है। रजनी का चरित्र चित्रण 'फीमेल अमिताभ' की तरह किया गया था और 'लार्जर देन लाइफ' पात्र था। रजनी की लोकप्रियता व्यावसायिक सिनेमा की तरह थी फिर भी जागृति की कुछ अलख जगाने में वह सफल रही।

महाराष्ट्र का नुक्कड़ शैली में लिखा सुविख्यात नाटक **बेटी** भी दूरदर्शन से प्रसारित हो चुका है। इसमें भारतीय समाज में व्याप्त कमोबेश सभी समस्याओं को छूने का प्रयास किया गया है। बेटी के जन्म पर मातम, हर कार्य में उसकी अवहेलना, शिक्षा

से उसका काटा जाना, विवाह, दहेज, वधू-हत्या सभी प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया है। विशेषकर विवाह के लिए लगी मंडी में वर के माता-पिता अपने बेटे की योग्यता और पद के अनुसार मूल्य बताते हैं, जो समाज की खोखली और दोहरी मान्यताओं पर सार्थक प्रहार है। इसके अनुसार विवाह एक पवित्र बंधन नहीं एक व्यावसायिक सौदा मात्र है। नाटक का अंत आशावादी है। नाटक के मुखड़े में ही उसका संदेश निहित है-शिक्षा की रेल चली जाए। असंख्य महिलाएँ अपने इस अधिकार को पाकर अपने जीवन को सम्मानित तरीके से जीने को लालायित हैं।

स्त्रियों के वैधानिक अधिकारों पर बनी शृंखला **अधिकार** में नारी की असहायता, बेहतर जिंदगी की छटपटाहट और अपने अधिकारों के लिए कानून का दरवाजा खटखटाने का चित्रण था। इसमें स्त्री-शोषण के अनेक आयामों को और स्त्री के तत्संबंधी अधिकार को विश्लेषित किया था। पिता की जायदाद में हक माँगती बेटी हो, शोषित सेक्रेटरी हो या पुरुष की दूसरी पत्नी, सभी सामाजिक व्यवस्था के शिकार हैं। कानून उनके लिए एक सपना ही है पर फिर भी मजबूर होकर वे न्याय का हक माँगने की शक्ति जुटाती हैं। शृंखला के अंत में कानून की तत्संबंधी धाराओं को भी स्पष्ट किया गया था ताकि महिलाएँ अपने न्यायोचित अधिकारों के प्रति सचेत हो सकें।

स्त्रियों के नारायणी रूप पर बनी शृंखला **नारी है नारायणी** शृंखला की नायिका उच्च पद प्राप्त या उच्च कुलीन संभ्रांत महिलाएँ न होकर मामूली स्त्रियाँ थीं यहाँ तक कि चोर

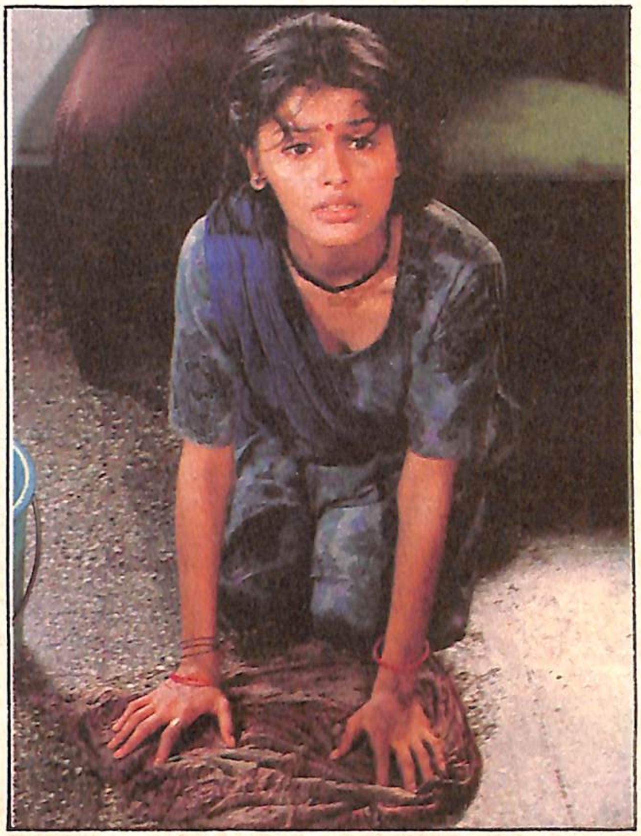


धारावाहिक 'रजनी' में गुड्डू और प्रिया

और मजदूरिन तक हैं। विशिष्ट परिस्थितियों में वे ही अतिसाधारण और तुच्छ औरतें उदात्तता का परिचय देती हैं। अनेक कथाओं में पिरोई यह शृंखला हर नारी में छुपी नारायणी को प्रकट करती है।

दूरदर्शन ने नारी प्रधान भूमिकाओं वाले कुछ उपन्यासों को भी शृंखलाबद्ध किया जैसे **निर्मला/ श्रीकांत/ रथचक्र** और **प्रथम प्रतिश्रुति**। प्रेमचंदजी का निर्मला दहेज और अनमेल विवाह का अभिशाप भोगती निर्मला के मार्मिक अंत के साथ समाज से प्रश्न पूछता है कि क्या उसकी बेटी आशा का जीवन भी माँ के जीवन की पुनरावृत्ति होगा। शरतचंद्र के 'श्रीकांत' की नारी पात्र पारंपरिक ढाँचे की शिकार होते हुए भी उससे ऊपर रखने की शक्ति रखती है। 'रथचक्र और प्रथम प्रतिश्रुति' शीर्ष पुरस्कार प्राप्त उपन्यासों पर बनाए गए हैं। 'रथचक्र' की नायिका सधवा होते हुए भी विधवा का जीवन बिताने को अभिशप्त है क्योंकि उसका पति जीवन के कर्मक्षेत्र से भागकर संन्यासी बन गया है। एक मामूली औरत की जिजीविषा और जीवन संग्राम ने कथा को उदात्त बना दिया है। साथ ही इसमें ग्रामीण जीवन के विश्वसनीय चित्र भी हैं। 'प्रथम प्रतिश्रुति' की नायिका आशापूर्णा देवी की लाड़ली मानस पुत्री सत्यवती है, जो नारी के लिए बने चौखट को नकार कर अपने पति और बच्चों को 'आदमी' बनाने के लिए कलकत्ता में बसती है, बेहतर जीवन के सपने को एक हद तक साकार भी करती है। परंतु भाग्य के एक फेर से अपने ही पति के द्वारा वचन तोड़ने पर इतनी साध से बसाई गृहस्थी, पति, पुत्र और पुत्री को छोड़कर बनारस चली जाती है। एक प्रश्न मन में समेटे और एक प्रश्न पाठकों-दर्शकों के लिए छोड़कर। 'प्रथम प्रतिश्रुति' सशक्त कलाकार और जीवंत प्रस्तुतिकरण के अभाव में अपेक्षित छाप छोड़ने में असमर्थ रहा। इसकी तुलना में पहले तीनों धारावाहिक अधिक जीवंत और विश्वसनीय बन पड़े थे।

किशोरियों के जीवन की आशा-आकांक्षाओं पर बना कार्यक्रम **अरमान** पार्श्व संगीत और प्रस्तुतिकरण के लिए स्मरण रहेगा। विद्यालय की छात्राओं का संकोच और असमंजस उनकी शिक्षिका का आधार पाकर जीवनधारा में अपना स्थान पा लेता है। वे स्वविकास और समाज विकास की वाहिका बनने की दिशा में आगे बढ़ती हैं। शिक्षिका द्वारा कराए गए व्यायाम



पल्लवी जोशी : अबला जीवन... हाय!

प्रतीकात्मक हैं जिनमें कली के स्वाभाविक विकास की झलक है। 'तस्वीर के चार पहलू' का प्रस्तुतिकरण 'अरमान' से कमजोर होते हुए भी कथ्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें एक ही परिस्थिति को चार अलग-अलग ढंग से चित्रित कर विकल्प दर्शक पर छोड़ दिया है।

कुल मिलाकर दूरदर्शन में नारी जीवन पर कार्यक्रम तो बहुत बने पर उसमें उल्लेखनीय कम ही रहे। दूरदर्शन से अपेक्षा है कि महज खानापूर्ति छोड़कर कुछ अधिक सार्थक पहल करे, ताकि महिलाओं को अपनी भूमिका की चुनौतियों को बेहतर ढंग से निष्पादित करने में सहायता मिले। घिसे-पिटे तरीकों को छोड़कर विविधता लाना दूरदर्शन के सामने एक चुनौती है। कथ्य की दृष्टि से भी कितने ही अनछुए पहलू बाकी हैं जो सशक्त कलम और प्राणवान निर्देशन का सहारा पाने को उत्सुक हैं। ■

सावधान!

● 'बच्चों पर टेलीविजन का हमला आँखों से शुरू होता है। उसका सबसे बड़ा शिकार दिमाग होता है। नजरें तो कमजोर होती ही हैं, लेकिन दिमाग एकदम खाली हो जाता है।'

● डॉ. मनोहर भंडारी

टीवी आपको
● अंधा बना रहा है!
● दिमाग को खोखला कर रहा है!

यह माना जाता है कि टेलीविजन हमारे बच्चों की जानकारियाँ, ज्ञान एवं समझदारी में खूब इजाफा करता है। टेलीविजन में दिखाए जाने वाले स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों से प्रेरणा पाकर बच्चे निरोगी भी बने रह सकते हैं। इन तथ्यों के मद्देनजर रखते हुए अपने बच्चों की बोरियत दूर करने एवं उन्हें व्यस्त रखने की अपेक्षा के साथ हम डिश- एंटेना तथा केबल्स के जरिए विभिन्न देशी- विदेशी टीवी चैनलों का स्वागत कर रहे हैं। क्या वाकई टीवी हमारे लाड़ले बच्चों के स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है? उनके मस्तिष्क की उर्वरा शक्ति व मेधा को बढ़ाता है? इन प्रश्नों के तहत कई वैज्ञानिक अनुसंधान वर्षों से किए जा रहे हैं। इसी तारतम्य में शिकागो विश्वविद्यालय के डॉ. रॉबर्ट कूबे तथा डॉ. मिहाई जिक्सजैंट मिहाली ने तेरह वर्षों तक गहन अध्ययन-अनुसंधान एवं विश्लेषण किए। अमेरिका में टेलीविजन देखने के परिणामों के अध्ययन से संबंधित इस शोध पर उन्होंने एक पुस्तक लिखी। उनके मुताबिक टीवी व्यक्ति को उनींदा, ऊबा हुआ, उदास एवं एकाकी बनाकर उसके कौशल और बुद्धि के स्तर को कम कर देता है। अन्य शोधों से भी इन तथ्यों की पुष्टि हुई है। यह सच है कि टीवी देखने से हमारे शरीर एवं दिमाग पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव लंबे समय बाद पता चलते हैं। सबसे पहला प्रभाव पड़ता है दर्शकों (बच्चों व बड़ों दोनों) की श्रमशीलता पर। टीवी देखने से श्रमशीलता पर सुनिश्चित रूप से कुठाराघात होता है। टीवी पर दिखाए जाने वाले रुचिकर कार्यक्रमों (क्रिकेट मैच को ही लें) को देखने के बहाने दफ्तरों में काम से पलायन करते कर्मचारी एवं अधिकारी सहज देखे जा सकते हैं। इसी तरह हमारे बच्चे भी उनकी रुचि के कार्यक्रमों के दौरान अपने दैनंदिन कार्यों तथा परिवार के छोटे-मोटे कार्य करने से जी चुराने लगते हैं। इसी तरह टेलीविजन देखने से हमारी आँखों पर भी खराब असर पड़ता है। देश के भावी कर्णधारों की ही बात करें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि टीवी के प्रसार की यही गति रही तो

खतरनाक है,इस तरह टीवी देखना



आखिर जाएँ तो जाएँ कहाँ?

वर्तमान में जबकि टेलीविजन और विदेशी चैनलों का मोह हावी है, इस बुद्धू बक्से से पलायन असंभव ही है। ऐसी स्थिति में तालाबी मगरमच्छ से दोस्ती वाली कहावत के तहत आप ऐसा कीजिए–

■ पाँच वर्ष तक की आयु के बच्चों को दिन में पौन घंटे तक ही टीवी देखने दें (आप भी घंटों बैठने की जुर्रत न करें)। १४ वर्ष के बच्चों को सप्ताह में दस घंटे टीवी देखने की मोहलत दे सकते हैं।

■ बच्चों के कार्यक्रम खोज से संबंधित होने चाहिए, जो बच्चों की कल्पना-शीलता में इजाफा करते हों।

■ ऐसे कार्यक्रम दिखाएँ जिनमें बच्चों एवं वयस्कों को साथ मिलकर काम करना दिखाया गया हो।

■ टीवी तथा दर्शक के बीच की दूरी कम से कम आठ-दस फुट हो।

■ टीवी सीधे बैठकर (पलंग, कुर्सी या सोफे पर) देखना चाहिए। जमीन से टीवी की ऊँचाई लगभग ढाई-तीन फुट होनी चाहिए।

■ अंधेरे-बंद कमरे में टीवी न देखें। ट्यूबलाइट का प्रकाश टीवी के परदे पर रहे, तो बेहतर रहता है।

■ लगातार टकटकी लगाकर न देखें। बीच-बीच में (यानी हर ५-७ मिनट में) नजरें हटाते रहें।

■ सोते-सोते टीवी न देखें।

■ टीवी बगैर पलक झपकाए लगातार न देखें। बार-बार पलकें झपकाने से नेत्रों को आराम मिलता है।

कई गुल खिले और हम हैं बेखबर

टेलीविजन मनोरंजन के बहाने हमें और हमारे बच्चों को चुपके से अनेक तोहफे सौंप जाता है मसलन–

- *बच्चों को भौतिकवादी और सनकी बनाता है।*
- *वयस्कों के प्रति उनके मन में अविश्वास पैदा करता है।*
- *बच्चों की कल्पना शक्ति को क्षीण करता है।*
- *बच्चों को थकान एवं बेचैनी प्रदान करता है।*
- *बच्चों के भार में पचास प्रतिशत तक वृद्धि हो जाती है।*
- *नजरें कमजोर हो जाती हैं।*
- *आँखों से पानी बहने लगता है। भेंगापन आता है।*
- *पढ़ाई के अलावा पढ़ने की आदत समाप्त हो जाती है।*
- *श्रम और मैदानी खेलों के प्रति रुझान समाप्त हो जाता है।*
- *बच्चों की एकाग्रचित्तता नष्ट होने लगती है।*

कर्णधारों की आधी जमात अंधी होगी। वैसे भी हमारा देश अंधत्व के मामले में दीगर कारणों से दुनिया में अव्वल है। परंतु दिल्ली के प्राइमरी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की आँखों के स्वास्थ्य के बारे में हुए एक सर्वेक्षण की रिपोर्ट के मुताबिक बच्चों की आँखों का

एक और बड़ा दुश्मन सामने आया है और वह है टेलीविजन। टीवी येन-केन-प्रकारेण बच्चों के नेत्रों की ज्योति पर ही हमला नहीं करता, बल्कि यह उनकी पढ़ाई में भी बाधक है। उनके अबोधपन को छीन लेता है। यथार्थ को समझने की उनकी क्षमता पर भी अपना दुष्प्रभाव डालता है। प्रोफेसर गेरहार्ड प्रिसमेन नामक जर्मन के एक वरिष्ठ चिकित्सक, जो कील विश्वविद्यालय के कुलपति भी हैं, ने जर्मन ट्रिब्यून नामक अखबार में इन विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा था कि-'टेलीविजन वयस्कों और बच्चों के बीच सांस्कृतिक दूरी को घटा देता है, क्योंकि बच्चे बड़ों की तरह सोचने और बातें करने लगते हैं। इस तारतम्य में अमेरिका के एक सुप्रसिद्ध शिशु चिकित्सक डॉ. हरबर्ट कौली की टिप्पणी बेहद दिलचस्प एवं आँखें खोल देने वाली है। उनका कहना है कि 'बच्चों पर टेलीविजन का हमला आँखों से शुरू होता है, लेकिन उसका सबसे बड़ा शिकार दिमाग होता है। नजर तो बस कमजोर ही होती है, लेकिन दिमाग रहता ही

☐ बच्चे और दूरदर्शन

आजकल यह बहस चल रही है कि इंग्लैंड, अमेरिका, ऑस्ट्रिया और दक्षिण कोरिया में टीवी दर्शन से जितनी मादकता इन देशों में तेजी के साथ बढ़ती जा रही है, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई पर असर पड़ रहा है, क्या इससे सचमुच कोई नुकसान पहुँच रहा है,

इंग्लैंड की 'नेशनल फाउन्डेशन फार एजुकेशनल रिसर्च' नामक संस्था ने इस संबंध में एक रपट प्रकाशित की है, जिसमें बताया गया है कि वहाँ बच्चों का टीवी देखना नशे की हद को पार कर रहा है। इससे उनकी भाषा और गणित ही नहीं, इतिहास और भूगोल भी कमजोर होता जा रहा है। विज्ञान से तो वे वैसे भी बहुत पहले से ही कतराते रहे हैं। उल्लेखनीय है कि शैक्षिक अनुसंधान की इस 'राष्ट्रीय निधि' की इंग्लैंड में बड़ी साख है। उसकी खोजों को सही और प्रामाणिक माना जाता है। उनके आधार पर स्कूली पाठ्यक्रम निर्माताओं को बाल-शिक्षा संबंधी अपनी नीतियों में तब्दीलियाँ तक करना पड़ती हैं।

इंग्लैंड के इस 'नेशनल फाउन्डेशन' ने व्यापक अनुसंधान और सर्वेक्षण के आधार पर बतलाया है कि इंग्लैंड का हर स्कूली बच्चा अपने दिन का औसतन चार से पाँच घंटा टेलीविजन देखने में बिताता है। इस वजह से उसमें कुण्ठाएँ ही नहीं पैदा होतीं, गलत जानकारियाँ ही नहीं मिलती, बल्कि जरूरी जानकारियों से वह वंचित भी रहने लगा है।

'फाउन्डेशन' ने अपनी यह टिप्पणी बारह अन्य देशों के बच्चों के साथ अँगरेज बच्चों की स्कूली उपलब्धियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत की है। 'फाउन्डेशन' के प्रतिनिधि कुल बारह देशों में गए और पता लगाकर इस नतीजे पर पहुँचे कि इंग्लैंड के बच्चे इस दृष्टि से बहुत पिछड़ रहे हैं।

उल्लेखनीय है कि इस रपट के कुछ ही पहले अमेरिका के 'न्यूयार्क सिटी बोर्ड ऑफ एजूकेशन' ने भी इस प्रकार का एक सर्वेक्षण किया था और पाया था कि बच्चों की पढ़ाई पर टेलीविजन

☐ लगातार टेलीविजन देखने से बच्चों की भाषा खराब हो जाती है। गणित के अलावा इतिहास और भूगोल में भी वे कमजोर हो जाते हैं। विज्ञान से तो वैसे भी बच्चे कतराते हैं।

पढ़ोगे-लिखोगे, तो 'हीरो' बनोगे



बाल धारावाहिक : एक-दो-तीन-चार

का इतना गहरा प्रभाव पड़ रहा है कि वे स्कूली शिक्षा से विमुख होते जा रहे हैं। पढ़ने-लिखने के काम में उनका जी नहीं लगता। इसलिए स्कूल अधिकारियों को पढ़ाने का या तो टेलीविजन से कोई अधिक आकर्षक विकल्प पैदा करना होगा, या बच्चों के टीवी-दर्शन पर प्रतिबंध लगाना होगा। कठिनाई यह है कि प्रतिबंध लगाना बच्चों में विद्रोह, कुण्ठा और निराशा की अस्वस्थ भावनाएँ पैदा कर सकता है।

नहीं है।' यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण भले ही लगे, परंतु है सत्य। अमेरिका इस सत्य से साक्षात्कार करने के लिए आज विवश हो चुका है। दसियों साल पहले वहाँ के अखबारों ने टेलीविजन को ईडियट बॉक्स (बुद्धू बक्सा) का खिताब इसीलिए दिया था। इस बुद्धू बक्से के कारण दुनिया में दूरियाँ नहीं रही हैं, परंतु इसकी बदौलत आदमी, आदमी से दूर हुआ है। हम यह जानते हुए भी कि पारस्परिक संवाद के बिना सुख या आनंद असंभव है, टीवी के बहाने सामाजिक संवाद की परंपरा को विनाश की कगार की ओर ठेल रहे हैं। विश्वविख्यात उपन्यासकार ग्राहम ग्रीन ने इस संबंध में कहा था कि टेलीविजन का सबसे बड़ा कमाल यह है कि इंसान, इंसानों को देखने की बजाए वस्तुओं की तस्वीरों को देखना शुरू कर देता है। टेलीविजन के सार्थक पहलुओं की हिमायत करने वालों को यह जानकर निराश होना पड़ेगा कि इसके जरिए साक्षरता बढ़ाने की बात नहीं बन पाई है, क्योंकि देश में अनपढ़ों का प्रतिशत बढ़ा है। पर्यावरण का विनाश बढ़ा है। अपराध और दहेज के प्रकरणों का प्रतिशत दुगुना हुआ है। जबकि टीवी दर्शकों की संख्या जहाँ १९८०-८१ में एक करोड़ थी, आज तकरीबन बीस करोड़ है।

दूरदर्शन से दिल का दौरा

अधिक और लगातार दूरदर्शन देखने से दिल के दौरे की दुर्घटनाएँ पूरी दुनिया में बढ़ती जा रही हैं। चौबीसों घंटे टी.वी. चलने के परिणाम यह होते हैं कि घर लौटने पर दर्शक टीवी के सामने डट जाता है। एक के बाद एक रिमोट की सहायता से चैनल चलने लगते हैं। मनोरंजन के साथ कुछ न कुछ खाने की आदत दर्शकों को ऐसी हो गई है कि भैंस की जुगाली की तरह मुँह चलता है। चलने-फिरने की कमी से श्रम होता नहीं। बैठे-बैठे चरबी बढ़ने लगती है। दर्शक मुटियाते जाते हैं। खून में कोलेस्ट्रोल की मात्रा बढ़ने से दिल के दौरे मामूली बात हो जाती है। पिछले दिनों केलिफोर्निया में किए गए एक हजार बच्चों (सात से पन्द्रह की उम्र) के सर्वेक्षण से यह बात और बलवती हुई है कि उनमें भी दिल के दौरे के लक्षण पाए गए। भारतीय दर्शक तो महा-भावुक होते हैं। द्रौपदी का चीर-हरण परदे पर होता देख कुछ दर्शकों के दिल की धड़कन बंद हो गई थी। इसलिए दिल को सामान्य गति से धड़कने देने के लिए जरूरी हो गया है कि टीवी उतना ही देखें, जितना आटे में नमक या चाय में चीनी मिलाई जाती है।

● डॉ. के.जी. शारदा

बाल शिक्षा से सरोकार रखने वाले विश्व के कुछ जाने-माने 'रिसर्च ग्रुपों' के अनुसार बच्चों के संस्कारों पर टेलीविजन का बहुत बुरा असर पड़ता है। मिसाल के तौर पर उनका भाषा ज्ञान बिगड़ता है। वे ऐसे शब्दों का इस्तेमाल सीखते हैं जिनका संबंध जीवन से नहीं 'फेन्टेसी' से है। पाया गया है कि ऐसे बच्चे एक पृष्ठ का एक सही आलेख भी अपने आप नहीं लिख पाते। पुस्तकें पढ़ने से तो वे कतराते ही हैं, उनकी बोली भी बिगड़ती है, और राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय घटनाओं में उनकी रुचि नहीं के बराबर हो जाती है।

टीवी देखोगे, तो 'जीरो' रहोगे

● दामोदर अग्रवाल

इतना ही नहीं वे लोगों से मिलने-जुलने से कतराने लगते हैं, और उनमें एक बीमारी पैदा हो जाती है जिसे 'असामाजिकता का रोग' कहा जाता है। उन्हें इनसे मुक्ति दिलाने के लिए दृश्य-माध्यम के चंगुल से छुड़ाकर साहित्य, इतिहास और प्राचीन ग्रंथों की ओर उन्मुख करना होगा।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि टेलीविजन की भूमिका पूरी तरह से नकारात्मक है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए 'नेशनल फाउन्डेशन' ने दक्षिण कोरिया में किए गए अपने अध्ययन के आधार पर लिखा है कि वहाँ के बच्चे भी दिन में चार-पाँच घंटे टीवी जरूर देखते हैं, लेकिन फिर भी अंतरिक्ष-विज्ञान संबंधी जानकारियों में वे इंग्लैंड के बच्चों से बहुत आगे हैं। जरूरी यह है कि स्कूलों में उन्हें यह बताया जाए कि टेलीविजन पर उन्हें क्या देखना है और क्या नहीं देखना है। प्रसारण एजेंसियों को भी बच्चों के लिए टीवी-कार्यक्रमों का निर्माण किसी लाभ के लिए नहीं, संवेदनशीलता के साथ बच्चों के मनोरंजन और ज्ञानवर्धन के लिए करना चाहिए।

इन प्रतिवेदनों के संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह कहना मुश्किल है कि पढ़ाई-लिखाई से बच्चों का मन टीवी के चलते उचट रहा है या किसी अन्य आधुनिक सामाजिक कारण से। जापान के बच्चे टेलीविजन पर अपना समय अमेरिका के बच्चों की तुलना में बहुत कम खर्च करते हैं। फिर भी गणित जैसे विषयों में उनकी रुचि अँगरेज या अमेरिकी बच्चों से बहुत कम होती जा रही है। वे थोड़ा पढ़कर या कुछ सीखकर जल्दी से जल्दी कोई काम पकड़ लेना चाहते हैं। लगता है कि बच्चों की पढ़ाई-लिखाई पर अच्छे-बुरे असर का कारण टीवी नहीं, अलग-अलग देशों की अपनी-अपनी आर्थिक और सामाजिक संस्कृति है। पर वह एक अलग अध्ययन का विषय है।

□ भारत में तो सरकार ने स्कूलों को तीन लाख टेलीविजन सेट दिए हैं। कभी एन.सी.ई.आर.टी. ने इस बात की कोशिश की है कि वहाँ बच्चे क्या और कैसे देख रहे हैं। टीवी ने उन्हें आगे बढ़ाया, या पीछे धकेला है?

इधर अपने देश के स्कूलों में ढाई-तीन लाख टीवी सेट तो पहुँचा दिए गए हैं, पर उपलब्ध जानकारियों के अनुसार यह पता लगाने की कोशिश अभी तक किसी निजी या सरकारी संस्थान ने नहीं की है कि वे देखे जा रहे हैं या नहीं। और घरों या स्कूलों में वे जहाँ देखे जा रहे हैं, वहाँ उनका पढ़ाई-लिखाई पर कोई असर पड़ रहा है या नहीं? इस विषय पर रेडियो-वार्ताओं, परिचर्चाओं, पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य मंचों पर इधर जो चिंता व्यक्त की जा रही है, उसका आधार वैज्ञानिक नहीं भावनात्मक है।

एक अजब बात यह भी देखी जा रही है कि सरकार ने टेलीविजन को मनोरंजन के साथ ही जानकारी का स्रोत भी करार दिया है, इसलिए लाखों शिक्षक और अभिभावक उसे सामान्य-ज्ञान की शिक्षा के लिए जरूरी समझने लगे हैं। बहुत-से घरों में वह पुस्तकों का विकल्प हो गया है। टेलीविजन पर स्कूली विषयों की कक्षाएँ चलाने की सरकारी नीति भी यह भ्रम पैदा कर रही है कि पर्दे पर पढ़ाए जाने वाले पाठ शिक्षक, पुस्तक और पाठशाला से बेहतर हैं। अपने यहाँ बाल-शिक्षा की सबसे बड़ी ठेकेदारी एन.सी.ई.आर.टी. के हाथ में है। क्या उसने पता लगाने की कोशिश की है कि बच्चों की पढ़ाई पर टीवी का कैसा असर हो रहा है? नहीं की है। तो कब करेगी?

भाभी, जरा कोयला देना!

● यशवंत व्यास

हालाँकि, इस बात में कोई नयापन नहीं है कि कोई देवर सा' अपनी भाभीजी से जरा-सा कोयला माँगे ताकि वो दाँत माँज सके पर जवाब में बहनजी बीच में आ जाएँ और किसी टूथपेस्ट का नाम सुझा दें ताकि बदन के लिए दूध बादाम खाने के साथ दाँतों की प्रतिष्ठा बचाई जा सके। लेकिन, नयापन इस बात में है कि बात दाँतों तक ही नहीं रह गई है। बात कोयले की कोयलियत पर जा खड़ी हुई है। ठीक वैसे, जैसे आपको किसी को घर छोड़ने का प्रस्ताव देने के पहले एक साबुन विशेष की जरूरत है। इसकी सलाह में नयापन इस बात में निहित है कि तरोताजा होने का रिश्तों में कितना महत्व है। बशर्ते प्रस्ताव घर छोड़ने का हो। मैं एक अयोग्य व्यक्ति हूँ। इसीलिए कि, मेरे पास चिढ़ने और ईर्ष्या करने के पर्याप्त साधन मौजूद नहीं हैं। इसीलिए मैंने पहले दो प्रश्न उठाए। एक का संबंध दाँत माँजने से है और दूसरे का संबंध किसी चहेते शख्स को घर छोड़ आने से। इन दोनों में परंपरागत मूल्य यह है कि आप 'स्वच्छ' होना चाहते हैं। पहले में दाँत माँजना है और दूसरे में देह! मगर इस शानदार परिमार्जन में तीसरी आवाज पीछे से आ मिलती है- जो यह बताती है कि एक खूबसूरत लड़की विमान में आई, शायद उसकी सीट इसके (यानी स्वर साधक के) पास हो। लेकिन वह कहती है कि आप मेरी सीट पर आ बैठे हैं। तीसरी आवाज का यह सारा गड़बड़ घोटाला इस वजह से होता है कि एक खास किस्म का मॉइश्चराइजर उस लड़की ने लगा रखा है। और सिर्फ इन तीन दृश्यों में यह पुष्टिपूर्वक साबित हो जाता है कि असली समस्या क्या है?

समस्या को और साफ करने के लिए कुछ और दृश्य देखें जा सकते हैं। जैसे कॉलेज में एक लड़के के बारे में पूछा जा रहा है कि वह है कहाँ? छुपा बैठा होगा कहीं, कील-मुहाँसों के बीच अपना चेहरा छुपाए। एक और दृश्य में बहुत ही संगीतमय ढंग से लड़कों के एक झुंड से उठकर एक जिज्ञासु, धड़धड़ाती चली आ रही एक रूपगर्विता से पूछता है, किसने बनाया तुम्हें ब्यूटीक्वीन? दोनों के उत्तर क्रमशः एक क्रीम और एक साबुन, बतौर नायक उभर कर आते हैं। एक अन्य दृश्य में यह पवित्र संदेश दिया गया है कि यदि आपको किसी स्त्री-मित्र के साथ समुद्री सैर करनी हो तो किस विदेशी ब्लेड से कटना उचित होगा। आप कहीं इन शुद्ध संदर्भों से उबकाई न खाने लगें, इसलिए बीच-बीच में यह भी बताया जाता है कि 'परंपरा' भी कोई चीज है। जैसे पिता और सूटकेस, बड़ी बहन और चाय की पत्ती, दादी माँ और बाम, बाल और खोपरे का तेल या हल्दी और चंदन आदि-आदि। उदास बच्चे का पिता, एक स्कूटर विशेष ले आए और माँ का आशीर्वाद लेकर कोई बच्चा सुपर साबुन की महत्ता बॉक्सिंग रिंग में साबित कर दे तो परंपरा अपने-आप उत्तमता की पहचान स्थापित करने में सफल हो जाती है।

तो, जो असली समस्या समझी जाती रही है, 'उत्तमता की पहचान'। कोयले और दाँत के बीच भी यही समस्या है और किसी सहकर्मी विशेष को घर छोड़ने का प्रस्ताव रखने तथा तरोताजा होने के बीच भी। लेकिन असली समस्या क्या है, यह मुझे तब पता चली जब मॉइश्चराइजर लगाए हुए जो विमान सुंदरी तीसरे दृश्य में आई थी। उसने बाद में बताया कि दाँत माँजने में 'कोयला-विवाद' खड़ा करने वाली बहन भी वही थी और खोपरे का तेल खरीदते समय दादी माँ के गले में झूम जाने वाली पोती भी। उसी ने तीन साबुनों, चार क्रीमों और छः चाय पत्तियों की उत्तमता स्थापित करने में योगदान दिया था और वह आशा कर रही थी कि यदि दो-एक वर्ष और वह अपनी उत्तमता बनाए रख सकी तो कुछ और साबुन, टैल्कम, पाउडर, टूथपेस्ट, शीतल पेय, शेविंग ब्लेड और अन्यान्य 'जीवनावश्यक' वस्तुओं की उत्तमता साबित करके ही रहेगी। उनके साथ एक सज्जन खड़े थे। उन्होंने मुझे एक तरफ बुलाया और धीरे से कहा- मैं फलाँ साबुन....' वे आगे बोलते इससे पहले ही मैंने पूछा- 'क्या ये वही साबुन हैं, जिसे नहाने में काम में लो तो सहकर्मी घर तक छोड़ने या छूटने को तैयार हो जाते हैं?' वह बोला, नहीं, यह तो साबुन है, जिसकी रैपर बदलकर छः बार शूटिंग कर चुका हूँ। छः निर्माताओं के पास जाने का इरादा है।

छहों विज्ञापनों में से जो भी जिसको



भी पसंद आएगा उसी साबुन का हो जाएगा।' मैंने कहा, 'तुम मजाक कर रहे हो!' वह बोला, 'मैं सिर्फ तुम्हारी पीड़ा कम कर रहा हूँ। वर्ना तुम आधा ब्रश भर टूथपेस्ट लेकर पूरे ब्रश भर का संतोष ढूँढ़ते फिरोगे और बाद में यही तरकीब साबुनों- चाय पत्तियों या किसी और माल के बारे में अपनाओगे। नतीजा वही, दुःखी होकर कोसते फिरोगे। मैं तुम्हें इस पीड़ा से बचाना चाहता था।' मैंने उसे दोस्त समझ कर पूछा, क्या तुम जानते हो तमाम उधमों और नंगाइयों के बावजूद इन विज्ञापनों में बाप, दादा, पोते, बहुएँ, भाभियाँ, बहनें या बेटे जैसी पारंपरिक बीमारी क्यों जड़ जमाए हुए है? वह नाराज हो गया, तुम बदमाश हो! हमारे ट्रेड सीक्रेट पर बात करते हो।'

इसके बाद संवाद की कोई गुंजाइश नहीं बची। शुरू में उसका चेहरा ऐसा दिखा था जैसे उस कुकर में बनाए खाने का विज्ञापन हो, जिसे खिलाने से प्रमोशन मिल जाता है। लेकिन, आखिर में वह मेरे प्रति उस टिकिया जैसा हो गया जिसे गलता हुआ और घटिया दिखाया जाता है ताकि दूसरे वाशिंग पावडर या डिटर्जेन्ट की महत्ता स्थापित की जा सके।

मैं कई बार सोचता हूँ कि भाभीजी से दाँत माँजने के लिए जो कोयला देवर सा माँगते हैं, उससे बहनें दाँत तो माँजने देती नहीं, तो क्यों न वह कोयला लाकर बस्तियों में बाँट दें? फिर सब मिलकर उसका बढ़िया घोल बनाएँ और उस घोल से वे चेहरे पोत आएँ, जिसकी वजह से भूख के मारे बीमारी से फूले पेट बच्चों को शुद्ध सोयाबीन के तेल की स्वर्णधार में पक कर निकले व्यंजनों के सपने आते हैं।

मैंने कई बार सोचा है कि आवाज दे दूँ, भाभी जरा कोयला देना!' पर, भाभी के जवाब देने के पहले ही सैटेलाइट के जरिए खुली नीति वाली बहना बीच में आ जाती है - वाह भैया... !" एक उम्मीद है, भाभी के पास रखा-रखा कोयला किसी दिन दहक जाएगा और फिर हम सब मिलकर सोने के व्यापारियों को गरम चपातियों की दावत देने जाएँगे। तब भूखे बच्चे उन्हें लूट लेंगे और कोयले की राख 'दावतियों' के चेहरों पर मल दी जाएगी।

पर मित्रो, जब मामला विज्ञापन का है, तब पता नहीं भाभी के पास भी कोयले हैं कि नहीं और जहाँ तक दाँत वगैरह का सवाल है, उनका कोई क्या करें जब तक कि उसके पास खाने को रोटी ही न हो।

□ भारत में टीवी उद्योग :

कभी धूप तो कभी छाँव

●जीतेन्द्र मुछाल

भारत में पहला टीवी ट्रांसमीटर नई दिल्ली में १९५९ में स्थापित हुआ था। सार्वजनिक तौर पर टीवी के कार्यक्रमों के श्वेत -श्याम प्रसारण का सिलसिला १९६६ से प्रारंभ हुआ। भारत सरकार ने श्वेत-श्याम टेलीविजन सेटों के उत्पादन हेतु चार कंपनियों को अनुमति दी थी, किन्तु चंद वर्षों में ही **टेलिविस्टा** को छोड़कर अन्य तीन शून्य में लीन हो गई।

जिस वक्त तक टीवी में महज ब्लैक-एंड-व्हाइट प्रसारण ही जारी था, टेलीविजन की पहुँच सिर्फ महानगरों के कुलीन परिवारों तक ही सीमित था। परंतु जैसे ही एशियाड '८२ के कुछ पहले भारत में सार्वजनिक रंगीन प्रसारण का श्रीगणेश हुआ, तब से टीवी उद्योग में हर मायने में अभूतपूर्व क्रांति आ गई।

१९८२ के बाद सरकार ने दूरदर्शन को बढ़ावा देने के लिए दो प्रमुख दिशाओं में उल्लेखनीय कदम उठाए। पहला, दूरदर्शन के प्रसारण को देश के सुदूर कोनों तक पहुँचाने के लिए हाँई - पॉवर और लो-पॉवर ट्रान्समिशन टॉवर का जाल सारे देश में फैलाया। एक समय तो ऐसा भी था, जब लगभग हर दिन एक नए ट्रान्समिशन टॉवर का उद्घाटन हो रहा था।

ट्रांसमिशन टॉवर के जरिए प्रसारण की तरंगों की दर्शकों के घरों तक पहुँचाने की व्यवस्था तो हो गई, लेकिन उन तरंगों को दृश्य-श्रव्य चित्रों में तब्दील करने के लिए चाहिए थे- लाखों टीवी सेट। सरकार ने दोनों हाथों से टीवी उत्पादन के लिए उद्योग स्थापित करने के लाइसेंस को रेवड़ियों की तरह कुल मिलाकर २५० छोटे-बड़े उद्योगों को प्रदान किया। भारत में तो उस वक्त टीवी के अधिकांश पुर्जे आयात पर ही निर्भर थे, इसलिए उन उद्योगों को निर्धारित मात्रा में 'किट' आयात कर उससे टीवी 'एसेम्बल' कर बाजार में बेचने की अनुमति दी गई।

सुरसा के मुँह-सी बढ़ती माँग को पूरा करने में टीवी उद्योग की तो जैसे ही चाँदी हो गई। १९८८ में प्रकाशित आँकड़ों के अनुसार **उस वक्त भारत में १२५ से अधिक टीवी ब्रांड बाजार में उपलब्ध थे, जिनमें से एक दर्जन से अधिक रंगीन टीवी ब्रांड ऐसे भी थे, जिनका १९८८ में वार्षिक उत्पादन २५,००० रंगीन टीवी से अधिक था।**

रंगीन टीवी के प्रमुख उत्पादकों की १९८८ में वार्षिक उत्पादन की ब्रांडवार सूची कुछ इस प्रकार थी (हजार सेटों में) वीडियोकॉन (१४४), बी.पी. एल. (१२३.५०), ओनिडा (११३.८), डायनोरा (६४.७), बुश (५४.५), क्राउन (५०.९), अपट्रान (४७.६), वेस्टन (४४.२), ई.सी.आई.एल. (३९.४), सोलिडेयर (३७.४), ओप्टोनिका (२९.०), टेक्सला (२८.८), नेल्को (२६.५) और बीनाटोन (२५.७)।

१९८८ से पहले भारत में श्वेत-श्याम पिक्चर ट्यूब बनाने की कुछ इकाइयाँ शुरू हो गई थीं, परंतु रंगीन टीवी के इस सर्वाधिक महँगे और महत्वपूर्ण पुर्जे को बनाने की तीन फैक्टरियाँ वर्ष १९८८ में ही स्थापित हुईं। जापानी कंपनियों के सहयोग से स्थापित ये इकाइयाँ थीं- हिताची के सहयोग से **जे.सी.टी. लिमिटेड**, तोशिबा के सहयोग से **अपट्रान कलर लिमिटेड** और मित्सुबिशी के सहयोग से **सेमटेल इंडिया लिमिटेड।**

१९८९ के वार्षिक बजट में टीवी पर उत्पाद शुल्क में वृद्धि की गई और बाजार में

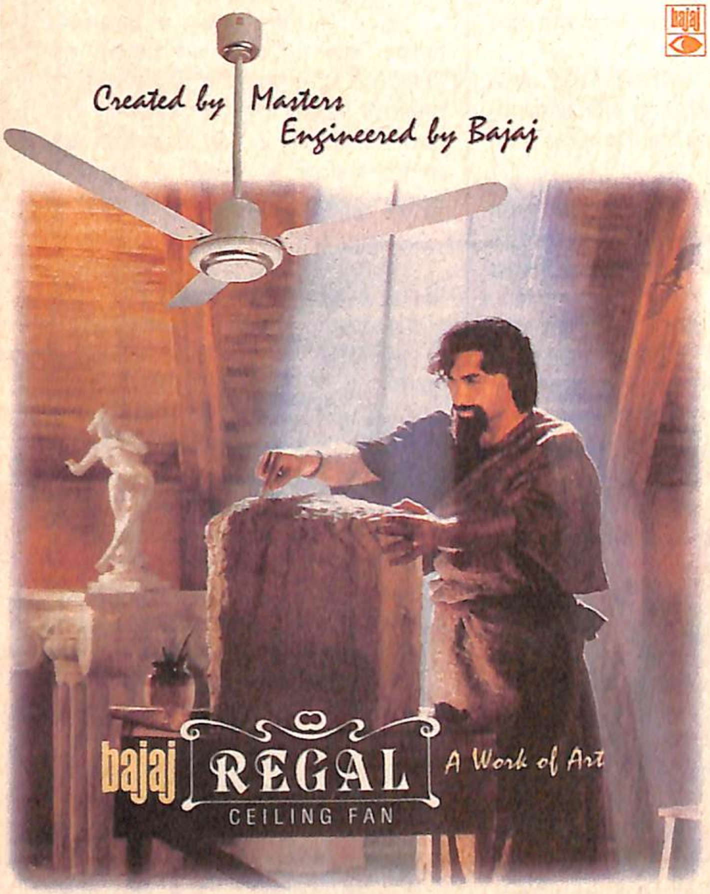
बेडरूम टीवी

स्टार/ जी.टी.वी. और कई चैनलों के आक्रमण से टीवी बाजार में भी हलचल होने लगी है। विभिन्न चैनलों पर एक साथ मनमोहक कार्यक्रमों के प्रसारण से घर-घर में यही समस्या सामने खड़ी हो जाती है कि अंततः टीवी पर कौन सी चैनल देखी जाए? टीवी उत्पादकों ने इस उलझन में अपने लिए एक नया बाजार क्षेत्र तलाश लिया चौदह इंची कलर टीवी।

भारत में अभी तक रंगीन टीवी में अधिकांश बिक्री सामान्य आकार (२०"/ २१") तक ही सीमित थी। परंतु विगत वर्ष में प्रमुख टीवी कंपनियों ने चौदह इंची रंगीन पोर्टेबल टीवी को **'सेकंड टीवी'** या **'बेडरूम टीवी'** के रूप में प्रचार-प्रसार कर खासी सफलता अर्जित कर ली है।

वर्तमान में चौदहवीं रंगीन टीवी के 'रिमोट' मॉडल दस हजार पाँच सौ रुपए के लगभग और 'नॉन -रिमोट' मॉडल नौ हजार पाँच सौ रुपए के आसपास उपलब्ध हैं, जो कि सामान्य आकार के रंगीन टीवी की कीमत से लगभग आधी है।

‘नईदुनिया’ द्वारा
‘दूरदर्शन-सिनेमा’
विशेषांक के प्रकाशन पर
हार्दिक शुभकामनाएँ!



■ **इंदौर सुईंग मशीन कंपनी,** 12, राजबाड़ा चौक, इंदौर ★ फोन : 31760 ■ **राजदीपक डिस्ट्रीब्यूटर्स,** 130, एम.टी.एच. कम्पाउंड, इंदौर ★ फोन : 30088/30188 ■ **जयभारत मार्केटिंग एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स,** 187, जेलरोड, इंदौर ★ फोन : 34606 ■ **ओरियन्टल इलेक्ट्रिकल्स,** 88, एम.जी. रोड, इंदौर ★ फोन : 34002 ■ **ओम एजेंसीज,** एल.आय.जी. पुलिस स्टेशन के पास, इंदौर ★ फोन : 441206 ■ **रतलाम इलेक्ट्रिक स्टोर्स,** डालूमोदी बाजार, रतलाम ★ फोन : 20278 ■ **सुपर सेल्स,** गुजराती समाज बिल्डिंग, न्यू रोड, उज्जैन ■ **जैन ब्रदर्स,** 96, गोपाल मंदिर मार्ग, कंठाल, उज्जैन ★ फोन : 23487 पी.पी.।

नटराज

COVERAGE & CONSULTANTS LIMITED

203, Apollo Tower, 2, M.G. Road, Indore 452 001

Phones: 7175, 432334

‘नईदुनिया’ द्वारा
‘दूरदर्शन-सिनेमा’
विशेषांक के प्रकाशन पर
हार्दिक शुभकामनाएँ!

DEVIDAYAL CABLES
MADE IN INDIA

श्रेष्ठता एवं कार्यक्षमता का
अनोखा संगम!

देवीदयाल

IS-8783/1978



0.63 एम.एम. से
3.00 एम.एम.
साईज में उपलब्ध।

सबमर्सिबल वाइंडिंग वायर्स

निर्माता : देवीदयाल इलेक्ट्रॉनिक्स एण्ड वायर्स लि., बम्बई

मध्यप्रदेश के वितरक :

पाटीदार ट्रेडिंग कारपोरेशन

97, महारानी रोड, इन्दौर- 452 007 फोन : 36203



टीवी कंपनियाँ इस तरह रिझा रही हैं ग्राहकों को

टीवी की घटती माँग से टीवी कंपनियों को भारी धक्का लगा। अधिकांश लघु उद्योग बंद होने लगे। उस 'शॉक' के बाद आज रंगीन टीवी बाजार में सिर्फ तीन प्रमुख टीवी ब्रांड ही बचे हैं- धूत परिवार द्वारा प्रवर्तित **वीडियोकॉन,** नंबियार- समूह का **बी.पी.एल.** और मीरचंदानी समूह का **ओनिडा।**

इन तीनों उत्पादकों में भी अग्रणी होने और कहलाने के लिए कड़ी प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। कुछ वर्षों पूर्व तो वीडियोकॉन और बी.पी.एल. में 'भारत का सर्वाधिक टीवी निर्माता' के स्थान को लेकर भीषण विज्ञापन युद्ध चला। उस अवसर पर तो टीवी उद्योग की प्रवक्ता संस्था 'सिट्मा' (कन्सयूमर इलेक्ट्रॉनिक्स एंड टेलीविजन मेन्यूफेक्चरर्स एसोसिएशन) भी विवाद सुलझाने में अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुई थी।

भारत में टीवी उद्योग से जुड़ी महत्वपूर्ण समस्याओं-अड़चनों और समय-समय पर उनसे निपटने के लिए किए गए उपायों (कोष्ठक में) का संक्षिप्त ब्योरा पाठकों को इस उद्योग के अंतःकरण से भली-भाँति परिचित करा देगा। भारत सरकार ने शुरू से ही टेलीविजन के साथ 'विलासिता' की वस्तु जैसा व्यवहार किया है, इसीलिए बाजार में रंगीन टीवी के विक्रय मूल्य में एक समय तो पचास प्रतिशत से भी अधिक भार विभिन्न शुल्कों (उत्पाद शुल्क, कस्टमस्, बिक्री कर, चुंगी आदि) का ही था। (विचारधारा में अब कुछ बदलाव आता दिखता है, तभी सरकार ने इस वर्ष बजट में टीवी उद्योग को उत्पाद शुल्क और कस्टमस् में काफी रियायतें दी हैं)।

बिक्री कर (सैल्स टैक्स) की दरें तो कुछ ऐसी रही हैं कि देश के अधिकांश राज्यों में, राज्य में ही निर्मित टीवी और दूसरे राज्य में बने टीवी की खेरची बिक्री-कर दरों में उल्लेखनीय फर्क था। (इससे उबरने के लिए प्रमुख कंपनियों ने सभी बड़े राज्यों में अलग-अलग नामों से अपनी उत्पाद इकाइयाँ खोल दीं। इसीलिए टीवी उद्योग में उत्पादक कंपनी के नाम की बजाए 'ब्रांड' को ही मापक माना जाता है, क्योंकि एक ही 'ब्रांड' का टीवी विभिन्न कर लाभों का फायदा उठाने के लिए एक से अधिक कंपनी के तहत बनाए जाते हैं)।

बाजार में टीवी ब्रांड्स की बाढ़ से कड़ी प्रतिस्पर्धा का वातावरण निर्मित हो गया था, जिससे माल बेचना बहुत कठिन होने लगा। ऐसे में कंपनियों ने एक ओर जहाँ ग्राहकों को लुभाने के लिए करोड़ों रुपए प्रतिवर्ष प्रचार-प्रसार और विज्ञापनों में खर्च करना शुरू कर दिया, वहीं दूसरी ओर विक्रेताओं 'डीलर्स' से अपना उत्पाद अधिक से अधिक बिकवाने के लिए नित, नई लुभावनी योजनाओं का आकर्षण 'डीलर' के सामने परोसा जाने लगा, जिनमें मुफ्त विदेश यात्रा और मारुति कार भी शामिल थी।

पिछले दो-तीन वर्षों से टीवी बाजार में छाई मंदी के काले साए से तो उद्योग अब कुछ उबरता नजर आ रहा है, परंतु अगर सरकार को इस उद्योग की असीम संभावनाओं का उचित दोहन करना है तो उसे निर्यात और गुणवत्ता को बढ़ावा देने के लिए सभी पर्याप्त कदम उठाने चाहिए।

सरकारी टीवी

भारत में दूरदर्शन का प्रसारण तो प्रारंभ से ही सरकारी हाथों में है, लेकिन देश में टेलीविजन उत्पादन के आरंभिक वर्षों में तो टीवी निर्माण के क्षेत्र में भी दर्जनों शासकीय अथवा सार्वजनिक निगम संलग्न थे। एक रोचक सिलसिला बन गया था, जब लगभग हर राज्य सरकार ने अपनी टेलीविजन उत्पादन कंपनी शुरू की थी।

वर्ष १९८६ में भारत में टीवी उत्पादकों की सूची में अन्य कंपनियों के अलावा गोआ इलेक्ट्रॉनिक्स (माफसा), हरियाणा टेलीविजन (फरीदाबाद), कोणार्क टेलीविजन (भुवनेश्वर), अपट्रान इंडिया (लखनऊ), राजस्थान इलेक्ट्रॉनिक्स (जयपुर), केलट्रोन (त्रिवेंद्रम) और वेबल निको इलेक्ट्रॉनिक्स (पश्चिम बंगाल) भी शामिल थे, जो कि उन्हीं राज्यों में शासकीय/ अर्द्धशासकीय उपक्रम थे। प्रारंभिक दिनों में तो सभी ने बहती गंगा में हाथ धो लिए लेकिन ज्यों ही बाजार में प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी, इन राज्य सरकारी कंपनियों के शटर धड़ाधड़ गिरने लगे। आज तो अपट्रान इंडिया के अलावा किसी भी राज्य/ सरकारी कंपनी का टीवी बाजार में नहीं है।

आपको पता है जी!

टीवी सेट में उपलब्ध सुविधाएँ

● **जीतेन्द्र मुछाल**

एशियाड १९८२ के बाद भारत में रंगीन दूरदर्शन का जबसे सही मायनों में सार्वजनिक प्रसारण बढ़ना शुरू हुआ है। उसी के साथ टी.वी. में उपभोक्ता को दी जाने वाली सुविधाओं (फीचर्स) में खासी तब्दीली आ गई है।

किसी भी तेजी से उभर रहे उत्पाद और बढ़ती हुई बिक्री के साथ-साथ वस्तु के आकार प्रकार में परिवर्तन स्वभाविक ही है। टी.वी. में जुड़ती जा रही सभी सुविधाओं का सतही लक्ष्य तो उपभोक्ता को अधिक से अधिक आरामदेह और मनोरंजक दूरदर्शन का लाभ देना ही रहा है लेकिन इन सभी के नेपथ्य में सिर्फ एक ही उद्देश्य रहा है— कड़ी स्पर्धा में अपना माल अधिकाधिक बेचना। इस लेख में मुख्यतः रंगीन टी.वी. में पिछले वर्षों में आई उन कुछ महत्वपूर्ण सुविधाओं, तब्दीलियों का उल्लेख और संक्षिप्त वर्णन किया गया है जो कि भारत में निर्मित टी.वी. सेटों में उपलब्ध हैं।

स्क्रीन ग्लॉस : टी.वी. में स्क्रीन (पर्दे) के बाहर एक और पारदर्शी ग्लॉस (काँच) लगाया जाता है। ऐसी धारणा है कि इससे दृश्य और भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

कोर मॉडल : भारत में रंगीन टी.वी. के शैशव काल में टी.वी. का कंट्रोल पेनल (आवाज, रंग ,चैनल आदि के परिचालक बटन) सभी वर्टिकल (ऊपर से नीचे) हुआ करते थे। फिर, ऐसा महसूस किया जाने लगा कि इन्हें होरिजेंटल (क्षितिजाकार) यानी टी.वी. पर्दे के दाईं ओर होने के बजाए उसे नीचे होना चाहिए। लगभग हर टी.वी. कंपनी ने कुछ ऐसे मॉडल बनाए जिनमें कंट्रोल पैनल पर्दे में नीचे की ओर होता है। ऐसे टी.वी. 'कोर मॉडल' कहलाते हैं।

रिमोट : टी.वी. में अब तक आए सभी परिवर्तनों को अगर उपभोक्ता सुविधा की दृष्टि से सूची बनाई जाए तो **रिमोट कंट्रोल** निःसंदेह सबसे ऊपर रहेगा। टी.वी. से दूर बैठे हैं। एक छोटे से रिमोट पैनल के सहारे टी.वी. के सभी फीचर्स जैसे रंग/ आवाज/ चैनल/ चमक में इच्छानुसार तब्दीली की सुविधा सही मायनों में क्रांतिकारी कही जा सकती है। रिमोट कंट्रोल पैनल **इंफ्रा-रेड** तरंगों के माध्यम से चलित होता है. इसलिए उसे मुख्य टी.वी. से जोड़ने हेतु किसी भी प्रकार के तारों की आवश्यकता नहीं होती है।

पी.आई.पी. (पिप) : एक ही टी.वी. पर एक ही समय में दो विभिन्न कार्यक्रमों के लुत्फ उठाने का मौका मिल जाए तो क्या बात है। इसी आवश्यकता को देखते हुए बाजार में आया **पी.आई.पी.** (पिक्चर-इन- पिक्चर) टी.वी. जिसमें दो चैनल के कार्यक्रम साथ-साथ देखे जा सकते थे। इसमें मुख्य पर्दे



पर तो एक चैनल का कार्यक्रम चलता ही था, साथ ही पर्दे के किसी भी कोने पर दूसरे किसी चैनल अथवा वीडियो के कार्यक्रम छोटे आकार में देखे जा सकते हैं। इसमें इच्छानुसार मुख्य पर्दे पर चल रहे कार्यक्रम को पर्दे के कोने पर ले जाकर कोने में चल रहे दृश्यों को मुख्य पर्दे पर देखा जा सकता था। प्रारंभ में इसमें एक असुविधा थी कि आवाज सिर्फ मुख्य पर्दे पर आ रहे दृश्य की ही सुनाई पड़ती थी। लेकिन कुछ ही समय में इसका उपाय भी निकल गया। मुख्य चित्र से जुड़ी आवाज तो टी.वी. के स्पीकर में आ जाती थी और कोने में चल रहे दृश्यों के लिए उनकी आवाज हेडफोन पर सुनी जा सकती है। इससे दोनों ही चैनल देखने वाले आवाज से वंचित नहीं रहते। साथ ही इसमें दृश्य को फ्रीज (स्थिर) करने की सुविधा भी थी, जिससे किसी भी एक दृश्य को देर तक देखा जा सकता है।

ऑन-स्क्रीन डिस्प्ले : रिमोट के ही साथ-साथ टी.वी. में यह सुविधा भी प्रदान की जाने लगी है, जिसमें टी.वी. पर्दे पर ही दर्शक द्वारा किए जा रहे परिवर्तन और उसका माप, दोनों दर्शाएँ जाने लगे। उदाहरण के लिए अगर टी.वी. दर्शक ने उसकी आवाज का स्तर ऊँचा करना चाहा, तो टी.वी. स्क्रीन पर ही 'वॉल्यूम' लिखा आ जाता है, जिसमें टी.वी. साउंड के अधिकतम, न्यूनतम और वर्तमान, तीनों ही स्तर अंकित रहते हैं।

इससे देखने वाला अपनी इच्छानुसार स्वर के स्तर में बैठे-बैठे तब्दीली कर सकता है।

ऑन-ऑफ टाइमर : किसी भी पूर्व निर्धारित अवधि के बाद टी.वी. के स्वतः बंद हो जाने की सुविधा भी अब टी.वी. में आम हो गई है। यह सुविधा प्रसारण बंद होने के बाद काम करती है।

ऑटो ट्यूनिंग : सभी टी.वी. दर्शकों को उनके वे दिन जरूर याद होंगे जिस दिन उनका प्रिय कार्यक्रम प्रसारित हो रहा था और टी.वी. पर दृश्य स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहे थे। ऐसे में ट्यूनिंग की **नॉब** को घुमा-घुमाकर साफ चित्र को स्क्रीन पर लाना झुंझलाहट भरा अनुभव रहता है। इसी कष्ट से छुटकारा दिलाने के लिए टी.वी. में **ऑटो ट्यूनिंग** की सुविधा दी जाने लगी, जिससे सही चैनल चुनने के बाद टी.वी. की आंतरिक प्रणाली से ही स्पष्ट चित्र अपने आप स्क्रीन पर स्थाई हो जाते हैं।

एफ.एस.टी. : शुरू में सभी रंगीन टी.वी. में ट्यूब २० इंच (५१ सेंटीमीटर) आकार के आते थे। इस आकार में स्क्रीन के कोनों पर चित्र कुछ कट भी जाते थे। इसी के जवाब में २१ इंच (५३ सेंटीमीटर) आकार के ट्यूब वाले टी.वी. बाजार में आने लगे हैं जिन्हें **एफ.एस.टी.** (फूल स्कवेअर ट्यूब) मॉडल कहा जाता है।

फोटो क्रोमेटिक : जिस कमरे में टी.वी. चल रहा हो उस कमरे में व्याप्त रोशनी के आधार पर पर्दे पर दिख रहे दृश्यों के रंग, ब्राइटनेस और कॉन्ट्रास्ट में स्वतः उतार-चढ़ाव हो जाता है। इस सुविधा को 'फोटो क्रोमेटिक' अथवा 'इलेक्ट्रॉनिक आई' कहते हैं। इन परिवर्तनों के अलावा भी कई और सुविधाएँ कंपनियों द्वारा टी.वी. में दी जाने लगी हैं। इनमें से प्रमुख हैं, टी.वी. और वीडियो एक ही **बॉडी** (ढाँचे) में देना। कंपनी द्वारा एक ही साथ दोनों यंत्र, डिश एंटेना को जुड़ने वाले रिसीवर को बाह्य तौर पर जोड़ने के बजाए टी.वी. में ही प्रदान करना। सिर्फ दो छोटे स्पीकर लगाने के बजाए पाँच स्पीकर, जिसमें से कुछ टी.वी. के बाहर भी निकले होते हैं, इससे आवाज और जोरदार सुनाई पड़ती है। ■

बेहतर नतीजों के प्रति आश्वस्त : भोपाल दूरदर्शन केंद्र

*भोपाल दूरदर्शन केन्द्र के निदेशक के रूप में **लीलाधर मंडलोई** हाल ही में पदस्थ हुए हैं। वे इससे पूर्व में आकाशवाणी भोपाल के केन्द्र निदेशक थे। मंडलोई अफसर होने के साथ कवि भी हैं। आकाशवाणी में रहते हुए उन्होंने हमेशा ही कुछ नया, कुछ प्रयोगधर्मी काम किया। वे पोर्ट ब्लेयर में आकाशवाणी में लंबे समय रहकर भोपाल आकाशवाणी में पदस्थ हुए थे। कहानियों, संस्मरणों और कविताओं के बीच उनका प्रशासकपन बड़ा असरदार और प्रभावित करने वाला है। वे टीमवर्क में विश्वास करते हैं। आकाशवाणी भोपाल को टीवी के युग में वे जितना कुछ श्रवणीय बनाने की जद्दोजहद करते रहे वह उनकी खूबी ही कही जाएगी। दूरदर्शन को लेकर भी उनका बड़ा साफ विचार है। मध्यप्रदेश को अभिव्यक्त करे ऐसा केन्द्र बनाना चाहते हैं वो। कार्यभार संभालने के दिन ही ख्यातनाम साहित्यकार कवि शमशेर पर तुरत-फुरत एक श्रद्धांजलि कार्यक्रम प्रस्तुत करना उनकी तत्परता है। वे स्व. श्रीकांत वर्मा और परसाईजी पर भी कार्यक्रम कर रहे हैं। प्रस्तुत है उनसे की गई बातचीत के अंश :*

● **साक्षात्कार : सुनील मिश्र**



एक प्रेक्षक और बुद्धिजीवी के रूप में भोपाल दूरदर्शन के काम को आप किस तरह आँकते हैं?

बहुत ईमानदारी से कहूँ तो एक प्रेक्षक की तरह टीवी देखने का मुझे समय ही नहीं मिल पाया। किसी एक केन्द्र के खुलने पर अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण हो ही नहीं सकता। जब अनुकूल स्थितियाँ नहीं होंगी, तो अनुकूल परिणाम भी नहीं होंगे। मेरा मानना है कि भव्य इमारत बन जाने से जीवन भी भव्य हो यह संभव नहीं है। कोई भी अच्छी चीज अच्छे इंसानों की वजह से संभव है जो अपनी संस्था व समाज से राग भाव रखे। यदि सुयोग या दुर्योग से कोई कहीं दूर से भेजा जाता है, तो उनके भीतर कोई राग की स्थिति बननी चाहिए। इसमें दोनों ही पक्षों को लेकर गंभीरता से सोचें तो कोई भी जिम्मेदारी इतनी भी निरपेक्ष नहीं होती कि अपनी जिम्मेदारी महसूस न करें। यह बात किसी भी संस्था पर लागू होती है।

जब आप आकाशवाणी भोपाल के केन्द्र निदेशक थे तब आपको अपने माध्यम के लिए दूरदर्शन से कोई खतरा महसूस हुआ था?

यदि व्यक्तिगत स्तर पर देखा जाए तो मैं किसी भी चीज को खतरा कम चुनौती ज्यादा महसूस करता हूँ। जिस तरह की परिस्थितियाँ समाज में हैं उसमें असफल होना नियति है पर संघर्ष करना है तो रास्ते निकल आते हैं। ढूँढ लिए जाते हैं। आकाशवाणी के साथ मेरा अनुभव यही रहा है। भोपाल में जो लोग जाने जाते थे वे किसी ललक के साथ आकाशवाणी आना पसंद नहीं करते थे। इनमें पहला नाम अशोक वाजपेयी का था। मगर वे और वे भी जो नहीं आते थे वे सारे के सारे लोग आकाशवाणी आए। आकाशवाणी ने उनको अपने अनुकूल बनाने के लिए लगातार उपाय किए। तभी लोगों ने जुड़ना पसंद किया। हिंदुस्तान की श्रेष्ठ प्रतिभाओं ने शिरकत की। यह सिर्फ मेरा ही नहीं पूरे के पूरे टीमवर्क का असर था।

अब आप दूरदर्शन केन्द्र के निदेशक हैं। आपने क्या विचार किया है इसको लेकर?

केवल एक विचार-मुझे काम करना है। ये विचार कितना अच्छा, कितना कमजोर हो सकता है इसके बारे में मैंने कभी सोचा भी नहीं।

आप सृजनात्मक व्यक्ति हैं। लेखक हैं, भोपाल के कल्चर/ कलाकर्म से परिचित भी। तो यह तो तय है कि इन सारी चीजों में बदलाव और बेहतरी की बहुत-सी संभावनाएँ होंगी पर बाकी चीजें?

---

*भोपाल दूरदर्शन केंद्र के पूर्व निदेशक **सतीशचंद्र अग्रवाल** दूरदर्शन के विधिवत चालू होने के पूर्व यहाँ आ गए थे। किसी भी संस्थान के प्रारंभ से भी पहले जुड़कर उसके सुव्यवस्थित संचालन की तैयारी करना और तमाम झंझावातों के बीच टीवी केंद्र चलाना कठिन है। अग्रवाल इसी कठिन समस्या से जूझते रहे। संवेदनशील, हँसमुख और मिलनसार केंद्र निदेशक ने सबको सहज भाव से सुना। कुछेक कमजोरियों की भरपूर आलोचना ने उनकी एकाग्रता और तन्मयता को भी भंग किया। फिर भी वे बेहतर करने का अपना उत्साह बनाए रखे। वे प्रतिदिन दर्शकों को ऐसे कार्यक्रम देना चाहते थे जिसके लिए लोग अपना टीवी सेट समय पर चालू करें। प्रस्तुत है उनसे की गई बातचीत के अंश—*



भोपाल दूरदर्शन को स्थापित हुए आधे से अधिक वर्ष हो गया है पर सही मायने में यह अभी स्थापित होने की प्रक्रिया में है।

इस संस्था के प्रमुख होने के नाते आपने इसके किस स्वरूप की कल्पना की है?

जब मैं यहाँ आया था तब एक स्कीम मेरे दिमाग में थी। मैं सोचता था कि प्रतिदिन दूरदर्शन पर एक ऐसा कार्यक्रम अवश्य आए जिसके लिए लोग अपना सेट खोलकर बैठें। शिक्षा व सूचना के क्षेत्र के कार्यक्रम, दिशा-दर्शन और मध्यप्रदेश दर्शन के कार्यक्रमों के बारे में मैंने विचार किया था। इसके अलावा पर्यावरण नाटिका, क्विज, बच्चों के लिए पपेट-शो, कामकाजी महिलाओं के कार्यक्रम दिखाने की इच्छा रही है। ऐसी चीजें जो जनता को अपील करें। लेकिन आपका यह कहना सही है कि अभी स्थापित होने की प्रक्रिया चल रही है। स्टाफ की कमी से सोचा हुआ पूरा होने में देर लगती है। आधुनिक कैमरा होते हुए भी कैमरामैन की

मैं मूलतः कविता का आदमी हूँ लेकिन आकाशवाणी में काम करते हुए कहानी से शुरूआत की। कृषि, बच्चों, महिलाओं, विज्ञान, स्वास्थ्य, खेल सभी पर कार्यक्रम बनाए और प्रसारित करवाए। इसकें पीछे कोशिश और सोच यही रहता था कि इन विधाओं पर काम करते हुए मुझे अपनी विधा के लिए नई चीजें मिल सकेंगी। यदि यह तय हो जाता है कि मुझे यहाँ रहना है तो बड़ा संघर्ष करना होगा। मेरा उद्देश्य इसे मध्यप्रदेश पर केन्द्रित करना है। यदि इतना कर सका तो मध्यप्रदेश के बाहर भी जाने का उत्साह बन जाएगा।

कई बार दोस्ती, दबाव और प्रभाव में या बड़े सुनियोजित ढंग से घेर कर आपको किसी चीज पर विश्वास करा लिया पर प्रोडक्शन के बाद वह चीज अत्यंत निराशाजनक साबित हुई। ऐसी परिस्थितियों से आप कैसे निबटेंगे?

ये चीजें किसी भी प्रोफेशन पर लागू होती हैं। आप इनसे कैसे बचें इसके लिए सबसे खास चीज यह कि आप कितनी उदारता लाते हैं? इसका मतलब कृपा कदापि न समझें। मान लीजिए मैं कविता का आदमी हूँ पर और भी कार्यक्रम मैंने किए क्योंकि मुझे लगा कि यहाँ कुछ ऐसा है जो मैं नहीं जानता। हर चीज आज की परिस्थिति के हिसाब से कुछ न कुछ सिखाती है। बच्चों के लिए काम करना अच्छा है। क्योंकि उनमें कोई वाद है न धारा। बच्चों के कार्यक्रमों से लेकर बुजुर्गों के कार्यक्रमों को तक आपको कुछ भी करने से यश मिल सकता है। बशर्तें आप उन चीजों को ले सकें। फिर कुल मिलाकर यह सब विवेक पर निर्भर है। चीजों की समझ पर निर्भर है। मैं जब कालापानी में रहा तब मुझे भी विवेक और समझ पर निर्भर रहना पड़ा। समझना, बचना और फेर में न आना चाहिए।

आप क्या नया शुरू करना चाहते हैं और किस पुराने को बंद कराना चाहते हैं?

किसी पुराने को बंद करना मेरा उद्देश्य नहीं। जो चीजें तैयार हो गई या हो रही हैं उनको रोकने से कुछ बचेगा नहीं, इनको बेहतर मोड़ देना होगा। नया शुरू करने के हिसाब से मध्यप्रदेश के प्रतीक पहचान वाले केन्द्र बनाने का मेरा सपना है। किसी वाद का बंधन मेरे पास नहीं है। मैं उन चीजों को लेना और लाना चाहूँगा जो अब तक देखने में नहीं आई।

और दूरदर्शन की भोपाल में स्थापना से लेकर अब तक का परंपरागत अभाव/साधनहीनता आदि?

कमी है। नान गजटेड प्रोडक्शन स्टाफ की अस्सी प्रतिशत जगह खाली है। फिर इस दरम्यान हम कई सोचे कार्यक्रम शुरू कर सके हैं। जैसे नाटक/ रंग तरंग/ सुर साज आवाज/ कवि गोष्ठी एवं मुशायरा। युवाओं के लिए दिशा दर्शन के अलावा सामाजिक व आर्थिक विषयों पर कुछ परिचर्चाएँ भी दिखाईं। कम्युनल हारमनी के क्षेत्र में हमारा कार्यक्रम मानवता के स्वर काफी सराहा गया।

पश्चिमी देशों की संस्कृति और उनके माध्यम के हवाई हमलों के कारण टीवी के सामने अस्मिता और पहचान दोनों का संकट आ गया है। आपको लगता है कि लड़ाई कठिन है और शत्रु ताकतवर भी है और आकर्षक भी?

यह सच है। शत्रु ताकतवर भी है और आकर्षक भी। लेकिन मुकाबला कठिन नहीं है। दूरदर्शन ने भी इस पर स्टेप्स लेना शुरू कर दिए हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ और मुझे आशा है कि नए चैनल से काफी हद तक सफलताएँ मिलेंगी। यह मेरा आशावाद है।

आपकी रेंज भोपाल और उसके आसपास के नजदीकी क्षेत्र हैं। ऐसे में यहाँ की संस्कृति, लोग और परंपराओं के साथ अच्छे-बुरे लोगों से भी आपके अनुभव रहे होंगे। उनको पाठकों के साथ बाँटना चाहेंगे?

इस क्षेत्र में बहुत टेलेंट है। बस माँझने की आवश्यकता है। भोपाल के लोग और प्रतिभाएँ अच्छी हैं। अनुकूल प्रतिभा दिखलाने के लिए, मेरे व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर यही कहूँगा कि और विस्तार की संभावना साफ नजर आती है।

भोपाल दूरदर्शन ने आकाशवाणी मोह को खत्म कर दिया है। कल तक जो लोग रेडियो से जुड़े रहते थे, वे दूरदर्शन की सड़क नापते हैं। क्या यह रेडियो की अस्मिता के लिए खतरा नहीं है?

जहाँ-जहाँ टेलीविजन गया, वहाँ-वहाँ रेडियो की अस्मिता के लिए कोई खतरा नहीं हुआ। टीवी जहाँ होगा वहाँ लोग जाएँगे ही। लेकिन इतना भी कह दूँ कि रेडियो के श्रोता हमेशा बने रहेंगे। कभी खत्म नहीं होंगे।

दो खास जगह हैं जहाँ दूरदर्शन सर्वाधिक

☐ भोपाल टीवी केंद्र

सचमुच दूर के दर्शन!

● **अजय बोकिल**

भोपाल दूरदर्शन मध्यप्रदेशवासियों के लिए सचमुच दूर के दर्शन ही साबित हुआ है। अत्याधुनिक स्टुडियो व उपकरणों के साथ शुरू हुए इस केंद्र ने उम्मीद जगाई थी कि वह जल्दी ही प्रदेश का सांस्कृतिक अग्रदूत बनेगा, लेकिन आरंभ के पहले ही माह में दूरदर्शन केंद्र ने हर स्तर पर निराशा ही परोसी। योग्य प्रतिभाओं का अभाव, अनुभव की कमी, स्टाफ का गंभीर संकट, आपसी समन्वय की कमी, तकनीकी खामियाँ मध्यप्रदेश की माटी की गंध को पहचानने वाले तथा स्थानीय स्तर पर संवाद संपर्क रखने वाले व्यक्तियों के अकाल ने दूरदर्शन को श्यामला हिल तक सीमित कर दिया। सात माह में दूरदर्शन केंद्र मध्यप्रदेश तो क्या भोपाल से भी जुड़ नहीं पाया है।

भोपाल दूरदर्शन की नाव शुरू से विवादों और आश्वासनों के बीच हिचकोले खाती रही है। फिर भी जैसे-तैसे २० अक्टूबर १९९२ को वह घड़ी आई जब **राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने** इसका शुभारंभ किया। देश के आकार में सबसे बड़े प्रदेश को जब दूरदर्शन केंद्र मिला तब यह दूरदर्शन का २२ वाँ केंद्र था। इस पर २५ करोड़ रुपए की लागत आई। इसी के साथ म.प्र. ने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के युग में प्रवेश किया। इसकी औपचारिक शुरूआत १९७६ में रायपुर में हो चुकी थी।

यह अपेक्षा तो किसी को नहीं था कि भोपाल का शिशु दूरदर्शन केंद्र जन्म से ही दिल्ली या अन्य स्थापित केंद्रों के समकक्ष कार्यक्रम देने लगेगा। लेकिन जो शुरूआत हुई, उससे यही सिद्ध हुआ कि केंद्र को शुरू करने के लिए बुनियादी तैयारियाँ भी नहीं की गईं। मसलन सही व आकर्षक उद्घोषकों की कमी, तैयार कार्यक्रम का अभाव, समाचार संकलन तथा प्रस्तुति आदि के संबंध में लापरवाही। भोपाल केंद्र वर्तमान में प्रति सोमवार व मंगलवार को शाम ६.५५ से रात्रि ८.३० तक तथा सप्ताह के अन्य दिनों में शाम ७.५० तक कार्यक्रम प्रसारित करता है। इनमें १५ मिनट के समाचार भी शामिल होते हैं। कार्यक्रमों में स्थानीय स्तर पर निर्मित कार्यक्रम कम ही होते हैं। यही हाल समाचारों का है। समाचारों में प्रदेश का कवरेज तो छोड़िए, भोपाल की कई महत्वपूर्ण घटनाएँ छूट जाती हैं। दूरदर्शन के पास संवाददाता नहीं हैं अतः ज्यादातर स्थानीय कवरेज जनसंपर्क विभाग से ही कराया जाता है।

अन्य कार्यक्रमों में कल्पनाशीलता एवं रोचकता का अभाव होता है। तकनीकी पक्ष भी बेहद कमजोर होता है। दर्शकों का मानना है कि ये कार्यक्रम बेहद उबाऊ तथा 'टाइम-पास' होते हैं। लेकिन दूरदर्शन के सहायक केन्द्र निदेशक का कहना है कि पिछले दिनों उनके केंद्र द्वारा प्रस्तुत 'मानवता के स्वर' व 'हास्य कवि सम्मेलन' काफी सराहे गए। इसके अलावा केंद्र से ग्राम जगत/ साहित्यिकी/ बच्चों के लिए व नगर नागरिक कार्यक्रम भी प्रसारित किए जाते हैं।

२.७५ करोड़ रुपए बजट वाले इस केंद्र की सबसे गंभीर समस्या है स्टाफ की कमी। इस केंद्र के लिए सरकार ने विभिन्न स्तरों के

जैसा कि मैने पहले कहा था, भव्य इमारतों का बनना ही सब कुछ नहीं, काम करने वाले तो काम करते हैं ही। और जितने लोगों की दरकार है यदि वे नहीं हैं तो आप चाहकर भी कुछ नहीं कर सकते। यह लंबी प्रक्रिया है। देर लगेगी। लेकिन कहीं से तो शुरूआत करनी है ही। जब आप किसी चीज को जिद और स्वप्न के रूप में लेकर इस्तेमाल करते हैं तो एक भव्य इमारत भी अर्थवान हो जाती है।

एक आखरी बात. यह तबा काँटों का ताज है या एक बहुत उम्मीदजनक चुनौती?

काँटों के ताज पर उम्मीद की कोई किरण बाकी है। चुनौती-स्ट्रगल को फेस करना चाहिए। पीठ दिखाना अपना लक्ष्य नहीं रहा।

४१४ पद स्वीकृत किए हैं। लेकिन इनमें से २५२ अधिकारी और कर्मचारी ही कार्यरत हैं। कार्यक्रम निर्माण के लिए आवश्यक कई तकनीकी व कलाकारों के पद तो खाली ही पड़े हैं। सबसे बड़ा संकट कैमरामेन का है। यहाँ कैमरामेन के ३१ पद मंजूर हैं लेकिन काम कर रहे हैं केवल सात। इनमें से भी ज्यादातर भोपाल के बाहर के होने के कारण छुट्टी पर रहते हैं। नतीजा यह होता है कि भोपाल का कवरेज जैसे-तैसे हो भी जाए तो शेष प्रदेश का कवरेज कभी-कभार ही हो पाता है।

एक तरफ नियमित स्टाफ की कमी तो दूसरी तरफ समाचार वाचकों, उद्घोषकों व कलाकारों की भर्ती का कोई नियम नहीं। समाचार वाचकों का पैनल आज तक नहीं बन पाया। जबकि केंद्र में २० समाचार वाचकों की फौज है। जबकि होने चाहिए ६-७। संवाददाता के दो स्वीकृत पदों पर भर्ती होना है। समाचार संपादकीय विभाग में पत्रकारिता. का व्यावहारिक अनुभव किसी को नहीं है। दूरदर्शन की नीति खेलों का कवरेज बढ़ाने की रही है। लेकिन भोपाल केंद्र के पास स्टाफ नही होने से बहुत कम खेल आयोजन कवर हो पाते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों, लोक संगीत का भी लगभग यही हाल है। नाटकों का प्रसारण कई बार बगैर ऑडीशन के हो जाता है।



केंद्र की सबसे बड़ी खामी है सुनिश्चित दृष्टि तथा आयोजना का अभाव। इसके चलते प्रदेश की योग्य प्रतिभाओं की उपेक्षा हो रही है तो दूसरी तरफ अयोग्य तथा दोयम दर्जे के लोगों को दूरदर्शन पर महत्व मिल रहा है। इस बारे में दूरदर्शन के तत्कालीन निदेशक का कहना था कि मध्यप्रदेश में दूरदर्शन के लायक प्रतिभाओं का अकाल है। जो हैं, उन्हीं में से चुनना पड़ता है।

कार्यक्रमों को अलग रखे तों तकनीकी स्तर पर भी बुरे हाल हैं। चलते-चलते प्रसारण का बंद हो जाना, अस्पष्ट उच्चारण, समाचारों में विजुअल्स का अभाव, कई बार तो रुकावट के लिए खेद प्रदर्शन भी न करना, सामान्य शिकायतें हैं। ऐतिहासिक गलती तो एक बार समाचार पढ़ते समय हुई जब स्क्रीन पर समाचार वाचक समाचार पढ़ रहा था लेकिन पीछे से काफी देर तक एक महिला का बंगाली संभाषण सुनाई देता रहा।

भोपाल दूरदर्शन की शुरूआत इस आशा में हुई थी कि वह पूरे प्रदेश में अपने कार्यक्रम प्रसारित करेगा। इस केंद्र को उपग्रह के जरिए जोड़ने हेतु २५ लाख रुपयों का अपलिंकिग उपकरण भोपाल आया भी लेकिन एक प्रभावशाली मंत्री के प्रभाव से उसे बंगाल के किसी केंद्र पर भिजवा दिया गया। भोपाल केंद्र प्रदेश के अन्य केंद्रों से अपलिंकिंग बगैर अर्थ-स्टेशन के नहीं हो सकता। इस अर्थ-स्टेशन का निर्माण कछुआ चाल से चल रहा है। यह कार्य पूरा होने तक भोपाल दूरदर्शन ७० किलोमीटर (हवाई मार्ग) दायरे में ही सीमित रहेगा।

दूरदर्शन की भावी योजनाएँ क्या हैं? इस संबंध में तत्कालीन केंद्र निदेशक ने बताया कि मध्यप्रदेश के लोगों को सही अंगरेजी का ज्ञान नहीं है। अतः हम सही अंगरेजी कैसे बोलें इस पर केन्द्रित कार्यक्रम शुरू कर रहे हैं। कुछ साहित्यिक कार्यक्रम भी प्रस्तावित हैं जैसे नरेश मेहता की उत्तर कथा। लेकिन यह सब स्टॉफ एवं सुविधाओं की उपलब्धता पर निर्भर है।

आलोचना का शिकार हो रहा है। इन जगहों से समूचे कार्यक्रमों के अच्छे पक्षों की खूबियाँ भी दबकर रह जाती हैं। ये जगह हैं समाचार वाचन और उद्घोषणा। हिंदी बेल्ट के संवेदनशील दर्शक तो इन पर तत्काल आपत्ति उठाएँगे ही। सवाल गलत उच्चारण का है?

हमने इस क्षेत्र में (समाचार वाचन और उद्घोषणा) छह माह तक लोगों को स्क्रीन पर अवसर दिया और परखा। अब इसका फाइनल चयन होने जा रहा है। खराब परफार्मेंस के लोगों को हटाया जा रहा है। हमने अभी कुछ और उद्घोषिकाओं का चयन किया है। दर्शक उनको बहुत जल्द टीवी पर देखेंगे।

आलोचनाएँ आपको कैसी लगती हैं?

अगर निष्पक्ष और सृजनात्मक हैं तो उनका स्वागत हमेशा करता हूँ। यदि आलोचना, आलोचना के लिए है तो उसे मैं क्या, कोई पसंद नहीं करेगा। स्वस्थ आलोचना सुधार के अवसर देती है। मगर यहाँ जो आलोचना हुई वह खास उद्देश्य को लेकर हुई। दूरदर्शन कार्यक्रमों के टेक्निकल फाल्ट को प्रोग्राम का फाल्ट बनाकर प्रचारित किया गया, जो ठीक नही है।

...और कुछ विशेष पाठकों से कहना चाहते हो?

यही कि दूरदर्शन कार्यक्रमों से परिस्थितियों, साधनों के अनुसार ही अपेक्षा लगाएँ। सुधार की प्रक्रिया जारी रहती है। जारी रहेगी। हर चीज के व्यवस्थित होने को जितना वक्त चाहिए, उतना वक्त दिया जाना चाहिए। हम बेहतर नतीजों के प्रति आश्वस्त हैं।

(इस साक्षात्कार के दूसरे ही दिन श्री अग्रवाल का दिल्ली दूरदर्शन केंद्र पर डिप्टी प्रोग्राम कंट्रोलर पद पर स्थानांतर हो गया। उनके स्थान पर श्री लीलाधर मण्डलोई पदस्थ हुए हैं।)

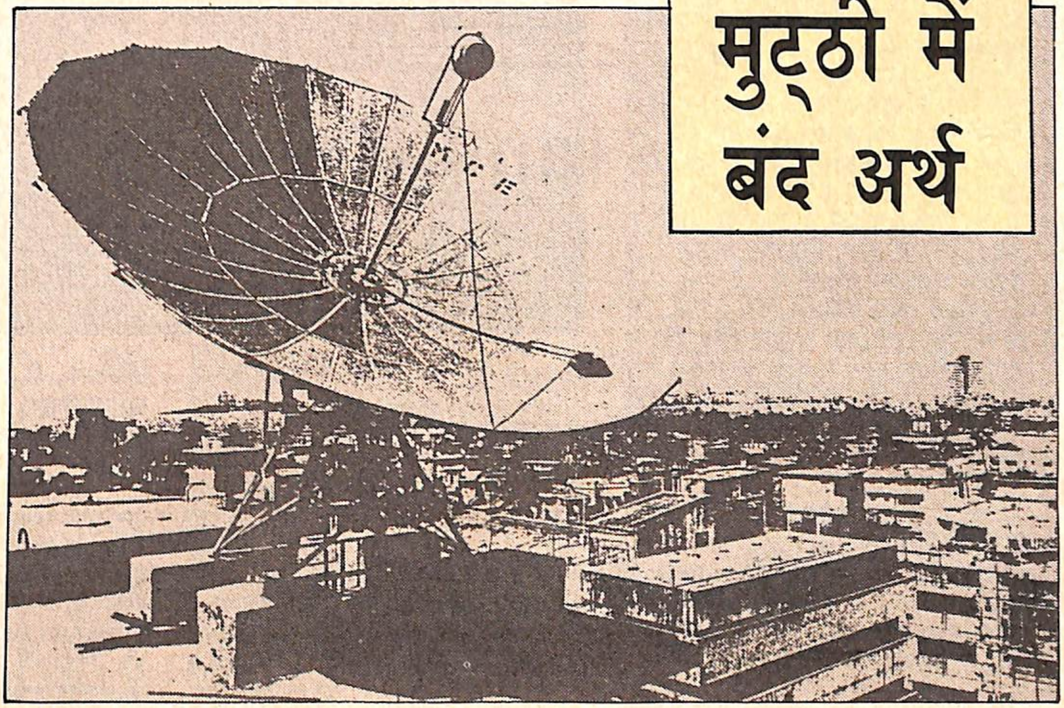
हवा में तैरते शब्द मुट्ठी में बंद अर्थ

● श्रीराम ताम्रकर

दूरदर्शन-संस्कृति के गृह-प्रवेश के बाद कई नए-नए शब्द हवा में तैरने लगे हैं। आज के संदर्भ में उनके सही अर्थ जानना हर दर्शक के लिए जरूरी हो गया है। हमारी दिनचर्या में इन शब्दों का उपयोग कई बार होता है। टीवी-कल्चर घरों में अकेले नहीं, अपने पूरे 'कुटुम्ब' के साथ आया है। यहाँ हम उसी कुटुम्ब के प्रमुख सदस्यों का परिचय पाठकों से करा रहे हैं-

□ टेलीविजन

महाभारत काल में जो काम संजय ने कियां था कि धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र के युद्ध का आँखों देखा हाल सुनाया, वही काम आज के टेलीविजन कर रहे हैं। दृश्य एवं श्रव्य दोनों का अद्‌भुत संगम है यह जादुई-पिटारा। हिंदी में इसे हम **दूरदर्शन** नाम से पुकारते हैं। श्वेत-श्याम छवियों के साथ यह रंगीन भी है। इस समय देश में १५/३६/५१ और ६० सेंटीमीटर आकार के टेलीविजन सेट उपलब्ध हैं। भविष्य में हल्के तथा कैलेण्डरनुमा चपटे टीवी बनने जा रहे हैं, जिसे दर्शक दीवार पर लटका सकेंगे।



□ एण्टेना

घर की छतों पर 'यू' और 'एस' आकार की जो कलगियाँ दिखाई देती हैं, वे एण्टेना हैं। इसका काम है हवा में धुली हुई तस्वीरों (सिग्नल्स) को पकड़ कर टीवी सेट के पिक्चर- ट्यूब तक ले जाना और उसे फिर से चलती- फिरती-बोलती-मुस्कराती तस्वीरों में बदल देना। छोटे आकार के टीवी सेट में एण्टेना का आकार-प्रकार ट्रांजिस्टर के एण्टेना की छड़ीनुमा हो जाता है। बाजार में ऐसे टीवी भी आए हैं, जिनमें 'बिल्ट-इन' एण्टेना हैं।

□ डिस्क एण्टेना

यह गोल छतरीनुमा विभिन्न आकार के शक्तिशाली एण्टेना होते हैं। उपग्रह से सीधे कार्यक्रम पकड़ कर उसे केबल के जरिए सैकड़ों घरों तक पहुँचाते हैं। आज भी जिन सुदूर गाँवों-कस्बों में टीवी नहीं पहुँचा है, वहाँ डिस्क एण्टेना के जरिए ही दूरदर्शन देखा जा रहा है। भारत के मैट्रो चैनल भी इसकी सहायता से देखे जाते हैं।

□ केबल टीवी :

बहुमंजिला इमारतों तथा कॉलोनियों के घरों में केबल बिछाकर उसका कनेक्शन टीवी सेट से कर दिया जाता है। एक कक्ष में बैठकर ऑपरेटर वीसीआर पर जो कार्यक्रम चलाता है, उसे दर्शक घरों के सेट पर देख सकते हैं। केबल टीवी के ग्राहक को यह सेवा लेने पर प्रतिमाह शुल्क देना होता है। सैटेलाइट प्रसारण के बाद जी. टीवी/ स्टार/ एम टीवी/ प्राइम स्पोर्ट्स/ बीबीसी/ एटीएन के कार्यक्रम केबल के माध्यम से ही देखे जा रहे हैं।

□ एच.पी.टी

इसका अर्थ है हाईपॉवर ट्रांसमीशन। महानगरों में आकाश की ओर अपनी लंबी गर्दन ताने ये स्तंभ खड़े किए गए हैं। इनका काम है उपग्रह से कार्यक्रम पकड़ कर उसे दो गुनी गति से फिर से हवा में फेंकना, ताकि उपभोक्ता दर्शकों को प्रसारण बेहतर मिल सके। इनका दायरा सौ से डेढ़ सौ हवाई किलोमीटर होता है।

□ एल.पी.टी

इसे लो-पॉवर ट्रांसमीशन कहते हैं। ये छतरीनुमा अलग-अलग शक्ति वाले होते हैं। दस से पच्चीस हवाई किलोमीटर तक कार्यक्रमों को हवा में छोड़ते हैं।

□ सेकंड चैनल

भारत के चार महानगरों-बंबई-दिल्ली-कलकत्ता-मद्रास के निवासियों को अप्रैल ९३ तक यह सुविधा प्राप्त थी कि वे राष्ट्रीय प्रसारण के अलावा स्थानीय प्रसारण का लाभ भी लेते थे।

□ मैट्रो चैनल

अप्रैल ९३ से बंबई-दिल्ली-कलकत्ता-मद्रास के स्थानीय कार्यक्रम अब सैटेलाइट की मदद से पूरे देश के दर्शक एक साथ देख सकते हैं। इन्हें देखने के लिए केबल का सहारा जरूरी है। फिलहाल इनका प्रसारण समय रात आठ से दस बजे तक है।

□ नेटवर्क (संजाल)

दिल्ली से संबद्ध वे तमाम टीवी केंद्र, जो दिल्ली दूरदर्शन के कार्यक्रम अपने यहाँ से नियमित प्रसारित करते हैं, उनके कार्यक्रम नेटवर्क कार्यक्रम कहलाते हैं।

□ राष्ट्रीय-कार्यक्रम

रात ८.३० से दूरदर्शन पर प्रसारित समस्त कार्यक्रम देश के संपूर्ण टीवी केंद्रों से

सन १९९२ के अंतिम माह में गुजरात राज्य के समस्त दूरदर्शन रिले केंद्र, अहमदाबाद दूरदर्शन केंद्र से सम्बद्ध कर दिए गए। इस तरह प्रदेश के दूरदर्शन प्रसारण इतिहास में एक नए युग की शुरूआत हुई। प्रतिदिन रात ८.३० बजे तक दर्शकों को प्रादेशिक कार्यक्रम देखने को मिलते हैं। रविवार को दिल्ली से हिंदी फिल्म के स्थान पर गुजराती फिल्म देखने को मिलती है। हिंदी धारावाहिकों के साथ गुजराती धारावाहिकों का लाभ भी मिलने लगा है। शाम ७.३० बजे गुजराती समाचार बुलेटिन का प्रसारण हो रहा है।

दूरदर्शन के इस राज्यव्यापी 'लिंक-अप' के अनुभव के पश्चात गुजरात के दूरदर्शक कह रहे हैं कि इससे तो दिल्ली से प्रसारित हिंदी कार्यक्रम अच्छे थे। 'जान है जहान है'/ घर-बाहर और चित्रहार जैसे रोचक कार्यक्रमों के साथ रविवार को पुरानी हिंदी फिल्म देखने का अवसर मिलता था। अब शुक्रवार को 'चित्रहार' अहमदाबाद द्वारा प्रसारित किया जाता है, जो प्रस्तुति में कंगाल है। समाचार बुलेटिनों में गुजराती उच्चारण अशुद्ध होने के साथ लिंक-अप कार्यक्रमों में यांत्रिक खराबियाँ बढ़ गई हैं।

गुजरात का दूरदर्शन केंद्र, प्रदेश के लोकजीवन/ कला तथा संस्कृति को दर्शकों के खातिर जीवंत रखने में कहाँ तक सफल रहा है, इसका उत्तर खोजने बैठें, तो काफी निराशा हाथ लगती है। अहमदाबाद टीवी भ्रष्टाचार एवं सिफारिशों का सबसे बड़ा केंद्र बन गया है। इसके नियंत्रक पद पर श्री पात्र उड़ीसा के एक अधिकारी थे। उनके समक्ष रिश्वतखोरी की कई आपत्तियाँ आई। करोड़ों का घोटाला होने संबंधी रिपोर्ट भी प्रकाश में आई। सीरियल और अन्य कार्यक्रमों की स्वीकृति के लिए जहाँ पैसा देना पड़ता है, वहाँ कार्यक्रमों की उत्कृष्टता किस प्रकार बनाए रखी जा सकती है- यह विचारणीय है।

अभी-अभी मेरा चयन, अहमदाबाद दूरदर्शन कार्यक्रम देखरेख समिति में हुआ है।



कृष्णा धारावाहिक में नरसिंह अवतार

संबंधित सदस्य होने से जो थोड़े-बहुत कार्यक्रम देखने को मिले, उनका स्तर व गुणवत्ता देखकर शर्म से सिर झुक गया। जिन लोगों को मीडिया से किसी भी प्रकार का सरोकार न हो उन्हें कार्यक्रम की स्वीकृति देकर लाखों रुपए अग्रिम भुगतान कर दिए। कई कार्यक्रम इतने निम्न व घटिया स्तर के थे कि उनके बदले कोई नौसिखिया घर में शूटिंग करे, तो उसके परिणाम काफी उत्साहजनक व अच्छे आ सकते हैं। इस तरह की शिकायतें केंद्र सरकार तक पहुँचीं। इसीलिए यह छानबीन (स्क्रीनिंग) समिति बनाई गई। इससे पहले दूरदर्शन के अधिकारियों को ही कार्यक्रम स्वीकृति के अधिकार थे।

सौराष्ट्र प्रदेश की लोक संस्कृति एवं लोक जीवन की प्रमुखता के साथ स्वयं की एक अलग ही विशिष्ट छाप है। इसका जायजा लेने हेतु राजकोट रिले केंद्र को एरिया स्पेसिफिक प्रोग्राम (ए एस पी) के अंतर्गत ४० मिनट का समय दिया गया। अब कम कर आधा घंटा कर दिया है। प्रदत्त समय के लिए सौराष्ट्र की ग्रामीण जनता को ध्यान में रखते, भजन लोकगीत/ संतवाणी आदि कार्यक्रम पैकेज तैयार कर प्रसारित करना चाहिए थे। इस ध्येय की पूर्ति में राजकोट केंद्र सफलता अर्जित न कर पाया, ऐसा कहा जा सकता है। केंद्र ने कई नाटक तैयार किए, जिनमें से अधिकतर की कथावस्तु आज की हिंदी फार्मूला फिल्मों के समान है। इनमें सौराष्ट्रीय जनजीवन का चित्रण कहीं दिखाई नहीं देता। इस संदर्भ में 'बेपार' नाटक का उल्लेख विशेष किया जा सकता है। नाटक सभी दृष्टि से निम्नकोटि का होकर कहानी से लेकर अन्य सभी बातें कमजोर थीं। कुछ समय पहले देवेन शाह के 'चेहरा विनानो माणस' एक घंटे के नाटक की प्रस्तुति हुई थी। कहानी सशक्त थी। लेकिन समग्र रूप से निर्मितिअपेक्षानुकूल नहीं थी। फिर भी प्रयोगशीलता की दृष्टि से उल्लेखनीय अवश्य रहा। राजकोट दूरदर्शन केंद्र ने कई उल्लेखनीय वृत्तचित्र बनाए हैं। वे अहमदपुर-मांडवी-दरियाकाँठा और राज्य सरकार द्वारा बनाए गए। बाद में सौराष्ट्र की

प्रसारित किए जाते हैं। इन्हें राष्ट्रीय कार्यक्रम अथवा नेशनल प्रोग्राम कहा जाता है।

□ ब्रेकफास्ट टीवी

प्रातःकालीन प्रसारण सभा को ब्रेकफास्ट अथवा नाश्ता-टीवी कहा जाता है। ऐसी मान्यता है कि अधिकांश दर्शक इन कार्यक्रमों को चाय पीते या नाश्ता करते हुए देखते हैं।

□ लंच टीवी

दोपहर-कालीन सभा लंच-टीवी के नाम से पुकारी जाती है। घरेलू स्त्रियाँ चूल्हे-चौके से निपट कर जब दोपहर में थोड़ा आराम करती हैं, तब उनके लिए और बच्चों-बूढ़ों के मनोरंजन को ध्यान में रखकर कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। इस सभा में प्रायः कार्यक्रम पुनः प्रसारित होते हैं।

□ प्राइम टाइम

जब देश के अधिकांश दर्शक टीवी के सामने बैठकर कार्यक्रम देखते हैं, तो उस समय को प्राइम-टाइम के नाम से संबोधित किया जाता है। जैसे रोजाना रात ८.३० से १० बजे का समय/ फीचर फिल्म के प्रसारण की अवधि या फिर रविवार प्रातः ९ से ११ बजे का समय प्राइम टाइम है। इस अवधि में प्रसारित होने वाले विज्ञापनों का शुल्क भी अधिक होता है।

□ प्रायोजक/प्रायोजित

दूरदर्शन पर प्रसारित किसी कार्यक्रम/ धारावाहिक/ मैच का प्रसारण व्यय जब कोई कंपनी वहन करती है, तो उसे प्रायोजक (स्पांसर) कहते हैं। वह कार्यक्रम 'प्रायोजित' कहलाता है।

□ एफ.सी.टी

अर्थात् फ्री-कमर्शियल टाइम। किसी धारावाहिक के आरंभ और अंत में विज्ञापनों के लिए दूरदर्शन द्वारा प्रायोजक को जो समय मुफ्त में दिया जाता है, वह एफ.सी.टी.

दूरदर्शन गुजरात

कला-संस्कृति को प्रोत्साहित करने में असफल

● डॉ. यासीन दलाल

अडियल-प्रजा के जीवन पर स्मरणीय वृत्तचित्र बना। इसका हिंदी संस्करण दिल्ली केंद्र से राष्ट्रीय कार्यक्रम के अंतर्गत प्रसारित हुआ था।

इतना सब होने के उपरांत भी सौराष्ट्र में २७ विषय और हैं जिनकी ओर दूरदर्शन का ध्यान नहीं गया। यथा सौराष्ट्र के भूतपूर्व राजे-रजवाड़े/ उनके महल/ विभिन्न जनजातियाँ/ उनकी प्राचीन कलाएँ/ स्थापित मूल संस्कृति/ उनका संरक्षण व प्रदर्शन आदि। इनके प्रति दूरदर्शन सफल नहीं हुआ है। यहाँ पर भी भ्रष्टता के आक्षेप बारम्बार होते रहते हैं। सौराष्ट्र में कई अच्छे नामांकित लेखक, कलाकार व दिग्दर्शक हैं। दूरदर्शन कभी-कभार भाग्य से ही इनकी सेवाओं का लाभ ले पाता है। केंद्र का प्रारंभ ३० अगस्त १९८४ को हुआ था। लेकिन आठ वर्ष की अवधि में केंद्र पूर्ण रूप से मनपसंद कार्यक्रम नहीं दे पाया। सौराष्ट्र अनेक समस्याओं से आज भी घिरा हुआ है। पेयजल से लगाकर जंगलों के विनाश इसमें शामिल हैं। इन ज्वलंत प्रश्नों के प्रति जनजागरण लाने का काम मीडिया का है। लेकिन जब माध्यम ही नौकरशाही में उलझा हुआ हो, तो यह काम नहीं हो सकता।

दृश्य-श्रव्य का एक माध्यम टेलीविजन है, जिसकी पहुँच एवं प्रभाव विस्तृत है। अहमदाबाद-राजकोट जैसे शहरों में घर-घर टेलीविजन सेट आ गए हैं। फलस्वरूप नागरिकों में रेडियो का आकर्षण कम हो गया है। इस स्थिति के उपरांत भी टीवी से जो अपेक्षा जनता रखती है, उसका उन्हें संतोष नहीं होता है। टेलीविजन का आकर्षण काफी है। छोटे पर्दे पर चमकने के लिए लोग आतुर बैठे हैं। इसका ये लोग नाजायज फायदा उठाते हैं। सीरियल प्रस्तुत कर एक दिन में बादशाह बनने की लालसा में कंजूस वृत्ति के व्यापारी सीरियल बनाने लग गए हैं, जिनके पास इस उद्योग का कोई अनुभव या सूझबूझ नहीं है। इस प्रकार के लोग, अधिकारी को रिश्वत के रूप में थोड़ा-बहुत पैसा देने की आवश्यकता पड़े, तो उससे भी डरते नहीं हैं। इस प्रकार की बुराइयों ने दूरदर्शन कार्यक्रमों को जबरदस्त प्रभावित किया है।

अहमदाबाद केंद्र ने १९८४ से पहले कार्य करना प्रारंभ कर दिया था। इसके पूर्व नड़ियाद के नजदीक इसरो के सहयोग से 'साइट' योजना के लिए विकासशील कार्यक्रमों का प्रसारण होता था। यह योजना बहुत सफल मानी गई, जिसकी संपूर्ण भारत में प्रशंसा हुई। गाँवों में निरक्षरता-उन्मूलन/ स्वास्थ्य-जागृति/ उन्नत खेती जैसे विषयों पर इस योजना के अंतर्गत स्मरणीय कार्यक्रमों का प्रसारण हुआ था। समयावधि समाप्त होने के कारण, पीज केंद्र बंद करने के कारण, इसका विरोध भी हुआ। इस प्रयोग से यह विचार उठा कि दूरदर्शन विकास-लक्षी कार्यक्रमों के लिए प्रभावी भूमिका निभा सकता है, बशर्ते इसके सही उपयोग करने की क्षमता हो।

गुजरात राज्य में जूनागढ़, द्वारका, पोरबंदर, धोराजी, सुरेंद्रनगर, जामनगर ऐसे अनेक रिले केंद्र हैं। इन क्षेत्रों की क्षमता साधारण तौर पर १० किलोवाट है। अभी तक इनका काम दिल्ली के कार्यक्रमों को प्रसारित करना था। अब अहमदाबाद के प्रादेशिक व दिल्ली के राष्ट्रीय कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। इन केंद्रों की तांत्रिक क्षमता इतनी असंतोषजनक है कि प्रसारण में सदैव गड़बड़ी होती रहती है। केवल राजकोट केंद्र के पास ए.एस.पी. कार्यक्रम के लिए मात्र ३० मिनट का समय है। इसके अलावा केंद्र का काम केवल रिले करना है। राजकोट को अहमदाबाद के समान संपूर्ण सुविधा वाला स्टूडियो बनकर प्राप्त होना है। ताजी बात है, अहमदाबाद से तारक मेहता का 'हूँ, तू अने रतनियों' नाटक का प्रसारण हुआ। इसके बाद फ्रांस में विश्वयुद्ध के दौरान हुई घटनाओं के आधार पर प्रयोगात्मक नाटक भी प्रस्तुत हुआ। अहमदाबाद से जो धारावाहिक प्रसारित होते हैं, वे दूरदर्शकों की अपेक्षाओं तथा संतोष की पूर्ति नहीं करते। लेकिन 'हुंतो अने हुती' के बाद 'परिवर्तन' समान कई सीरियल लोकप्रिय हुए थे। फिल्म संगीतकार हंसराज बहल के पुत्र चंद्र बहल अहमदाबाद में ही रहते हैं। वे गुजराती धारावाहिकों का निर्माण एवं निर्देशन करते हैं। 'हुंतो अने हुती' का निर्माण भी चंद्र बहल ने किया था।

इसके उपरांत प्रत्येक रविवार को अहमदाबाद से गुजराती फिल्में दिखाई जाती हैं। फिल्में इतनी निम्न स्तरीय होती हैं कि नगरीय क्षेत्र के दर्शकों का एक बहुत बड़ा भाग इन्हें नहीं देखता। इसके बनिस्बत वे जी-टीवी अथवा एटीएन देखना रुचिकर समझते हैं। गुजराती फिल्में अधिकतर अंधविश्वास, शंका और चमत्कारों के कथानकों से भरपूर होती हैं, जो अश्लीलता या द्विअर्थी संवादों के प्रयोग से अछूती नहीं रहती। इस प्रकार की फिल्में दूरदर्शन पर प्रदर्शित हों, तो समाज पर इसका विपरीत असर ही होगा। इसके बजाए पुरानी, श्रेष्ठ गुजराती फिल्मों के प्रिंट एकत्र कर प्रसारित करना चाहिए-अंखड सौभाग्यवती/ मंगल-फेरा/गाडा नो बैल/ गुण सुंदरी/ वे-विशाल/ मेहंदी रंग लाग्यो।

समग्र रूप से गुजरात दूरदर्शन की छवि बहुत उजली या गर्व करने योग्य हो ऐसा नहीं है। गुजरात-सौराष्ट्र के लोकजीवन और संस्कारों की छवि इसमें कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती।

कहलाता है।

□ एक्सटेंशन

आमतौर पर प्राइम-टाइम के धारावाहिकों की तेरह कड़ियाँ प्रसारित होती हैं। स्वीकृत कड़ियों के अलावा यदि उसे और अतिरिक्त कड़ियाँ दी जाती हैं, तो इसे 'एक्सटेंशन' कहेंगे।

□ सीबीएफसी

सेंट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन। केंद्रीय फिल्म प्रमाणन मंडल। बंबई स्थित फिल्मों का वह कार्यालय जो फिल्में देखकर उनका श्रेणीकरण कर प्रदर्शन प्रमाण-पत्र जारी करता है। इसके क्षेत्रीय कार्यालय मद्रास/ त्रिवेन्द्रम/ बंगलोर/ हैदराबाद तथा कलकत्ता में है।

□ मण्डी हाउस

नई दिल्ली में दूरदर्शन के मुख्यालय को मण्डी हाउस कहते हैं।

□ यू/यूए/ए

मोटे तौर पर भारत का फिल्म सेंसर बोर्ड तीन प्रकार के प्रमाण-पत्र फिल्मों के लिए जारी करता है। यू-अर्थात् सब उम्र के दर्शकों के लिए प्रदर्शन वैध। यूए-अर्थात् १२ वर्ष तक के बच्चे अपने अभिभावकों के साथ फिल्म देख सकते हैं। ए-अर्थात् १८ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए फिल्म प्रतिबंधित है।

□ उपग्रह (सैटेलाइट)

भारत के आकाश के ऊपर अंतरिक्ष में एक निश्चित ऊँचाई पर उपग्रह स्थिर किया गया है। यह टीवी प्रसारण को देशव्यापी संभव बनाता है। संचार साधनों के साथ मौसम जानने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है।

□ वीडियो कैसेट

इस कैसेट में आधे इंच चौड़ाई का

चुम्बकीय (मैग्नेटिक) टेप होता है। तस्वीरों को सिग्नल में बदल कर यह दर्ज करता है। वीसीआर से चलाने पर यह सिग्नलों को फिर से तस्वीर में बदल देता है।

□ ऑडियो कैसेट

यह वीडियो के विपरीत है। इसमें सिर्फ आवाज अंकित होती है। फिल्मी गानों के प्रि-रिकार्डेड कैसेट बाजार में करोड़ों की संख्या में बनते और बिकते हैं। ये ३०/४५/६० और नब्बे मिनट अवधि के होते हैं।

□ वी.सी.आर.

वीडियो कैसेट रेकार्डर। यह यंत्र वीडियो कैसेट का संचालन करता है। इससे वीडियो कैसेट पर अंकित कार्यक्रम टीवी पर देखे जा सकते हैं या टीवी पर चल रहे कार्यक्रम रिकार्ड भी किए जा सकते हैं।

□ वी.सी.पी

यह वीडियो कैसेट को संचालित कर कार्यक्रम दर्शाता है। कार्यक्रमों को रिकार्ड करने की क्षमता इसमें नहीं होती।

□ यू मैटिक टेप

दूरदर्शन के कैमरों में पौन इंची यू मैटिक टेप पर कार्यक्रम अंकित होते हैं और प्रसारण के लिए भी यही टेप इस्तेमाल होता है।

□ वी.एच.एस.

बाजार में वीडियो पार्लर पर प्रि-रेकार्डेड जो वीडियो फिल्में मिलती हैं वे आधे इंच चौड़े साधारण टेप पर अंकित होती हैं। उनकी उम्र और परिणाम यू-मैटिक की तरह साफ तथा चमकीले नहीं होते हैं।

□ वीडियो कोच

जिन यात्री/लक्जरी बसों में वीडियो द्वारा टीवी पर फिल्में बताने की व्यवस्था होती है, उसे वीडियो कोच कहते हैं।

□ यू.जी.सी. कार्यक्रम

दूरदर्शन पर प्रतिदिन स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थियों को ध्यान में रखते हुए दोपहर-कालीन तथा सायंकालीन सभा में शैक्षिक कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। इन्हें यू.जी.सी. द्वारा बनाया जाता है। देशभर में ऐसे १४ केंद्र हैं, जहाँ ये तैयार होते हैं।

□ इंदिरा गाँधी ओपन यूनिवर्सिटी प्रोग्राम

हर सोमवार/ बुधवार तथा शुक्रवार प्रातः ६.३० से दूरदर्शन पर इंदिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालयों से संबंधित शैक्षिक कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं।

□ वीडियो मैगजीन

कागज की चमकीली पत्रिकाओं की तरह वीडियो कैसेट पर भी दो-ढाई घंटे की वीडियो पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी हैं। फिल्म/ राजनीति/ खेलकूद/व्यापार/बच्चों का मनोरंजन इनके विषय होते हैं। न्यूज ट्रेक/लहरें/ मनोरंजन/बिजनेस प्लस ऐसी ही पत्रिकाएँ हैं।

□ मास्टर प्रिंट

फिल्मों से वीडियो कैसेट पर उतार कर जो पहला प्रिंट बनाया जाता है, वह मास्टर-प्रिंट कहलाता है। लालची वीडियो पार्लर वाले उसे वीसीआर के जरिए डब कर घटिया प्रिंट ग्राहकों को बेचते हैं। इससे तस्वीर की गुणवत्ता खराब होती है।

□ डब-प्रिंट

टाइप या कार्बन कॉपी की तरह एक मास्टर-प्रिंट से जब कई प्रिंट तैयार किए जाते हैं, तो वे डब-प्रिंट कहलाते हैं। इनकी गुणवत्ता घटिया होती है।

□ वीडियो लायब्रेरी

जहाँ से फिल्मों आदि के वीडियो कैसेट किराए पर दिए जाते हैं, उसे वीडियो लायब्रेरी कहते हैं।

□ कॉम्पीअर

दो-तीन चार या अधिक व्यक्तियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने या कार्यक्रम संचालित करने वाला व्यक्ति कॉम्पीअर कहलाता है।

□ अनाउंसर

दूरदर्शन पर कार्यक्रमों के बारे में जो स्त्री-पुरुष घोषणाएँ करते हैं उन्हें उद्घोषक या उद्घोषिका कहा जाता है।

□ न्यूज रीडर

दूरदर्शन/आकाशवाणी पर समाचार वाचक/वाचिका को न्यूज रीडर कहते हैं।

□ टेली प्राम्पटर

समाचार वाचक/वाचिका की नजरों के सामने इलेक्ट्रॉनिक बोर्ड पर समाचार चलते हैं। उसे देखकर वाचक/वाचिका समाचार पढ़ते हैं। यह टेली प्राम्पटर होता है।

□ फीचर फिल्म

कथानक प्रधान फिल्म को फीचर फिल्म कहते हैं। इसकी अवधि सत्तर मिनट से अधिक होती है। शनिवार या रविवार शाम की फिल्में इसी श्रेणी की हैं।

□ क्लासिक फिल्म

जब किसी फिल्म का कथानक या संदेश कालजयी अथवा शाश्वत मूल्य का हो, तो उसे 'क्लासिक-फिल्म' कहते हैं। फिल्म इतिहास में 'ट्रेंड सेटर' अथवा महत्वपूर्ण स्थान बनाने वाली फिल्में इसके अंतर्गत रखी जाती हैं। जैसे बॉम्बे टॉकीज की अछूत कन्या, न्यू थियेटर्स की देवदास और प्रभात की पड़ोसी/ आदमी/ दुनिया न माने।

□ टेली फिल्म

दूरदर्शन के लिए निर्मित तथा दूरदर्शन प्रसारण को ध्यान में रखकर बनाई गई फिल्मों को टेली फिल्म कहा जाता है। यह ५५ मिनट से लेकर दो घंटे अवधि की होती है। इनके फिल्मांकन के समय 'लांग-शॉट' से प्रायः बचा जाता है। सत्यजीत राय की हिंदी फिल्म 'सद्गति' और महेश भट्ट की जनम या स्वयं टेली फिल्में हैं।

□ शार्ट फिल्म

इसे लघु फिल्म कहते हैं। इसकी अवधि एक मिनट से सत्तर मिनट तक होती है। जैसे सई परांजपे की अँगूठा छाप।

□ डाक्यूमेंटरी

इसे हिंदी में वृत्त-चित्र कहते हैं। इसमें कोई घटना/ समस्या या विषय प्रधान होते हैं। इसमें वास्तविक व्यक्ति ही इसके पात्र होते हैं। वे अभिनय नहीं करते वरन् अपना जीवन जी रहे होते हैं। इसकी अवधि एक से सत्तर मिनट तक हो सकती है। आनंद पटवर्धन की फिल्म 'बंबई हमारा शहर' डाक्यूमेंटरी फिल्म है।

□ न्यूज रील

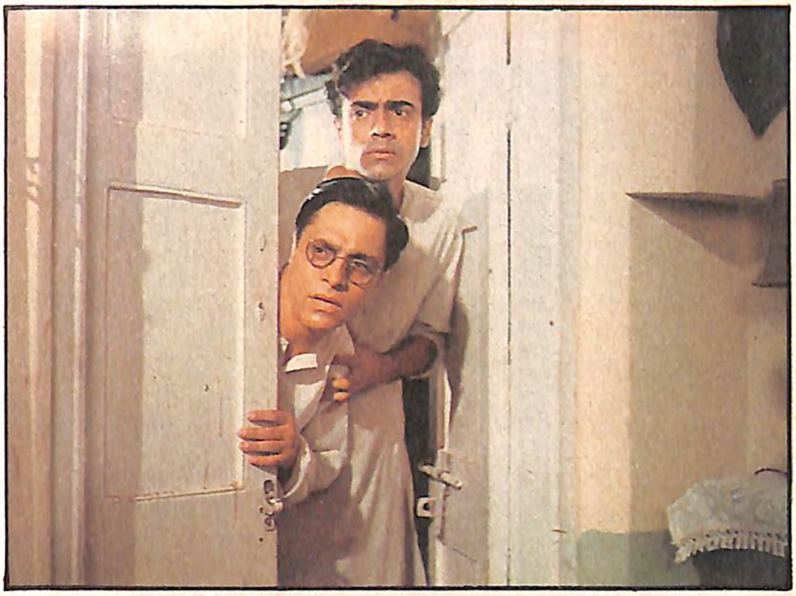
भारत सरकार का फिल्म्स डिवीजन समाचार तथा घटनाओं को आधार बनाकर पाँच से बीस मिनट की न्यूज रील प्रति सप्ताह तैयार कर देशभर के सिनेमाघरों में अनिवार्य प्रदर्शन के लिए देता है। बदले में सिनेमाघर अपनी शुद्ध आय से एक प्रतिशत शुल्क फिल्म्स डिवीजन को देते हैं। दूरदर्शन के प्रसार के कारण न्यूज रील का महत्व अब कम हो गया है।

□ रीजनल फिल्म

हिंदी के अलावा संविधान द्वारा स्वीकृत भारतीय भाषाओं में निर्मित फिल्में क्षेत्रीय या रीजनल फिल्म कहलाती हैं। रविवार मध्याह्न १.३० से प्रसारित मराठी/ तमिल/ बंगला/ असमी फिल्में इसी श्रेणी की हैं।

□ मार्जिनल फिल्म

जब भोजपुरी/हरियाणवी/ राजस्थानी/ कुर्गी अथवा मालवी बोली में फिल्म बनाकर प्रसारित की जाती है, उसे मार्जिनल सिनेमा कहते हैं।



के.के. रैना तथा रजत कपूर : व्योमकेश बक्षी

खण्ड : पाँच

टीवी आकाशगंगा के झिलमिलाते सितारे

□ □

साक्षात्कार जीवन वृत्तांत

देखते ही देखते छोटा परदा अनगिनत सितारों की रोशनी से जगमगा उठा। इतनी सारी प्रतिभाएँ और वह भी एक साथ इसके पहले कभी नहीं जगमगाई थीं। रंगमंच के असंख्य कलाकारों के लिए रोशनी की खिड़कियाँ एक साथ खुल गईं। छोटे परदे ने अपने बड़े आँगन में सबको समाहित कर लिया। एक सिलसिला शुरू हो गया, हर सीरियल के साथ अनेक कलाकार चमकते और घर-घर में अपनी पहचान बना लेते। ऐसा लगता जैसे वे अपने ही घर के सदस्य हैं, जो हर मंगलवार की रात या फिर शुक्रवार की दोपहर घर आते हैं। सीरियल के बिदा लेते ही मेहमान की तरह कलाकार भी 'गुडबॉय' कहकर चले जाते। रंगमंच से टीवी पर और टीवी से बड़े परदे पर कलाकारों के आगमन का सिलसिला बदस्तूर जारी है। दूरदर्शन के विस्तार ने छोटे परदे, बड़े परदे और रंगमंच को प्रतिभाओं से समृद्ध किया है। निश्चित ही इससे लाभ हुआ है दर्शकों का।

इस महाविशेषांक के इस खंड में हमने उन कलाकारों के परिचय/साक्षात्कार दिए हैं, जिन्होंने छोटे परदे पर अपनी छाप छोड़ी है। ऐसे व्यक्तियों के बारे में भी जानकारी है, जो इस माध्यम से किसी न किसी स्तर पर गहरे जुड़े हुए हैं। हमारा यह कतई दावा नहीं है कि यह सूची अपने आपमें संपूर्ण है। निश्चित ही इसमें एक नहीं अनेक व्यक्ति छूटे हैं, जिनके लिए हमारी सीमाएँ तथा विवशताएँ हैं। उन कलाकारों को हमने जान-बूझकर इसमें शामिल नहीं किया है, जिनका परिचय पूर्व विशेषांक **परदे की परियाँ** अथवा **नायक-महानायक** में दे चुके हैं।

इस खंड को हमारी इस टीम ने तैयार किया है- □ अनिल त्रिपाठी □ असीम चक्रवर्ती □ आदर्श गर्ग □ कृष्ण मोहन श्रीवास्तव □ लोकेन्द्र चतुर्वेदी □ निशा श्रीवास्तव □ प्रकाश शर्मा □ पी.आर. जोशी □ रमेश वैद्य □ राहुल शर्मा □ सरला चतुर्वेदी □ सुषमा त्रिपाठी □ सुनील मिश्र □ संतोष जैन □ श्रद्धा बोस □ विट्ठल त्रिवेदी □ शशि शर्मा और □ श्रीराम ताम्रकर।



अब गुणवत्ता के
अंतर्राष्ट्रीय
मार्क के साथ

CERTIFICATION OF QUALITY FROM
SP
SUMITOMO JAPAN

रात से लेकर सुबह तक
मच्छरों से रखे पूरी तरह सुरक्षित

अब उपलब्ध है जेट हाइ-पावर मॉस्किटो मैट्स, स्टैण्डर्ड साइज़ में 'SP' मार्क के साथ–जो कि प्रतिक है अंतर्राष्ट्रीय गुणवत्ता और स्थायी विश्वास का.

जेट मैट विशेष एल्युमिनियम फ़ॉइल पेकींग के कारण इसकी १००% शक्ति लम्बे समय तक सुरक्षित बनी रहती है.

जेट हाई-पावर मैट्स है हर समजदार मां की पहली पसंद, क्योंकि उसे मालूम है कि सबसे अच्छा क्या है.



jet®
हाई-पावर
मॉस्किटो मैट्स

VIGILANCE

सोनिक इलेक्ट्रोकैम प्रा. लि.
३३, पटेल नगर, इंदौर ४५२ ००१. भारत. फोन: ४६६ ४५६, ५७, ५८ केबल: जेट हाउस
टेलेक्स: ०७३५-४९० SONA IN. फैक्स: (९१) ०७३१, ४६२ ५६४.

Jet® जनस्वास्थ्य के लिए समर्पित एक नाम.

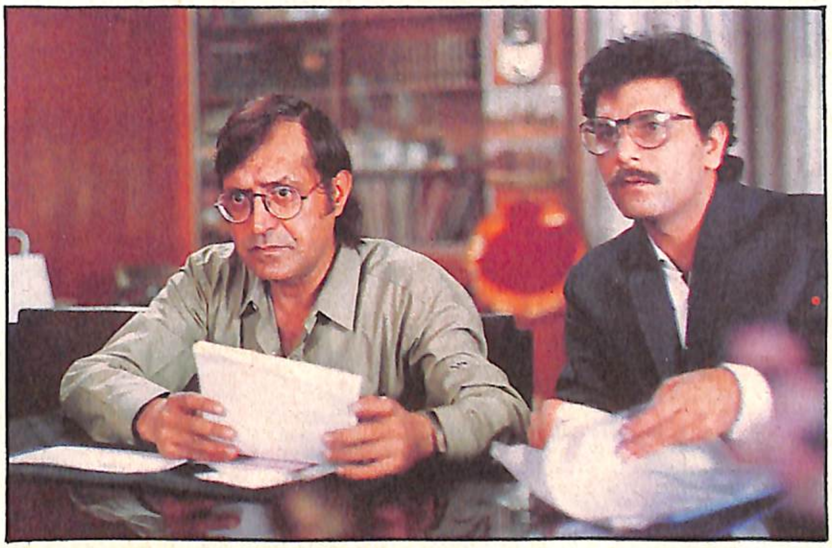
देखते ही देखते छोटा परदा कलाकारों की भीड़ से भर गया। जब तक धारावाहिक की धारा बहती रही घर-घर में लोकप्रिय हो गए ये सितारे। इधर सीरियल बंद, उधर सितारे की रोशनी धूमिल। लेकिन कुछ नाम आज भी चर्चाओं में मौजूद हैं- करमचंद/ फटीचर/ लाजोजी/ हवेलीराम/ लल्लू/ छुटकी/ मुंगेरीलाल/ देवकी भौजी...!

लुकाछिपी करते छोटे परदे के कलाकार

● **वीरेन्द्र मिश्र**

तीन दशक पूर्व १५ सितंबर १९५९ को जब भारत में दूरदर्शन की शुरूआत हुई, तब किसी ने इसके वर्तमान प्रारूप की कल्पना नहीं की थी। १९८२ में एशियाई खेलों के साथ रंगीन प्रसारण अस्तित्व में आया। सोप ऑपेरा, टेलीफिल्मों और सीरियलों की लोकप्रियता ने छोटे परदे के सितारों की नई पीढ़ी तैयार की। हालाँकि फिल्मी कलाकारों को लोकप्रियता में ये मात नहीं दे सके। टीवी का परदा चित्रपट के समक्ष हर तरह से बौना ही बना रहा।

दूरदर्शन पर पहले सोप ऑपेरा **हम लोग** के प्रसारण के साथ वास्तविक अर्थों में टीवी कलाकार प्रसिद्धि की ऊँचाइयों तक पहुँचे। उषा रानी/ लल्लू/ छुटकी/ बड़की/ नन्हे/ बसेसरराम जैसे चरित्रों को घर-घर में पहचाना जाने लगा। इन्हें अभिनीत करने वाले कलाकार विनोद नागपाल/ राजेश पुरी/ लवलीन मिश्रा/ अभिनव चतुर्वेदी आदि पलक



रवि वासवानी और पवन मल्होत्रा : धारावाहिक 'संघर्ष'

झपकते ही चर्चा का केंद्र बन गए। हम लोग के बाद कुछ अन्य लोकप्रिय सीरियलों ने टीवी सितारों को जन्म दिया। **ये जो है जिंदगी** से शफी इनामदार/ स्वरूप संपत/ सतीश शाह/ राकेश बेदी और **करमचंद** से पंकज कपूर/ सुष्मिता मुखर्जी जैसे कलाकारों ने अपनी पहचान बनाई। करमचंद की जीवनशैली तो इस कदर लोकप्रिय हुई, कि सब्जी विक्रेताओं ने **'करमचंद-गाजरें'** बेचना शुरू कर दी थीं। इसी तरह **बुनियाद** ने हवेलीराम और 'लाजोजी' की भूमिकाओं में आलोकनाथ एवं अनिता कँवर को ख्याति प्रदान की।

'हम लोग' से जिस सिलसिले की शुरूआत हुई थी, उसकी बदौलत रंगमंचीय कलाकारों को बेहद लाभ पहुँचा। रंगमंच पर अभिनय से ये लोग बमुश्किल अपनी आजीविका कमा पाते थे, लेकिन दूरदर्शन के रूप में नए माध्यम ने उनके लिए सफलता के द्वार खोल दिए। छोटे परदे की लोकप्रियता ने पहली बार इस धारणा को गलत साबित किया कि मात्र एक्टिंग को जीविकोपार्जन का जरिया नहीं बनाया जा सकता। इसके पहले अभिनय को बतौर शौक लिया जाता था। दूसरी तरफ सीरियलों की प्रसिद्धि दूरदर्शन के लिए भी तगड़ी आमदनी का स्रोत बन गई। विज्ञापन एजेंसियों में अपने उत्पाद बेचने के लिए छोटे परदे का उपयोग करने की होड़-सी मचने लगी। प्रचार के लिए इतना बड़ा दर्शक वर्ग एक साथ उन्हें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता था।

१९८४ से १९९२ तक सैकड़ों कलाकार छोटे परदे पर चमके। कुछ की चमक बरकरार रही, जबकि कुछ बहुत जल्दी धूमिल पड़ गए। इसने सिद्ध किया कि टीवी कलाकारों की ख्याति क्षणिक होती है। जहाँ सिने-जगत में दिलीप कुमार, देव आनंद, आशा पारीख, अशोक कुमार, राज कपूर, वहीदा रहमान जैसे गुजरे जमाने के कलाकारों की लोकप्रियता लंबे अंतराल के बावजूद आज भी बरकरार है, वहीं छोटे परदे के कलाकार सीरियल समाप्त होते ही भुला

गुल-गुलशन-गुलफाम



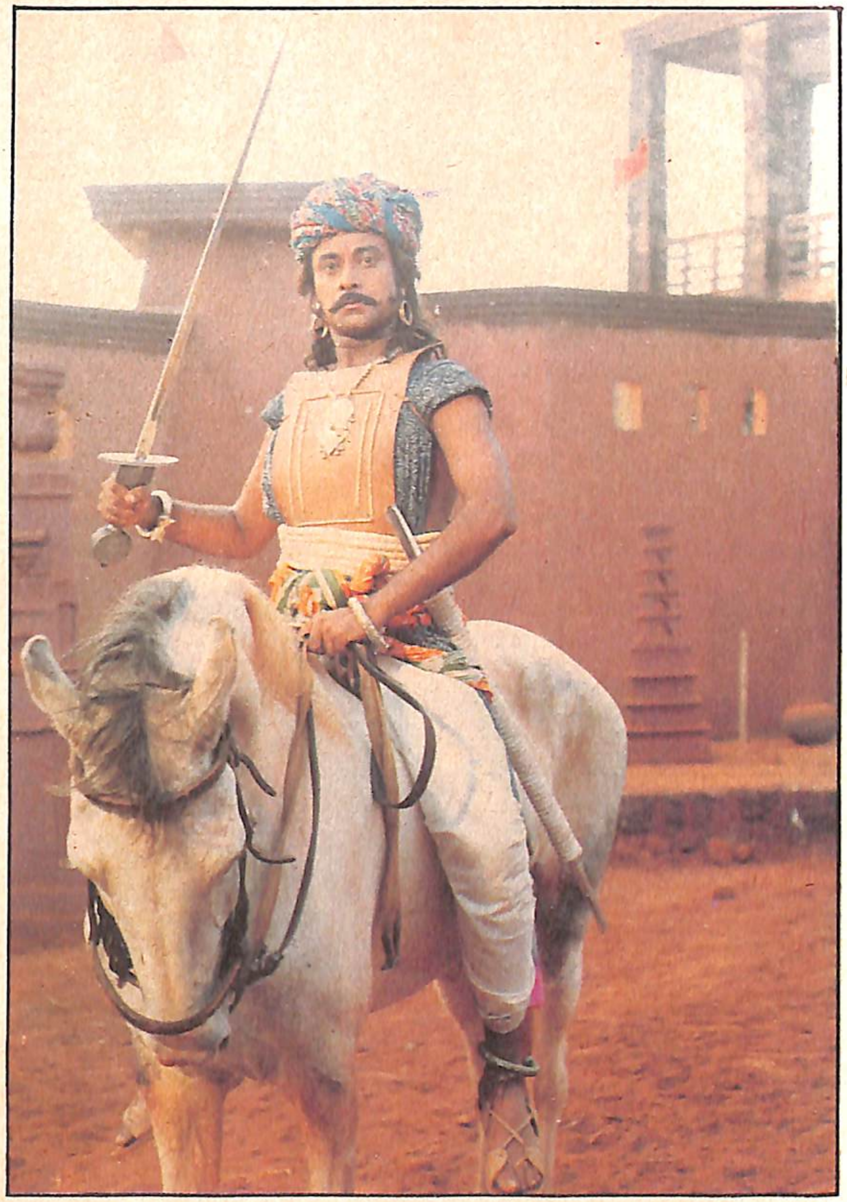
दिए जाते हैं। नतीजतन उनके पास यही विकल्प होता है कि या तो वे फिल्मों का रुख कर लें, या फिर लगातार सीरियलों में अपनी उपस्थिति बनाए रखें। दुर्भाग्यवश अधिकतर कलाकार ऐसा नहीं कर पाते। बंबइया फिल्म इंडस्ट्री उन्हें शीर्ष भूमिकाएँ देना नहीं चाहती, और महत्वहीन रोल कर के वे अपनी पहचान नहीं बना सकते। जहाँ तक सीरियल निर्माताओं का प्रश्न है, उन्हें एक ही कलाकार को बार-बार मौका देना उचित नहीं जान पड़ता।

'रामायण' और 'महाभारत' से टीवी कलाकारों को जो अपार लोकप्रियता मिली, उसकी वजह थी, दर्शकों की श्रद्धालु प्रवृत्ति। अरुण गोविल (राम), दीपिका (सीता), अरविंद त्रिवेदी (रावण), दारासिंह (हनुमान), मुकेश खन्ना (भीष्म), नितीश भारद्वाज (कृष्ण), पुनीत इस्सर (दुर्योधन) आदि कलाकार इस कारण दर्शकों के प्रिय बने, क्योंकि वे धार्मिक भूमिकाओं में थे और श्रद्धालुओं ने उन्हें कलाकार से ज्यादा भगवान का अवतार समझा।

जिन महिला कलाकारों ने दूरदर्शन के माध्यम से प्रसिद्धि का स्वाद चखा, उनमें प्रमुख थीं- पल्लवी जोशी (मृगनयनी), अर्चना जोगलेकर (फूलवंती), प्रीति खरे (निर्मला), नवनी परिहार (मुजरिम हाजिर), दीपा साही (तमस), रमा विज (साँझा-चूल्हा), नीना गुप्ता (खानदान), चन्ना रूपारेल (चुनौती), किरण जुनेजा (बुनियाद), मालविका तिवारी (मंजिलें)। जबकि अभिनेताओं में शेखर कपूर/ मंगल ढिल्लों/ धीरज कुमार/ संजय खान/ अनंत महादेवन/ ओमपुरी/ मोहन भंडारी/ राजेंद्र गुप्ता/ मुकेश खन्ना आदि ने टीवी के जरिए

छोटे परदे पर एक बार जो छवि बन गई, उससे कलाकार को मुक्ति मुश्किल से मिल पाती है। लाजोजी (अनिता कँवर) और भीष्म पितामह (मुकेश खन्ना) आज भी छवि की छाया से त्रस्त हैं।

पहचान बनाई। दूरदर्शन श्रृंखलाओं के कुछ चरित्र बेतरह लोकप्रिय हुए और कलाकारों को उनके द्वारा निभाई गई भूमिकाओं के नाम से पुकारा जाने लगा। उदाहरण के लिए मुंगेरीलाल (रघुवीर यादव), हैदरअली (शाहबाज खान), मिर्जा गालिब (नसीर), शकुनि मामा (गूफी पेंटल), फटीचर (पंकज कपूर), चाणक्य (डॉ. चंद्रप्रकाश), दुर्योधन (पुनीत इस्सर) आदि पात्रों ने दर्शकों पर गहरी छाप छोड़ी। छोटे परदे से ही उभरकर अन्नू कपूर, अंजन श्रीवास्तव, राकेश बेदी, रघुवीर यादव, गूफी पेंटल जैसे हास्य कलाकार फिल्मों तक पहुँचे और काफी हद



दिनेश शाकुल

तक उन्होंने स्थापित हास्य अभिनेताओं को चुनौती दी।

दूरदर्शन कलाकारों की ख्याति अल्पजीवी होने से उन्हें लगातार संघर्ष करना पड़ता है। वे अक्सर काफी कठिनाइयों में जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें मिलने वाला पारिश्रमिक फिल्मों की अपेक्षा अत्यंत कम होता है। कई बार तो सीरियल निर्माता कलाकारों को प्रति एपिसोड सौ रुपए की राशि भी नहीं देते। शीर्षस्थ कलाकारों को भी प्रति एपिसोड पाँच हजार से ज्यादा पारिश्रमिक नहीं मिलता। सामान्यतः दूरदर्शन श्रृंखलाओं में काम करने का ५०० से १५०० रुपए तक का पारिश्रमिक दिया जाता है। टीवी पर मौका पाने के लिए नए कलाकार इतने लालायित रहते हैं कि बगैर मेहनताना लिए काम करने में भी उन्हें हिचक नहीं होती। ऐसे में स्थापित कलाकारों को काम नहीं मिल पाता। दूरदर्शन की नीतियाँ भी कुछ ऐसी हैं जिनके रहते उम्दा कलाकारों और सीरियल निर्माताओं की बजाए छोटे परदे पर नौसिखिए कलाकारों की तूती बोलती है।

अपवादस्वरूप कुछ टीवी कलाकारों ने खुद सीरियल निर्माण कर तारीफ बटोरी है। कविता चौधरी/ अरुण गोविल/ संजय खान/ चंद्रप्रकाश आदि दोहरी भूमिकाओं में खासे सफल हुए। दूरदर्शन कलाकारों को अपनी लोकप्रियता बनाए रखने के लिए जरूरी है, कि वे लगातार नई भूमिकाओं में दर्शकों के सम्मुख उपस्थित रहें। वरना एक जैसी भूमिकाओं में देखकर दर्शक उनसे कतराने लगते हैं। पिछले कुछ दिनों से जिस तरह दूरदर्शन पर अच्छे सीरियलों और कार्यक्रमों का अकाल नजर आता है, उसकी वजह से कई टीवी कलाकार नेपथ्य में चले गए हैं।

अनिता कँवर

(हवेलीराम की लाजोजी)

अवकाश प्राप्त खान इंजीनियर की पुत्री **अनिता कँवर** का विद्यार्थी जीवन छात्रावासों में ही बीता। स्नातक की उपाधि उन्होंने चंडीगढ़ से प्राप्त की। अभिनय का शौक उन्हें बचपन से ही था तथा पहली बार स्कूल में खेले गए नाटक में जब मंच पर आई तब कक्षा आठवीं की छात्रा थीं। अभिनय के इसी शौक ने उन्हें नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से जोड़ा, जहाँ रहकर उन्होंने अभिनय में तीन वर्षीय डिप्लोमा हासिल किया। इब्राहिम अल्काजी उनके चहेते गुरु रहे। बंबई आकर वे रंगमंच और फिल्मों से जुड़ीं तथा 'मुख्यमंत्री'/ 'आधारशिला' / 'सुस्मन'/ 'त्रिकाल'/ 'माटी मानस' आदि फिल्मों में उन्होंने काफी प्रभावशाली भूमिकाएँ कीं। 'बुनियाद' नामक धारावाहिक ने अनिता को काफी प्रसिद्धि दी। वे भारत के हर घर में **'लाजोजी'** के नाम से जानी जाने लगीं। लाजोजी की छवि से त्रस्त होकर अनिता दूरदर्शन को छोड़ना चाहती थीं किंतु महेश भट्ट की टेलीफिल्म 'जनम' की सशक्त भूमिका का आकर्षण न छोड़ पाईं। बड़े पर्दे पर वे 'मंडी' जैसी कला फिल्मों में भी सफल रहीं मगर 'बंदूक दहेज के सीने पर' जैसी फार्मूला फिल्मों में वे असफल हो गईं। हिब्बा वीडियो फिल्म के बैनर के अंतर्गत बनी फिल्म 'तुम्हारे सहारे' में उन्होंने वेश्या की भूमिका की। इस भूमिका को वे अब तक की अपनी सारी भूमिकाओं में श्रेष्ठ मानती हैं। नारी प्रधान धारावाहिक 'पुकार' में अनिता ने एक विद्रोहिणी स्त्री को स्वर दिए थे। उनकी सबसे बड़ी शिकायत है कि एक बार कलाकार पर इमेज का लेबल लग जाए, तो उसे मिटाना मुश्किल होता है। लाजोजी के पात्र के बाद तमाम सीरियल और फिल्म निर्माता वैसी ही गठरी बनी औरत का रोल पेश करने लगे। उन्हें ठुकराकर अनिता ने पत्र-पत्रिकाओं में बहुत बोल्ड-पोज की तस्वीरें छपाईं। सबसे अच्छी बात यह है कि अनिता के अभिनय में गहराई है। उन्हें अवसर नहीं मिले वरना वे स्मिता/ दीप्ति/ शबाना/ वहीदा जैसी तारिकाओं से भी आगे जा सकती थीं। □

◆ ◆ ◆

अमोल पालेकर

अमोल पालेकर ने एक अभिनेता के रूप में 'रजनीगंधा' फिल्म से अपना कैरियर शुरू किया था। बाद में 'छोटी सी बात', 'गोलमाल', 'अपने पराए' आदि कई फिल्में आईं। इन सब फिल्मों में लोगों ने अमोल पालेकर को हमारे आपके बीच का एक मध्यमवर्गीय बाबू ब्रांड नवयुवक जैसा पाया। फिल्मों में उनको देखकर ऐसा नहीं लगता हम किसी फिल्म स्टार की एक्टिंग को देख रहे हैं। वे अपनी भूमिकाओं के प्रति हमेशा संजीदा रहे हैं। अभिनय के क्षेत्र में एक खास मुकाम बना लेने के बाद उन्होंने निर्देशन के क्षेत्र में कदम रखा। मराठी फिल्म 'आकृत' उनकी बतौर निर्देशक पहली फिल्म है। हिंदी में उनकी निर्देशन प्रतिभा का परिचय पहली बार 'अनकही' फिल्म द्वारा मिला।

दूरदर्शन पर 'कच्ची धूप' उनका पहला धारावाहिक था, जो उन्होंने बच्चों को लेकर बच्चों के लिए बनाया था। इसी धारावाहिक में **भाग्यश्री** ने पहली बार बाल कलाकार के रूप में काम किया था। दूरदर्शन पर बच्चों के लिए न जाने कितने धारावाहिक आए लेकिन 'कच्ची धूप' की सुगंध अभी भी दर्शक महसूस करते हैं। 'कच्ची धूप' के बाद 'नकाब' धारावाहिक का निर्देशन अमोल पालेकर ने किया। इस धारावाहिक ने दर्शकों के दिलों को गहराई से छुआ। फिल्मोत्सव १९९२ की पुरस्कृत फिल्म 'थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ' का निर्देशन भी अमोल पालेकर ने किया है।

अमोल पालेकर की यह विशेषता है कि जिस धारावाहिक या टेली फिल्म का निर्देशन करते हैं उसमें वे स्वयं काम नहीं करते हैं। उनका कहना है कि बतौर अभिनेता बहुत अभिनय कर लिया। टीवी स्टार 'दिलीप धवन' की फिल्म 'कल' में उन्होंने अभिनय किया है। उनके अनुसार बतौर अभिनेता संभवतः यह उनकी आखिरी फिल्म होगी।

पिछले दिनों लोकप्रिय टीवी धारावाहिक 'मृगनयनी' का निर्देशन भी उन्होंने ही किया है। धारावाहिक में उन्होंने संगीत का सहारा लिया। भविष्य में उनका इरादा संगीत पर आधारित फिल्म या सीरियल बनाने का है। अमोल पालेकर ने भी अनेक अभिनेताओं की तरह बैंक में नौकरी की है। उनकी पत्नी चित्रा उनके फिल्म निर्माण के हर चरण में बराबरी का सहयोग करती हैं। □

◆ ◆ ◆

अर्चना जोगलेकर

(हठीली फूलवंती)

दूरदर्शन के परदे पर एक विज्ञापन में चेहरे पर गुस्सा एवं उसमें छिपी हँसी भरी अदाओं से 'क्या कहा, शादी और तुमसे?' कहने वाली अल्हड़ लड़की दिखाई देती है तो अनायास ही दर्शक का ध्यान उसकी ओर चला जाता है।

नीली, बड़ी आँखों वाली यह लड़की **अर्चना जोगलेकर** है, जो पहली बार चंदर बहल के सीरियल **'चेहरे'** तथा उसके बाद अभिजीत सेव की 'अमृता' में केवल एक किस्त में परदे पर आई थी।

सामान्यतया छोटे टीवी सीरियलों के बारे में आम धारणा यही है कि जब तक वे परदे पर आते रहते हैं, तभी तक लोग इन्हें एवं इनके कलाकारों को याद रखते हैं। यदि सीरियल उबाऊ और नीरस हुआ, तो उसके कलाकारों के भविष्य पर ग्रहण लग जाता है।

एक लंबे अंतराल के पश्चात मशहूर सीरियल **'चुनौती'** का प्रसारण हुआ जिसमें अर्चना को एक बोल्ड पत्रकार की महत्वपूर्ण भूमिका मिली। इस सीरियल से अर्चना को काफी आशाएँ थीं। तेरह किस्तों के बाद जब

अनिता कँवर



अर्चना जोगलेकर



सीरियल को अगली तेरह किस्तों के लिए मंजूरी मिली, तो उनमें अर्चना की भूमिका नदारद थी। चुनौती से ही अर्चना की छवि एक निडर व साहसी लड़की की बन गई। बाद में जब वह 'कर्मभूमि' में आई तो स्वतंत्रता संग्राम में आगे आने वाली नारी की भूमिका में लोगों ने अर्चना के अभिनय की प्रशंसा की। मंगेशकर प्रोडक्शन की **'फूलवंती'** में वह हठीली, गर्वीली नृत्यांगना बनी। फुलवंती के रोल ने अर्चना को नई ऊँचाइयाँ दीं और उसके अभिनय की साख बनी। अर्चना टीवी पर अपनी सफलता से अधिक खुश नहीं है। उसका मानना है कि टीवी महज एक अखबार की तरह है, जिसकी खबरें बहुत जल्द पुरानी पड़ जाती हैं। फिल्म एक अच्छे उपन्यास की तरह होती है जो दर्शक के दिमाग पर लंबे समय तक अपना प्रभाव छोड़ती है।

इसलिए छोटे परदे के बजाए अर्चना ने बड़े परदे की ओर अपने पैर फैलाना शुरू किए हैं। 'माँ कसम बदला लूँगा'/ 'अटल इरादा'/ आतंक ही आतंक/ 'बात है प्यार की'/ 'संसार'/ 'मर्दानगी/ प्रमुख फिल्में हैं। हिंदी फिल्म जगत में वह अभी अपनी पहचान नहीं बना पाई हैं। हिंदी के बजाए मराठी क्षेत्र में अर्चना ने अधिक नाम कमाया। मराठी नाटक 'उगाड़ले स्वर्गाचे द्वार' में उसने काम किया। यह नाटक बड़ा हिट हुआ और इसके चार सौ से अधिक शो हुए। मराठी फिल्में अर्धांगिनी व खिचड़ी में भी उसके अभिनय की सराहना हुई।

अर्चना की माँ भरतनाट्यम की कुशल नृत्यांगना हैं। नृत्य का स्कूल भी चलाती हैं। यह कला भी अर्चना ने अपनी माँ से विरासत में पाई। वकील बनने के इरादे से कानून की शिक्षा प्राप्त करने वाली अर्चना को नियति ने एक कलाकार बना दिया।

● **शशि शर्मा**

◆ ◆ ◆

अजीत वाच्छानी

लगभग एक दर्जन फिल्मों और इससे भी अधिक धारावाहिकों में काम करने वाले अभिनेता **अजीत वाच्छानी** आज अपनी अलग पहचान लिए हुए हैं। अब तक उन्हें बनते-बिगड़ते/ करमचंद/ कथासागर/ आ बैल मुझे मार/ खरी-खरी/ खेल-खेल में/ मनोरंजन/ हम हिंदुस्तानी/ चुनौती/ आखिरी मंजिल/ गालिब/ आधा सच आधा झूठ जैसे कई अन्य धारावाहिकों में देखा जा चुका है।

बचपन से ही अभिनय के शौकीन अजीत मुख्य रूप से गुजरात के रहने वाले हैं। वहीं से ग्रेजुएट होने के बाद गुजरात विश्वविद्यालय से ड्रामा डिप्लोमा कोर्स किया। गुजराती रंगमंच के नाटककार जसवंत ठक्कर को अजीत ने अपना गुरु बनाया। वे कहते हैं कि 'आज मैं जो कुछ भी हूँ जसवंत ठक्करजी के कारण हूँ।'

अभिनय के प्रति अजीत को कितना लगाव है? इस बात का पता उनकी लगन और उनके अनुभव से लगता है। इस लगाव और फिल्म माध्यम को अच्छी तरह से समझने के लिए उन्होंने फिल्म एंड टीवी इंस्टीट्यूट से छः महीने का कोर्स किया। इसके अलावा नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से १९७५ में तीन साल का अभिनय का कोर्स किया। इतना सब कुछ कर लेने के बाद वे १९७६ में बंबई भाग्य आजमाने आ गए।

बंबई आकर अजीत को कोई सफलता नहीं मिली। बड़ी निराशा हुई। वे बताते हैं कि —'मैं निराश होकर दिल्ली लौटने की तैयारी कर चुका था। अरविंद जोशी ने मुझे एक नाटक का ऑफर दिया। यह नाटक गुजराती में था और नाम था 'काल चक्र'। यह मेरा पहला नाटक था। यहीं से मेरा भी चक्र घूम गया और मैं सनू रंगीली, एक हती रूपल जीवन साथी जैसे कई नाटक और फिल्मों में व्यस्त हो गया।

अजीत वाच्छानी को गुजराती नाटकों में और फिल्मों में काम तो खूब मिला। लगभग दो दर्जन फिल्मों में उन्होंने भूमिकाएँ कीं, लेकिन उन्हें कभी संतुष्टि नहीं मिली।

अजीत वाच्छानी की सबसे बड़ी विशेषता



रही कि गुजराती होते हुए भी उन्होंने अपने ऊपर कभी गुजराती होने की छाप नहीं लगने दी। अजीत की असली पहचान राकेश चौधरी के धारावाहिक बनते-बिगड़ते से हुई। बनते-बिगड़ते के बाद जब राकेश चौधरी ने अपने नए धारावाहिक चुनौती का काम शुरू किया, तो वाइस प्रिंसिपल वर्मा की भूमिका के लिए अजीत को चुना। पहले तो अजीत ने उस भूमिका को करने से इंकार कर दिया क्योंकि वह भूमिका एक उम्रदार व्यक्ति की थी। काफी समय बाद राकेश चौधरी के कहने पर अजीत ने वह भूमिका की। वे कहते हैं कि —'पहले मैं डरा हुआ था।मैंने एक बार बूढ़े व्यक्ति की भूमिका निभाई तो मुझे ऐसी ही भूमिका मिलने लगेगी। लेकिन इसे निभाकर बड़ा मजा आया।'

अजीत के पास न तो फिल्मों की कमी है और न धारावाहिकों की। लेकिन उन्हें टीवी पर काम करना अच्छा लगता है। लेकिन वे टीवी स्टार बने रहना नहीं चाहते। अजीत वाच्छानी के साथ यह एक बड़ी त्रासदी रही कि ढेर सारा काम और ढेर सारी फिल्मों के बावजूद वे उस सीमा तक नहीं पहुँच सके, जिस सीमा तक उन्हें होना चाहिए था। अजीत बताते हैं 'मैं अपनी तरफ से अच्छा काम करता हूँ। चमाचागिरी नहीं कर सकता। मैं काम पाने के लिए घरों के या दफ्तरों के चक्कर नहीं काट सकता। मैं एक बार जिसके साथ काम कर लेता हूँ वह मुझे दुबारा भी काम देता है।'

● **के.एम. श्रीवास्तव**

◆ ◆ ◆

ए.के. हंगल

अवतार किशन हंगल यानी ए.के. हंगल पिछले दिनों अखबारी सुर्खियों में छाए रहे। पाकिस्तान दिवस के उपलक्ष्य में दी गई दावत में शामिल होने के कारण शिवसेना ने उनकी फिल्मों का बहिष्कार करने का फैसला कर लिया था। हंगल साहब ने इस एकतरफा फैसले से बेहद पीड़ित होकर बताया था कि वे अपनी जन्मभूमि जाना चाहते थे जो पाकिस्तान में थी। इसलिए वीजा के बारे में बातचीत करने के इरादे से उस पार्टी में शामिल हुए थे। ७२ वर्षीय हंगल ने आधी सदी पहले पेशावर से अपना अभिनय कैरियर शुरू किया था। वे स्वतंत्रता संग्राम के दौरान काफी सक्रिय रहे। पेशावर में खान अब्दुल गफ्फार खान और शहीद भगतसिंह जैसे नेताओं के संपर्क में आकर उन्होंने अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई और कई बार कारावास भी भुगता। ए.के. हंगल के पुत्र विजय भी छोटे पर्दे से जुड़े हैं और कई धारावाहिकों में छायाकार की हैसियत से काम कर रहे हैं। रंगमंच से प्यार करने वाले ए.के. हंगल 'इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन' (इप्टा) के अध्यक्ष हैं। वे आज भी रंगमंच पर अभिनय करते रहते हैं। बड़े पर्दे पर चरित्र अभिनेता के रूप में उन्होंने सैकड़ों फिल्मों में काम किया तथा छोटे पर्दे पर भी अपनी अभिनय प्रतिभा से दर्शकों को कई बार रुलाया और विचलित किया। बासु चटर्जी के विख्यात धारावाहिक **'दर्पण'** में एक बूढ़े बाप के रूप में उनका अभिनय अविस्मरणीय रहा। अपनी बेटी की चिट्ठी का इंतजार करते हुए निराशा की चादर ओढ़े उसे अंत में मौत की नींद सोना पड़ा। परीक्षित साहनी के धारावाहिक 'डॉ. साहब' में हाथ गाड़ी चलाने वाले मजदूर के रूप में उनका अभिनय यथार्थ के समानांतर ही रहा। एक पत्रिका को दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने बताया कि इस भूमिका में वास्तविकता लाने के लिए वे बंबई की सड़कों

पर कई किलोमीटर तक नंगे पैर गाड़ी ढकेलते हुए चले थे।

'इकाई-दहाई-सैकड़ा'/ 'तमस' आदि धारावाहिकों में भी उनकी भूमिका सभी वर्गों द्वारा सराही गई। विजया मेहता द्वारा निर्देशित 'लाइफ लाइन' नामक धारावाहिक में उन्होंने एक ऐसे डॉक्टर की भूमिका की है जो भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए हर संभव कोशिश करता है। इस धारावाहिक में डॉ. राव की अविस्मरणीय भूमिका करने के लिए कलाश्री संस्था की ओर से उन्हें पुरस्कृत किया गया था। तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने उन्हें ट्रॉफी प्रदान की थी। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते प्रदूषण से चिंतित हंगल आज भी सामाजिक न्याय के लिए संघर्षरत हैं।

● रमेश वैद्य

◆ ◆ ◆

अंजू महेंद्रू

अंजू महेंद्रू का नाम लोगों के लिए अपरिचित नहीं है। खास-तौर से टीवी दर्शकों के लिए तो बिल्कुल भी नहीं। पहले टीवी के दोपहर का प्रसारण वे अक्सर पेश किया करती थीं। अंजू महेंद्रू वैसे तो कई सीरियल में आईं परंतु उनकी खास पहचान श्रीधर क्षीरसागर के सीरियल 'मंजिल' द्वारा बनी। उसमें उन्होंने एक विवाहित और आजाद ख्याल (मॉड) स्त्री की भूमिका की थी। कई फिल्मों में भी उन्होंने काम किया है।

अंजू महेंद्रू पहले एक मॉडल थीं। १३ वर्ष की उम्र से ही वे मॉडलिंग कर रही हैं। उनकी मम्मी एक विज्ञापन कंपनी में काम करती थीं। सबसे पहले उन्होंने 'हीरो' कंपनी की विज्ञापन फिल्म में काम किया। उसके बाद श्याम बेनेगल की कोलगेट, बाम्बे डाइंग, लक्मे, आदि कुल मिलाकर सौ से भी अधिक विज्ञापन फिल्मों में काम किया। फिल्म वालों से उनके करीबी संबंध थे। फिलिमस्तान स्टुडियो के मालिक रायबहादुर चुन्नीलाल उनके नाना थे। प्रसिद्ध संगीतकार मदनमोहन उनके मामा थे। इसलिए जब वे नवीं कक्षा में पढ़ रही थीं तभी उन्होंने 'ज्वेल थीफ' फिल्म में काम किया। बाद में उन्होंने 'बंधन' तथा 'दस्तक' फिल्म में काम किया। बाद में राजेश खन्ना के संपर्क में आने पर फिल्मों में काम करना बंद कर दिया। राजेश खन्ना से उनका विवाह नहीं हो सका तो वापस फिल्मों की तरफ लौट आईं। परंतु उनकी वापसी में बहुत देर हो चुकी थी। वापसी के बाद गंगा की सौगंध, मुक्ति, उम्र कैद, दरवाजा जैसी फिल्में उनके हिस्से में आईं परंतु अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी। इस कारण फिल्म इंडस्ट्री छोड़कर गृहस्थ जीवन में चली गईं। अमजद खान के बड़े भाई इम्तियाज खान से उन्होंने विवाह कर लिया परंतु शादी के दस वर्षों बाद विचारों का तालमेल न होने के कारण संबंध विच्छेद हो गए। इन दिनों दूरदर्शन धारावाहिकों में छोटे-मोटे रोल करने के अलावा दोपहर प्रसारण में उद्घोषणाएँ कर लाइम-लाइट में बने रहना अंजू को भला लगता है। □

◆ ◆ ◆

गूफी पेंटल

'रामायण' में मंथरा का चरित्र विवादास्पद रहा, ठीक उसी तरह महाभारत में **शकुनि मामा** चर्चित हुए। शकुनि के चरित्र





को महाभारत धारावाहिक में **गूफी पेंटल** ने जीवंत बनाया था। वे महाभारत के कास्टिंग डायरेक्टर थे, लेकिन उनकी मंजरी आँखों और लंगड़ी चाल ने उन्हें शकुनि बना दिया। अपनी लंगड़ी चाल के बारे में बाद में उन्होंने स्पष्ट किया कि एक कार दुर्घटना में उनके एक पैर में फ्रैक्चर हो जाने से वे लंगड़ाते रहे।

गूफी पेंटल जमशेदपुर में टाटा 'टेल्को' में आठ साल तक इंजीनियर रह चुके हैं। इनके भाई पेंटल की सलाह पर ये बंबई आए और फिल्मकार एच. एस. रवैल के सहायक बने। आपने फिल्म 'डिंपल' में खलनायक का रोल किया है। इसके अलावा कैद, बर्निंग ट्रेन, निकाह और अब्दुल्ला में भी काम किया है। टी. वी. सीरियल 'बहादुर शाह जफर' और 'सौदा' में भी आप दिखाई दिए थे परंतु शकुनि मामा जैसी बात दोबारा नहीं बनी। □

माया अलघ

छोटी सी भूमिका में अपनी प्रतिभा का परिचय बहुत कम अभिनेत्रियाँ दे पाती हैं। फिल्म 'थोड़ी सी बेवफाई' में **माया अलघ** के हिस्से में दो- तीन दृश्य आए थे। उन्होंने उन्हें यादगार बना दिया। प्रामिस टूथपेस्ट के विज्ञापन में दो बच्चों के साथ अपनी मुस्कान और ममता लुटाती माया अलघ, सबसे अलग लगती हैं। धारावाहिक 'खजाना', 'छोटी-बड़ी बातें' और 'टीपू सुल्तान की तलवार' ने उन्हें अभिनेत्री के रूप में स्थापित कर दिया है।

माया अलघ मूलतः डॉक्टर हैं। अपने बचे हुए समय का सदुपयोग अभिनय में व्यस्त होकर करती हैं। यश चोपड़ा की नई फिल्म 'आईना' में उन्हें एक महत्वपूर्ण भूमिका मिली है।

जब माया अलघ कैमेरे के सामने खड़ी हो जाती हैं, तो डॉक्टरी के सारे तनावों से मुक्त हो जाती हैं। उन्हें पेंटिंग और पाश्चात्य संगीत में दिलचस्पी है। ■

गजेंद्र चौहान

यदि कोई फिल्मीसितारा बस की लाइन में खड़ा हो जाए, तो उसे देख कई लोग अपनी कारों की कतार लगा देंगे। लेकिन टीवी पर काम करने वाले कलाकार उन दिनों बेहद लोकप्रिय रहते हैं, जब उनके सीरियल चल रहे होते हैं। 'महाभारत' के चलते युधिष्ठिर के रोल में '**गजेंद्र चौहान**' को प्रतिष्ठा के साथ प्रसिद्धि भी मिली। वे एक बेहतर कलाकार माने जाने लगे। लेकिन 'महाभारत' के बिदा होने के बाद उन्हें बस की लाइन में खड़ा होना पड़ा और राह चलते लोगों की फब्तियाँ सुनना पड़ी, वो देखो युधिष्ठिर बस की लाइन में खड़े हैं। इसके जवाब में गजेंद्र का कहना है कि जब डॉक्टर, डॉक्टरी करता है और रिक्शे वाला, रिक्शा चलाता है उसी तरह एक्टर एक्टिंग करता है। पता नहीं लोग इसे सहज भाव से क्यों नहीं लेते। गजेंद्र चौहान को अभिनय का लगाव बचपन से था। कॉलेज पहुँचते- पहुँचते वे रंगमंच से जुड़ गए। १९८३ से उन्होंने अभिनय को अपना कैरियर बना लिया। उन्हें फिल्मों में भी रोल मिल रहे हैं। लेकिन वे सब बी या सी श्रेणी के हैं। जंगल लव, मेरा नाम, शिव महिमा, रामगढ़ की रामकली जैसी फिल्मों में उन्होंने अभिनय किया है। लेकिन एक बार युधिष्ठिर बन जाने के बाद गुंडे बदमाशों के रोल रास नहीं आ रहे हैं।

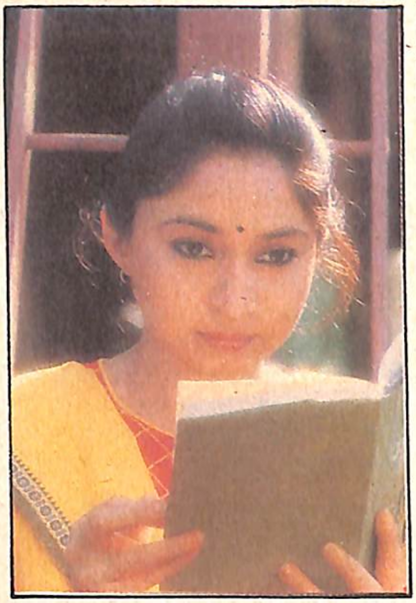
◆ ◆ ◆

गोपी देसाई

टीवी सीरियल हमराही की 'प्रेमा' यानी गोपी देसाई को कौन नहीं जानता। हमराही के अलावा वे काला जल/ अपने आप तथा मि. योगी में आईं परंतु पहचान 'हमराही' से ही मिली। दोपहर के टीवी प्रसारण में भी आप अक्सर आती रही हैं।

गोपी देसाई का असली नाम गोपी ही है। इनका जन्म गुजरात के नड़ियाद शहर में हुआ। इनके पिता हरिहर खंभोलजा गुजरात के वित्तमंत्री थे, तो माँ कुसुम खंभोलजा विधायक रह चुकी हैं। अभिनय का शौक गोपी को बचपन से ही था। स्कूल-कॉलेज के सभी कार्यक्रमों में वे नियमित रूप से भाग लेती थीं। कॉलेज पढ़ाई के बाद दिल्ली के 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' से अभिनय का प्रशिक्षण लिया। अहमदाबाद में गुजराती रंगमंच पर कई सफल नाटकों का मंचन किया। अहमदाबाद की संस्था 'इंडियन स्पेस रिसर्च ऑर्गनाइजेशन' के जरिए उन्होंने टीवी के लिए कई कार्यक्रमों का निर्माण किया। १९८१ में केतन मेहता की फिल्म 'भवनी भवाई' में 'रंगली' की भूमिका अभिनीत की। इसके बाद वे बंबई आ गईं।

बंबई के अंतहीन संघर्ष ने इनको गुजराती रंगमंच से जोड़ दिया जाहनु बरुआ की कला



फिल्म 'पापोरी' में इन्होंने मुख्य-भूमिका की। १९८७ में यह फिल्म अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव में दिखाई गई। इसके बाद गोपी कला फिल्मों की अभिनेत्री बन गईं। इन्होंने गिद्ध, अपेक्षा तथा ओम-दर-बदर जैसी कलात्मक फिल्मों में काम किया। व्यावसायिक फिल्मों का दरवाजा उनके लिए अभी भी बंद था। तब टीवी सीरियल में काम करने के साथ-साथ वे निर्माण और निर्देशन की ओर मुड़ गईं। इन्होने लगभग १५ डॉक्यूमेंट्री फिल्मों का निर्माण एवं निर्देशन किया साथ ही गुजराती रंगमंच से जुड़ी रहीं। बीच-बीच में ये मॉडलिंग भी करती रहीं। पिछले दिनों चिल्ड्रन फिल्म सोसायटी के लिए इन्होंने बाल फिल्म 'मुझसे दोस्ती करोगे' का निर्माण एवं निर्देशन किया है। इसे म.प्र. फिल्म विकास निगम तथा राष्ट्रपति ने पुरस्कृत किया है।

स्वतंत्र विचारों की गोपी हँसमुख स्वभाव की हैं। अभिनय, लेखन और निर्देशन में से वे निर्देशन को सबसे ऊपर मानती हैं। उनके अनुसार सिनेमा अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है।

◆ ◆ ◆

जसपाल भट्टी

२६ फरवरी १९८७ को ब्रेक फास्ट टी. वी. में 'उल्टा- पुल्टा' नाम से तीन मिनट का कार्यक्रम दिखाया गया था। इस कार्यक्रम के निर्माता निर्देशक एवं सूत्रधार थे **जसपाल भट्टी।** यह कार्यक्रम इतना लोकप्रिय हुआ कि दर्शक गुरुवार का इतंजार करने लगे 'उल्टा पुल्टा' कार्यक्रम देखने के लिए। इस कार्यक्रम में जसपाल भट्टी ने हास्यरस की शैली में कामचोर, रिश्वतखोर, बेईमान, भ्रष्ट और सरकारी कर्मचारियों से लेकर शराबियों तक पर कटाक्ष किया।

उन्होंने पंजाब इंजीनियरिंग कॉलेज (चंडीगढ़) से १९७८ में इलेक्ट्रिक इंजीनियर की डिग्री हासिल की है। वर्तमान में 'पंजाब स्टेट इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड' में एक्जीक्युटिव इंजीनियर के पद पर कार्यरत हैं। उनके पिताजी भी पंजाब इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड में चीफ इंजीनियर थे। बचपन से ही उनको कार्टून बनाने का बहुत शौक रहा है। चंडीगढ़ से प्रकाशित अँगरेजी अखबार 'द ट्रिब्यून' में उनके कार्टून पिछले कई सालों से प्रकाशित होते रहे हैं।

१९८४ में वे जालंधर दूरदर्शन से जुड़े और वहाँ पाँच मिनट का पंजाबी कार्यक्रम



'रंगच पंग' पेश करना शुरू किया। कुछ ही दिनों में यह कार्यक्रम बेहद लोकप्रिय हो गया। १९८७ में जब दिल्ली दूरदर्शन ने प्रातः-कालीन सभा आरंभ की तो तत्कालीन दूरदर्शन के उप महानिदेशक गोपाल ने उनसे कहा कि हिंदी में कुछ इसी तरह का कार्यक्रम बनाओ। लिहाजा 'उल्टा पुल्टा' का जन्म हुआ।

यह कार्यक्रम बाद में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि इसका उपयोग दूरदर्शन पर फिलर के रूप में होने लगा।

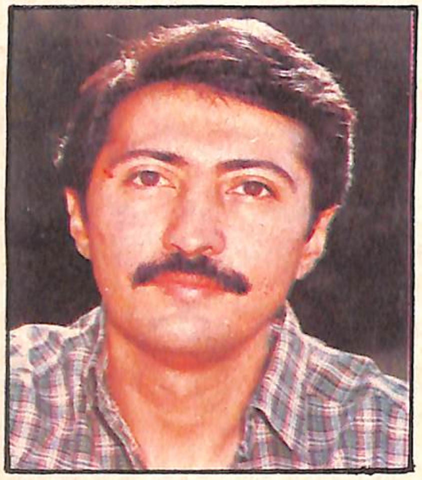
भट्टीजी का कहना है कि अखबारों में छपे समाचार, दैनिक घटनाएँ, आसपास का माहौल और सुने सुनाए किस्से कहानियों से उन्हें विषय चुनने की प्रेरणा मिलती है। उनकी पत्नी भी इस काम में उनका सहयोग करती है। उनका बनाया तेरह एपीसोड का धारावाहिक 'फ्लॉप शो' भी काफी लोकप्रिय हुआ था। यह दूरदर्शन पर दो बार दिखाया जा चुका है। दर्शकों ने उसे दोनों बार समान रुचि से देखा।

जसपाल भट्टी के अनभुव हैं कि जब उन्होंने इलेक्ट्रिसिटी डिपार्टमेंट पर व्यंग्य कसा, तो साहब खुश हो गए और उन्हें कार के लिए कर्ज मंजूर कर दिया। लेकिन जब टेलीफोन विभाग पर व्यंग्य कसा, तो टेलीफोन का बिल ४००० रुपए आ गया। 'शाहजी की शह' नाम से उनकी एक टेली फिल्म वीडियो कैसेट पर बाजार में आई है। उनके व्यंग्य सीधे और धारदार होते हैं।

अनंग देसाई

गायक एवं अभिनेता **अनंग देसाई** मूलतः गुजराती हैं। गुजराती रंगमंच से ही उनकी अभिनय यात्रा शुरू हुई। ग्वालियर घराने के के.के. पंडित एवं भातखंडे स्कूल में शास्त्रीय संगीत की शिक्षा लेने के बाद वे अहमदाबाद के गंधर्व स्कूल से भी जुड़े रहे। इसके बाद नेशनल स्कूल ऑव ड्रामा में रहकर उन्होंने अभिनय का विधिवत् प्रशिक्षण लिया। सन् १९७८ से १९८६ तक वे रंगमंच से जुड़े रहे। लगभग सत्तर नाटकों में अभिनय किया। अपनी प्रतिभा का डंका कई योरपीय देशों में बजाया। इसके बाद वे कई फिल्मों में चरित्र अभिनेता के रूप में आए जिनमें 'अंतहीन'/ 'जुर्म'/ 'क्रोध'/ 'गाँधी'/ आशिकी प्रमुख हैं। कुछ टेली फिल्मों में भी उन्होंने काम किया, जिनमें से 'परिणति' एवं 'स्वयं' काफी चर्चित रहीं।छोटे पर्दे पर वे 'राज से स्वराज्य तक', 'पुलिस फाइल', 'मुंगेरी लाल के हसीन सपने', 'अमीर खुसरो', 'कबीर', 'हिमालय दर्शन', 'भारत एक खोज', 'तेनाली राम' आदि धारावाहिकों में आए।

अनंग देसाई को लोकप्रियता एवं दर्शकों का सर्वाधिक प्यार 'हमराही' से मिला। मनोहर श्याम जोशी ने उनका व्यक्तित्व



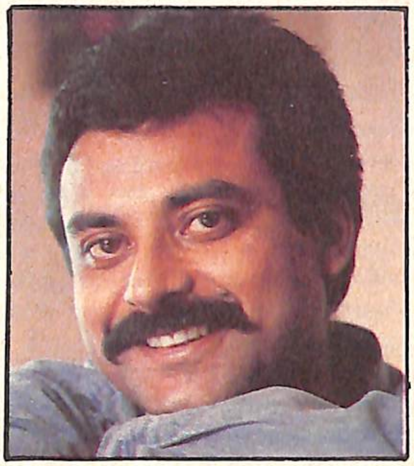
देखकर डॉ. डी.कुमार की भूमिका के लिए उन्हें उपयुक्त समझा। अनंग देसाई का कहना है कि उनके अभिनय में काफी सुधार की गुंजाइश है। वे एक सशक्त अभिनेता और गायक के रूप में रंगमंच, छोटे पर्दे एवं बड़े पर्दे तीनों पर एक साथ स्थापित होना चाहते हैं। □

◆ ◆ ◆

दिनेश शाकुल

धारावाहिक 'चाणक्य' में, चाणक्य के बाद दूसरा प्रमुख पात्र था, चंद्रगुप्त। चाणक्य की राजनीति व कूटनीति के मूर्त रूप थे चंद्रगुप्त। चंद्रगुप्त के बिना चाणक्य का जीवनवृत्त नहीं लिख सकते। चाणक्य के चंद्रगुप्त **दिनेश शाकुल** ने अपने कैरियर की शुरूआत दिल्ली के रंगमंच, आकाशवाणी और दूरदर्शन से की। नाटक में काम करने के साथ ही साथ वे निर्देशन भी करते थे। दिनेश की रुचि लेखन में भी है, और वे कभी-कभी कलम भी चलाते हैं। इनके द्वारा अभिनीत एवं निर्देशित नाटकों में प्रमुख हैं, कुर्सी चक्र/ थैंक्यू मिस्टर लॉड/ रोमन बॉथ।

विष्णु माथुर ने एक फिल्म बनाई थी, 'पहला अध्याय'। इस फिल्म में दिनेश शाकुल ने नायक की भूमिका निभाई थी। इसी फिल्म के जरिए उन्होंने बंबई में कदम रखा। दिल्ली से नाता तोड़ा। दुर्भाग्यवश पहला अध्याय रिलीज ही नहीं हुई। उन्हें संघर्षों का सामना करना पड़ा। कृष्ण राघव के धारावाहिक



'राग दरबारी' में दिनेश शाकुल को महत्वपूर्ण भूमिका मिली 'रुप्पन बाबू' की। रुप्पन बाबू का कुर्ता, उनकी धोती, धोती का एक सिरा जेब में व दूसरा सिरा हाथ में लेकर चलने की अदा को दर्शकों ने पसंद किया था।

राग दरबारी के बाद कबीर में एक्टिंग और लेखन प्रतिभा भी दिखाई। कबीर के साथ ही, चेहरे, एक कहानी और अलग धारावाहिकों की कुछ कड़ियों में काम किया। दिनेश शाकुल की अपनी एक विज्ञापन एजेंसी है— भाषांतर। □

◆ ◆ ◆

दारा सिंह

दारा सिंह फिल्म अभिनेता से अधिक एक पहलवान के रूप में प्रसिद्ध हैं। टी.वी. सीरियल 'रामायण' में हनुमान की भूमिका करने के बाद बच्चे-बच्चे की जुबान पर आपका नाम आ गया था।

पंजाब के गाँव धरमूचक के निवासी दारा सिंह के बाप-दादा खेती किया करते थे। परंतु चुस्त एवं सुडौल शरीर के मालिक दारा को खेती-बाड़ी के बजाए कुश्तियाँ लड़ने में दिलचस्पी थी। वे अपना ज्यादातर समय अखाड़े में कसरत करते और कुश्तियाँ लड़ने में बिताते थे। १८ वर्ष की उम्र में सिंगापुर के कुछ पहलवानों से उन्होंने कुश्ती के कुछ दाँव-पेंच सीखे और इस तरह १९५९ में वे भारत के चोटी के पहलवान बन गए। १९६८ में उन्होंने विश्व चैंपियन का खिताब जीता। उनका कुश्ती लड़ने का यह सिलसिला १९८३ तक चला और उसी साल उन्होंने कुश्ती से संन्यास भी ले लिया।

१९५२ से दारा सिंह कुश्ती प्रतियोगिता के सिलसिले में लगातार बंबई आते-जाते रहते थे। वहीं पर उनकी कुश्ती देखने जाने-माने राजनेता तथा कलाकार भी आते थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू से भी इनका परिचय इसी प्रकार हुआ। बाद में पूरे नेहरू परिवार से वे जुड़ गए। फिल्मी व्यक्तियों से भी उनका परिचय कुश्ती के मैदान में ही हुआ। राजकपूर की एक फिल्म का प्रीमियर बंबई के इम्पीरियल सिनेमा में रखा गया, तो उसमें दारा सिंह को बुलाया गया। उन्हें फिल्म देखने के लिए नहीं बल्कि राजकपूर को अपने कंधे पर उठाने के लिए, ताकि कंधे पर बैठे राजकपूर को पूरी भीड़ देख सके। बाद में राजकपूर की फिल्म 'मेरा नाम जोकर' में उन्होंने काम किया। फिल्मों में आने का इरादा उनका बिलकुल नहीं था। पर संयोग उन्हें खींच लाया। **किंग-कांग** दारा सिंह की पहली फिल्म थी। इस फिल्म में कुमकुम उनकी हीरोइन थीं। यह फिल्म सफल हो गई। लिहाजा उनके पास दर्जनों ऑफर आए। १९६२ से १९६५ तक दारा एक्टिंग में काफी व्यस्त रहे और तकरीबन उनकी हर फिल्म हिट भी रही। मुमताज के साथ उनकी जोड़ी खूब लोकप्रिय हुई। इन दोनों ने १४ फिल्मों में एक साथ काम किया जिनमें फौलाद, आँधी और तूफान, हरक्यूलस व सेमसन मुख्य हैं।

एक्टिंग करते-करते दारा निर्माता भी बन बैठे। उनकी पंजाबी फिल्म 'नानक दुखिया सब संसार' काफी अच्छी चली। दारा फिल्मों में सिर्फ अपने काम से काम रखते थे। इसलिए उनका नाम कभी किसी हीरोइन के साथ नहीं जुड़ा। किशोरवय में ही उनका विवाह हो गया था। शादी के नौ वर्ष बाद ही दुर्भाग्यवश उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। अपनी इस पहली पत्नी से उन्हें एक पुत्र प्राप्त हुआ। बाद में उन्होंने दूसरा विवाह किया। दूसरी पत्नी से उन्हें दो बेटे और तीन बेटियाँ हैं।

दारा सिंह एक नरम दिल इंसान हैं। गुस्सा उन्हें बहुत कम आता है। राजनीति में उन्हें बिलकुल रुचि नहीं है। सहयोग एवं मित्रता की खातिर उन्होंने सुनील दत्त के लिए चुनाव प्रचार किया। निर्माताओं की संस्था 'इम्पा' का चुनाव भी वे जीत चुके हैं। इकसठ वर्ष की उम्र में भी दारा सिंह चुस्त-दुरुस्त और व्यस्त हैं। भरतपुर के महाराज सूरजमल पर आधारित एक टी.वी. सीरियल बनाने जा रहे हैं। साथ ही अपने बेटे विंदू को लेकर एक फिल्म बना रहे हैं। दारासिंह की बहू अभिनेत्री फरहा है। □

अवतार गिल

(नुक्कड़ वाले कादर भाई)

अवतार गिल का नाम, काम और चेहरा कुछ भी अपरिचित नहीं है। उनके काम की शुरूआत एक ऐसे धारावाहिक से हुई, जिसमें उन समेत चार दर्जन कलाकार थे। सभी के बढ़िया रोल। यह धारावाहिक था सईद मिर्जा का **'नुक्कड़'**। 'नुक्कड़' के कादर भाई मोहल्ले में चाय बेचा करते थे। सभी का जमावड़ा उनकी दुकान पर। यह सीरियल खूब लोकप्रिय हुआ और कादर भाई यानी अवतार भी।

बाद में उनको फिल्मों में अवसर मिलने लगे। महेश भट्ट ने उनको अपनी फिल्मों में रोल देना शुरू किए। जैसे 'आशिकी', दिल है कि मानता नहीं', 'सातवाँ आसमान', 'सड़क'। इन फिल्मों में काम करते हुए उनके अभिनय की 'डेप्थ' बढ़ी। वैसे वे मूलतः नाटक के आदमी हैं और बंबई जैसे शहर में जहाँ मराठी थिएटर का ही माहौल है, उनको हिंदी नाटक करने में बड़ा संघर्ष करना पड़ा। बहरहाल वे थिएटर और फिल्म तथा धारावाहिकों के रास्ते चल निकले।

अवतार गिल को अभिनय में उल्लेखनीय अवसर प्रख्यात निर्देशक ऋषिकेश मुखर्जी ने दिया टीवी धारावाहिक 'तलाश' में, जिसमें वे मुखिया का बहुआयामी रोल प्रभावी ढंग से कर सके। इस एक बड़े धारावाहिक में अवतार गिल ने मुखिया के जिस चरित्र को जिया, क्रूर खलनायक के रूप में उसे ही नहीं बल्कि उसके भावनात्मक पहलुओं को भी जिया। इस अवसर पर बड़े उत्साहित से एक बार जब वे मुझे मिले तो कहने लगे कि 'तलाश' में मुझे अपने जीवन का सबसे बढ़िया रोल मिला है। ऋषिकेश मुखर्जी के काम का जिक्र करते हुए अवतार ने कहा कि ऋषि दा के काम करने का बिल्कुल अलग संस्कार है। अवतार को ऋषिकेश मुखर्जी ने सीरियल 'उजाले की ओर' में भी अच्छा अवसर दिया है।

अवतार गिल ने बहुत से और भी धारावाहिकों में काम किया है, जिसमें 'इंतजार' जी-टीवी के सीरियल 'तारा' के अलावा कुछ फिल्में जैसे 'गुमराह', 'सर' खास हैं। अवतार मिलनसार हैं। जिस तरह अदने से कलाकारों को चार सीन का रोल मिलने पर हवा में उड़ने का नशा हो जाता है, अवतार उससे बिल्कुल अलग हैं। वे अपनी जमीन पहचानते हैं। वे कहते हैं, दर्शक ही हमारे सब कुछ हैं। हमें बनाना, मिटाना उन्हीं के बस में है।

● **सुनील मिश्र**

◆ ◆ ◆

अरविंद त्रिवेदी

(रावण भी और कंस भी)

अहिल्या नगरी इंदौर में जन्मे **अरविंद त्रिवेदी** सन उन्नीस सौ छियोत्तर से गुजराती फिल्मों में नायक का रोल कर रहे थे, लेकिन



जब रामानंद सागर द्वारा निर्मित धार्मिक सीरियल **रामायण** में रावण के रूप में पर्दे पर दिखाई दिए, तो देश का प्रत्येक दर्शक उन्हें पहचानने लगा और अखबारों की सुर्खियों में भी अरविंद त्रिवेदी के साथ इंदौर का नाम जुड़ गया।

अरविंद त्रिवेदी के पिता इंदौर में मिल मैनेजर थे। जब उनका तबादला उज्जैन हो गया, तो अरविंद ने हाईस्कूल तक वहाँ पढ़ाई की। बंबई आकर उन्होंने इंटर आर्ट्स की परीक्षा दी। फिर भारती विद्या भवन थिएटर में करीबन सोलह साल तक मैनेजर की नौकरी की। इस बीच उन्होंने नाटकों में काम किया। इसके बाद अपने भाई उपेंद्र त्रिवेदी के साथ गुजराती फिल्मों में काम करना शुरू कर दिया।

अरविंद त्रिवेदी करीब ७५ गुजराती फिल्मों में हीरो बने। इतनी ही फिल्मों में विलेन/ डाकू/ साधु आदि के रोल किए। उन्हें छह बार गुजरात सरकार की ओर से राज्यस्तरीय श्रेष्ठता सम्मान मिल चुका है। हिंदी फिल्मों के क्षेत्र में उन्हें लाने का श्रेय रामानंद सागर को है।

लाल रंग की धोती, गले में रुद्राक्ष की माला पहन पूजा-पाठ करने वाले अरविंद त्रिवेदी, रामानंद सागर को अपनी रामायण में रावण के रोल के लिए सौ टका सही लगे। दरअसल रावण के रोल में इतने शेड्स थे कि कोई मँजा हुआ कलाकार ही उसे कर सकता था। रावण को हम पूरी तरह से विलेन की उपमा नहीं दे सकते। वह रोता भी था, हँसता भी था तथा क्रोध भी करता था। इन सभी विविधता लिए चरित्र को दबंग आवाज व गठीले बदन वाले गंभीर प्रकृति के अरविंद त्रिवेदी ने पूरी तरह आत्मसात कर लिया और दर्शकों ने भी उन्हें काफी पसंद किया।

रावण के बाद अरविंद त्रिवेदी को दसारी नारायण राव के सीरियल 'विश्वामित्र' में त्रिशंकु की भूमिका मिली। जब रामायण में वे रावण बने तो 'कृष्ण' मे उन्हें कंस बनना ही था। रामानंद सागर ने सीरियल 'कृष्ण' बनाया तो करीब ३५ एपिसोड मे कंस की पूरी जीवनी दिखाई और अरविंद त्रिवेदी रावण से कंस बन गए।

अरविंद त्रिवेदी हिंदी के बजाए गुजराती फिल्म क्षेत्र को ही अपनी सफलता की सीढ़ी समझते हैं। वे मानते हैं कि मूलतः गुजराती होने से गुजराती फिल्मों में उनका भविष्य सुरक्षित है। उन्होंने 'नेत्रदान' विषयवस्तु लेकर एक गुजराती सीरियल 'अमृतकलश' का निर्माण एवं निर्देशन किया है। अपने छोटे से परिवार में अरविंद त्रिवेदी की तीन बेटियाँ हैं। वर्तमान लोकसभा में वे भाजपा की ओर से चुनकर संसद सदस्य हैं। □

◆ ◆ ◆

अमित खन्ना

अमित खन्ना एक व्यक्तित्व/ 'प्लस चैनल' के सर्वे-सर्वा। जब इन्होंने 'बिजनेस प्लस' पत्रिका से प्लस चैनल की शुरूआत की, तो इन्हें पूर्वानुमान था कि दृश्य शृव्य क्षेत्र धमाके के साथ फैलेगा। इसी नजरिए से इस चैनल की 'पीपुल प्लस'/ 'बॉलीवुड' वीडियो पत्रिकाओं की छोटे पर्दे के लिए शुरूआत की। आज अमित खन्ना सॉफ्टवेअर कार्यक्रमों के शहंशाह हैं। उनकी दूरंदेशी की दाद देनी होगी। जब निजी टीवी कंपनियाँ इस क्षेत्र में पदार्पण करेंगी तो वे पर्याप्त विशेषज्ञों को एकत्र करने की सोच रहे हैं। उनका कहना है कि 'ऐसा एक दिन होना ही है इसे अधिक लंबा खींचा नहीं जा सकता।'

अमित खन्ना ने टीवी निर्माताओं की हैसियत से देवधर समिति को मैट्रो चैनल के बाबद महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे। खन्ना के अनुसार प्लस चैनल, भारत में सॉफ्टवेअर टीवी पैकेज कार्यक्रम निर्माण करने वाली नंबर एक की कंपनी है। वह टीवी एशिया, साऊथ अफ्रीकन ब्राडकास्टिंग कॉरपोरेशन, केन्या, इंडोनेशिया तथा खाड़ी के देशों के टीवी चैनल्स को पैकेज सप्लाय करती है। □



नीना गुप्ता

(सिंगल-गर्ल)

छोटे परदे पर बड़े दिल वाली अभिनेत्री के रूप में ख्याति प्राप्त करने वाली **नीना गुप्ता** का व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण असामान्य है। शास्त्रीय संगीत एवं कत्थक नृत्य में निपुण होने के बावजूद वे स्वयं को जन्मजात अभिनेत्री मानती हैं। इसी धारणा ने उन्हें बंबई आने के लिए प्रेरित किया तथा १९८३ से बंबई में अभिनेत्री के रूप में उनकी संघर्ष यात्रा शुरू हुई। बंबई आकर फिल्माकाश में दमकने वाले सितारों के तौर पर खुद को प्रतिष्ठित करने की महत्वाकांक्षा को उन्होंने खुद से दूर रखा तथा एक सफल/ सदाबहार/ हरफनमौला/ अभिनेत्री के रूप में अपनी छवि बनाने की कोशिश करती रहीं। नीना गुप्ता अपनी संघर्ष यात्रा में अकेली थीं। अन्य उभरती हुई अभिनेत्रियों की तरह न तो उनके रिश्तेदार इस उद्योग में थे तथा न ही वे तथाकथित गॉड फादरों की सरपरस्ती पाने में विश्वास रखती थीं।

नीना स्वयं को जन्मजात अभिनेत्री मानती हैं। बिंदु एवं अरुणा ईरानी की तरह सदाबहार अभिनेत्री के रूप में अपनी छवि बनाना चाहती हैं। 'खानदान' में केतकी जैसे क्लिष्ट पात्र को जीवंत कर देने वाली इस अभिनेत्री ने 'यात्रा' में नितांत अनूठी भूमिका अदा की थी। एक अन्य धारावाहिक 'दाने अनार के' में वे दर्शको को अपनी अदाओं से हँसाती- गुदगुदाती रहीं। अनब्याही माता के रूप में मसाबा (अफ्रीकन राजकुमारी) की इस माता को पसंद नहीं है कि कोई उनकी निजी जिंदगी में ताक-झाँक करे।

जी. टीवी से प्रसारित होने वाले धारावाहिक 'दिल्लगी' में अनिल धवन के साथ निहायत बोल्ड भूमिका में अवतरित हो रही नीना शीघ्र ही जी. टीवी पर 'साँच को आँच' नामक धारावाहिक में एक अनूठी भूमिका करती हुई नजर आएँगीं।

● **लोकेंद्र चतुर्वेदी**

□ *बी.आर. चोपड़ा*

मनोरंजन के साथ संदेश भी

● **साक्षात्कार** □ **अनिल त्रिपाठी**

उन्यासी वर्षीय **बी.आर. चोपड़ा** चौयेपन में भी जवानों से अधिक सक्रिय हैं। उन्हें किसी भी तरह का व्यसन नहीं । वे हर हाल में सुबह ग्यारह बजे दफ्तर आ जाते हैं। शाम सात बजे तक नियमित रूप से काम करते हैं। फिल्म क्षेत्र में उनके जैसा अप-टू-डेट ऑफिस कम ही देखने में आता है।

भारतीय फिल्मों का विशेषकर हिंदी फिल्मों का जब इतिहास लिखा जाएगा, तो चोपड़ा साहब का विशेष रूप से उल्लेख करना होगा। वे पहले व्यक्ति हैं, जो अँग्रेजी साहित्य में मास्टर डिग्री लेने के बाद फिल्मों में आए थे। हाल ही में उन्हें आंध्रप्रदेश विश्वविद्यालय ने 'डॉक्टर ऑफ लेटर' की मानद उपाधि से विभूषित किया है।

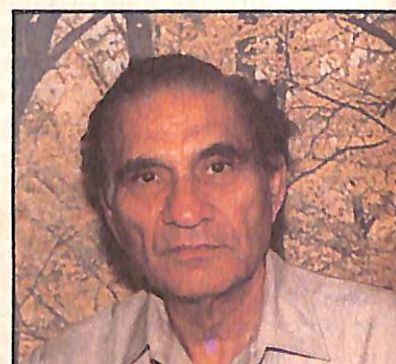
अपने सैंतालीस सालों के फिल्मी कैरियर में बी.आर. चोपड़ा ने सिर्फ इक्कीस फिल्मों का निर्माण- निर्देशन किया है। निर्माता के रूप में उनकी पहली फिल्म थी **'करवट'** जो लाहौर में बनी थी और फ्लॉप हो गई थी।

निर्माता-निर्देशक के रूप में चोपड़ा साहब की पहली फिल्म थी **'अफसाना'** जो कि १९५१ में प्रदर्शित हुई थी और खूब नाम और दाम कमाया था। इसी फिल्म ने उन्हें अच्छे निर्देशकों की पंक्ति में खड़ा कर दिया। इसके करीब चार साल बाद उन्होंने 'बी.आर. फिल्म्स' की स्थापना की। इस संस्थान की पहली फिल्म थी 'एक ही रास्ता।' इस फिल्म में विधवा स्त्रियों की समस्या उठाई गई थी।

बी.आर. चोपड़ा की फिल्मों का एक खास मकसद रहा है। इस बात से वे इंकार नहीं करते। उन्होंने भी फार्मूले वाली फिल्में बनाई हैं, लेकिन उनमें एक संदेश अवश्य रहा है। वह चाहे **'नया दौर'** की मशीनी और इंसानी समस्या रही हो या **'साधना'** की पतित स्त्री की बेटी। वह चाहे **'धूल का फूल'** रहा हो, जिसमें गवाया गया था 'तू हिंदू बनेगा न मुसलमान बनेगा; इंसान की औलाद है, इंसान बनेगा या **'कानून'**। बी.आर. चोपड़ा की तमाम फिल्मों ने मानव मूल्यों को उजागर किया है। इस श्रेणी की उनकी अन्य फिल्में हैं 'धर्मपुत्र '/ 'गुमराह'/ 'वक्त'/ 'हमराज'/ 'इत्तफाक'/ 'आदमी और इंसान'/ 'पति-पत्नी और वह'/ 'निकाह'/ 'द बर्निंग ट्रेन'/ 'जमीर'/ 'मजदूर'/ 'अवाम' और 'कल की आवाज।'

गीत और संगीत हिंदी फिल्मों की आत्मा रही है। आत्मा निकाल दीजिए, कुछ भी शेष न रहेगा। लेकिन बी.आर. चोपड़ा ने हवा के रुख के विरुद्ध सफल फिल्में बनाकर चौंका दिया। ये फिल्में थी 'कानून' और 'इत्तफाक' जो कि व्यावसायिक रूप से भी खूब सफल रही।

फिल्मों के दौर में टेलीविजन आ गया। बड़े परदे के सामने इस छोटे परदे की ओर आम और खास फिल्मकारों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा। लेकिन प्रगतिशील स्वभाव और दूरदर्शी बी.आर. चोपड़ा ने छोटे परदे की असीम ताकत को महसूस किया। उनके द्वारा निर्मित और निर्देशित धारावाहिक **'महाभारत'** ने विश्व रिकॉर्ड तोड़ दिया। इतना लोकप्रिय धारावाहिक आज तक न तो बना और न ही भविष्य में बनाए जाने की कल्पना की जा सकती है। उनके अन्य धारावाहिक हैं **'बहादुर शाह जफर,' 'चुन्नी'** और **'सौदा'**। फिल्मों की तरह उनके धारावाहिक भी उद्देश्यपूर्ण और

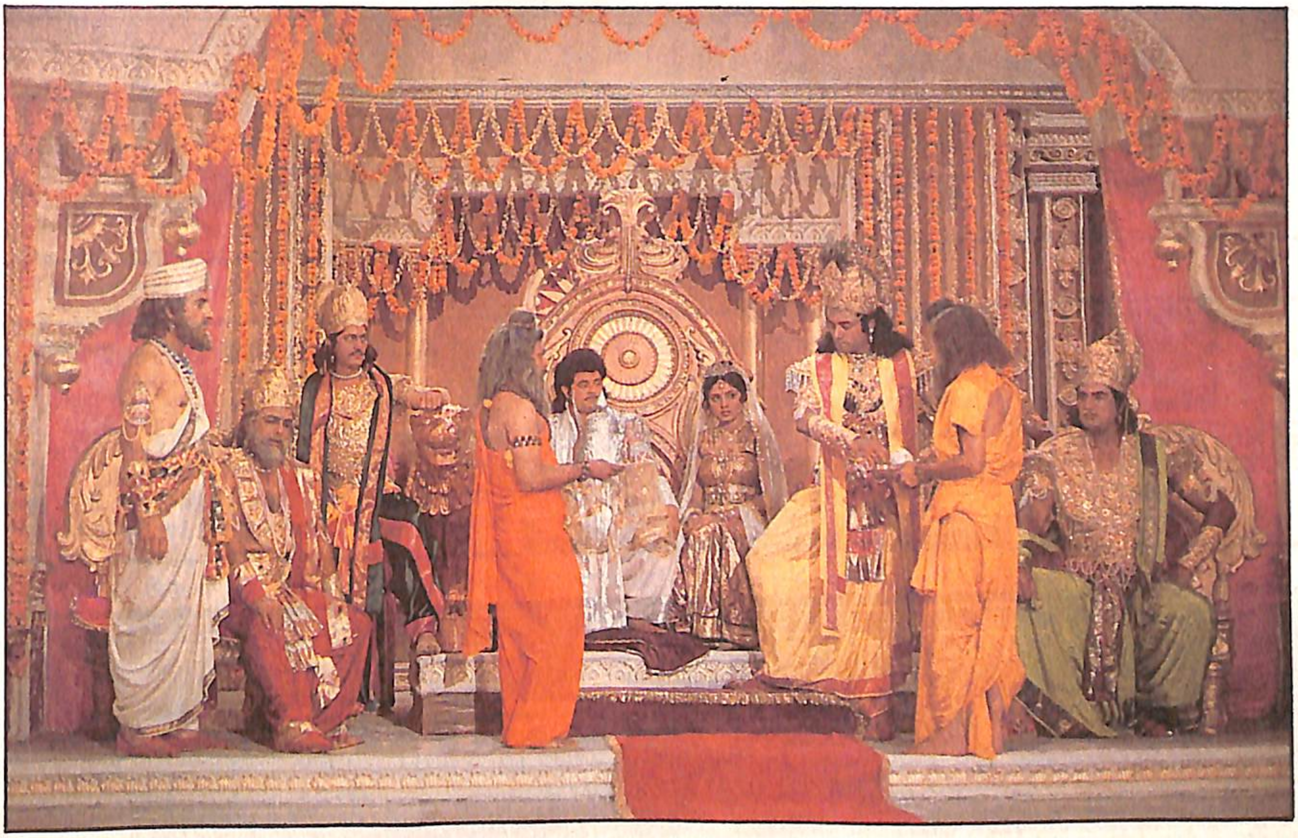


मनोरंजक रहे हैं।

फिल्मों के अलावा चोपड़ा साहब सरकारी, अर्ध सरकारी और कई संस्थाओं से जुड़े रहे हैं। यहाँ प्रस्तुत उनके कैरियर, फिल्मों और धारावाहिकों को लेकर हुई बातचीत के मुख्य अंश:–

आपने कैरियर कहाँ से शुरू किया?

लाहौर से अँग्रेजी साहित्य में मास्टर डिग्री लेने के बाद मैंने पत्रकारिता शुरू कर दी। अपना ही अखबार था 'सिने हेरॉल्ड'। बाद में मैं इसका एडिटर बन गया। कई सालों की पत्रकारिता के बाद लोगों के कहने पर फिल्म की पत्रकारिता के साथ-साथ फिल्म निर्माण



क्षेत्र में भी कदम रखा। एक फिल्म बनाई 'करवट'। वह ऐसी फ्लॉप हुई कि लगा कभी फिल्मों के बारे में सोचेंगे भी नहीं।

फिर दुबारा फिल्मों में कैसे आना हुआ?

उन्हीं दिनों देश का बँटवारा हो गया। हम लोग लाहौर से दिल्ली होते हुए बंबई आ गए। 'सिने हेरॉल्ड' को फिर से चालू करने की बात की। लेकिन हमारे भागीदारों ने कहा कि फिल्म ही बनानी है जबकि उतने पैसे नहीं थे। फिर भी आई.एस. जौहर की कहानी ढाई हजार रुपए में खरीद ली। इसी दौरान श्री गोपालदास का कागजों का व्यापार चल निकला। उन्होंने फिल्म बनाने का पक्का फैसला कर लिया और कहा कि निर्देशक मुझे ही बनना होगा। मुझे कोई तजुर्बा न था। मगर वे जिद पर आ गए। मुनाफे में भागीदारी के लिए तैयार थे। लेकिन घाटा अकेले सहने वाले थे। फिल्म शुरू की। नाम रखा 'अफसाना'। जबरदस्त हिट हुई।

बी. आर. फिल्म्स की स्थापना आपने क्यों की?

श्री गोप फिल्म्स में हम तीन पार्टनर थे, लेकिन एक पार्टनर की मौत हो गई। लिहाजा हमने नई कंपनी बी.आर. फिल्म्स शुरू कर दी। जिसमें श्री गोपाल दास १९६५ तक पार्टनर रहे।

आज की फिल्में यादगार साबित क्यों नहीं होती?

जिन फिल्मों का मकसद सिर्फ पैसे कमाना होगा, वे फिल्में यादगार कैसे साबित हो सकती हैं? हमारे जमाने में पैसे कमाना दूसरे नंबर पर आता था। हम भी मनोरंजक फिल्में बनाते थे लेकिन उसमें कोई अर्थ होता था।

वह मकसद कहाँ चला गया?

आज फिल्मों में ऐसे लोग आ गए हैं जो सिर्फ पैसे कमाना चाहते हैं। ऐसे लोगों के सामने मकसद का सवाल ही नहीं उठता।

आज फिल्म निर्माण किस दौर से गुजर रहा है?

बड़े बुरे दौर से। आज तीन फीसदी फिल्में चलती हैं। न तो अब वैसी कहानियाँ लिखी जाती हैं और न ही वैसी मेहनत की जाती है। नतीजा सामने है।

आज टीवी मीडिया फिल्मों पर हावी होता जा रहा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि फिल्में बननी ही बंद हो जाएँ?

नहीं, फिल्में बंद न होंगी। अमेरिका में फिर से फिल्में बनने लगी हैं। और लोग देखने भी लगे हैं। अब हेल्दी कंपटीशन हो गया है। सिर्फ अच्छी फिल्में ही चलेंगी। हिंसा और सेक्स से लोग ऊब गए हैं। कोई ताज्जुब नहीं कि एक बार फिर सोशल फिल्मों का जमाना आ जाए।

आपने दोनों मीडिया में काम किया है। इनमें से बेहतर क्या लगता है?

दोनों के इंपोरटैंस अलग-अलग हैं। दोनों दृश्य मीडिया हैं, बड़े परदे पर आप हजारों के साथ देखते हैं, जबकि छोटे परदे पर अकेले या अपने परिवार के साथ। बड़े परदे पर आप भाषणबाजी बर्दाश्त नहीं कर सकते। लेकिन छोटे परदे पर सुन लेने में आपको हिचकिचाहट नहीं होती। अगर इतना लंबा 'महाभारत' मैंने बड़े परदे के लिए बनाया होता तो फ्लॉप हो जाता। लेकिन छोटे परदे पर जबर्दस्त हिट रहा। इसे हिन्दुओं ने ही नहीं, सभी संप्रदायों ने देखा। विदेशों में भी इसे भारतीयों की तरह ही देखा। यहाँ तक कि पाकिस्तान में भी यह उतना ही लोकप्रिय हुआ, जितना हिन्दुस्तान में।

इतनी सफलता के बाद भी दूरदर्शन ने आपको कुछ बनाने को नहीं दिया, इसके क्या कारण हैं?

यह तो आप दूरदर्शन वालों से पूछिए। उन्होंने हमें 'महाभारत' बनाने को दिया। उस समय हमें यह काम मुश्किल लगा था। लेकिन हमने बड़ी मेहनत से बनाया। वह खूब कामयाब रहा। अगर सरकार हमें सम्मान देती है, तो हम जरूर काम करेंगे। लेकिन हम चक्कर नहीं लगा सकते।

फिल्म या धारावाहिक क्षेत्र में आपकी भविष्य की क्या योजनाएँ हैं?

एक दो विषयों पर काम चल रहा है। हम तो कहानी पर जोर देते हैं। जब तक स्क्रिप्ट पूरी तरह से तैयार नहीं हो जाती, काम नहीं शुरू करते।

अन्नू कपूर

(कबीरा खड़ा बाजार में)

अन्नू कपूर जिंदगी की जड़ों के कलाकार हैं। अभिनय उन्होंने महज शौक या शोहरत के उद्देश्य से नहीं अपनाया, बल्कि बुनियादी जरूरतों की कठोर हकीकत उन्हें इस ओर खींच लाई। वे बनना चाहते थे डॉक्टर और बन गए अभिनेता। पारिवारिक परिवेश पूरी तरह अदाकारी का था। उनके पिता एक नौटंकी चलाते थे। यानी एक ऐसा व्यवसाय जिसे अपने जमाने में प्रतिष्ठित नहीं माना जाता था। अन्नू को बचपन से ही तिरस्कार और उपहास का पात्र बनना पड़ा। एक 'नौटंकिया' का **लड़का** जितनी प्रताड़ना झेल सकता था, वह **सब अन्नू** ने झेली। मगर सवाल आजीविका का था। जहाँ आकर आदमी की ख्वाहिशों का इंद्रधनुष महज कमान बनकर रह जाता है। लिहाजा अन्नू मात्र चौदह वर्ष की आयु में एक नौटंकी कलाकार बन गए। 'राजा हरिश्चंद्र' 'नारद महिमा' और अन्य कई पौराणिक चरित्रों वाले नाटकों में अन्नू ने भूमिकाएँ निभाईं।

नौटंकी का जमाना खत्म होने पर अन्नू के पिता मदनलाल कपूर ने एक थियेटर ग्रुप तैयार कर लिया, जिसे बाद में 'भोपाल थियेटर्स' के नाम से काफी ख्याति मिली। इसी बीच अन्नू ने 'एन.एस.डी.' में दाखिला ले लिया, और वे अभिनय का तकनीकी पक्ष मजबूत करने में जुट गए। दिल्ली में नाटक 'एक रुका हुआ फैसला' के मंचन के दौरान श्याम बेनेगल की नजर उन पर पड़ी। और इस तरह अन्नू को उनकी फिल्म 'मंडी' में एक छोटी भूमिका मिल गई। परदे पर अन्नू का यह पहला अनुभव था।

दूरदर्शन पर अन्नू को सहजता से अवसर मिल गए। उन्हें इसके लिए ज्यादा भाग-दौड़ नही करना पड़ी। एक तो अभिनय का बेहद लंबा अनुभव उनके पास था, साथ ही वे रंगमंच पर अपनी प्रतिभा का यथेष्ठ परिचय दे चुके थे। अन्नू को पहला सीरियल मिला 'खरी-खरी'। यह एक हास्य धारावाहिक था, और अन्नू ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के बूते पर इसमें जान डाल दी। अन्नू सहज हास्य उत्पन्न करने में माहिर हैं। इसके लिए वे पेंचदार मुद्राओं या संवादों का सहारा नहीं लेते, बल्कि आवाज के 'पिच' (स्वरमान) में कुशलता से परिवर्तन द्वारा हास्य स्थिति तैयार कर देते हैं। अन्नू ने जिन गिनी-चुनी व्यावसायिक फिल्मों में अभिनय किया है, उन सबमें उनकी यह विशेषता सबसे अलग छाप छोड़ती है। तेजाब का 'गुलदस्ता', मि. इंडिया का परेशान संपादक, 'मुस्कुराहट' में हीरो का छायाकार मित्र इन सभी भूमिकाओं में अपने उम्दा हास्य से अन्नू ने बेहद प्रभावित किया। अन्नू के पास बहुत अच्छी आवाज नहीं है, लेकिन इसके बावजूद वे 'वॉयस



माड्यूलेशन' में अत्यंत दक्षता का परिचय देते हैं।

'खरी-खरी' के बाद अन्नू कपूर ने गुफ्तगू/ खिताब/ किले का रहस्य/ देवीजी आदि अनेक धारावाहिकों में काम किया। लेकिन उनकी यादगार भूमिका थी, **कबीर** की। इस महान संत के रूप में अन्नू ने कमाल के अभिनय का परिचय दिया। सीरियल 'कबीर' दूरदर्शन पर भारत की गौरवमयी संत परंपरा के चरित्रांकन का पहला प्रयोग था जिसने देश के आध्यात्मिक अतीत को दर्शकों के सम्मुख, सजीव कर दिया। इसके पीछे कुशल निर्देशन की तो महत्वपूर्ण भूमिका थी ही, किंतु 'कबीर' जैसा विलक्षण चरित्र अन्नू कपूर के बेदाग अभिनय की बदौलत ही इतने प्रभावशाली स्वरूप में प्रस्तुत हो पाया। 'कबीर' में अन्नू का अभिनय देखकर **राज कपूर** भी काफी प्रभावित हुए थे। उन्होंने अन्नू से कहा 'तुमने सचमुच कमाल कर दिया। अगर यह सीरियल किसी कारणवश न बन पाता, तो मैं इस पर स्वयं एक फिल्म बनाता। और तुम हीं कबीर की भूमिका निभाते।'

टेली फिल्म 'पथराई आँखों के सपने' में भी अन्नू के नाम की काफी तारीफ हुई। 'किले का रहस्य' अन्नू कपूर का पारिवारिक सीरियल था। उनकी बहन सीमा ने (जो अब ओमपुरी की पत्नी हैं) इसकी कहानी लिखी थी, जबकि निर्देशक उनके भाई रंजीत कपूर थे। रंजीत स्वयं एक जाने-माने रंगकर्मी हैं। अन्नू के लिए 'किले का रहस्य' धारावाहिक 'कबीर' की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न अनुभव था। लेकिन वे हर तरह की भूमिकाओं में खुद को इस तरह ढाल लेते हैं, जैसे कोई जिमनास्ट अपने शरीर के लोच से सबको चकित कर देता है।

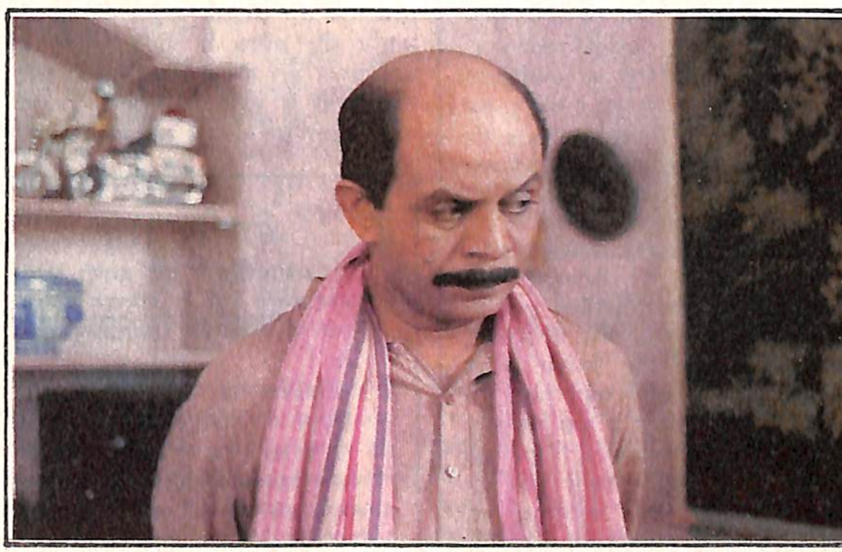
● **राहुल शर्मा**

◆ ◆ ◆

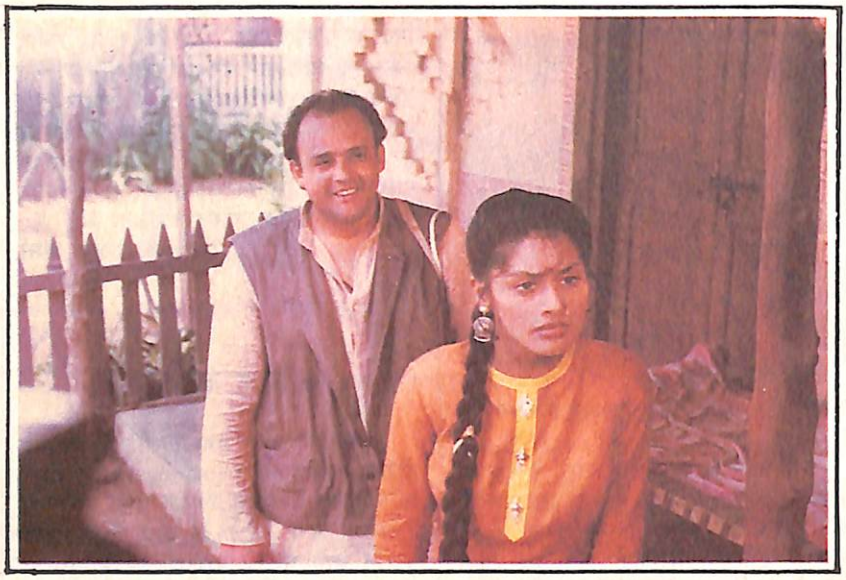
दीपक काजिर

बनारस में जन्मे तथा दिल्ली में पले-बढ़े **दीपक काजिर** ने १९७७ में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में प्रवेश किया। तीन साल का पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद सबसे पहले उन्होंने **जाने भी दो यारों** फिल्म में भूमिका की। इसके बाद 'सारांश', 'मोहन जोशी हाजिर हो', 'आज की आवाज', 'कर्मयोद्धा' आदि फिल्मों में भूमिकाएँ कीं। अपने प्रारंभिक दिनों में दीपक काजिर ने विज्ञापन फिल्में भी बनाईं।

गुजरात सरकार के लिए वृत्त चित्रों का निर्माण भी किया। सन् १९७९ में उनको



'हमराही' के निर्देशक कुँवर सिन्हा ने भैरव प्रसाद की भूमिका के लिए चुना। इस धारावाहिक में उनका अभिनय काफी प्रभावशाली रहा तथा कभी-कभी हमलोग के विनोद नागपाल की याद दिला देता है। हमराही से पहले दीपक काजिर करमचंद/ राग दरबारी/ मनोरंजन/ इंतजार/ धारावाहिकों में काम कर चुके हैं। दीपक काजिर की मान्यता है कि जो काम आसानी से मिल जाए वही करना चाहिए। इसीलिए अब वे फिल्मों में जाने के बजाए छोटे पर्दे पर ही अपनी किस्मत और प्रतिभा को आजमाना चाहते हैं। □



आलोकनाथ

(हवेलीराम)

'बुनियाद' दूरदर्शन पर प्रसारित सर्वाधिक लोकप्रिय धारावाहिकों में एक है। इस १०४ कड़ियों वाले महा सीरियल में जो चरित्र शुरू से आखिर तक दर्शकों के समक्ष मौजूद रहा वह था **'मास्टर हवेलीराम'।** आजादी के पहले की पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाले 'हवेलीराम' के रूप में वस्तुतः एक समूचे कालखंड को टटोला गया था। इस चरित्र को किसी तरह काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। स्वतंत्रता के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने वालों की देश में कमी नहीं रही। 'हवेलीराम' उस दौर के प्रतिनिधि हैं, जिसने देशवासियों में सरफरोशी की दीवानगी भी देखी और सांप्रदायिक जुनून का वहशीपन भी। 'मास्टरजी' जैसे धीर-गंभीर, संयमित अध्ययनशील और निष्कपट व्यक्ति का चरित्र दर्शकों ने काफी पसंद किया था। 'आलोकनाथ' इस भूमिका में कुछ इस तरह 'फिट' हुए कि नोक पलक से उनमें बस हवेलीराम की ही छवि झलकती रही। यह चरित्र उनके लिए काफी चुनौतीपूर्ण था, क्योंकि सीरियल की धुरी उन पर केंद्रित थी। और फिर उन्हें युवा हवेलीराम से लेकर उसकी वृद्धावस्था तक की स्थितियों को अभिनीत करना था। मगर कुछ गेट अप, और कुछ आलोक के अभिनय का कमाल रहा कि दर्शकों के देखते ही देखते हवेलीराम समय की पगडंडी पर लंबे डग भरते गए, और कोई महसूस भी नहीं कर सका कि वे एक कलाकार की छाया में सफर कर रहे हैं। अपने से अधिक आयु वाले चरित्रों को निभाने में आलोक का जवाब नहीं। इसके अलावा एक परिपक्व कलाकार तो वे हैं ही। 'बुनियाद' ने उन्हें छोटे परदे का 'सुपरस्टार' बना दिया।

आलोकनाथ टीवी के ज्यादातर कलाकारों की तरह रंगमंच के धरातल से ही आए हैं। उन्होंने सिर्फ १४ साल की उम्र में अपना एक थियेटर ग्रुप 'रुचिका' बना लिया था। यह समूह आज भी क्रियाशील है। दिल्ली के मूल निवासी आलोक के पिता डॉक्टर थे, और उनकी ख्वाहिश थी कि उनका बेटा भी चिकित्सक का ही पेशा अपनाए। मगर आलोक की दिलचस्पी पढ़ाई से ज्यादा एक्टिंग में थी। जैसे-तैसे उन्होंने स्नातक की उपाधि ली। कॉलेज में भी वे नाटकों के आयोजन में जोर-शोर से हिस्सा लेते थे। इन्हीं दिनों मित्रों के कहने पर आलोक 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के छात्र बन गए। यहाँ से एक्टिंग में प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद उन्होंने थियेटर के लिए सक्रियता से काम शुरू कर दिया। तुगलक/ द फादर/ एन एनेमी ऑफ दि पीपुल आदि उनके प्रमुख आरंभिक नाटक थे। दिल्ली दूरदर्शन के लिए भी कुछ नाटकों के निर्माण में उन्होंने हिस्सा लिया। मोहन राकेश उन दिनों शीर्षस्थ नाटककार थे, जिनके साथ आलोक को रंगमंच पर कुछ अच्छे अवसर मिले। बाद में आलोक नादिरा बब्बर के ग्रुप 'एकजुट' में शामिल हो गए। यहीं से टीवी सीरियलों का रास्ता खुला। बासु चटर्जी ने उन्हें 'एकजुट' द्वारा खेले जाने वाले एक नाटक में देखा था, और अपने सीरियल 'रजनी' के कुछ अंकों में मौका दिया। लेकिन यह बड़ी भूमिका नहीं थी। पहली बार आलोक को सीरियल 'छपते-छपते' में महत्वपूर्ण रोल मिला। मगर इसके प्रसारण में देरी के कारण 'बुनियाद' उनका पहला प्रभावी और यादगार धारावाहिक साबित हुआ।

फिल्मों में आलोक हीरो भले न बन सके हों, लेकिन मात्र दस साल के अभिनय कैरियर में उन्होंने सौ से भी ज्यादा फिल्मों में काम करने का श्रेय जरूर हासिल कर लिया है। रिचर्ड एटनबरो की 'गांधी' और अशोक आहूजा की 'आधारशिला' उनकी आरंभिक फिल्में थीं। आलोक ने दूरदर्शन के कलाकारों को लेकर एक फिल्म 'अब आएगा मजा' का भी निर्माण किया है। मगर सिनेमा से लंबे अरसे तक जुड़े रहने के बावजूद आलोक को वो ख्याति नहीं मिली, जिसका स्वाद उन्हें

आलोकनाथ

☐ आलोकनाथ का असली नाम आलोकनाथ ही है। परिवार में सब उन्हें प्यार से 'डिपू' कहकर पुकारते हैं।

☐ आलोकनाथ का जन्म १० जुलाई १९५६ को दिल्ली में हुआ।

☐ १९७० में उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए. पास किया। स्कूल- कॉलेज के जमाने में उन्हें अभिनय के प्रति बेहद लगाव था। चार वर्ष की छोटी उम्र में उन्होंने 'मूर्ख विद्वान' नाटक में पहली बार मंच पर कदम रखा।

☐ बी.ए. पास करने के बाद आलोक ने दिल्ली के 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' में दाखिला लिया। उनके बैच में राजबब्बर और सतीश कौशिक भी थे।

☐ उन्हें हिन्दी, अँगरेजी और पंजाबी भाषाएँ अच्छी तरह आती हैं।

☐ उनके परिवार में माता-पिता तथा दो बहनें हैं। उन्होंने ड्रेस डिजाइनर आशु सिंह से ८ नवंबर १९८७ को विवाह किया।

☐ फिल्मों में काम करने के फैसले का उनके पिता ने विरोध किया परंतु अपनी मर्जी से वे बंबई आए और



यहाँ आकर उन्होंने नादिरा बब्बर का नाट्य दल 'एकजुट' ज्वाइन कर लिया।

सिर्फ एक सीरियल 'बुनियाद' ने चखाया। दौलत और शोहरत दोनों की दृष्टि से यह धारावाहिक उनके लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ। बुनियाद से पहले वे फाकामस्ती के दिन गुजार रहे थे।

आलोक ने एक कहानी/ कथासागर के कुछ अंकों और टेलीफिल्म 'तितली' में भी अपने अभिनय से प्रभावित किया। ऋषिकेश मुखर्जी के सीरियल 'तलाश' में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। अब तक सैकड़ों किरदार रंगमंच, फिल्मों और दूरदर्शन पर आलोकनाथ निभा चुके हैं, लेकिन 'हवेलीराम' की छवि से बाहर निकलना उनके लिए संभव नहीं लगता। छोटे परदे की लोकप्रियता की कशिश कुछ इस कदर मजबूत होती है, कि दर्शकों ने एक बार किसी कलाकार को जिस परिधि में रख दिया। वह वहीं का हो गया।

● **राहुल शर्मा**

◆ ◆ ◆

चन्ना रूपारेल

मधुबाला की तिरछी मुस्कान, गीताबाली का अल्हड़पन लिए है छोटे पर्दे की तारिका **चन्ना रूपारेल**। अनेक धारावाहिकों में काम करके चन्ना ने दर्शकों के दिलो-दिमाग पर अपनी अभिनय प्रतिभा की एक अलग छाप छोड़ी है।

बंबई में एक गुजराती कमर्शियल नाटक की प्रेक्टिस चल रही थी। चन्ना अपने भाई के साथ रिहर्सल देखने गई। वहाँ एक समस्या उत्पन्न हो गई। एक कलाकार समय पर उपलब्ध नहीं हो पाया। नाटक वालों ने चन्ना से आग्रह किया कि रोल वह कर ले। एक प्रोफेसर की बहन का रोल था। नाटक का नाम था 'अमृता'। ... इस तरह केवल पंद्रह बरस की उम्र में, जबकि चन्ना मात्र नौवीं कक्षा की छात्रा थी, अभिनय के क्षेत्र में आ गई। इस नाटक 'अमृता' के पचास से अधिक शो हुए। इसके बाद चन्ना ने 'इप्टा' आदि नाट्य संस्थाओं के लिए नाटक किए। अब चन्ना को नाटक का नशा चढ़ गया था। वह बंबई की पहली ऐसी रंगमंच से जुड़ी लड़की है, जिसने मात्र तीन साल में ४५ इनाम सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप में जीते। ये पुरस्कार चन्ना को छः भाषाओं में नाटक करने पर मिले हैं। चन्ना ने गुजराती, मराठी, हिंदी, अंगरेजी, उर्दू और कोंकणी भाषा में कई नाटक किए।

चन्ना जब ग्यारहवीं कक्षा की छात्रा थी तब दूरदर्शन के लिए 'एक और देवदास' टेलीप्ले किया था। स्क्रीन पर आने/लाने का श्रेय चन्ना वीरेंद्र शर्मा को देती है।

हिंदी और मराठी रंगमंच के साथ ही चन्ना ने छोटे पर्दे पर अनेक महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई हैं। एक कहानी (तीसरी आँख), पूर्णिमा, चुनौती, मिस्टर योगी इनमें प्रमुख हैं। चुनौती से उन्हें कॉलेज गर्ल के रूप में बहुत सराहा गया।

महाभारत में चन्ना ने 'रुक्मिणी' की भूमिका निभाई। फिर मंजिल अपनी-अपनी में बढ़िया रोल किया। दूरदर्शन के छोटे पर्दे के साथ ही चन्ना ने कुछ फिल्मों में भी काम किया है, जैसे 'सर्वनाश' तथा 'जिस्म'।

● **श्रद्धा बोस**

□ उन्होंने अपने कैरियर की शुरूआत कला फिल्म आधारशिला से की।

□ बतौर निर्माता आलोकनाथ ने अपने मित्र गिरिजा शंकर के साथ मिलकर फिल्म 'अब आएगा मजा' बनाई जिसमें मुख्य भूमिकाएँ फारुख शेख तथा अनिता राज ने कीं। उनकी पहली टीवी सीरियल है नादिरा बब्बर द्वारा निर्मित तितलियाँ।

□ दर्शकों के बीच आलोकनाथ की पहचान बनी रमेश सिप्पी की सीरियल बुनियाद से, जिसमें उन्होंने हवेलीराम की भूमिका निभाई थी।

□ उनके रोमांस के किस्से भी समय-समय पर चर्चित हुए। नीना गुप्ता तथा अनिता कँवर के साथ उनका नाम जोड़ा गया।

□ बतौर हीरो आलोकनाथ ने कामाग्नि तथा कच्ची कली में काम किया है।

□ उन्होंने नृत्य सीखने की कई बार कोशिश की पर सीख न सके। उन्हें बेडमिंटन खेलना तथा स्वीमिंग करना पसंद है।

◆ ◆ ◆

भारती अचरेकर

भारती अचरेकर का परिचय दर्शकों के लिए भले ही नया हो, लेकिन उसका नाम अभिनय की दुनिया में काफी पुराना है। वैसे तो भारती ने कई मराठी नाटक, विज्ञापन फिल्मों और हिंदी फिल्मों में काम किया। लेकिन छोटी-मोटी भूमिकाओं के कारण दर्शक उसे देखकर भी पहचान नहीं पाते थे।

पिछले दिनों टीवी पर जिस धारावाहिक की सबसे अधिक चर्चा रही, वह था 'वागले की दुनिया'। मि. वागले की परेशान पत्नी की भूमिका में भारती अचरेकर को दर्शकों ने अच्छी तरह से पहचान लिया। मुसीबतों से परेशान गृहिणी की भूमिका में भारती के अभिनय की काफी प्रशंसा हुई थी।

भारती अचरेकर ने मराठी नाटकों में काफी काम किया है। विजया मेहता जैसे नाटककार के नाटक 'महासागर' और 'दुभंग' में काम करके उसने प्रथम श्रेणी की अभिनेत्री होने का गर्व प्राप्त किया। इसके बाद भी उसने हिंदी नाटकों में काम करने की बात कैसे नहीं सोची? वह बताती है कि 'हिंदी नाटकों में लगनशीलता की कमी है। लोग हिंदी नाटकों को फिल्मों में सफलता पाने का एक जरिया मात्र समझते हैं। मराठी नाटकों की एक अलग परंपरा है।'

यदि भारती मराठी मंच के प्रति इतना लगाव रखती है और समर्पित भी है, तो उसके छोटी-मोटी भूमिकाओं के करने का क्या कारण हो सकता है। उसका कहना है: 'यह एक मीडिया है। मीडिया में रहकर काम करना पड़ता है। मैंने विज्ञापन फिल्में की हैं। इस तरह की फिल्मों की मूल धारणा है देखने वाली चीज। यदि कंसेप्ट अच्छा है, तो उसे करने में कोई बुराई नहीं मानती।' अब तक भारती ने 'अपने पराए/ सुर संगम/ संजोग/



ईश्वर/ चमेली की शादी और अभी हाल ही में 'बेटा' जैसी फिल्मों में काम किया है।

दूरदर्शन पर काम करने के बारे में भारती के विचार एकदम अलग हैं। उसका मानना है कि यदि दूरदर्शन पर अधिक काम किया जाए, तो ओवर एक्सपोजर का खतरा रहता है। लोग एक ही चेहरे को बार-बार देखकर उकता से जाएँगे। भारती का मानना है कि धारावाहिकों की केवल गिनती गिनवाने से बेहतर होता है उसकी अच्छी क्वालिटी का होना। शायद यही कारण रहा कि भारती अचरेकर ने वागले की दुनिया के बाद आए कई ऑफर्स ठुकरा दिए।

इसके अलावा वह एक धारावाहिक 'कथावस्तु' के निर्माण में भी काफी व्यस्त हो गई है। यह धारावाहिक मराठी में होगा और १९५० से लेकर १९८७ के मराठी के सुप्रसिद्ध लेखकों की चुनी हुई कहानियों पर होगा। इसके निर्देशक हैं राजदत्त। निर्देशक श्रीधर क्षीरसागर के धारावाहिक गुलमोहर वेस्ट में भी भारती ने काम किया है।

● **के.एम. श्रीवास्तव**

अरुण गोविल

(जय श्रीराम!)

अरुण गोविल ने अपने कैरियर की शुरूआत फिल्म 'सावन को आने दो' से की थी। इस फिल्म में उनके सशक्त अभिनय से फिल्म प्रभावी बन गई। इसके बाद अरुण की कुछ फिल्में आईं, लेकिन वे चली नहीं। फिर उन्हें रामानंद सागर के धारावाहिक **'रामायण'** में राम की अविस्मरणीय भूमिका मिली। इस भूमिका ने अरुण को बच्चे से बूढ़ों तक लोकप्रिय बना दिया। इसके बाद वे धारावाहिक **'मशाल'** में आज्ञाकारी बेटे तथा देशभक्त के रूप में नजर आए। दूरदर्शन पर ऊषा मंगेशकर के चर्चित धारावाहिक 'फूलवंती' में हठीले शास्त्रीजी के रोल को उन्होंने रोचक बनाया था।



'रामायण' सबसे अधिक चर्चित और लोकप्रिय धारावाहिक रहा। इसे सभी संप्रदाय के लोगों ने बड़े चाव से देखा। इतनी असाधारण रूप से सफलता प्राप्त करने के बाद भी अरुण गोविल की लोकप्रियता दूरदर्शन तक ही सीमित रही। उन्हें अन्य दूरदर्शन के सफल कलाकारों की तरह अनगिनत फिल्मों के प्रस्ताव नहीं आए। सुनकर आश्चर्य भी होता है कि फिल्मों के लिए उन्हें सही क्यों नहीं समझा गया? शायद उसका कारण यह हो सकता है अरुण ने 'श्रीराम भगवान' की भूमिका को साकार किया था जिसे हिंदू धर्म के लोग अवतार मानकर पूजते हैं। देवता को दर्शक व्यावसायिक फिल्मों के नायक के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे। यही कारण था कि 'रामायण' के बाद तीन वर्ष तक वे घर पर बेकार बैठे रहे।

अरुण गोविल की छवि या इमेज 'रामायण' के बाद कैसे बदल गई। यह उन्हीं के शब्दों में 'अब मैं पहले के समान जींस पेंट पहनकर शूटिंग, समारोह, आम मीटिंग और पार्टियों में नहीं जा सकता। इससे लोगों की भावनाओं को ठेस लगती है। यहाँ तक कि अब मैं खुले आम सिगरेट भी नहीं पी सकता। अवतार जो ठहरा। यह सच है कि इस भूमिका ने मुझे वह प्रसिद्धि दिलवाई जिसे मेरी कोई फिल्म नहीं दिला पाई। सभी देशवासियों का अपार प्रेम एवं आदर मेरे हिस्से में आया।'

यह शायद बहुत कम लोग जानते हैं कि रामानंद सागर ने पहले उन्हें लक्ष्मण की भूमिका का प्रस्ताव दिया था। फिर सागर ने उन्हें भरत और लक्ष्मण दोनों में से एक भूमिका चुनने को कहा, लेकिन अरुण ने उन्हें जवाब दिया 'राम की भूमिका के अलावा किसी भी भूमिका में मेरी दिलचस्पी नहीं है।' सागर के साथ सभी का यही विचार था कि उन पर यह भूमिका सूट नहीं करेगी जबकि उन्हें अपने ऊपर पूरा विश्वास था। एक दिन अचानक न जाने कैसे उन सब ने यह फैसला कर लिया कि राम की भूमिका अरुण गोविल को ही सौंप दी जाए। वे 'रामायण' के राम बन गए।

अरुण गोविल पर यह इल्जाम लगाया गया कि उसने अपने निजी स्वार्थ के लिए राम का वेष धारण कर कांग्रेस (आई) की इलेक्शन मीटिंग में हिस्सा लिया। राजनीतिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए धार्मिक भावना को अपना हथियार बनाया। अरुण गोविल ने यह मानने से इंकार किया कि उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए पवित्र भावना का दुरुपयोग किया। उनका कहना है 'देश के सभी राष्ट्रीय अखबारों में इस झूठ को बड़े जोर-शोर से उछाला गया। अगर प्रेस का कोई फोटोग्राफर मुझे राम की ड्रेस में किसी भी कांग्रेस की मीटिंग अटेंड करते समय का फोटो दिखा दे तो मैं देश छोड़ने को तैयार हूँ। अगर मैं चाहता तो आसानी से इलेक्शन में खड़ा हो सकता था। जब दीपिका (सीता) और अरविंद त्रिवेदी (रावण) जीत सकते तो मैं क्यों नहीं।'

'मशाल' धारावाहिक के अरुण गोविल निर्माता हैं। यह विभाजन के समय पर घटी घटनाओं पर आधारित था। १९४५ से १९४९ के समय में तीन भाइयों और एक बहन के परिवार की आपबीती पर आधारित था। इसका निर्देशन रमेश तलवार ने किया। इसमें संदेश यह रखा गया कि सभी मुसीबतों का सामना कर एकता बनाए रखें। मशाल की तरह अपनी आशाओं और एकता को कभी बुझने न दें। इस धारावाहिक का प्रसारण दूरदर्शन पर हो चुका है लेकिन मशाल का संदेश किसी के पल्ले नहीं पड़ा।

गोविल का एक और चर्चित धारावाहिक 'विद्यापति' है जिसके निर्देशक भरत रंगाचारी हैं। इसमें उनकी केंद्रीय भूमिका है। वे संत-कवि बने हैं।

फिल्मों में अरुण गोविल अपनी कोई पहचान नहीं बना पाए। वे जीतेंद्र-रेखा के साथ फिल्म 'जुदाई' और मधु कपूर के साथ 'साँच को आँच नहीं' और 'गुमसुम' में दिखाई दिए थे। लेकिन ये फिल्में उन्हें कोई लोकप्रियता नहीं दिला पाईं।

गोविल आगरा के रहने वाले हैं। वे महाजन परिवार के हैं। उनके दो भाई हैं। एक हैं तबस्सुम के पति और दूसरे है वंदना शास्त्री के पति। पत्नी लेखा गोविल भी रंगमंच की कलाकार हैं। वहीं उनकी प्रेम की नींव पड़ी थी। अरुण गोविल फिल्मों में भले ही असफल रहे हों, लेकिन अपने बच्चों और पत्नी के साथ सफल वैवाहिक जीवन बिता रहे हैं।

● **निशा श्रीवास्तव**

◆ ◆ ◆

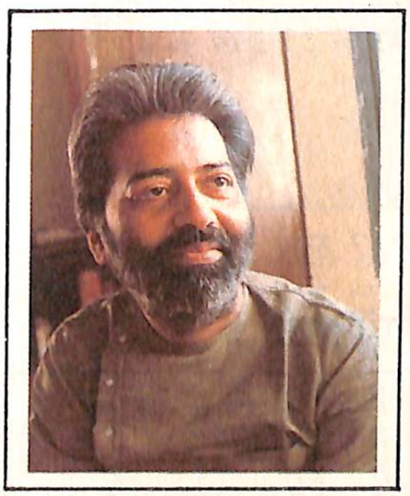
आशी मनोहर

वर्ष १९५० में भोपाल में जन्मे मनोहर आशी (अपने नाम से पहले या बाद में 'आशी' लगाने के लिए वे स्वतंत्र हैं) हिंदी साहित्य में एम.ए. हैं। नवोन्मेषी कलाधर्मी फिल्मकार के रूप में उनकी विशिष्ट पहचान है। बच्चों की सृजनधर्मिता के विकास में पहल करने और वातावरण बनाने का एक बड़ा काम आशी ने बरसों पहले किया। लेखन, पत्रकारिता, संपादन, थिएटर, फिल्म मेकिंग से अलग के उनके विस्तार हैं। यही विस्तार उनकी शान में पढ़े जाने वाले कसीदों के जिम्मेदार हैं, जो उनके प्रेमी पढ़ते हैं। मनोहर आशी अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह की फिल्म चयन समिति के सदस्य हैं। उन्होंने दूरदर्शन के प्रशिक्षणार्थियों के कार्यक्रमों का संयोजन एवं संचालन किया है। फिल्म क्लबों की पहले-पहल स्थापना कर बेहतर फिल्मों के लिए नई जमीन और वातावरण तैयार करने का काम भी उन्होंने किया।

फील्ड पब्लिसिटी भारत शासन के लिए एंजेलिनो सिकेलियानोज की ग्रीक कविता पर केंद्रित फिल्म **सूरज के अंश** (१९७४), पर्यावरण एवं वन मंत्रालय भारत सरकार तथा दर्पण अहमदाबाद के लिए ध्वनि प्रदूषण पर केंद्रित फिल्म **कर्कश** (१९९०), **गुजरात के लोकनृत्य** (१९९०), मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम के लिए **अम्बा** (१९९२), रंगसंधान के लिए प्रख्यात चित्रकार शिल्पी रुद्रहंजी पर केंद्रित फिल्म **रुद्रसंधान** (१९९२), **लंगड़ी टाँग** आदि फिल्मों का निर्माण मनोहर आशी ने किया है।

दूरदर्शन केंद्र भोपाल के लिए पंडित नेहरू पर केंद्रित आत्मकथात्मक फिल्म, दंगों में प्रताड़ित बच्चों पर केंद्रित फिल्म **रोशनी, विडम्बना, समभाव, सचेत, आश्वस्ति, धर्म-आज, निर्णय** आदि फिल्मों का निर्माण। अभी टैगोर की कविता **कर्ण-कुंती संवाद** पर फिल्मांकन के निमित्त गहन काम कर रहे हैं।

फिल्म के साथ-साथ मनोहर आशी की थिएटर समझ भी कलात्मक और नवोन्मेषी है। वे पीटर ब्रूक की फिल्म **महाभारत** पर विश्लेषणात्मक पुस्तक का लेखन कर रहे हैं।



अष्टनायिका, कृष्णनायिका, खलनायिका, आखेट, कालरात्रि, राक्षस, सीताकांड, द्रोपदी आदि नाटकों के लेखक मनोहर आशी की अभिनय प्रतिभा का सशक्त बायोडेटा रंगायन का बहुचर्चित नाटक **कोमल गांधार** है, जिसमें उन्होंने धृतराष्ट्र को जीवंत किया है।

मनोहर आशी एक व्यक्तित्व हैं/ एक ईर्ष्या हैं/ एक विवाद हैं/ प्रेम से मिलते हैं- पर लोग कहते हैं, ढोंग करते हैं।

● **सुनील मिश्र**

◆ ◆ ◆

मंजू सिंह

मंजू सिंह ने दूरदर्शन पर अपना कैरियर अभिनेत्री के रूप में दिल्ली से शुरू किया। 'भूले बिसरे चित्र' नामक धारावाहिक के अतिरिक्त उन्होंने कई टी.वी.नाटकों में भी काम किया। विवाह के उपरान्त वे बंबई आईं और समाचार वाचिका के रूप में काम करने लगीं। इसके बाद 'खेल खिलौने' नामक बच्चों के कार्यक्रम की संचालिका के रूप में वे सात वर्षों तक जुड़ी रहीं। इसी दौरान उन्हें फिल्म 'गोलमाल' में अमोल पालेकर की बहिन की भूमिका मिली तथा उन्होंने मॉडलिंग एवं रेडियो के लिए विज्ञापनी जिंगल बनाने का भी कार्य शुरू किया। 'खेल खिलौने' कार्यक्रम से अलग होकर उन्होंने 'नेटवर्क-७' नामक संस्था की स्थापना की तथा सबसे पहले 'शो थीम' नामक कार्यक्रम बनाया। मानवीय अहसासों को चुनकर उनसे संबंधित फिल्मों की क्लिपिंग वाला यह कार्यक्रम काफी लोकप्रिय हुआ। इसके बाद 'एक कहानी' नामक धारावाहिक भी दर्शकों द्वारा काफी



पसंद किया गया। इस धारावाहिक में भारत की विभिन्न भाषाओं में लिखी गई कहानियों को संबंधित क्षेत्रों के कलाकारों की मदद से फिल्माया गया था। पल्लवी जोशी जैसी उत्कृष्ट अभिनेत्री भी एक कहानी के माध्यम से ही पहली बार छोटे पर्दे पर आई। मंजू सिंह ने मराठी धारावाहिक 'ज्वीली' का भी निर्माण किया। उनके पति ज्योत भी उन्हें पूरा सहयोग देते हैं। □

◆ ◆ ◆

कर्नल कपूर

युद्ध के मैदान में अपनी बहादुरी के जौहर दिखाने का मोह त्याग छोटे से पर्दे पर अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाने आए **कर्नल कपूर** को बचपन से ही अभिनय का शौक था। उनका बचपन लाहौर में गुजरा। विख्यात फिल्मकार लेख टंडन उनके पड़ोसी थे। विभाजन के बाद जब परिवार बंबई आया तब 'चित्रलेखा' के निर्माता केदारनाथ उनके पड़ोसी बन गए। वे अभिनय को अपने कैरियर के रूप में चुनना चाहते थे। उन्हें कई निर्माताओं ने बुलावा भी भेजा। किन्तु पिताजी ने अनुमति नहीं दी और वे फौज में आ गए।

सन् १९७० में उनके पिताजी का निधन हो गया। उन्होंने कर्नल के पद से त्याग-पत्र देकर १९७५ में बंबई आकर अपनी किस्मत आजमाना शुरू किया। राज खोसला के साथ रहकर वे फिल्म निर्माण की विभिन्न विधाओं में प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे। फिल्म 'दोस्ताना' में उन्होंने 'राज भारती' नाम से खलनायक की भूमिका की तथा कई अन्य फिल्मों में अभिनय किया। दूरदर्शन के लिए उन्होंने **'फौजी'** नाम का एक धारावाहिक तैयार किया। वे चाहते थे कि आम लोगों के सामने फौजियों की सही तस्वीर पेश की जाए। इस विषय पर 'कमाण्डो' नाम से एक पुस्तक लिख रहे थे। 'फौजी' इसी पुस्तक पर आधारित है। कर्नल कपूर ने कई वृत्तचित्रों का निर्माण किया है और पुलिस के लिए भी कुछ 'मोटिवेटेड' फिल्में बनाई हैं। वे एक निर्देशक के रूप में ही स्वयं को स्थापित करना चाहते हैं। □

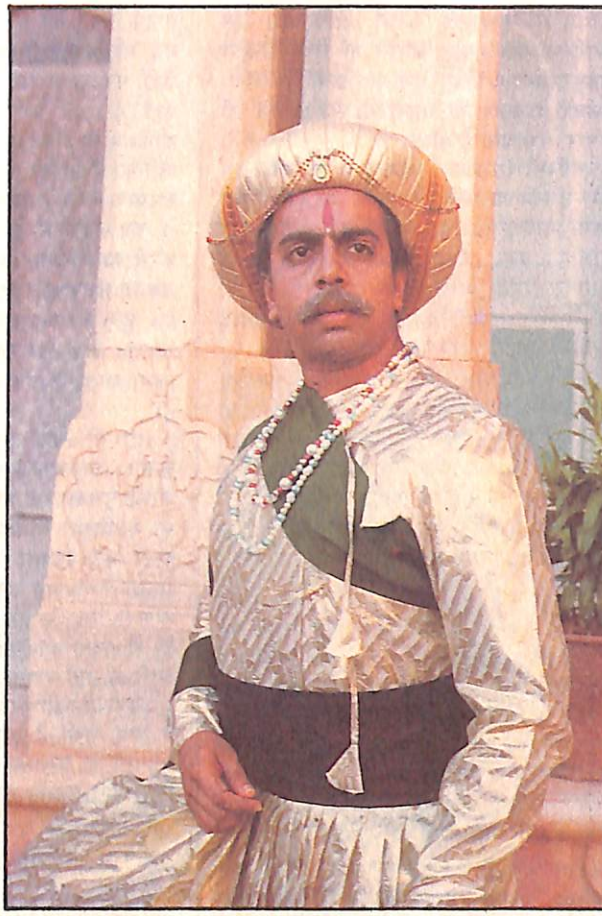
◆ ◆ ◆

मयूर

सुपर सितारे अमिताभ बच्चन के बचपन की भूमिकाएँ करने वाले मयूर को अपनी निजी छवि स्थापित करने में दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक 'महाभारत' से बहुत लाभ मिला। 'मुकद्दर का सिकन्दर', 'लावारिस' तथा 'बेमिसाल' में अमिताभ के बचपन की भूमिका निभाने वाले मयूर ने शराबी में अमिताभ के साथ एक छोटी-सी भूमिका भी की थी। महाभारत में रवि चोपड़ा ने उन्हें अभिमन्यु की भूमिका के लिए चुना।

चुनाव के बाद वे स्टेज शो के सिलसिले में अमेरिका चले गए। इस बीच महाभारत अभिमन्यु तक पहुँच गया था तथा मयूर की अनुपस्थिति के कारण इस भूमिका के लिए नए सिरे से स्क्रीन टेस्ट शुरू कर दिया गया। यह खबर सुनते ही मयूर विचलित हो उठे और उन्होंने टेलीफोन पर रवि चोपड़ा से मिन्नतें कर बीस दिन का वक्त माँगा। रवि चोपड़ा ने उनकी गुहार सुन ली और इस तरह अभिमन्यु की भूमिका मयूर के हाथों से जाते-जाते बच गई। 'महाभारत' के कारण मयूर ने जूनियर अमिताभ बच्चन की छवि को तोड़ा और स्वयं को एक सशक्त अभिनेता के रूप में स्थापित कर लिया। बी.आर.चोपड़ा के धारावाहिक 'चुन्नी' तथा 'सौदा' में भी मयूर हैं। मराठी धारावाहिक 'अमृत मंथन' में भी महत्वपूर्ण भूमिका की है। अभिनेता के रूप में मयूर हर तरह की भूमिकाएँ करना चाहते हैं इसीलिए फिल्म 'चोर-पे-मोर' में उन्होंने निगेटिव भूमिका भी स्वीकार कर ली थी। इन दिनों अमिताभ के साथ सहयोग करते हुए टीवी एशिया के लिए काम कर रहे हैं। □

अनंत महादेवन : बहु-आयामी अभिनेता



अनंत महादेवन का जन्म २७ अक्टूबर १९५८ को हुआ। पिता के शासकीय सेवा में होने के कारण बचपन में ही वे बंबई आ गए। शेक्सपियर के अँगरेजी नाटक 'हेमलेट' से रंगमंच पर अभिनय की शुरूआत करने वाले अनंत महादेवन से हमारी मुलाकात उनके निवास पर हुई।

अभिनय के प्रति रुचि कब और कैसे पैदा हुई?

मेरी स्कूली शिक्षा अँग्रेजी माध्यम के स्कूल डॉनबास्को में हुई, जहाँ मैं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में हिस्सा लिया करता था। बस इसी भागीदारी ने मेरे मन में अभिनय के प्रति रुचि पैदा की। धीरे-धीरे वह लगन में बदल गई। खालसा कॉलेज में पढ़ाई के दौरान मैं नाटकों में नियमित अभिनय करने लगा। कॉलेज के बाद दिनेश ठाकुर के नाट्य ग्रुप 'अंक' में शामिल हो गया। जहाँ मैंने दिनेश ठाकुर के निर्देशन में 'कमला'/ 'आला अफसर'/ 'खामोश अदालत जारी है'/ 'जात ही पूछो साधु की' आदि अनेक नाटकों में अभिनय किया। अन्य निर्देशकों के साथ भी मैंने अनेक हिंदी और अँग्रेजी नाटकों में अभिनय किया जिससे मुझे दर्शकों का प्यार और सम्मान मिला।

फिर फिल्मों में शुरूआत कैसे हुई?

फिल्मों में प्रवेश भी अचानक ही हो गया। एक बार फिल्म निर्देशक रवि टंडन मेरा एक नाटक देखने आए। उन्हें मेरा अभिनय भा गया। उन्होंने मुझे 'प्रोफेसर की पड़ोसन' में एक वैद्य की छोटी सी हास्य भूमिका सौंप दी। मैंने कुशलता से निभाया। संयोग की बात है संजीव कुमार द्वारा अभिनीत यह फिल्म अब तक प्रदर्शित नहीं हो सकी। लेकिन मेरा फिल्मों में अभिनय का सिलसिला जरूर चल पड़ा। यश चोपड़ा की फिल्म 'चाँदनी' में श्रीदेवी के दोस्त की भूमिका से सही मायने में मेरी पहचान बनना शुरू हुई। जगमोहन मूँदड़ा की फिल्म **'कमला'** में मेरी महत्वपूर्ण भूमिका थी। हॉल ही में प्रदर्शित फिल्म 'खिलाड़ी' में मैंने नकारात्मक भूमिका निभाई है जिसने मुझे बेहद संतुष्टि प्रदान की। पारसमणि, कमसिन, नागिन और लुटेरे, अनाम, नाचने वाले गाने वाले, विषकन्या जैसी अनेक फिल्मों में मैंने छोटी-बड़ी भूमिका निभाकर अपनी उपस्थिति का आभास करा दिया।

दूरदर्शन के छोटे पर्दे का सफर कैसे प्रारंभ हुआ?

दूरदर्शन पर टेलीकास्ट होने वाला मेरा पहला धारावाहिक **'अड़ोस-पड़ोस'** था, जिसमें मैंने चितामणि की हास्य भूमिका अभिनीत की थी। उसे सई परांजपे ने निर्देशित किया था। फिर सुधीर मिश्रा के धारावाहिक छपते-छपते में मेरी अच्छी भूमिका थी। घर जमाई/ दर्पण/ खजाना/ होनी-अनहोनी/ जुगलबंदी/ स्त्री/ गुलदस्ता में मेरे द्वारा निभाई गई छोटी-बड़ी भूमिकाओं ने मुझे छोटे पर्दे पर स्थापित कर दिया। शायद मैं दूरदर्शन के छोटे पर्दे का एक भाग्यशाली अभिनेता हूँ। जिसके ९१-९२ के साल में सात धारावाहिक प्रसारित हुए। बसेरा/ नुपूर/ प्रहरी/ मंजिल/ मकसद और मेरे कैरियर का सबसे महत्वपूर्ण धारावाहिक **'टीपू सुल्तान की तलवार'** (निर्देशक संजय खान) जिसमें मैंने तीन पीढ़ियों तक चलने वाले किरदार पूर्णया की भूमिका को जीवंत किया व एस.एम. सथ्यू निर्देशित साहित्यिक कृति पर आधारित धारावाहिक **'कयर'** जिसमें मैंने ब्राह्मण गुरु की भूमिका को सशक्त ढंग से निभाया। दूरदर्शन के पचास से ज्यादा धारावाहिकों के अलावा मैंने बनवारी तनेजा निर्देशित टेली फिल्म 'संबंध,' 'जीटीवी' के धारावाहिक 'कमांडर' और अरुणा राजे के 'शादी या' में भी भूमिका निभाई है।

तो क्या अब निर्देशन के क्षेत्र में भी प्रवेश का इरादा है?

निर्देशन को मैं अभिनय की अगली कड़ी मानता हूँ। सही मायने में दूरदर्शन या फिल्म निर्देशक का ही माध्यम है। जल्दी ही शर्मिला टैगोर, पंकज बेरी और प्रवीण कुमार को लेकर नशीली दवाओं के खिलाफ एक टेली फिल्म 'मृगतृष्णा' का निर्देशन करने वाला हूँ उसमें मैं भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाऊँगा।

फिल्म-दूरदर्शन और रंगमंच पर आप समान रूप से सक्रिय रहे हैं। अभिनय, निर्देशन और प्रभाव के रूप में आप इन माध्यमों में क्या अंतर महसूस करते हैं?

सही मायने में अभिनय का मजा रंगमंच पर ही है। नाटक में जीवंत प्रदर्शन होता है। दर्शक के सामने अभिनेता रूबरू होता है। उसको कोई छू नहीं सकता जबकि दूरदर्शन पर आप दर्शक के बिल्कुल पास होते हैं। उससे बातचीत कर रहे होते हैं। फिल्म विशाल माध्यम है। लाँग शॉट में भी आपकी छवि दर्शक से बहुत बड़ी होती है।

दरअसल पत्रकार अनंत महादेवन एक बहुआयामी कलाकार हैं। उन्होंने अब तक ३० हिंदी-अँग्रेजी नाटक और ५० टीवी सीरियल में अभिनय किया है। अब वे रहस्य-रोमांच से भरपूर फिल्म 'ओ मनचला' का निर्देशन कर रहे हैं।

सफलता के इस चरण पर पहुँच कर आप कैसा महसूस करते हैं?

मेरी छबि स्थापित हुई है। लोग मुझे पहचानने लगे हैं। सफलता की कोई सीमा नहीं होती। आज सारी दुनिया मुझसे प्यार करती है। बस जिंदगी का असली मजा तो इसी में है।

● संतोष जैन

बेंजामिन गिलानी

रंगमंच से फिल्मों में आए **बेंजामिन गिलानी** एक सशक्त अभिनेता के रूप में छोटे पर्दे पर स्थापित हो चुके हैं। 'मंजिल' और 'प्रहरी' नामक धारावाहिक में अपनी अभिनय प्रतिभा की धाक जमाने वाले बेंजामिन गिलानी, केतन मेहता की फिल्म 'सरदार पटेल' में पंडित जवाहरलाल नेहरू की भूमिका निभा रहे हैं। मंजिल में अपनी भूमिका की क्लिष्टता को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि इस धारावाहिक में काम करते हुए उन्हें बड़ा आनंद मिला था। 'जुगलबंदी' में उन्होंने काफी अच्छा काम किया था किंतु बाद में उनके पात्र की हत्या दिखा दी गई थी। 'कहकशाँ' 'सुनहरे वर्क', तथा 'रिश्ते' नामक धारावाहिकों में उन्होंने विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ की थीं। वे स्वयं 'जिंदगी' नामक धारावाहिक में किए गए अपने अभिनय को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। 'जी टीवी' पर प्रदर्शित 'आनंद' नामक धारावाहिक में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका की थी। दूरदर्शन पर शीघ्र प्रदर्शित होने वाले धारावाहिक में वे 'भूतनाथ' के रूप में आएँगे। अभिनेता के साथ-साथ भविष्य में वे एक निर्माता के रूप में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। बातें फिल्मों की श्रृंखला के माध्यम से उन्होंने फिल्मों का इतिहास रोचक ढंग से प्रस्तुत किया था। □

◆ ◆ ◆

नलिनी सिंह

(टी.वी. पत्रकारिता की शक्ति)

पिछले १३ वर्षों से दूरदर्शन से जुड़ी हुई **नलिनी सिंह** अब तक लगभग २५० कार्यक्रम छोटे परदे पर प्रस्तुत कर चुकी हैं। देश की आत्मा एवं धड़कनों को अपनी वाणी एवं कैमरे की आँख से जीवन्त कर देने की उनकी क्षमता अद्वितीय है। टी.वी. पत्रकारिता को सुदृढ़ आधार देने में उनका योगदान अविस्मरणीय है। बौद्धिक स्तर पर अति समृद्ध परिवार में जन्मी नलिनी सिंह ने सांख्यिकी में एम.ए. किया तथा गणित उनका प्रिय विषय रहा। गाँधीजी को अपना आदर्श मानने वाली उस महिला ने विवाह के बाद परिवार को अपनी पहली जिम्मेदारी माना। जब पुत्र और पुत्री दोनों ही सयाने हो गए तब उन्होंने दूरदर्शन के माध्यम से देश की ज्वलंत समस्याओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया।

'सच की परछाइयाँ' नामक कार्यक्रम में उन्हें कुछ लोगों के साक्षात्कार के लिए दूरदर्शन ने आमंत्रित किया था। यह कार्यक्रम सामाजिक समस्याओं से जुड़ी विशिष्ट खबरों पर शोध केंद्रित था। दूसरे पत्रकार शोध कार्य कराने तथा नलिनी सिंह को उनके द्वारा जुटाई गई सामग्री के आधार पर संबंधित लोगों से बातचीत करनी होती थी। इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए उन्होंने भरपूर प्रयास किए। ऐसे कार्यक्रमों के जरिए दर्शकों के दिल की गहराइयों के छू लेने की अपार संभावनाएँ मौजूद हैं।

नलिनी सिंह का विश्वास है कि यदि सच को उसके वास्तविक स्वरूप में ही प्रस्तुत किया जाएगा तब वह अधिक प्रभावशाली एवं सार्थक बन सकेगा। सामाजिक विषयों खासकर दहेज, वनों की अवैध कटाई, चुनावी भ्रष्टाचार आदि विषयों पर उनके बनाए कार्यक्रम काफी लोकप्रिय हुए हैं।

श्रीमती सिंह के सर्वाधिक लोकप्रिय कार्यक्रमों में चुनावी बूथ पर कब्जे वाला कार्यक्रम माना जाता है। इस कार्यक्रम निर्माण की पृष्ठभूमि का जिक्र करते हुए वे कहती हैं कि ४ जनवरी १९८० को उन्होंने जब अपनी आँखों से मतदान केंद्र पर कब्जा होते देखा तब उनकी इच्छा इस मामले पर फिल्म बनाने की हुई।

उत्तरप्रदेश में देखी गई इस घटना पर उन्होंने एक लेख लिखा जो 'इकॉनामिकल एंड पॉलिटिकल वीकली' में प्रकाशित हुआ। सन् १९८४ में उन्होंने गाँवों का दौरा किया तथा मतदान केंद्रों पर कब्जे के कई दृश्यों को कैमरे में कैद किया। इतना करने पर भी उनको संतोष नहीं हुआ तथा वे कार्यक्रम निर्माण की पूर्व तैयारियाँ करते हुए उसकी रूपरेखा बनाती रहीं। अंततः १९८९ में यह कार्यक्रम बना तथा प्रदर्शन के बाद अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हुआ। कुछ लोगों ने यह आरोप भी लगाया कि यह कार्यक्रम वास्तविक तथ्यों एवं दृश्यों पर आधारित नहीं है बल्कि अभिनेताओं के जरिए रची गई नाटकीय कथा है।

इस आरोप को पूरी तरह से वे बेबुनियाद बताती हैं। उनका तर्क है कि इतने बड़े पैमाने पर सफल तथा पूरी तरह यथार्थ लगने वाला



नाटक रचने की क्षमता उनमें नहीं है। उनका यह भी कहना है कि जिस क्षेत्र के मतदान केंद्रों पर कब्जे पर केंद्रित यह कार्यक्रम था वहाँ के एक पराजित उम्मीदवार ने इस कार्यक्रम के टेपित अंशों की उनसे माँग की थी क्योंकि वे अपनी चुनाव याचिका में उनका उपयोग करना चाहते थे।

इस कार्यक्रम में मतदान केंद्रों पर कब्जा करने वाले पेशेवर बदमाशों से साक्षात्कार ले सकना संभव कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहती हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में मतदान केंद्रों पर कब्जे को गंभीरता से नहीं लिया जाता है। इसे सामान्य बात माना जाता है।

श्रीमती सिंह द्वारा निर्मित 'हलो जिंदगी' नामक कार्यक्रम मध्यमवर्गीय परिवारों को काफी सूचनापरक एवं रोचक लगा। 'कोढ़' पर भी वे निकट भविष्य में एक कार्यक्रम तैयार करने की योजना बना रही हैं। सामाजिक चेतना तथा अंतःकरण को जागृत करना ही नलिनी सिंह के हर कार्यक्रम का लक्ष्य होता है। वे स्वयं को मनोरंजन परोसने वाले की श्रेणी में नहीं रखना चाहतीं।

'स्त्री धन या निधन' नामक लघु फिल्म भी वे बना चुकी हैं तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सहयोग के प्रस्ताव स्वीकार कर एक फीचर फिल्म भी बनाने जा रही हैं। □

◆ ◆ ◆

जयश्री अरोड़ा

(भागवंती)

हम लोग की भागवंती उर्फ **जयश्री अरोड़ा** ने बचपन में नृत्य की शिक्षा हासिल की थी। स्कूल के समय से ही वह मंच से जुड़ गईं। जयश्री के पति फौज में हैं, और उनकी दो बेटियाँ भी हैं।

शायद बहुत कम लोगों को पता होगा कि जयश्री अरोड़ा टीवी. पर आने से पहले बच्चों को पढ़ाती थीं। किन्हीं कारणों से अध्यापन छोड़ने के बाद वे रंगमंच से जुड़ गईं।

हम लोग में जयश्री अरोड़ा ने एक दबी मध्यमवर्गीय परिवार की गृहस्थन की सजीव भूमिका निभाई। लोगों की जुबां पर उनके असल नाम की जगह भागवंती चढ़ गया। हम लोग से ही जयश्री अरोड़ा को छोटे पर्दे पर ब्रेक मिला, वर्ना वे रंगमंच से ही जुड़ी रहतीं। हम लोग ने जयश्री की जीवन की दिशा ही बदल दी। चार-पाँच फिल्मों के अलावा जयश्री अरोड़ा ने दूरदर्शन धारावाहिक लेखू और लालसा में भी काम किया। टेली फिल्म 'संदेश' में भी उन्होंने अहम भूमिका निभाई लेकिन कोई छाप नहीं छोड़ पाईं। हम लोग में आम हिंदुस्तानी अबला के जीवन को साकार करने के चक्कर में अब जयश्री को कोई आधुनिक भूमिका में देखना नहीं चाहता, लिहाजा उन्हें ऑफर भी कम ही मिल पाते हैं। □

अंजन श्रीवास्तव

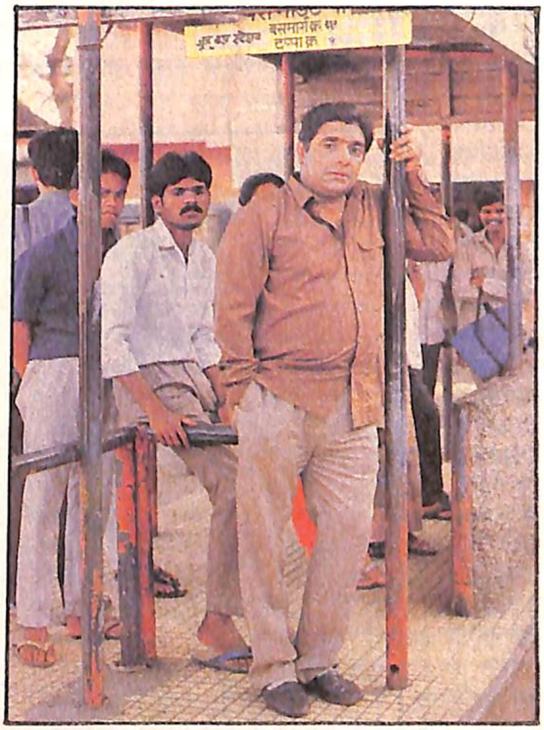
(हलो, मि. वागले)

धारावाहिक 'वागले की दुनिया' का नाम याद आते ही याद आता है एक मध्यम परिवार। उसमें पति-पत्नी है। दो बच्चे हैं। छोटी-मोटी समस्याएँ हैं। इन समस्याओं के बीच पति मि. वागले यानी **अंजन श्रीवास्तव।** बड़ा ही स्वाभाविक था यह पात्र। रत्ती भर भी इस बात का अहसास नहीं होता था कि जो कुछ भी आँखें एक छोटे पर्दे पर देख रही हैं वह काल्पनिक है।

'वागले की दुनिया' से मि. वागले हजारों-लाखों दर्शकों के बीच पहचाने जाने लगे। लोगों ने जाना कि मि. वागले वास्तविक जीवन का अंजन श्रीवास्तव है। अंजन श्रीवास्तव ने वैसे तो इससे पहले ढेरों धारावाहिकों, फिल्मों और नाटकों में काम किया है, लेकिन वागले की दुनिया का मि. वागले लोगों के बीच इतना लोकप्रिय क्यों हो गया। इस बात का जवाब देते हुए अंजन बताते हैं कि 'वागले की दुनिया में कैरेक्टर इतने कम थे कि दर्शकों के सामने बार-बार वही आते थे। दूसरी बात यह कि मि. वागले ही उसमें ऐसा कैरेक्टर था जिसके आसपास पूरी कहानी घूमती थी। तीसरी बात यह कि वागले का कैरेक्टर हर परिवार का और हर घर का कैरेक्टर था।'

उ.प्र. के एक छोटे से शहर गाजीपुर के गाँव जमनिया में जन्मे अंजन का अभिनय से लगाव तो बचपन से रहा। लेकिन कोई सही रास्ता नहीं मिल पा रहा था जिससे वे अपने इस लगाव का झंडा लहरा सकें। १९६८ में अंजन ने ऑल इंडिया रेडियो पर कलाकार के रूप में काम शुरू किया। उस समय तक उन्होंने सोचा भी नहीं था कि वे एक दिन फिल्मों में अपना स्थान बना पाने में सफल होंगे। वे बताते हैं कि —'उस समय फिल्मी दुनिया मुझे किसी दूसरे ग्रह जैसी लगती थी। इस दुनिया तक पहुँच पाना सपना लगता था। कलकत्ता में मेरे पिताजी बैंक में थे। उनकी सहायता से ही मुझे भी बैंक में काम मिल गया। इस तरह से मेरे लिए कलकत्ता रहकर कुछ करने के आसार दिखाई दिए।'

अंजन ने लगभग २५ नाटकों में वहाँ काम किया। लगभग नौ बरसों तक नाटकों में काम करते-करते उन्हें एक नया अनुभव मिला।



उनकी प्रतिभा को देखकर उनके गुरुजनों ने उन्हें सलाह दी कि वे बंबई जाकर अपनी प्रतिभा का उपयोग करें। गुरुजनों की सलाह को आदेश मानकर वे १९७८ में बंबई वीटी के प्लेटफार्म पर उतर गए। वे बताते हैं कि 'बंबई मेरे लिए नई थी। ऋषिकेश मुखर्जी का मैं पहले से ही फैन था। इसलिए मैं सबसे पहले उनसे ही मिला। उन दिनों वे आलाप बना रहे थे। आलाप जब पूरी हुई, तो बॉक्स आफिस पर फ्लॉप रही। ऋषि दा ने मुझसे कहा कि मैं कोई अच्छा ग्रुप ज्वाइन कर लूँ। वे अपनी नई फिल्म में कोई अच्छा काम हो सका तो अवश्य देंगे।'

अंजन ने ऋषि दा की बात मानकर इप्टा ज्वाइन कर लिया। इप्टा के साथ उन्होंने कई नाटक खेले। लेकिन एक-दूसरी मुसीबत सामने आ गई। कलकत्ता से बंबई जब अंजन आए थे तब उन्होंने इलाहाबाद बैंक में अपना ट्रांसफर करवाया था। बंबई इलाहाबाद बैंक के कामगारों ने उनके नाटकों में काम करने पर आपत्ति की। किसी तरह से उन्हें नाटकों में काम करने की छूट मिली। उन्होंने बताया कि 'मैंने इप्टा में रहकर १२६ भूमिकाएँ निभाई हैं।' एम. एस. सत्थु की बकरी के अलावा मैंने सफेद कुंडली/ राक्षस/ होरी/ एक और द्रोणाचार्य/ राज दर्जन और लोककथा में काम किया।

अंजन का फिल्म सफर ऋषिदा की फिल्म गोलमाल से शुरू हुआ। तब से अंजन ने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। सजाए मौत/ बेमिसाल/ सवाल/ बाजार/ साथ-साथ/ लोरी/ कालिया/ कहाँ-कहाँ से गुजर गए/ नया रिश्ता/ तमस/ गुलामी/ लव-८६/ जवाब/ प्यार के दो पल/ हालात/ आगमन/ शहंशाह/ सत्यमेव जयते/ गीत मेरे प्यार का उनकी प्रमुख फिल्में हैं। टीवी पर ये जो है जिंदगी/ मनोरंजन/ एक दो तीन चार/ नुक्कड़/ कथा सागर/ बाबाजी का बाइस्कोप/ वागले की दुनिया/ भारत एक खोज जैसे दर्जनों धारावाहिकों में उन्होंने काम किया है।

अंजन की एक चर्चित फिल्म है मिस्सी सिपी मसाला। मीरा नायर की इस फिल्म में अंजन ही एकमात्र ऐसे कलाकार थे जिन्हें भारत से विदेश शूटिंग के लिए ले जाया गया था।

● **कृष्णमोहन श्रीवास्तव**

☐ अंजन श्रीवास्तव का असली नाम अंजन ही है।

☐ उनका जन्म २ जून १९४८ को कलकत्ता में हुआ।

☐ उनके पिता मृत्युंजय श्रीवास्तव कलकत्ता में इलाहाबाद बैंक में ब्रांच मैनेजर थे। उनका छोटा भाई रंजन डॉक्टर है।

☐ बचपन से ही उनको एक्टिंग का शौक था। कलकत्ता के संगीत कला मंदिर तथा 'कला भवन संस्था' से जुड़कर उन्होंने कई नाटकों में काम किया। उनका पहला नाटक 'कायाकर' था, जिसमें उन्होंने सिर्फ दो लाइन का एक संवाद बोला था।

☐ थिएटर के साथ-साथ अंजन कलकत्ता में इलाहाबाद बैंक में नौकरी भी करते थे।

☐ एक्टिंग का शौक ही उनको बंबई खींच लाया। आज भी वे बंबई के 'इलाहाबाद बैंक' में कार्यरत् हैं।

☐ १९७८ में बंबई आकर उन्होंने 'इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन' (इप्टा) ज्वॉइन कर ली। उन्होंने अब तक ४३ से अधिक नाटकों में काम किया है, जिनके लगभग १२०० शो हो चुके हैं।

☐ उनके सफल नाटकों में बेकरी 'मोटा राम', 'सफेद कुंडली' प्रमुख हैं।

☐ अंजन श्रीवास्तव ने ऋषिकेश मुखर्जी की 'गोलमाल' फिल्म में पहली बार इंस्पेक्टर की भूमिका निभाई थी।

☐ उनका पहला टीवी सीरियल 'ये जो है जिन्दगी' था। इसके अलावा 'बाबाजी का बाइस्कोप, 'नुक्कड़', 'मनोरंजन', 'इंतजार', 'राग दरबारी', 'कैथा', 'इधर-उधर' में वे काम कर चुके हैं। उनकी पहचान बनी धारावाहिक 'वागले की दुनिया' के 'मि. वागले' के रूप में।

☐ उनका विवाह ६ फरवरी १९८२ को कलकत्ता में हुआ। उनके दो जुड़वाँ बच्चे हैं पुत्र अभिषेक तथा पुत्री नूपुर।

गिरिजा शंकर

महाभारत के धृतराष्ट्र **गिरिजा शंकर** मूल रूप से पटियाला के निवासी हैं। अभिनय के क्षेत्र में अपनी तकदीर आजमाने के लिए जब वे बंबई आए तब उनकी मित्रता आलोकनाथ से हुई। दोनों ने नादिरा बब्बर की नाट्य संस्था 'एकजुट' में काम किया तथा बाद में संयुक्त रूप से **'अब आएगा मजा'** नामक फिल्म बनाई। फिल्म की तारीफ तो हुई लेकिन यह बॉक्स ऑफिस पर सफल न हो सकी। छोटे पर्दे पर अभिनेता के रूप में उनका कैरियर नादिरा बब्बर के धारावाहिक 'तितलियाँ' से शुरू हुआ। यह धारावाहिक फ्लॉप हो गया। उनका अगला धारावाहिक 'छपते-छपते' भी दर्शकों को प्रभावित नहीं कर पाया। गिरिजा शंकर को अभिनय के क्षेत्र में पैर जमाने का मौका 'बुनियाद' से मिला। बुनियाद में रलियाराम के रूप में उन्हें दर्शकों के बीच एक नई पहचान मिली। विख्यात कथाकार शानी के उपन्यास पर आधारित धारावाहिक **'कालाजल'** में भी उनके अभिनय को सराहा गया। महाभारत में उन्हें धृतराष्ट्र की भूमिका मिली तथा सन् १९८६ में शुरू हुआ यह धारावाहिक तीन वर्ष बाद १९८९ से प्रसारित होना शुरू हुआ। महाभारत में वे युधिष्ठिर की भूमिका चाहते थे किंतु जब अंतिम स्तर पर उनका चुनाव धृतराष्ट्र की भूमिका के लिए हुआ तब उन्होंने यह चुनौती स्वीकार कर ली। धृतराष्ट्र के चरित्र के विभिन्न पहलुओं को, उसकी व्यथा और



ऊहापोह को उन्होंने बेहद सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया। एक अन्य धारावाहिक किस्सा शांति का में उन्होंने निगेटिव भूमिका की है और कॉलेज के गुंडे छात्र के रूप में वे काफी जमे।

महाभारत के बाद उन्हें लगातार काम मिलता रहा। छोटे पर्दे के साथ वे बड़े पर्दे पर भी चरित्र अभिनेता एवं खलनायक के रूप में जमने लगे। 'धर्मशक्ति'/ 'जुर्म'/ मुश्किल/ 'हक'/ षड्यंत्र/ आग से खेलेंगे/ भ्रष्टाचार/ गैंग/ काल भैरव/ सावधान/ मौत की सजा आदि उनकी उल्लेखनीय फिल्में हैं।

छोटे पर्दे और बड़े पर्दे पर अपना रंग जमाने के बावजूद गिरिजा शंकर को रंगमंच से प्यार है। 'एकजुट' के बाद उन्होंने 'कुटुम्ब' नामक नाट्य संस्था बनाई है। फुरसत के वक्त रंगमंच पर दर्शकों से रूबरू होना पसंद है। □



किरण जुनेजा

(कभी वीरांवाली/ कभी गंगा)

भगीरथी गंगा तो टेढ़े-मेढ़े रास्तों से मीलों का सफर तय कर सागर में अपनी यात्रा समाप्त करती है, मगर दूरदर्शनी गंगा ने बगैर ज्यादा जिल्लत उठाए ताबड़तोड़ 'सागर' के निर्माता रमेश सिप्पी से सम्मिलन कर अपनी सार्थकता सिद्ध की। महाभारत की 'गंगा' और 'बुनियाद' की 'वीरांवाली' के रूप में **किरण जुनेजा** को ऐसी भूमिकाएँ मिलीं, जिनकी बदौलत उसका नाम टीवी दर्शकों की जुबान पर आ गया। 'बुनियाद' में काम करते वक्त किरण ने अपने पात्र में कुछ इस तरह रुचि ली कि सीरियल के निर्देशक रमेश सिप्पी के साथ उनके दाम्पत्य सूत्र जुड़ गए। उम्र के लिहाज से किरण और रमेश की बुनियाद में खासा अंतर था।

दिल्ली निवासी किरण जुनेजा का कैमरे से पहला परिचय मॉडलिंग के जरिए हुआ था। १९८१ में वह 'फेमिना' पत्रिका द्वारा आयोजित मिस इंडिया प्रतियोगिता में पहले स्थान पर चुनी गई, जिसके बाद उसे मॉडलिंग के कई अनुबंध मिले। एक अरसे तक किरण देश की प्रथम दस मॉडलों में गिनी जाती रहीं। इसी बीच उसे टीवी सीरियल 'वाह जनाब' का प्रस्ताव मिला। इस सीरियल में किरण की भूमिका एक शोख लड़की 'रोशनी' की थी, जिसका कारोबार अखियों के झरोखे से चलता है। लखनवी मिजाज में ढला यह धारावाहिक दर्शकों के मुँह से 'वाह' तो नहीं मगर 'ठीक है जनाब' कहलवाने में जरूर सफल रहा। 'वाह जनाब' के बाद किरण को 'महाभारत' और 'बुनियाद' जैसे लोकप्रिय धारावाहिकों में काम मिला। 'बुनियाद' के मुख्य पात्र 'लाजोजी' और 'मास्टरजी' के बाद 'वीरांवाली' के रूप में किरण जुनेजा को ही सबसे ज्यादा पसंद किया गया था। यहाँ तक कि दर्शकों में वीरांवाली की लोकप्रियता के कारण उसका चरित्र सीरियल निर्माताओं को अंत तक खींचना पड़ा। मूल कथानक में वीरांवाली २१ वें अंक में मर जाती है। मगर उसे संन्यासिन बना कर पुनः दर्शकों के सम्मुख पेश किया गया।

'महाभारत' में किरण जुनेजा का काम पहुँचे हुए सिद्धयोगी की तरह पानी पर चहलकदमी करने का था। हर एपिसोड में वह कमजोर ट्रिक फोटोग्राफी की कृपा से गत्ते के टुकड़े की तरह कटी-पिटी पानी में से उभरती और थोक में आशीष बिखेर कर वापस जलमग्न हो जाती। गंगा की भूमिका में किरण जुनेजा का चुनाव काफी हद तक अनुपयुक्त था। भारतीय जन मानस में 'गंगा' का एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। गांभीर्य और वात्सल्य की छवि आम भारतीय गंगा में देखता है, वह किरण जुनेजा में कहीं नजर नहीं आई। 'महाभारत' में भीष्म के आगे उनका चरित्र बेहद कमजोर जान पड़ा। किरण के अन्य महत्वपूर्ण सीरियल थे- 'कथासागर', 'रिश्ते' और 'मझधार'। विवाह के उपरांत उसके एक्टिंग कैरियर में ठहराव आ गया है। □

दीपिका चिखलिया टोपीवाला

भारतीय जनता धार्मिक चरित्रों के आगे बहुत आसानी से नतमस्तक हो जाती है। कुछ समय पहले तक गली का पानवाला अगर रामलीला में काम करता था, तो लोग उसके चरण छूने में सौभाग्य समझते थे। फिर फिल्मों का जमाना आया। त्रिलोक कपूर जैसे अभिनेता देवता की तरह पूजे गए। दूरदर्शन सीरियल **'रामायण'** ने यह परंपरा पराकाष्ठा पर पहुँचा दी। इसके कलाकारों के चित्र असली भगवान की जगह घर-घर में चिपके दिखाई देने लगे थे। राम का पात्र निभाने वाले अरुण गोविल के लिए कैरियर के लिहाज से जहाँ उनकी धार्मिक छवि, नुकसानदेह साबित हुई, वहीं **'सीता मैया दीपिका'** ने जनभावनाओं की लहर पर सवार होकर लोकसभा के द्वार खटखटा दिए। दीपिका के भाग्य से सचमुच छींका टूटा। वरना 'रामायण' से पहले वह 'सी ग्रेड' फिल्मों में बदन उघाड़ू भूमिकाएँ निभा रही थी।

रामानंद सागर ने जब सीता की भूमिका में दीपिका चिखलिया का चुनाव किया, तो सबके साथ स्वयं उन्हें भी हैरत हुई। भारतीय पौराणिक वाङ्मय में सीता का चरित्र अत्यंत वंदनीय और आदर के योग्य रहा है। इस लिहाज से दीपिका का अभिनय काफी हद तक भावशून्य था। सीता के पात्र के साथ वह न्याय नहीं कर पाई। लेकिन इसके बावजूद सीता जैसे महान चरित्र के अपने गुरुत्व के कारण उन्हें जबरदस्त प्रसिद्धि मिली। इसी लोकप्रियता को भुनाने के उद्देश्य से राजनीतिक दल 'बी.जे.पी.' ने दीपिका को गुजरात से लोकसभा हेतु अपना प्रत्याशी बनाया। और सीता माता राजनीति के मैदान में बरसों से दंड पेल रहे हनुमानों को पीछे छोड़कर पलक झपकते ही सांसद बन गई। 'रामायण' के प्रताप से दीपिका न केवल लोकसभा में पहुँची, बल्कि असली जिंदगी में उन्हें अपने राम भी मिल गए। संसद के शीतकालीन सत्र में वह मेहंदी रचे हाथों के साथ ही शामिल हुई थी। दीपिका ने 'टिप्स एंड टोज' प्रसाधनों के निर्माता हेमंत टोपीवाला से विवाह किया है। इतिश्री दीपिका चरितम्। □ □

● **राहुल शर्मा**

दिलीप धवन

सईद मिर्ज़ा के सीरियल **'नुक्कड़'** में ४० एपिसोडों में दिखाई देने वाले गुरु को राष्ट्रव्यापी ख्याति तो मिली लेकिन यह उनका दुर्भाग्य रहा कि नुक्कड़ के पश्चात् उन्हें फिल्म नगरी में कोई राह नहीं मिली जो उन्हें पर्दे पर चमका सके।

गुरु उर्फ दिलीप धवन का फिल्मी कैरियर बचपन में फिल्म संघर्ष से शुरू हुआ था। दिलीप के पिता कृष्ण धवन एक जाने माने चरित्र अभिनेता हैं। उन्होंने दिलीपकुमार से कहकर फिल्म संघर्ष में उनके बचपन का रोल दिलीप को दिला दिया था। कॉलेज में जाने के बाद दिलीप वकील बनना चाहते थे लेकिन जेब खर्च के लालच में मामा भप्पी सोनी के असिस्टेंट बन गए। इस प्रकार फिल्मी दुनिया में कदम रखने के बाद दिलीप ने पूना इंस्टीट्यूट से एक्टिंग का डिप्लोमा लिया और बंबई आ गए। नुक्कड़ के पूर्व दिलीप ने सीरियल 'पेइंग गेस्ट' व 'करमचंद' में भी काम किया व नुक्कड़ के बाद 'इंतजार' में भी दिखाई दिए। लेकिन नुक्कड़ के अलावा उन्हें कहीं प्रसिद्धि नहीं मिली। दूरदर्शन के अलावा जिन फिल्मों में दिलीप ने काम किया वे हैं- एक बार कहो/, अलबर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है/ दो गुलाब/ साथ-साथ / इज्जतदार/ स्वर्ग/ हिना/ तहलका। बतौर एक्टर शोहरत न मिलने के बाद दिलीप ने निर्माता-निर्देशक बनने का सोचा है। फिल्म 'साथ-साथ' के वे निर्माता बने तथा इसके बाद 'होश' का निर्देशन भी किया लेकिन पैसे के अभाव ने उनके होश उड़ा दिए। फिल्म अधूरी रह गई।

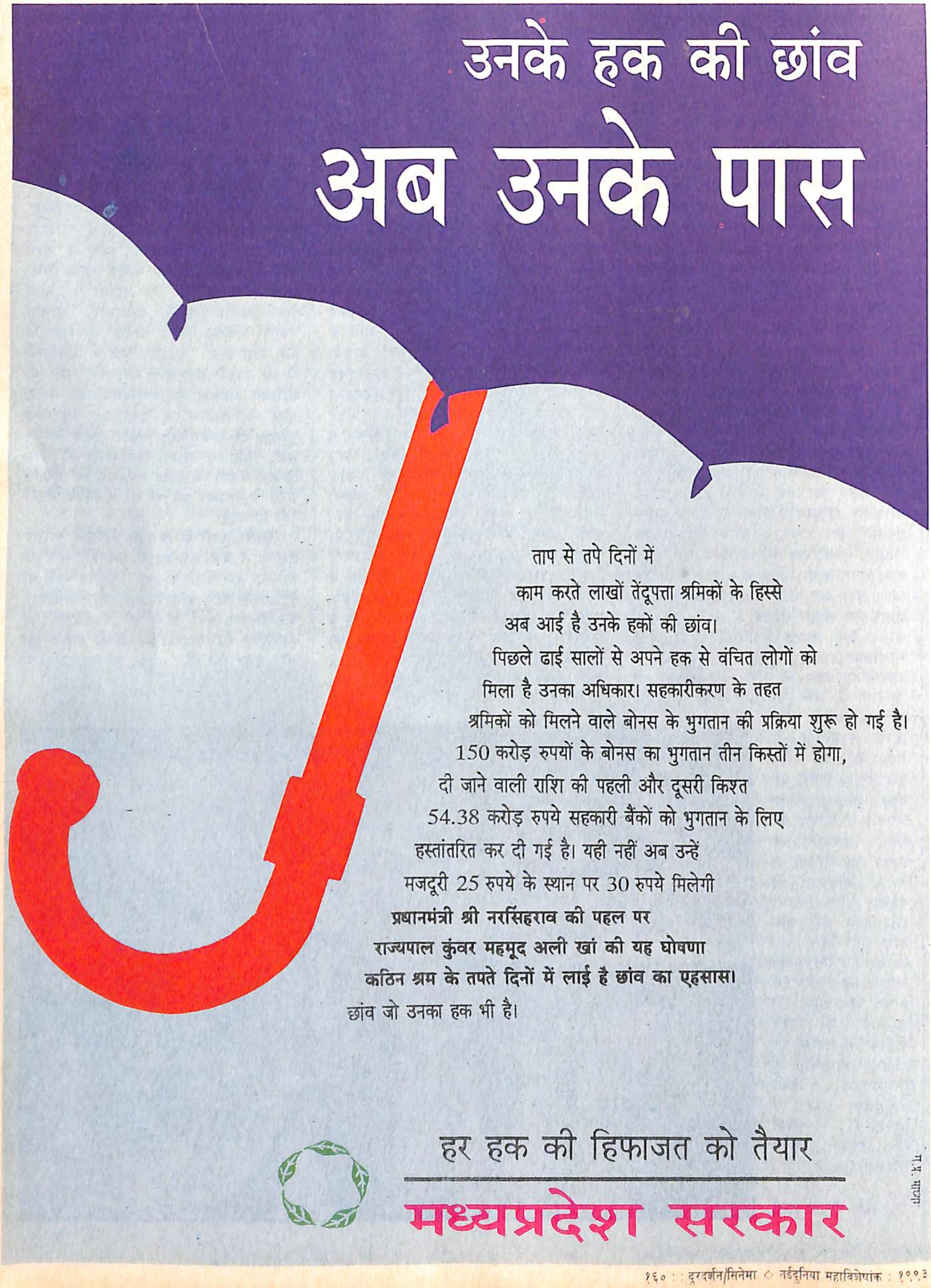
फिल्म एवं दूरदर्शन में एक्टिंग के अलावा दिलीप को मॉडलिंग का भी शौक है। सन् १९७७ से वे लगातार मॉडलिंग कर रहे हैं।

मदन जैन

बंबई में पले-बढ़े मदन जैन ने हायर सेकण्डरी परीक्षा के बाद रोशन तनेजा के एक्टिंग स्कूल में प्रवेश लिया। अनिल कपूर तथा गुलशन ग्रोवर के वे सहपाठी रहे तथा ओम पुरी उनके शिक्षक। उन्हीं के साथ मिलकर उन्होंने 'मजमा' नामक नाट्य संस्था स्थापित की। लगभग ४० नाटकों में उन्होंने काम किया। जिनमें 'धर्मशाला', 'पाँचवां सवाल, 'बिच्छू' आदि नाटक काफी सराहे गए। 'अर्द्ध सत्य', 'मशाल', 'चक्र' आदि फिल्मों में भी उन्होंने भूमिकाएँ की। मदन जैन की अभिनय प्रतिभा से प्रभावित होकर महेश भट्ट ने 'सारांश' में उन्हें एक महत्वपूर्ण भूमिका दी। इसके बाद उन्होंने 'अंकुश' 'काल-चक्र', 'प्रतिबंध' नामक फिल्मों में भी काम किया। अच्छी अभिनय प्रतिभा का प्रदर्शन करने के बावजूद बड़े पर्दे पर वे अधिक सफल नहीं हो पाए।

'खाली हाथ' के निर्माता निर्देशक खालिद सुल्तान ने जब उन्हें इस धारावाहिक में प्रमुख भूमिका अदा करने के लिए कहा तब पहले तो वे झिझके परंतु बाद में यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। युवा पीढ़ी की समस्याओं पर आधारित यह धारावाहिक काफी सफल रहा और मदन जैन छोटे पर्दे के चर्चित नायकों में से एक हो गए। □




उनके हक की छांव
अब उनके पास
ताप से तपे दिनों में
काम करते लाखों तेंदूपत्ता श्रमिकों के हिस्से
अब आई है उनके हकों की छांव।
पिछले ढाई सालों से अपने हक से वंचित लोगों को
मिला है उनका अधिकार। सहकारीकरण के तहत
श्रमिकों को मिलने वाले बोनस के भुगतान की प्रक्रिया शुरू हो गई है।
150 करोड़ रुपयों के बोनस का भुगतान तीन किस्तों में होगा,
दी जाने वाली राशि की पहली और दूसरी किश्त
54.38 करोड़ रुपये सहकारी बैंकों को भुगतान के लिए
हस्तांतरित कर दी गई है। यही नहीं अब उन्हें
मजदूरी 25 रुपये के स्थान पर 30 रुपये मिलेगी
प्रधानमंत्री श्री नरसिंहराव की पहल पर
राज्यपाल कुंवर महमूद अली खां की यह घोषणा
कठिन श्रम के तपते दिनों में लाई है छांव का एहसास।
छांव जो उनका हक भी है।
हर हक की हिफाजत को तैयार
मध्यप्रदेश सरकार

मनोज कुमार

मनोज कुमार के देश प्रेम का काफी मजाक बनाया जाता रहा है। इसमें संदेह नहीं कि उनकी फिल्मी देशभक्ति पर अति नाटकीयता हावी रही। लेकिन उनके मूल जज्बे की शुचिता को नकारा नहीं जा सकता। बहरहाल देश प्रेम वैसे भी आज उपहास का विषय बन गया है। बेचारे मनोज उर्फ भारत कुमार अपनी ढपली से देशवंदना के स्वर निकाल-निकाल कर थक गए, मगर देशवासियों के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। छोटे परदे के लिए भी मनोज राष्ट्रभक्ति की थाली में परोस कर अपना सीरियल **'भारत के शहीद'** लाए थे। सुधी आलोचकों ने उसे भी नहीं बख्शा। जमकर बखिया उधेड़ी गई। किसी ने कहा सीरियल नौटंकी छाप है। किसी ने ऐतिहासिक तथ्यों की तोड़-मरोड़ का आरोप लगाया। किसी ने प्रस्तुति को लेकर उँगली उठाई। कुल मिलाकर आलोचना की बौछार में मनोज का सीरियल खुद शहीद हो कर रह गया।

मनोज कुमार ने बड़े जोर-शोर और उत्साह से धारावाहिक 'भारत के शहीद' का निर्माण करने की घोषणा की थी। प्रख्यात स्वतंत्रता सेनानी मन्मथनाथ गुप्त से उन्होंने इसकी कहानी लिखवाई। उनका दावा था कि यह सीरियल देशभक्ति पर आधारित अन्य धारावाहिकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रामाणिक और श्रेष्ठ साबित होगा। लेकिन इन दावों की जमीन तब पिलपिली जान पड़ी, जब सीरियल में हमारे महान क्रांतिकारी फिल्मी गानों की तर्ज पर ठुमके लगाते नजर आए। दर्शकों की रुचि को ध्यान में रखकर मनोज कुमार ने क्रांतिकर्म के साथ मुजरों वगैरह का भी पर्याप्त प्रबंध किया था। छीछालेदर बहुत हुई। अब जरा 'भारत के शहीद' की निर्माण कथा का जिक्र किया जाए। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिहाज से मनोज ने अपना सीरियल १९०७ से १९४७ तक के समय पर केंद्रित रखा है। एक ही स्वतंत्रता सेनानी चंद्रशेखर आजाद के जीवन चरित्र की पृष्ठभूमि में अन्य क्रांतिकारियों की कहानी भी प्रस्तुत कर दी गई। फ्लेश बेक के अंतर्गत मंगल पांडे आदि आजादी के आरंभिक सेनानियों को भी शामिल किया गया था। चौरीचौरा कांड के बाद कांग्रेस पार्टी में उपजे मतभेद जिनकी परिणति आगे चल कर नरम दल और गरम दल में हुई, सीरियल के कथानक में इसे केंद्रीय घटना के रूप में दर्शाया गया।

'भारत के शहीद' धारावाहिक के २७ एपिसोड प्रसारित हुए थे। इनकी स्वीकृति के लिए मनोज को अधिक भागदौड़ नहीं करनी पड़ी, क्योंकि दूरदर्शन उन दिनों मुक्तहस्त से राष्ट्रीय भावनाओं वाले धारावाहिक प्रस्तुत कर रहा था। परेशानी तो मनोज ने प्रसारण के बाद महसूस की, जब उनके द्वारा निर्मित फिल्मों पेंटर बाबू/ कलयुग की रामायण और क्लर्क की तरह सीरियल 'भारत के शहीद' भी दर्शकों की जबरदस्त बेरुखी का शिकार हुआ। बेचारे मनोज की समझ में यह बात नहीं आती, कि उनका सब्जेक्ट गलत है या ट्रीटमेंट- अथवा दोनों ही। बहरहाल उनकी महती सेवाओं के लिए भारत सरकार उन्हें पद्मश्री से अलंकृत कर चुकी है।

● **राहुल शर्मा**



◆ ◆ ◆

गोगा कपूर

सन् १९५७ में दिल्ली के रंगमंच पर शेक्सपियर का प्रसिद्ध नाटक 'ओथेलो' खेला गया जिसमें मुख्य भूमिका निभा रहे थे गोगा कपूर। उस नाटक में सुपर स्टार अमिताभ बच्चन सेकंड लीड में थे। परिस्थितियों के फेरबदल के कारण गोगा कपूर आज विलेन की भूमिकाएँ निभा रहे हैं।

गोगा कपूर ने १९५७ से बतौर अभिनेता के काम करना प्रारंभ किया। पूरे तीस वर्ष के बाद कयामत से कयामत तक और धारावाहिक महाभारत से गोगा कपूर की संपूर्ण पहचान बनी। दूरदर्शन के नाटकों में सर्वप्रथम काम करने का श्रेय बतौर एक एक्टर गोगा कपूर के खाते में जाता है। यह पहला नाटक था 'चौराहे पर।' इस नाटक को बंबई दूरदर्शन ने प्रसारित किया था।

बंबई दूरदर्शन से प्रसारित एक और नाटक 'रीछ का पंजा' में भी गोगा कपूर ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

फिल्म कयामत से कयामत तक में गोगा कपूर ने ठाकुर की भूमिका निभाई और दर्शकों के दिलो-दिमाग पर एक ठाकुर की तरह छा गए। इसी सिलसिले में दूरदर्शन के धारावाहिक 'महाभारत' में कंस मामा बनकर प्रशंसकों से घिर गए। गोगा कपूर ने बी.आर. चोपड़ा के धारावाहिक चुन्नी में भी काम किया है। इसके अलावा जिन फिल्मों में काम किया वे हैं— तूफान/ अग्निपथ/ तू नागिन मैं सपेरा/ दिन दहाड़े/ हातिमताई/ खुदा गवाह।

अभिनय के अलावा गोगा कपूर को किताबें पढ़ना अच्छा लगता है। राजकपूर से वे हमेशा प्रभावित रहे। राजकपूर के बाद वे कमल हासन को बेहतर अदाकार मानते हैं।

◆ ◆ ◆

नताशा सिन्हा

समृद्ध परिवार में जन्मी **नताशा सिन्हा** का परिवार शांति निकेतन से जुड़ा रहा। बचपन से ही वे फिल्मों की शौकीन रहीं तथा स्कूली दिनों में नाटकों में भाग लेती रहीं। बड़े होने पर वे रंगमंच से जुड़ीं। नताशा चाहती थीं कि फिल्मों में काम करें, किंतु फिल्मोद्योग में कोई परिचित नहीं थे। उन्हें अवसर मिला एक सहेली की सिफारिश से जिसने उन्हें देवानंद से परिचित करवाया। देवानंद ने अपनी फिल्म 'आनंद ही आनंद' में अनुबंधित किया। यह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर फ्लॉप हुई। नताशा को हताशा ने घेर लिया और उन्हें लगा कि अभिनेत्री के रूप में उनके कैरियर को कहीं पूर्ण विराम न लग जाए। इस हताशा को लिए हुए वे दूरदर्शन के लिए बन रहे धारावाहिक 'बुनियाद' के पटकथा लेखक मनोहर श्याम जोशी से मिलीं और बड़े पर्दे को छोड़ छोटे पर्दे की पगडंडी से अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ीं। 'बुनियाद' काफी सफल रहा। इसके बाद उन्हें सुकन्या और हमराही, जैसे अन्य धारावाहिकों में भी काम मिला। छोटा पर्दा नताशा के लिए काफी शुभ रहा तथा वे फिल्मों में भी आने लगीं। 'दिव्य शक्ति' में उनका अभिनय काफी सराहा गया। नताशा सिन्हा के आने वाले धारावाहिक हैं- 'देवी चौधरानी'/ 'भूतनाथ'/ और भावनाएँ। □

हिमानी...
नहीं-नहीं देवकी भौजी कहिए

बोलती आँखें और मुस्कराते ओठों वाली **हिमानी शिवपुरी** अपनी खास अदाकारी से दर्शकों का दिल जीतने वाली दूरदर्शनी कलाकार है, जो अब बड़े पर्दे की खास अभिनेत्री के रूप में भी व्यस्त हो गई हैं। यह कहा जाए कि दूरदर्शन ने हिमानी शिवपुरी के रूप में फिल्म उद्योग को एक नई और हर रोल में फिट नायिका प्रदान की है, तो गलत नहीं होगा। इसमें कोई शक नहीं कि **शशिकला** और **बिंदु** की कमी को पूरा करेगी हिमानी।

देश के प्रसिद्ध दून स्कूल देहरादून के हिंदी-संस्कृत के प्राध्यापक हरिदत्त भट्ट की सुपुत्री हिमानी ने रसायन शास्त्र में स्नातकोत्तर परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। स्कूली शिक्षा के दौर में ही वह अभिनय करने लगी थी। अभिनय को कैरियर बनाने की उसकी मंशा नहीं थी। उसका इरादा तो आई.ए.एस. अधिकारी या मस्तिष्क चिकित्सक बनने का था। संयोग से हिमानी को चिकित्सा विज्ञान की पढ़ाई पूरी करने के लिए अमेरिका से अंतरराष्ट्रीय छात्रवृत्ति भी



हिमानी शिवपुरी-निरूपमा वर्मा : हमराही

हासिल हो गई थी। उसी सिलसिले में वह अपना पासपोर्ट बनवाने दिल्ली गई, तो अनायास ही दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रवेश परीक्षा भी दे आई। नाट्य विद्यालय ने उन्हें चुन लिया। हिमानी ने अमेरिका जाना तजकर नाट्य विद्यालय में प्रवेश ले लिया। अभिनय की बारहखड़ी सीखने लगी। अभिनय में स्नातक की पढ़ाई के दौरान हिमानी को दिग्गज निर्देशकों हबीब तनवीर, बी.एम. शाह, भानु भारती, एम.

हिमानी शिवपुरी

रंगमंच से मोह-भंग

रंगमंच के प्रति समर्पित कलाकारों की सूची में **हिमानी शिवपुरी** का नाम पिछले दस साल से सर्वोपरि है। रंगमंच के प्रति समर्पण का उनका आलम यह था कि महज थिएटर के लिए उन्होंने 'हम लोग' धारावाहिक में काम करने से इंकार कर दिया था। लेकिन आज **रंगमंच से उनका मोहभंग हो चुका है।** आज तो वे टीवी स्टार बनी हुई हैं और धीरे-धीरे फिल्मों में भी अपने पैर जमाती जा रही हैं। आज उनके पास थिएटर के लिए वक्त ही नहीं है। वे खुद कहती हैं, '१९९२ में मैंने थिएटर किया ही नहीं। समय नहीं था। मेरा दिमाग हमेशा एक ट्रैक पर ही चलता है। जब मैं थिएटर कर रही थी तब मैं सीरियल या फिल्म के लिए नहीं सोचती थी। मैं दस साल तक दिन-रात थिएटर में डूबी रही। एक ऊँचाई पर पहुँचने के बाद मुझे लगा कि अब क्या...? और जब वास्तविकता सामने आई तो फिर सारे आदर्श टूटने लगे। मैंने भी सीरियल व फिल्मों में काम करने का चैलेंज स्वीकार किया। आज मुझे सीरियल तथा फिल्मों में काफी काम मिल रहा है, फिर भी मैं यह नहीं कहती कि मुझे थिएटर करना ही नहीं है। वक्त मिलेगा तो जरूर करूँगी।' प्रस्तुत हैं उनसे हुई बातचीत के अंश-

'हमराही' की शोहरत से फायदा...?

जब इंसान कोई अच्छा काम करता है, तो उसे फायदा मिलता ही है। 'हमराही' में मेरा काम लोगों को बहुत पसंद आया। लोग मेरे काम की तारीफ कर रहे हैं। मेरे पास काफी 'फैन लेटर' आ रहे हैं। पहले तो मैं सिर्फ दिल्ली तक ही सीमित थी। अब पूरे भारत में मेरी ख्याति फैल चुकी है। बंबई फिल्म उद्योग में मेरी कलाकार के रूप में एक पहचान बनी है। फिल्मों के भी ऑफर आ रहे हैं। मेरी शोहरत के ही कारण सूरज बड़जात्या ने अपनी फिल्म के लिए मुझे अनुबंधित ही नहीं किया बल्कि मेरे लिए विशेष रूप से भूमिका लिखवाई। मोहन कुमार ने खुद मुझे बुलाकर अपनी फिल्म में काम दिया। हृषिकेश मुखर्जी ने खुद मेरी तारीफ की और उनके साथ मैं 'सीरियल' 'उजाले की ओर' में काम कर रही हूँ। इसके अलावा 'दिलवाले' तथा 'अंदाज' में काम कर रही हूँ। के. विश्वनाथ और राहुल रवेल ने भी अपनी नई फिल्मों के लिए अनुबंधित किया है।

देवकी भौजाई का किरदार बहुत लोकप्रिय है। क्या ऐसा किरदार आम जीवन में...?

ऐसे किरदार हर समाज व समुदाय में नजर आते हैं। इस तरह की महिलाएँ आदमियों को मैन्युपुलेट करती हैं। इसी कारण इस पात्र को महिलाओं ने ज्यादा पसंद किया है। इस पात्र को वास्तविकता का पुट देने के लिए ही मैंने राजस्थानी भाषा पर ज्यादा जोर दिया है।

दूरदर्शन और सिनेमा इन दोनों माध्यमों को देखने का आपका नजरिया...?

दोनों माध्यम एक दूसरे से 'रिलेटेड' ही हैं। दूरदर्शन संस्कृति के विस्तार से कलाकारों को फायदा ही हुआ है। कई संघर्षशील नए कलाकारों को अपनी प्रतिभा दिखाने का एक मौका हासिल हुआ। कलाकारों के लिए तो फिल्मों में प्रवेश करने का दूरदर्शन एक माध्यम बन गया। दूसरी तरफ दर्शकों को घर बैठे मनोरंजन मिलने लगा। सिनेमा के लिए टिकट खरीदना पड़ता। दूरदर्शन लोगों के ड्राइंगरूम तक पहुँच गया। कला की दृष्टि से देखें तो कुछ गड़बड़ भी हुआ। लोग जब टिकट लेकर सिनेमाघरों में फिल्म देखने जाते थे तो तीन घंटे तक उनका पूरा ध्यान फिल्म व उसके कलाकारों के अभिनय की तरफ होता है, जबकि लोग दूरदर्शन सीरियल या अन्य कार्यक्रम देखते हुए दूसरे काम भी करते रहते हैं। मेहमानों से वार्तालाप भी करते रहते हैं। परिणामतः टीवी सीरियल के कलाकारों का वह ग्लैमर नहीं होता, जो कि सिनेमा में ग्लैमर है।

दूरदर्शन के बढ़ते दायरे के बारे में आप क्या सोचती हैं?

अच्छा हो रहा है। दूरदर्शन का विस्तार होना ही चाहिए। कई चैनल खुल रहे हैं। पर लोगों को अच्छे कार्यक्रम भी देने चाहिए। फिल्मों को ही दूरदर्शन पर समाहित करना, तो दर्शकों पर ज्यादती ही है।

बेनीबिट्स और रंजीत कपूर की संगत मिली। प्रसिद्ध रंगकर्मी बी.वी. कारंत उन दिनों नाट्य विद्यालय के प्राचार्य थे। रंगमंच के इन दिग्गजों ने हिमानी के मन में नाट्य कला के प्रति श्रद्धा भर दी। अभिनय की पढ़ाई के दौरान ही हिमानी ने कई उम्दा नाटकों में केंद्रीय भूमिकाएँ निभाई थीं। अपने बेहतरीन अभिनय के बल पर वह दिल्ली की श्रेष्ठ कलाकार का सम्मान अर्जित करने लगी। इसी दौरान हिमानी को मनोहर श्याम जोशी ने अपने प्रसिद्ध सोप ऑपेरा 'हमलोग' में छुटकी की भूमिका के लिए ऑफर दिया। लेकिन हिमानी पर उन दिनों रंगमंच का भूत सवार था और वह धारावाहिक और फिल्मों में काम करना ठीक नहीं समझती थी। इसलिए छुटकी की भूमिका से इंकार कर दिया। इसके बाद 'बुनियाद' के लिए भी हिमानी को याद किया गया लेकिन वह तैयार नहीं हुई। जब दूरदर्शन ने रंगमंच के प्रति दर्शकों का रुझान कम किया तो हिमानी ने भी दूरदर्शन की ओर अपना रुझान बढ़ाया। हिमानी ने श्याम बेनेगल के धारावाहिक 'यात्रा', लेख टंडन के 'फिर वही तलाश' और जॉन बेरी के 'मुट्ठी भर सितारे' में अभिनय किया। हिमानी कैमरे की दुनिया में ऐसी रमने लगी कि रंगमंच के प्रति उनका प्रेम मंदा पड़ने लगा। इसी बीच पंजाब समस्या पर बनी टेली फिल्म 'करतारा' में हिमानी ने कुलभूषण खरबंदा के साथ केंद्रीय भूमिका निभाई। हिमानी के अभिनय को काफी सराहना मिली। लेकिन हिमानी ने दूरदर्शन के दर्शकों के दिल में जगह बनाई 'हमराही' की देवकी भौजाई के माध्यम से। हिमानी वैसे चालाक और वाचाल नहीं है लेकिन 'देवकी भौजाई' वाले चतुर, बड़बोले और आँखों व ओठों के माध्यम से अपनी बातों को मनवाने वाला किरदार उन्हें खूब भाया और उन्होंने इस किरदार को निभाने के लिए हामी भर दी। नाट्य विद्यालय के अधिकारी नहीं चाहते थे कि हिमानी 'हमराही' में काम करे। हिमानी ने नाराज और निराश होकर अभिनय कोर्स को अधूरा छोड़ दिया और 'देवकी भौजाई' बनकर दर्शकों के दिलों पर सवार हो गई।

देवकी भौजाई वाले किरदार के संबंध में हिमानी का कहना है कि 'हमराही' में जितने नारी पात्र थे (हैं) वे सब सकारात्मक थे। मैं कुछ अलग करना चाहती थी, इसलिए मैंने लीक से हटकर नकारात्मक भूमिका चुनी जो मेरे स्वभाव के बिल्कुल विपरीत थी। अपनी चालाकी, चतुराई और खूबसूरती से सबको अपने इशारों पर नचाने वाली अनपढ़ महिला का चरित्र हिमानी ने बखूबी निभाया। स्थिति यह हो गई कि सारा धारावाहिक देवकी भौजाई के आसपास सिमट गया। 'हमराही' ने हिमानी को स्टारी दर्जा दिलाया और अब वे दिल्ली को त्याग कर बंबई में बड़े परदे के लिए व्यस्त हो गई। फिल्मों में ज्यादातर निगेटिव किरदार ही निभा रही है। केवल 'दुर्गा की सौगंध' में सकारात्मक भूमिका है।

हिमानी का कहना है कि 'एकदम अलग टाइप की लोकप्रियता से सबसे ज्यादा फायदा यह हुआ कि मुझे दर्शकों का भरपूर प्यार मिला। दिल्ली की चर्चित स्टार हूँ और बंबई में भी अच्छे किरदार के रूप में गिनती हो रही है। निश्चित ही 'हमराही' ने मुझे लोकप्रियता के शिखर तक पहुँचाया है।'

●गोपाल जोशी

◆ ◆ ◆



आपने एम. टीवी, जी टी वी के कार्यक्रम देखे हैं।

जी हाँ देखे हैं। यह सेटेलाइट चैनल अश्लीलता, द्विअर्थी संवाद वगैरह ही परोस रहे हैं। यह सारी बातें पश्चिमी देशों में तो आम बातें हैं। लेकिन हमारे देश में पचाई नहीं जा सकती। सेंसर की अचानक मिली छूट से जीटीवी वाले पागल हो गए हैं।

आप तकदीर में कितना विश्वास करती हैं?

मैं तकदीर में बहुत ज्यादा विश्वास करती हूँ। मुझे लगता है कि जब जो चीज होनी होती है तभी हो सकती है।

● साक्षात्कार : सुषमा त्रिपाठी

कामिया मल्होत्रा

'हमलोग' के दो पात्रों को सीरियल में भी उनके वास्तविक नाम ही दिए गए थे। पहले डॉ. अश्विनी कुमार और दूसरी कामिया मल्होत्रा। नन्हें की प्रेमिका बाद में 'प्रिंस' से शादी कर लेती है। रोल छोटा होने के बावजूद 'कामिया' सीरियल 'हमलोग' के सर्वाधिक लोकप्रिय कलाकारों में एक थी। खासतौर से टीनएज दर्शकों ने उसे बेहद पसंद किया। मासूम चेहरे वाली 'कामिया' को रोज ढेरों की तादाद में प्रशंसा (प्रेम) पत्र मिला करते थे। हमलोग के बाद वह दो अन्य सीरियलों 'घर-जमाई' और 'बुनियाद' में टीवी दर्शकों के सामने आई।

दिल्ली निवासी 'कामिया' के पिता लवेन्द्र कुमार म.प्र. कैडर के आय.ए.एस. अधिकारी रह चुके हैं। जबकि माँ उमा बासुदेव एक जानी-मानी पत्रकार हैं। कामिया जब बहुत छोटी थी, तब उसके माता-पिता के बीच तलाक हो गया। उसने १२वीं कक्षा तक पढ़ाई की है। स्कूल में अभिनव चतुर्वेदी (हमलोग का नन्हें) और अमृता सिंह उसके साथ पढ़ते थे। छात्र जीवन में 'कामिया' फिल्मों की दीवानी थी। १८ वर्ष की उम्र में उसे 'हम लोग' जैसे महत्वपूर्ण सीरियल में काम करने का मौका मिल गया। शूटिंग का आरंभिक अनुभव उसके लिए काफी खराब रहा। पहले



दिन कैमरे के सामने उसकी आवाज ही नहीं निकल रही थी। लेकिन जल्दी ही उसने आत्मविश्वास अर्जित कर लिया। सीरियल 'हमलोग' में पाँचवें एपिसोड से कामिया का आगमन हुआ था, उसकी भूमिका १५४वें अंक तक चली। 'कामिया' ने 'हमलोग' के बाद धारावाहिक 'घर-जमाई' में काम किया था। लेकिन इसमें उसकी उपस्थिति खास असर नहीं छोड़ पाई। 'घर-जमाई' के कारण कामिया को पंकज पाराशर की फिल्म 'जलवा' से हाथ धोना पड़ा, क्योंकि दोनों की शूटिंग तारीखें एक साथ थीं। बाद में कामिया की भूमिका अर्चना पूरनसिंह ने निभाई। मगर इस अवसर के खोने का कामिया को ज्यादा दिनों तक अफसोस नहीं करना पड़ा। 'बुनियाद' की 'बबली' के रूप में उसे फिर एक अच्छी भूमिका मिल गई।

कामिया ने एक फिल्म 'विश्वास' में भी काम किया है। इसमें उसके साथ राज बब्बर, स्मिता पाटिल, सुरेश ओबेराय, शशि कपूर जैसे कलाकार थे। लेकिन स्मिता की मौत के कारण यह फिल्म प्रदर्शित नहीं हो पाई। कामिया का मूल लक्ष्य बड़ा परदा ही है। मौका मिलते ही वह दूरदर्शन की बजाए फिल्मों का रुख कर लेगी। ■

प्रवीण कुमार

छः सितंबर १९४९ को अमृतसर के अमर सहाय गाँव में जन्मे प्रवीणकुमार को बचपन से ही खेलकूद से लगाव रहा है। अमृतसर के खालसा कॉलेज से उन्होंने बी.ए. की डिग्री ली। पढ़ाई के बजाए उनका रुझान खेलों की ओर अधिक रहा। वे मैक्सिको, म्युनिख तथा मांट्रियल के ओलम्पिक एशियन कम्युनिटी खेल वगैरह में बतौर डिस्क हैमर थ्रो में कई सफलता हासिल कर चुके हैं। वास्तव में खेलों के प्रति आकर्षण उन्हें विरासत में मिला। उनके पिता अपने जमाने में चर्चित हाकी खिलाड़ी थे। पाँच भाई-बहनों में प्रवीण सबसे बड़े हैं। कॉलेज के समय में वे अर्जुन अवार्ड भी प्राप्त कर चुके हैं। 'महाभारत' सीरियल के पूर्व प्रवीणकुमार ने विद्यासिन्हा के 'सिंहासन बत्तीसी' के चार एपिसोड में भी काम किया है। फिल्मी दुनिया में प्रवीण कुमार पहले ही प्रवेश कर चुके थे गजब/ मेरी आवाज सुनो/ हुकूमत/ नामो निशान/ शहंशाह/ आज का अर्जुन/ बेटा हो तो ऐसा/ फरिश्ते/ हमला/ आलीशान के अलावा तमिल, तेलगू फिल्मों में भी वे आ चुके हैं। लेकिन महाभारत में अपने ६ फुट ६ इंच कद के गठीले बदन वाले गदाधर भीम के रूप में प्रवीणकुमार से अधिक दर्शक परिचित हुए। □

◆ ◆ ◆

सिराज सैयद

दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक 'चाणक्य' में तक्षशिला राज्य के प्रधानमंत्री की भूमिका करने वाले **सिराज सैयद** पत्रकार रहे हैं। 'टीवी एंड वीडियो वर्ल्ड' तथा 'प्ले बैक एंड फास्ट फारवर्ड' नामक पत्रिकाओं का संपादन उन्होंने कुशलतापूर्वक किया। वीडियो पत्रिकाओं के युग में उन्होंने 'लहरें' / चलते-चलते/ 'सा-रे-ग-म'/ 'फिल्म सिटी' तथा फिल्म ट्रैक की स्क्रिप्ट लिखीं। रेडियो कम्पीयर के रूप में भी उन्होंने कई कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया। अभिनय के प्रति उनका रुझान सन १९५९ से हुआ जब उन्हें फिल्म 'घूँघट के पट खोल' के लिए अनुबंधित किया गया था। यह फिल्म तो नहीं बनी मगर वे बाद में अभिनेता जरूर बन गए। उन्होंने 'अनामिका', 'मिस्टर रोमियो' 'कोई जीता कोई हारा,' आदि फिल्मों में काम किया। धारावाहिकों का जमाना आने पर वे 'दाने अनार के'/ 'युगांतर'/ 'कथा सागर'/ 'जिन्दगी'/ 'अदालत'/ 'गुलदस्ता'/ 'पुरस्कार'/ 'इंद्र धनुष'/ जानकी जासूस तथा कुछ मराठी तथा गुजराती धारावाहिकों में भी अभिनेता के रूप में आए हैं। सिराज सैयद का कहना है कि उनका भविष्य अभिनय और लेखन पर ही केंद्रित है। □

प्रातःकालीन दूरदर्शन प्रसारण में अपनी चिर-परिचित मुस्कान तथा बातचीत के मोहक अंदाज के साथ नजर आने वाले ***दीपक वोहरा*** *किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। बोलने की धाराप्रवाह शैली तथा दूरदर्शन पर २० वर्ष का अनुभव इन्हें किसी न किसी रूप में चर्चित बनाए रखता है। मजे की बात यह है कि इनका कैमरे के सामने बोलने का अंदाज रोजमर्रा की जिंदगी की तरह होता है।*

● *दीपक वोहरा*

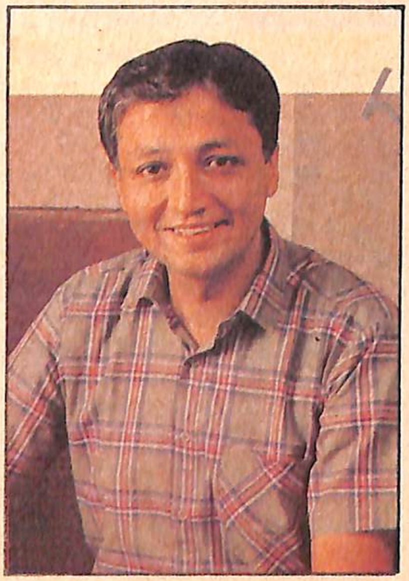
भारतीय संस्कृति बालू की दीवार नहीं है

आप इस क्षेत्र में कैसे आए?

इसकी एक दिलचस्प कहानी है। १९७२ में मैं कॉलेज केंटीन में बैठा था। मैंने देखा कि एक महाशय मुझे घूर-घूर कर देखे जा रहे थे। करीब १५-२० मिनट बाद मेरे पास आकर बोले कि मुझे आपकी ही तलाश थी। मैं चौंका कि कहीं कॉलेज का कोई दादा वगैरह न हो जो मुझे किसी वजह से ढूँढ रहा हो। फिर उन्होंने बताया कि वे युवाओं पर एक कार्यक्रम बनाना चाहते हैं। उनकी इच्छा थी कि उस कार्यक्रम का संचालन मैं करूँ। एक कार्यक्रम के पचास रुपए मिलने थे और महीने में चार कार्यक्रम होने थे। उस जमाने में एक विद्यार्थी के लिए २०० रु. प्रतिमाह अच्छी खासी रकम थी। मैंने हाँ कर दी।

क्या आपका स्टेज या दूरदर्शन की तरफ पहले से ही कोई रुझान था?

नहीं स्टेज में मैं कभी इंटरस्टेड नहीं रहा। उन दिनों दूरदर्शन ज्यादा लोकप्रिय नहीं था। वैसे भी उन दिनों ब्लेक एंड व्हाइट टी.वी. का जमाना था। परंतु मैं शुरूआत से ही वाद-विवाद प्रतियोगिता में जरूर भाग लिया करता था। गिने-चुने अच्छे वक्ताओं में मेरी गिनती होती थी।



दूरदर्शन की लोकप्रियता से आपके सार्वजनिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा?

दोस्तों की एक लंबी कतार लग गई। इसके अलावा एक बात और बता दूँ, उलाहना देने वालों की संख्या भी बढ़ी है। एक दफा जब मैं दिल्ली से बाहर गया तो वहाँ एक वेटर ने उलाहना देते हुए कहा आपसे मेरी बीवी और बच्चे बहुत नाराज हैं। मैंने जानना चाहा कि आखिर नाराजगी की वजह क्या है? वेटर बोला— उनका कहना है कि आप **जी साहब** को बहुत परेशान करते हैं। तब मैंने कहा **जी साहब** ही मुझे ज्यादा परेशान करते हैं। जब मैं दूरदर्शन पर आया था तब मेरी टाँगें खींच-खींचकर मुझे इतना लम्बा कर दिया। इस तरह मुझे उलाहने मिलने लगे हैं।

दूरदर्शन में आपका आगमन एक संयोग था तो क्या आपने कैरियर के दृष्टिकोण से कोई और क्षेत्र चुना था?

जी हाँ, मैं शुरू से ही प्रशासनिक सेवाओं में जाना चाहता था और मैं इसमें सफल भी हुआ। इस वक्त मैं भारतीय विदेश सेवा में कार्यरत हूँ।

क्या कारण है कि दूरदर्शन के कार्यक्रम दर्शकों को बाँध नहीं पा रहे?

देखिए, यह बात एकदम स्पष्ट है। भारत में विभिन्न प्रांत हैं। सम्प्रदाय हैं। इतना बड़ा दायरा है कि दूरदर्शन थोड़े से समय के प्रसारण में सबकी इच्छाएँ पूरी नहीं कर सकता। दूरदर्शन का लक्ष्य होता है अधिक से अधिक लोगों की जरूरत पूरी करना।

क्या आप समझते हैं कि स्टार टी.वी. से हमारे समाज तथा संस्कृति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है?

नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता। क्योंकि व्यक्ति की जैसी रुचि होती है वैसी सामग्री तो वह ढूँढ ही लेता है। कार्यक्रम में विविधता तथा अधिकता होनी चाहिए ताकि जो व्यक्ति जैसी सामग्री चाहता है उसे वह प्राप्त हो। मिसाल के तौर पर मुझे टेनिस अच्छा लगता है और मैं चाहता हूँ कि मुझे हर वक्त टेनिस देखने को मिले। यदि दूरदर्शन पर यह सुविधा नहीं मिलेगी तो मैं प्रयास करूँगा किसी और तरीके से उस खेल को देखने का। जहाँ तक बात संस्कृति पर आघात की है तो संस्कृति कोई इतनी नाजुक चीज नहीं होती कि एक स्टार प्लस से टूट जाए और यदि हमारी

संस्कृति इतनी कमजोर ही है तो आखिर कब तक हम इसकी हिफाजत करते रहेंगे। कभी न कभी तो यह टूट ही जाएगी।

दूरदर्शन में कार्य के दौरान कोई ऐसी घटना... जिसे आप कभी भुला नहीं पाए हों?

वे बोले- हाँ, फिर कुछ देर चुप रहने के बाद बोले- एक दफा टी.वी. यूनिट के साथ हम काचीपुर सीरियल बनाने गए। वहाँ शूटिंग स्थल पर बड़े-बड़े टी.वी. स्टारों से ऑटोग्राफ/फोटोग्राफ हो रहे थे। मैं भी वहीं एक तरफ बैठा था। वहाँ १०-१२ वर्षीय एक बच्ची आई। ऑटोग्राफ लेने के बाद बोली- अंकल आप कौन हैं? मैंने तो आपको मायूस बैठा देखकर ऑटोग्राफ ले लिए। तब मेरी हालत देखने लायक थी। इस घटना को मैं कभी नहीं भुला पाऊँगा।

● **मुलाकात : नीरज भार्गव**

◆ ◆ ◆

रमा विज

रमा विज एक ऐसा नाम है जो याद आते ही धारावाहिक 'नुक्कड़' की सीधी-सादी टीचरजी की याद दिला देता है। जब उसे फिल्म 'प्रेम कैदी' में पुलिस अधिकारी देखा तो इस धारणा को बदलना पड़ा कि टी.वी. के कलाकार थोड़े ही दिनों की लोकप्रियता के बाद गायब हो जाते हैं। रमा विज हमेशा ही टी.वी. पर छाई रही। नुक्कड़/ सांझा चूल्हा/ इंतजार/ मझधार/ ये गुलिस्ताँ हमारा/ हिमालय दर्शन/ कई धारावाहिकों में दर्शकों ने उसे देखा और पहचाना है। उसका सबसे चर्चित धारावाहिक था सर्कस जिसमें उसने ट्रेपीज वाली पोशाक पहनकर सर्कस के करतब दिखाए थे।

रमा विज ने पूना फिल्म और टी.वी. संस्थान से अभिनय का प्रशिक्षण प्राप्त किया है। 'पल दो पल का साथ' तथा '**टैक्सी-टैक्सी**' जैसी फिल्मों में नायिका की भूमिकाएँ कीं। इसी बीच खलनायक शक्ति कपूर और रमा विज की रोमांटिक चर्चा ने जोर पकड़ा। यहाँ तक सुना जाने लगा कि रमा विज अब फिल्मों में काम नहीं कर रही बल्कि शादी करके घर बसा रही है। उसकी इस चर्चा ने उसका कैरियर शुरू होने से पहले ही समाप्त कर दिया। वह फिल्मों से आउट हो गई।

एक लंबा समय बीत गया और लोग रमा विज का नाम भी भूलने लगे थे। तभी अचानक धारावाहिक 'नुक्कड़' में वह टीचरजी के रूप में एकदम चर्चा में आ गई।

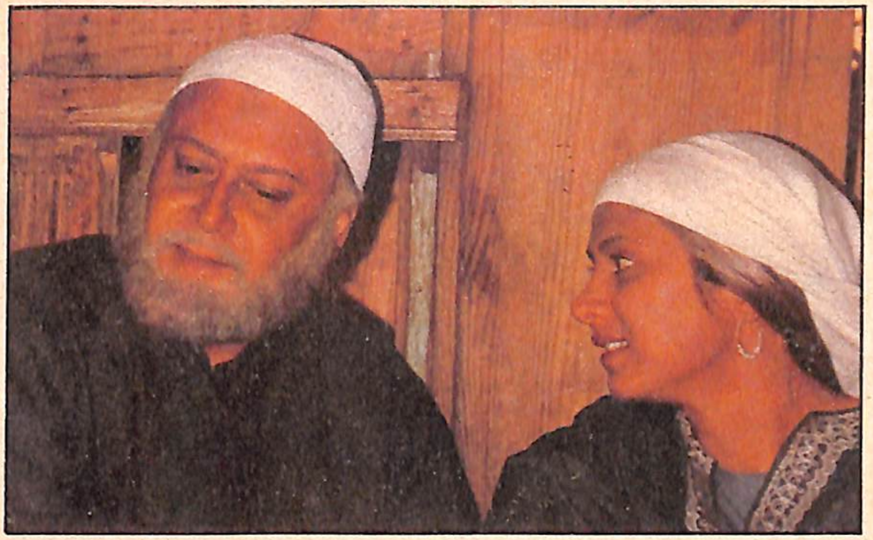
धारावाहिकों में काम करके रमा विज ने न केवल अपना समाप्त होता हुआ कैरियर दुबारा शुरू किया, बल्कि अभिनय को नए आयाम भी दिए। उसके साथ जो दूसरा दुखद हादसा रहा वह यह कि रमा विज ने अपना कैरियर तो हिंदी फिल्मों से शुरू किया लेकिन पंजाबी फिल्मों और धारावाहिकों में ही उलझकर रह गई। इसका कारण वह बताती है- 'सबसे बड़ी बात तो यही है कि मैं किसी के पास जाकर चक्कर नहीं लगा सकती थी। इसलिए जो फिल्में घर बैठे मिल गई उन्हीं में काम किया। इसी दौरान एक फिल्म पंजाबी में मिली नाम था '**चन्न परदेसी**' यह फिल्म इतनी अधिक सफल हुई कि मुझे पंजाबी फिल्मों का लकी स्टार समझा जाने लगा और पंजाबी की फिल्म शुरू होती तो मुझे बतौर नायिका का पहला ऑफर होता। 'चन्न परदेसी' के लिए अवॉर्ड भी मिले थे।'

रमा ने हाल में दोपहर प्रसारण के लिए एक धारावाहिक बनाया है और इस धारावाहिक के साथ ही वह निर्मात्री भी बन गई है। वैसे रमा विज और दिलीप धवन की जोड़ी, दोपहर के कार्यक्रमों के उद्घोषक भी होते हैं। लेकिन दोपहर के प्रसारण से वह खुश नहीं है। वह कहती है- 'सच बात तो यह है कि दोपहर प्रसारण के लिए जितने अच्छे कार्यक्रम बनने चाहिए उतने अच्छे बन नहीं पाते। उसमें भी कई समस्याएँ हैं। पहली बात तो जहाँ तक अच्छे धारावाहिकों का प्रश्न है, उनके पास अच्छे धारावाहिक की कमी है। इस कारण उन्हें चाहते हुए भी पुराने धारावाहिकों का ही दुबारा प्रसारण करना पड़ता है।

लगभग एक दर्जन धारावाहिकों में काम करने के बाद रमा विज को जिस धारावाहिक की भूमिका से संतुष्टि मिली वह था 'कर्मभूमि' जिसमें एक ऐसी लड़की की भूमिका निभाई थी जिसके साथ एक अँगरेज अधिकारी बलात्कार करता है। बाद में बलात्कार की शिकार वह लड़की उस अँगरेज अधिकारी का खून कर देती है।

अभिनय के अलावा रमा विज को कार चलाने और कार रेस में भाग लेने का काफी शौक रहा है। कॉलेज में जब थी तब कॉलेज की हॉकी टीम की कप्तान रह चुकी हैं।

● **बानो अली**



परीक्षित साहनी और राधा सेठ

परीक्षित साहनी

बलराज साहनी के पुत्र परीक्षित साहनी ने अभिनेता के रूप में अपना कैरियर फिल्म 'पवित्र पापी' के नायक के रूप में किया था। बीमारी के कारण वे फिल्मी कैरियर जारी नहीं रख पाए तथा दूरदर्शन के लिए उन्होंने 'बेरिस्टर विनोद' नामक धारावाहिक में प्रमुख भूमिका स्वीकार कर ली। आर्थिक दबावों के कारण स्वीकार की गई इस भूमिका से वे छोटे पर्दे के प्रति आकर्षित हुए तथा उन्होंने 'कथासागर' एवं 'खजाना' में भूमिकाएँ स्वीकार कर लीं। इसके बाद यश चौपड़ा के धारावाहिक 'डॉक्टर साहब' में वे निर्देशक एवं अभिनेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इसी धारावाहिक में उन्होंने अपना तकनीकी ज्ञान बढ़ाया।

सिने विस्टा द्वारा निर्मित धारावाहिक गुल-गुलशन-गुलफाम में मुल्ला खालिक की भूमिका में वे अभिनेता के रूप में नई उँचाइयों तक पहुँच गए। यह संयोग की बात है कि निर्देशक वेद राही ने बीस वर्ष पूर्व इस विषय को फिल्माने की योजना बनाई थी तथा वे नायक के रूप में परीक्षित के पिता बलराज साहनी को लेना चाहते थे। काश्मीर में अपना बचपन बिताने के कारण परीक्षित साहनी वहाँ की जीवन शैली से पूरी तरह परिचित थे।

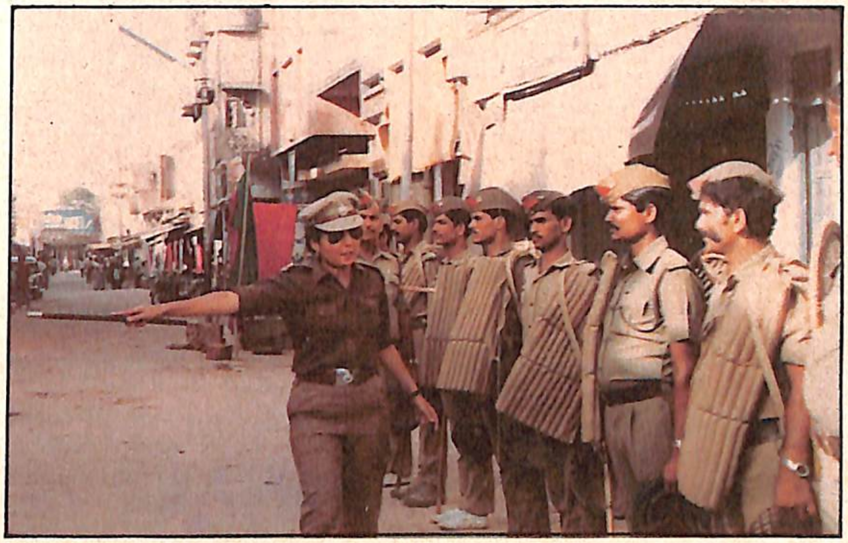
मास्को के अभिनय संस्थान में अभिनय का प्रशिक्षण प्राप्त किए हुए परीक्षित साहनी को गंभीर भूमिकाएँ अधिक पसंद आती है। परीक्षित साहनी की सबसे बड़ी आकांक्षा यह है कि वे एक धारावाहिक का निर्माण करें। इस धारावाहिक की कहानी एक ट्रक ड्राइवर के रोमांचक अनुभवों से जुड़ी है जो लद्दाख से कन्या कुमारी तक यात्रा करता है। परीक्षित साहनी की ट्रेजेडी यह रही कि वे भर जवानी में बूढ़े बना दिए गए और चरित्र नायक के रोल करना उनकी मजबूरी बन गया। □

☐ कविता चौधरी
☐ ललिताजी और
☐ कल्याणी

(तीन नाम वाली स्त्री)

सर्फ की समझदार 'ललिताजी' और उड़ान की तेज तर्रार 'कल्याणी', 'कविता चौधरी' के साथ ये दो पहचान अभिन्न रूप से जुड़ चुकी है। ओठों को गोल-गोल मुद्रा में घुमाती कविता जब भी टीवी पर आई, उन्होंने कुछ हलचल के भँवर पैदा किए। किरण बेदी के दूरदर्शनी अवतार के रूप में उन्होंने लंबी उड़ान भरी। यह सीरियल निश्चित तौर पर उनकी बहुआयामी प्रतिभा का जीवंत सबूत था। इसके निर्माण, निर्देशन, पटकथा लेखन और अभिनय सब की जिम्मेदारी एक साथ उन्होंने खुद उठाई। 'उड़ान' का निर्माण उन्होंने एक उद्देश्य को ध्यान में रख कर किया था। दबंग पुलिस अधिकारी के रूप में वह महिला दर्शकों में हिम्मत का संचार करना चाहती थीं। नारी उत्थान के आम ढीले-ढाले प्रयासों के विपरीत कविता ने अपने सीरियल के माध्यम से इसे एक सार्थक और साहसिक आयाम देने की कोशिश की।

भारतीय समाज में जहाँ औरत का घर से बाहर निकलना भी आपत्तिजनक समझा जाता रहा है, एक स्त्री को पुलिस अधिकारी की भूमिका में महसूस होने वाली दिक्कतों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन्हीं चुनौतियों और सवालों का जवाब ढूँढ़ने के लिए कविता को 'उड़ान' जैसा सीरियल बनाने की प्रेरणा मिली। उनकी एक बहन की नौकरी पुलिस में होने के कारण वह इस पेशे की कार्यप्रणाली से अच्छी तरह अवगत थीं। 'कल्याणी' के रूप में उन्होंने एक लड़की के जीवन संघर्ष को अर्थपूर्ण तरीके से प्रस्तुत किया। सीरियल निर्माण के वक्त कविता केवल २५ वर्ष की थीं। मगर उनके काम में काफी परिपक्वता का आभास देखने को मिला। खासतौर से सीरियल में कल्याणी और उसके पिता के बीच संवाद अत्यंत प्रभावशाली थे। निर्देशन में भी उन्होंने कोई कसर नहीं रहने दी। उत्तरप्रदेश के रोपड़ जिले में जन्मी कविता ने महाविद्यालयीन शिक्षा दिल्ली में ली है। अभिनय के प्रति रुझान के कारण उन्होंने 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' में प्रवेश लेकर प्रशिक्षण प्राप्त किया। संस्थान में उन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार मिला था। प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद फिल्मों में काम करने के उद्देश्य से वे बंबई आ गईं। फिल्म में तो काम मिला नहीं, अलबत्ता 'सर्फ' की मॉडलिंग का मौका उन्हें जरूर मिल गया। ललिताजी के रूप में उनका नाम घर-घर में लिया जाने लगा। मगर मॉडलिंग से कविता संतुष्ट नहीं थीं। उन्होंने रचनात्मक प्रयोग के बतौर सीरियल 'उड़ान' की रूपरेखा बना डाली। इसे फिल्माते वक्त उन्हें काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। सुबह चार बजे से देर रात तक वे व्यस्त रहती थीं। सीरियल का पूरा दारोमदार उन्हीं पर था। कहना होगा कि कविता ने निर्देशन से लगाकर संवाद लेखन तक जबरदस्त कौशल का परिचय दिया। फिर सीरियल का केंद्रीय चरित्र चूँकि उनकी कल्पना के आदर्श का ही रूप था, इसलिए अभिनय में भी उन्होंने अपनी भूमिका को जीवंत अभिव्यक्ति दी। 'उड़ान' दो भागों में प्रसारित हुआ था। इसके पहले भाग की कामयाबी को देखते हुए इसे १३ अतिरिक्त कड़ियों की स्वीकृति दी गई। बंबई की आरे मिल्क कॉलोनी में जब 'उड़ान' की शूटिंग हुई, कविता हर वक्त भाग दौड़ करती रहती थीं। आखिर 'उड़ान' के रूप में उन्हें परिश्रम का सार्थक फल मिला। कविता वास्तविक जिंदगी में भी कल्याणी की तरह दृढ़निश्चयी और आदर्शों की हिमायती हैं। ☐



कविता चौधरी की उड़ान



राजीव वर्मा

राजीव वर्मा भोपाल दूरदर्शन से अभी-अभी इन्वाल्व हुए हैं। लेकिन वे टीवी के सर्वाधिक लोकप्रिय कलाकार हैं। वे दर्शकों के चहेते तभी से बन गए जब टीवी पर **चुनौती** सीरियल आया था। आदर्शवादी प्रिंसीपल शास्त्री की भूमिका ने उन्हें घर-घर में लोकप्रिय बना दिया था। दर्शक बेसब्री से उनके नए धारावाहिक का इंतजार करने लगे। इस बीच उन्होंने धीरज कुमार के धारावाहिक **अदालत** में रेपिस्ट का रोल किया लेकिन जल्दी ही वे बिमल मित्र के उपन्यास **आसामी हाजिर** पर बनने वाले सीरियल **मुजरिम हाजिर** में व्यस्त हो गए। इसमें निभाया उनका कैरेक्टर बहुत ही प्रभावशाली था। **चुनौती** की तरह **मुजरिम हाजिर** में भी उन्होंने खूब लोकप्रियता हासिल की। इसी दरम्यान उनको राजश्री प्रोडक्शन्स की फिल्म **मैंने प्यार किया** में सलमान खान के पिता का रोल मिला। इस फिल्म ने न केवल सफलता हासिल की बल्कि फिल्मों का ट्रेंड ही बदल डाला। राजीव वर्मा यहाँ भी सफल रहे। यह फिल्म लाइन में उनका पहला कदम था। **मैंने प्यार किया** के बाद उन्हें कई फिल्में मिलीं। ये फिल्में हैं- **निश्चय/दीवार/जिद।** अभी जीटीवी के धारावाहिक सहित इस्माइल श्रॉफ की फिल्म **मझदार** और अनिल शर्मा की फिल्म **कर्मवीर** में काम कर रहे हैं।

भोपाल दूरदर्शन में राजीव वर्मा ने मनोहर आशी की एक लघु फिल्म **निर्णय** में काम किया। यहीं की एक पहली टेली फिल्म **केतकी** में भी उन्होंने एक किरदार जिया। हालाँकि यह प्रोडक्शन उनके स्तर का नहीं था फिर भी उन्होंने यह कहकर अपने शहर प्रेम का परिचय दिया कि मेरे शहर का दूरदर्शन है, इसके लिए मुझे हर तरह का सहयोग देने में खुशी है। राजीव वर्मा थिएटर के आदमी हैं। प्रख्यात निर्देशकों के चर्चित नाटकों में अभिनय के अलावा स्वयं के बैनर **भोपाल थिएटर्स** से भी वे अनेक बेहतर नाटक दे चुके हैं। वे हँसमुख और मिलनसार व्यक्ति हैं।

● **सुनील मिश्र**

प्रीति खरे

स्कूली जीवन से ही **प्रीति** को नाटकों में अभिनय करना अच्छा लगता था। स्कूल और कॉलेज में अभिनय करते-करते वे नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में आईं। वे चाहती थीं कि अपनी अभिनय प्रतिभा के जौहर केवल रंगमंच पर ही दिखाएँ किंतु परिस्थितियों ने उन्हें छोटे पर्दे तक पहुँचा दिया। मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास **'निर्मला'** की नायिका के रूप में वेद सिन्हा ने बड़े आग्रह से उन्हें धारावाहिक की मुख्य भूमिका सौंपी। प्रीति की मान्यता है कि जब दर्शकों की प्रतिक्रिया तत्काल मिलती है तभी अभिनेता तथा अभिनेत्री को सुख प्राप्त



पंकज कपूर और प्रीति खरे : फटीचर

होता है और ऐसे अवसर केवल मंच पर ही मिल पाते हैं। दिल्ली के जे.एन.यू. से जर्मन में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त करने वाली प्रीति के विचार काफी बोल्ड हैं। वे बिना विवाह किए स्त्री-पुरुष के साथ रहने को आपत्तिजनक नहीं मानतीं। प्रीति का एक अन्य धारावाहिक 'बूँद-बूँद' विवादास्पद होने के कारण पर्दे पर पूरा नहीं दिखाया गया। धारावाहिक 'उजाले की ओर' में भी प्रीति ने अभिनय की छाप छोड़ी है। वे हिंदी के वरिष्ठ पत्रकार विष्णु खरे की बिटिया हैं।

◆ ◆ ◆

लिलिपुट

बिहार के गया स्थित जामा मस्जिद के इमाम के बेटे हैं, एम.एम. फारुखी, जिन्हें देखकर माँ-बाप को हमेशा बेटे के भविष्य की चिंता सताती रहती थी। विज्ञान में स्नातक एम.एम. फारुखी ने अपने कद के अनुसार अपना नामकरण किया। वे अब एम.एम. फारुखी से **'लिलिपुट'** हो गए और गया से बंबई आ गए। जिस मानवीय मान-सम्मान को प्राप्त करने के लिए लिलिपुट गया से बंबई आए थे, वह प्राप्त करने के लिए करीब सात साल तक संघर्ष करना पड़ा। लिलिपुट की पहली फिल्म थी रोमांस, जिसमें उन्होंने कामेडियन का रोल किया था। लिलिपुट ने ओम कटारे के नाटक ग्रुप को ज्वाइन किया। यहाँ वे एक्टिंग के साथ-साथ नाटकों के कई दृश्य भी अपने हिसाब से लिखते थे। गुरुदत्त के भाई आत्माराम से भेंट हुई। उन्होंने लिलिपुट से अपना धारावाहिक रामलाल- श्यामलाल लिखवाया। आत्माराम, लिलिपुट के लेखन से बहुत अधिक प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी फिल्म 'शरारत' के संवाद लेखन की जिम्मेदारी उनके कंधों पर डाली।

लिलिपुट ने आनंद महेन्द्र के धारावाहिक 'इधर-उधर' का लेखन भी किया और उसमें काम भी किया। इसी क्रम में 'इसी बहाने' और इंद्रधनुष के संवाद भी लिलिपुट ने लिखे हैं। लिलिपुट मूलतः एक अच्छे एक्टर हैं। परंतु उनकी पहचान एक लेखक के रूप में भी बनी है।

लिलिपुट की श्रीमतीजी एवं बेटी औसत कद की हैं। 'चुनाव चिह्न अँगूठा' एवं 'देख भई देख' दो धारावाहिकों को पिछले दिनों उन्होंने लिखा है। □

◆ ◆ ◆

प्यारे मोहन सहाय

धारावाहिक 'हमराही' के दादाजी शिवप्रसाद का चेहरा तो जाना-पहचाना-सा ही लगता था। फिर भी उनके बारे में कुछ विशेष जानकारी दर्शकों को नहीं थी। 'हमराही' में दादाजी की भूमिका निभाने वाले कलाकार को अभी तक दर्शक 'एक कहानी', 'मैला आंचल', मुंगेरीलाल के हसीन सपने' में ही देखा था।

दादाजी की भूमिका निभाने वाले इस कलाकार का वास्तविक नाम है **'प्यारे मोहन सहाय'**।

आपको 'हमराही' के दादाजी वाली भूमिका कैसे मिली?

ऐसा कह सकते हैं कि यह भूमिका मुझे भाग्य से मिल गई। एक दिन इस धारावाहिक के निर्देशक कुँवर सिन्हा का मैसेज मिला कि मैं फोन पर संपर्क करूँ। उनकी पत्नी ज्योति मुझे एन.एस. डी. के समय से ही पहचानती थीं। उसने मुझे घर बुलाया और अपने पति कुँवर सिन्हा से मेरा परिचय करवाया। उन्होंने मुझे दादा शिवप्रसाद वाली भूमिका करने के लिए कहा। मैंने भी बिना कुछ अधिक सोचे-विचारे हाँ कर दी और आज आप लोग मुझे उस भूमिका में देख रहे हैं।

पोस्ट ऑफिस की नौकरी के साथ आपको अभिनय का शौक कैसे हो गया?

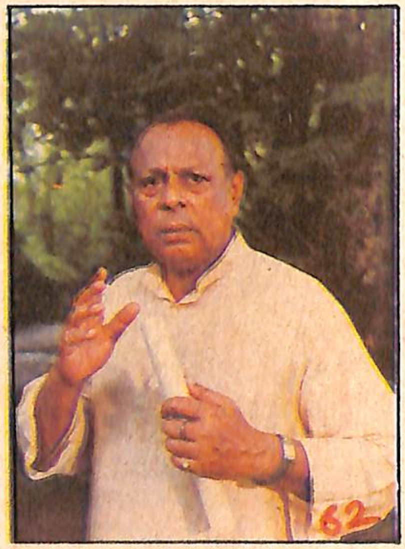
शौक तो हमें काफी पहले से था। मैंने नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा (एन.एस.डी.) से प्रशिक्षण भी लिया है। नौकरी के साथ-साथ नाटकों में भी काम करता रहा। इसके साथ ही एक और बात बता दूँ, कि मैं वह पहला कलाकार हूँ जिसने भारत में टीवी शुरू होने पर नाटक किए हैं।

यह तो काफी पुरानी बात है। दर्शकों ने आपको अब पहचाना ऐसा क्यों?

इसमें कोई संदेह नहीं कि मुझे अब पहचान मिली है, लेकिन यह भी सच है कि जब भारत में टी.वी. शुरू हुआ था तब मैं लाइव टेलिकास्ट करता था। टीवी १९५८ में भारत में शुरू हुआ। उस समय दिल्ली में केवल चार ब्लैक एण्ड व्हाइट टी.वी. सेट थे। १९६२ में मेरा पहला नाटक पंच परमेश्वर दूरदर्शन पर प्रसारित किया गया था।

अभी तक आप कौन-कौन से धारावाहिकों में काम कर चुके हैं?

धारावाहिकों में मेरा पहला धारावाहिक था मंजू सिन्हा की 'एक कहानी'। इसकी एक कड़ी पहला पाठ में मैंने काम किया था। उसके बाद 'मुंगेरी लाल के हसीन सपने' में मुंगेरी के ससुर की भूमिका निभाई। मेरा तीसरा





दीपा साही : जीतेन्द्र के साथ

धारावाहिक था 'मैला आँचल' उसके बाद 'संकल्प' और अब 'हमराही'।

क्या आपने फिल्मों में भी काम किया है?

फिल्में भी कई की हैं जैसे भ्रष्टाचार/ दामुल/ माँ/ भोजपुरी में बाँसुरिया बाजे गंगा तीर, कब होई हे गवनवा हमार। मेरी कुछ आने वाली फिल्में भी हैं जैसे बेटा हो तो ऐसा, दूसरा जनम, छत्तीस का आँकड़ा, अभिशप्त आदि। ● **के. एम. श्रीवास्तव**

◆ ◆ ◆

दीपा साही

कभी-कभी कोई रोल 'लार्जर देन लाइफ' हो जाता है, तो कलाकार को एक नई ऊँचाई मिल जाती है। **दीपा साही** के साथ ऐसा ही हुआ है। जब से **माया मेम साहब** बनी है, वह दीपा साही कम और 'माया मेम साहब' अधिक हो गई है। दीपा साही भारतीय सिनेमा और टीवी की एक अनूठी उपलब्धि हैं। उनके पास देह है। सुंदरता है और एक शालीन और प्रभावशाली व्यक्तित्व है। गोविंद निहलानी के तमस में उसने अपने पात्र को जीवंत बना दिया था। तमस में जो दंगे के दृश्य हैं, उन्हें देखकर वह काँप जाती है क्योंकि इंदिरा गाँधी की मौत पर जो दंगे हुए थे वह उसने अपनी आँखों से देखे थे। 'हीरो हीरालाल' उसकी पहली कर्मशियल फिल्म थी। यहीं से उसकी नजरों में केतन मेहता ऐसे समाए कि १४ अगस्त १९८८ को दोनों ने शादी कर ली। इसके पहले दीपा कला फिल्मों की नायिका मानी जाती थी। 'किसी एक फूल का नाम लो/ पार्टी/ आघात/ एक डॉक्टर की मौत में उसने यादगार भूमिकाएँ की हैं। वैसे उसकी पहली फिल्म पूना फिल्म संस्थान की चालीस मिनट की लघु फिल्म है। जिसका नाम है 'किन्हीं छुट्टियों में'। मि. योगी श्रृंखला में उसने काम किया है।

दीपा दिल्ली की रहने वाली है। पिता फौज में होने के कारण दीपा ने उत्तर भारत का कोना-कोना देखा है। उसने दिल्ली के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में कुछ दिनों तक पत्रकारिता भी की है। कॉलेज के दिनों में वह नाटक करती रही और नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से निकलने के बाद दर्जनों नाटक खेले जिनमें बाकी इतिहास, पावर ऑफ डार्कनेस, हेमलेट और आधे अधूरे प्रमुख हैं। केतन मेहता के साथ रहते हुए दीपा बहुत कुछ करना चाहती है। ● **आदर्श गर्ग**

◆ ◆ ◆

ललित मोहन तिवारी

नैनीताल के एक साधारण परिवार में जन्मे **ललित मोहन** ने अपने अभिनय का सफर नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से प्रारंभ किया। वहीं छात्रों को एक्टिंग भी सिखाई। सन् बयासी में प्रथम भारत महोत्सव के अवसर पर जो नाटक का ग्रुप फ्रांस/ इंग्लैंड/ पोलैंड और पूर्वी जर्मनी गया था, उसमें ललित मोहन भी एक सदस्य थे।

दिल्ली रंगमंच पर सत्तर से अधिक नाटक खेलने के पश्चात कमल स्वरूप की फिल्म **'ओम दर-ब-दर'** में काम करने के लिए बंबई आ गए। तब से बंबई में ही रम गए। ललित मोहन ने फिल्मों एवं दूरदर्शन के धारावाहिकों में काम करना शुरू किया। 'बहादुर शाह जफर'/ रजनी/ दर्पण/ खजाना/ मनोरंजन/ लोक-लोक की बात/ इंतजार/ भारत एक खोज/ गुल गुलशन गुलफाम/ लहू के फूल/ सौदा/ भारत के शहीद/ रिश्ता आदि धारावाहिकों में अलग-अलग भूमिकाएँ निभाई हैं। महाभारत में 'संजय' की भूमिका भी ललित मोहन ने बखूबी निभाई और छोटे पर्दे के माध्यम से अपनी लोकप्रियता के झंडे फहराए। 'बाइबिल की कहानियाँ' में भी भूमिका है।

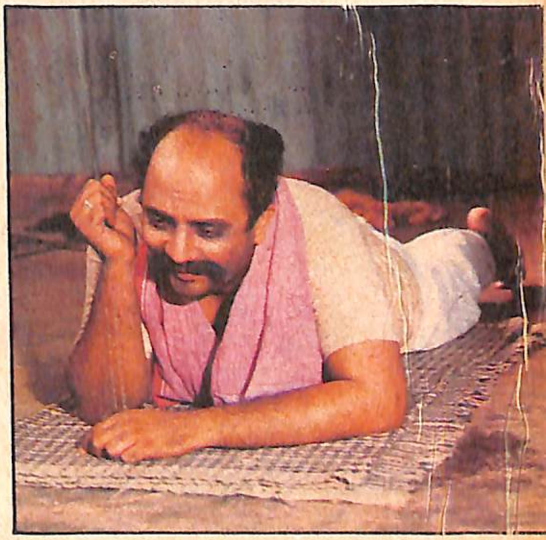
धारावाहिकों के साथ इन फिल्मों में भी उन्होंने अभिनय किया ये वो मंजिल तो नहीं/ मैं जिंदा हूँ/ सच/ भ्रष्टाचार/ चाँदनी/ रूप की रानी चोरों का राजा/ धर्मशक्ति/ पराक्रमी/ विजयदीप और अंगार। □

◆ ◆ ◆

राजेश पुरी

(लल्लू)

जब दूरदर्शन पर धारावाहिक 'हमलोग' का प्रदर्शन हो रहा था तब सर्वाधिक लोकप्रिय पात्र के रूप में **'लल्लू'** का नाम पूरे भारत में विख्यात था। लल्लू उर्फ राजेश पुरी मूलतः रंगमंच के कलाकार हैं तथा ३०० से भी अधिक नाटकों में काम कर चुके हैं। सन् १९८१ से बंबई में आ बसे राजेश पुरी ने पर्दे से रिश्ता फिल्म 'जाने भी दो यारों' से जोड़ा। इसके बाद उन्होंने 'अब आएगा मज़ा'



राजेश पुरी : लल्लू

'जोशीले' एवं वी. शांताराम की फिल्म 'झंकार' में भी काम किया। 'वल्लभपुर की रूप कथा' नामक नाटक में उनके अभिनय से प्रभावित होकर मनोहर श्याम जोशी ने धारावाहिक 'हमलोग' के लल्लू की भूमिका के लिए चुना। वे छोटे पर्दे के दर्शकों के लिए लाड़ले बन गए। एक अन्य नाटक 'यहूदी की लड़की' में उनकी चार्ली जैसी भूमिका देखकर लिन्टाज ने उन्हें 'चेरी ब्लासम' के विज्ञापन के लिए चुना। इस विज्ञापन के लिए सन १९८६ में उन्हें 'वर्ल्ड काम्पीटीशन' में सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन का अवार्ड मिला था। राजेश पुरी आजकल फिल्मों में हास्य भूमिकाएँ काफी कर रहे हैं। 'आजा सनम'/ 'हस्ती'/ 'इश्क खुदा है'/ 'फौज'/ 'महाशक्तिशाली'/ प्रमुख फिल्में हैं। एक फिल्म 'दिल्ली का शेखचिल्ली' में वे प्रमुख भूमिका कर रहे हैं। □

दीपिका देशपांडे

भोले भाले मासूम चेहरे वाली, नटखट, चुलबुली 'ऐमन' को जिन लोगों ने **'फरमान'** नामक धारावाहिक में देखा है वे शायद ही विश्वास कर पाएँ कि यह भूमिका करने वाली लड़की मराठी भाषी है और पहली बार अभिनय कर रही है। वायुसेना के अवकाश प्राप्त अधिकारी की बेटी **दीपिका देशपांडे** ने दिल्ली विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। वे छोटे पर्दे पर तो पहली बार आई किंतु अभिनय करने की चाह बचपन से ही दिल में संजोए रखीं थीं। रंगमंच से भी वे जुड़ी रहीं तथा 'ऐमन' की भूमिका पाने के लिए उन्होंने स्वयं भी काफी प्रयास किए। लेख टंडन ने उनका चुनाव तो कर लिया किंतु बाद में यूनिट के कई लोगों को लगा कि यह मराठी भाषी लड़की हैदराबादी उर्दू कैसे बोल पाएगी? धारावाहिक की लेखिका राफिया अमीन ने उनकी बहुत मदद की तथा वे सफल रहीं। फिल्म निर्देशक हरीश शाह ने दीपिका का अभिनय देखने के बाद अपनी फिल्म 'अब इंसाफ होगा' के लिए अनुबंधित किया है। □



◆ ◆ ◆

धीरज कुमार

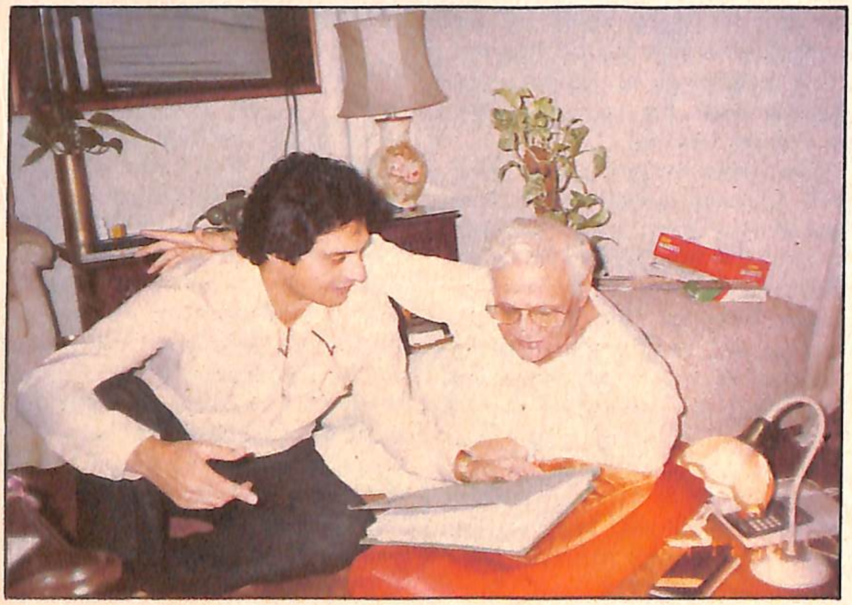
कुछ कलाकारों को कला से ज्यादा कलाबाजियों के लिए जाना जाता है, **धीरज कुमार** उनमें से एक हैं। दूरदर्शन की अतिरिक्त अनुकंपा के कारण उनका नाम अक्सर विवादों में घिरा रहा। जहाँ बड़े-बड़े निर्माताओं की मंडी हाउस के दरवाजों से बेरंग वापसी हो रही थी, वहीं धीरज एक के बाद एक नए सीरियल के साथ छोटे परदे पर अवतरित होते गए। पता नहीं उनके पास कौन-सा गुरुमंत्र था, कि उन्हें अपने धारावाहिकों की स्वीकृति के लिए कभी लंबा धीरज धरने की जरूरत ही नहीं पड़ी। अब तक उनके कई सीरियल सुबह-दोपहर और रात्रिकालीन प्रसारणों में प्रदर्शित हो चुके हैं, जिनमें **'कहाँ गए वो लोग'** और **'अदालत'** विशेष रूप में लोकप्रिय रहे।

धीरज कुमार ने अपना कैरियर फिल्मों से शुरू किया था। १९६८ में उनकी पहली फिल्म 'रातों का राजा' प्रदर्शित हुई। इसके बाद उन्होंने आतिश/ स्वामी/ उधार का सिंदूर/ क्रांति आदि फिल्मों में काम किया, लेकिन बतौर हीरो धीरज कुमार सुपर फ्लॉप साबित हुए। एक्टिंग में असफल रहने के बाद धीरज ने दो वीडियो फिल्मों 'आधी रात के बाद' और 'अकबरी चाल' का निर्माण किया। इसी बीच दूरदर्शन की शुरूआत के साथ वे छोटे परदे की ओर मुड़ गए। मनोज कुमार के सहयोग से उन्होंने देशभक्ति पर आधारित सीरियल 'कहाँ गए वो लोग' की रूपरेखा तैयार की। आजादी के संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले स्वतंत्रता सेनानियों के जीवन को इस धारावाहिक में प्रस्तुत किया गया। अच्छे उद्देश्य और उम्दा विषयवस्तु के बावजूद यह सीरियल कमजोर प्रस्तुति के कारण आलोचना का शिकार हुआ। दूसरी तरफ दूरदर्शन को इसका प्रसारण बीच में ही रोकना पड़ा, क्योंकि देश के विघटनकारी तत्व सीरियल में प्रदर्शित स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों की अँग्रेजों के खिलाफ लड़ाई को गलत अर्थों में लेने लगे थे। लंबे अंतराल के बाद यह सीरियल पुनः प्रसारित हुआ। संयोगवश इस बार सीरियल को अपेक्षाकृत अधिक सराहना और लोकप्रियता मिली। एक सर्वेक्षण के अनुसार ५४ प्रतिशत दर्शक 'कहाँ गए वो लोग' देखना पसंद करते थे। धीरज कुमार के लिए यह एक उत्साहवर्धक सफलता थी। 'कहाँ गए वो लोग' को राष्ट्रीय स्तर पर अनेक पुरस्कार भी मिले। इसे भूतपूर्व सूचना-प्रसारण मंत्री अजीत पांजा द्वारा अपट्रान अवार्ड, भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह द्वारा कला संगम पुरस्कार तथा डॉ. शंकरदयाल शर्मा द्वारा सरस्वती पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

'कहाँ गए वो लोग' की सफलता के बाद धीरज कुमार ने कानूनी दाँव-पेंचों पर आधारित सीरियल 'अदालत' बनाया। इसकी पटकथा एवं निर्देशन में उन्होंने अपनी पत्नी ज़ूबी कोचर की मदद ली। अपराध-कथाओं के प्रति भारतीय जनता की दिलचस्पी के कारण यह सीरियल भी बड़ा दर्शक वर्ग जुटाने में सफल रहा। 'अदालत' में प्रमुख भूमिकाएँ स्वयं धीरज कुमार ने निभाई थीं— इस लिहाज से यह धारावाहिक पूरी तरह उनका घरेलू उद्योग था। धीरज कुमार ने दूरदर्शन पर किसी भी तरह के विषय से परहेज नहीं किया। वे अपनी सीरियल निर्माण फेक्टरी में विपुलता से उत्पादन करते रहे हैं। उन्होंने दो संस्कृत धारावाहिक 'सुषमा वल्लकी' और 'हितोपदेश' भी बनाए। इसके अलावा सुबह के प्रसारण में उनके हास्य धारावाहिक जान आफत में/ रानी नागफनी की कहानी/ एजेंट आल राउंडर तथा दोपहर के प्रसारण में 'रिश्तेदारियाँ' छोटे परदे पर आ चुके हैं।

आजकल धीरज एक बड़े प्रोजेक्ट 'ओम नमः शिवाय' पर काम कर रहे हैं। १०८ कड़ियों में निर्मित होने वाले इस धारावाहिक की रूपरेखा तैयार हो चुकी है। अगर सीरियल दर्शकों की धार्मिक श्रद्धा को जगाने में सफल रहा, तो धीरज भी रामानंद सागर की तरह 'श्री १००८ परमहंस' की पदवी पा जाएँगे। बहरहाल दूरदर्शन द्वारा तो उन्हें यह हैसियत प्राप्त हो ही चुकी है, क्योंकि नए धारावाहिकों के अभाव में मंडी हाउस का कारोबार धीरज कुमार की सतत आपूर्ति की बदौलत जारी रह सका। □

धीरज कुमार और डॉ. राही मासूम रज़ा



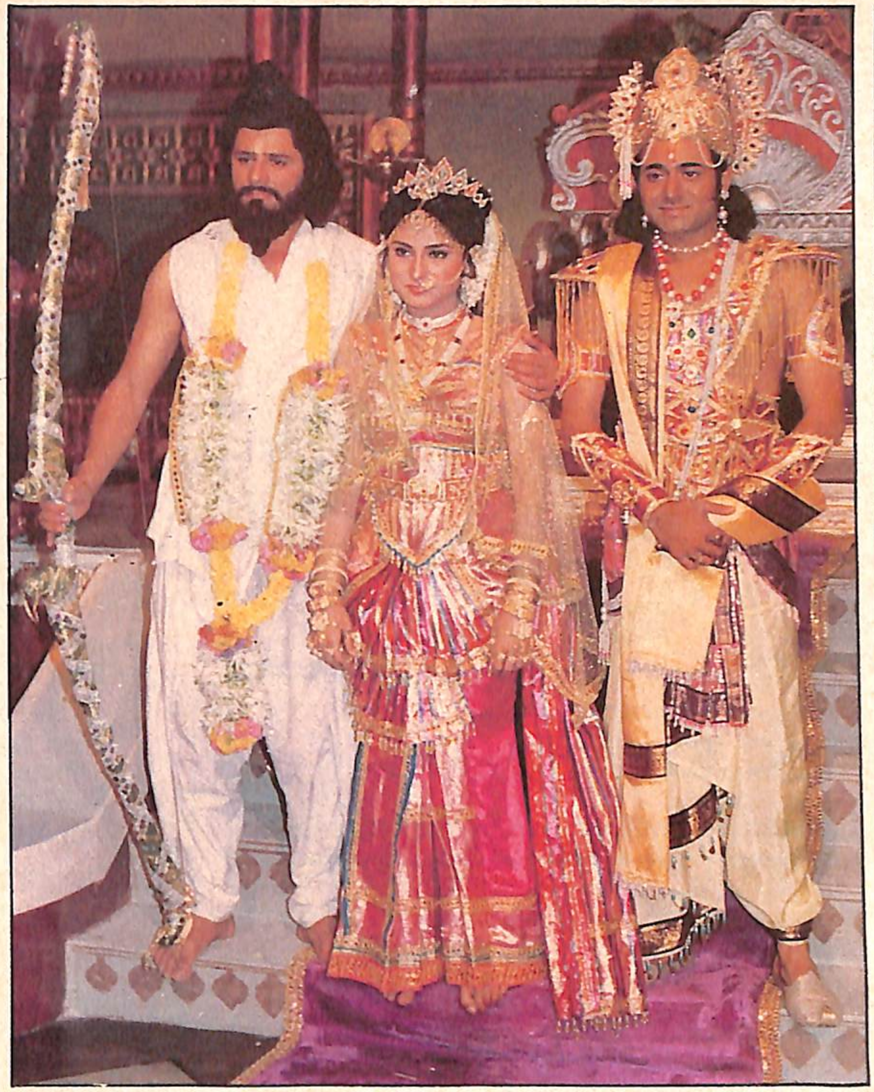
नितीश भारद्वाज

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवतु भारतः अभ्युत्थानाय धर्मस्य तदात्मानाय सृजाम्यहम'... और इस तरह नितीश भारद्वाज ने दूरदर्शनी 'महाभारत' में कृष्णावतार लिया। कृष्ण जैसी महत्वपूर्ण भूमिका जिसे पाने के लिए कई कलाकार हाथ-पाँव मार रहे थे, उन सबको चकमा देते हुए नितीश न जाने कहाँ से प्रकट हुए व बी.आर. चोपड़ा के हाथों से मोरपंख लेकर अपने मस्तक पर सजा लिया। कृष्ण के रूप में नितीश का चयन सचमुच चौंकाने वाला था क्योंकि इस भूमिका के उम्मीदवारों की फेहरिस्त में उनके मुकाबले बड़े-बड़े स्थापित कलाकार थे। लिहाजा एक निहायत अपरिचित और कॉलेज छात्र नजर आने वाले अभिनेता के कृष्ण बनने की खबर सुनकर अधिकतर लोगों ने संशय व्यक्त किया कि सीरियल का सत्यानाश होने में देर नहीं लगेगी। क्योंकि समूचा महाभारत कृष्ण पर ही टिका है। मगर श्याम सलोने नितीश ने जब आकर्षक आँखों और होठों पर खेलती मोहक स्मित की झलक छोटे परदे पर बिखराई, तो दर्शकों के सिर बरबस ही श्रद्धा और प्रशंसा की मुद्रा में आ गए। कृष्ण की भूमिका में नितीश भारद्वाज ने काफी हद तक प्रभावित किया।

अगर चोपड़ा साहब ने नितीश को महाभारत का कृष्ण न बनाया होता तो वे शायद आज घोड़ों का इलाज कर रहे होते। पेशे से वे एक पशु चिकित्सक हैं। अभिनय का थोड़ा-बहुत शौक होने की वजह से वे नाटक वालों के संपर्क में आ गए। देखते ही देखते उनकी किस्मत का सितारा बुलंदी पर पहुँच गया। जब उन्हें दूरदर्शन के सर्वाधिक लोकप्रिय धारावाहिक 'महाभारत' में कृष्ण जैसा चुनौतीपूर्ण चरित्र निभाने का अवसर मिला। नितीश खूब चर्चित हुए। अपने अभिनय/ रहन-सहन/ टीवी स्क्रीन के पीछे रोमांस के लिए 'महाभारत' की यूनिट में ही तीन गोपियों के साथ उनके रास की चर्चा उड़ी। वर्षा उसगाँवकर (उत्तरा), रूपा गांगुली (द्रौपदी) और चन्द्रा रूपारेल (रूक्मिणी)। नितीश इसे पारलौकिक प्रेम की संज्ञा ही देते रहे। बहरहाल स्वयंवर उन्होंने रचाया फेमिना पत्रिका की संपादिका विमला पाटिल की पुत्री 'मोनिषा पाटिल' के साथ।

'महाभारत' के बाद नितीश कोई खास उल्लेखनीय उपलब्धि हासिल नहीं कर पाए। उनकी फिल्म प्रदर्शित हुई थी-'तृषाग्नि' जिसमें पल्लवी जोशी के साथ उनके गर्म दृश्य चर्चा का विषय बने। □

◆ ◆ ◆



'कृष्ण' नितीश भारद्वाज के साथ द्रोपदी और अर्जुन

रीटा भादुड़ी

'रीटा भादुड़ी' टीवी के वरिष्ठ कलाकारों में से एक हैं। थोड़े-बहुत अंतराल से वे किसी न किसी धारावाहिक में नजर आती रहीं। वैसे बुनियादी तौर पर रीटा का कैरियर फिल्मों से अधिक संबद्ध रहा है। उन्होंने कई बहुभाषी फिल्मों में काम किया। इनमें सर्वाधिक ७५ फिल्में गुजराती की थीं। इसके अलावा हिंदी/ बंगाली/ मलयालम/ भोजपुरी आदि भाषाओं की फिल्मों में भी रीटा ने विविध भूमिकाएँ निभाई हैं। हिंदी फिल्मों के दर्शक उन्हें डाकू रानी फूलन देवी की भूमिका से पहचानते हैं। गुजराती फिल्मों की रीटा शीर्षस्थ हीरोइन रह चुकी हैं।

एक्टिंग का ककहरा रीटा ने फिल्म इंस्टीट्यूट (पूना) में सीखा। शबाना आजमी उनकी सहपाठी थीं। एक बार संस्थान द्वारा किसी चेरिटी-शो में दोनों से नाचने को कहा गया। शबाना और रीटा को नाचना बिल्कुल नहीं आता था। मंच पर उनके देवता कूच कर गए। सौभाग्य से जिस हिंदी फिल्म के गाने पर उन्हें नृत्य करना था, उसकी ग्रामोफोन रिकॉर्ड पर सुई गीत के आरंभ से उचक कर अंतिम पंक्ति तक पहुँच गई। और इस तरह दोनों ने राहत की साँस ली। शबाना और रीटा को नाचना आज भी नहीं आता है। फिल्म संस्थान से निकलते ही रीटा को एक मलयालम फिल्म 'कन्याकुमारी' में काम मिल गया। इसमें उनके साथ कमल हासन नायक थे। रीटा के लिए बहुभाषी फिल्मों में अभिनय का सिलसिला यहीं से शुरू हुआ।

राकेश चौधरी द्वारा निर्देशित 'बनते-बिगड़ते' रीटा भादुड़ी का पहला टीवी सीरियल था। इस हास्य धारावाहिक के बाद उन्होंने चुनौती/ मुजरिम हाजिर/ कशमकश/ खानदान/ गुलदस्ता/ आशियाना/ मंजिल आदि धारावाहिकों में काम किया। 'मुजरिम हाजिर' में रीटा की भूमिका काफी प्रभावशाली थी। आमतौर से दूरदर्शन पर उन्हें गृहस्थ पत्नी अथवा प्रौढ़ माँ के रोल ही मिलते रहे हैं, जबकि गुजराती फिल्मों में आज भी उनकी छवि एक हीरोइन की है। गुजराती सिनेमा में रीटा के लंबे कैरियर को देखते हुए अधिकतर लोग उन्हें गुजराती समझते हैं, जबकि मूलतः वे बंगाली हैं। □

मोहन गोखले

(मि. योगी)

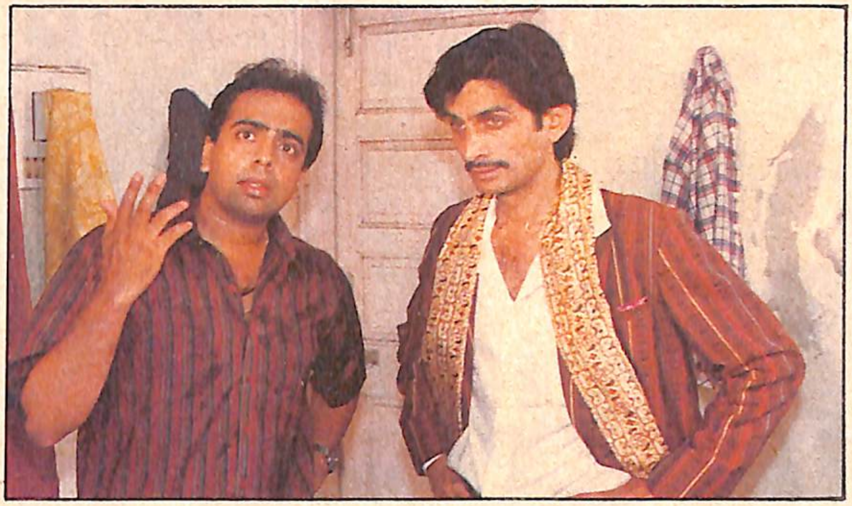
जो दर्शक मिस्टर योगी को जानते हैं- वे **मोहन गोखले** को भी जानते हैं। ३९ वर्षीय मोहन गोखले ने १६ वर्ष पहले अपने कैरियर की शुरूआत रंगमंच से की। पूना के फर्ग्युसन कॉलेज से स्नातक होने के बाद वे रंगकर्म से जुड़ गए। पहले पहल मोहन ने श्रीराम लागू द्वारा निर्देशित नाटक 'कस्तूरी मृग' में अभिनय किया था। उससे उन्हें बहुत ख्याति मिली और वे अभिनेता के रूप में स्थापित हो गए। कई मराठी और हिंदी नाटकों में काम करने के बाद मोहन गोखले को फिल्मों में भी काम करने का 'चांस' मिला। उनकी पहली फिल्म केतन मेहता द्वारा निर्देशित गुजराती भाषा की भवनी भवाई थी। बाद में मिर्च मसाला, हीरो हीरालाल, स्पर्श आदि फिल्में आई, जिनमें गोखले ने भूमिका अदा की। हिंदी के अलावा २० मराठी फिल्मों में भी 'मोहन गोखले' हाजिर हुए हैं। महाराष्ट्र सरकार ने उन्हें तीन बार 'श्रेष्ठ अभिनेता' का पुरस्कार दिया है।

● **प्रकाश शर्मा**



अरुणा शास्त्री

डॉ. (श्रीमती) अरुणा शास्त्री अँगरेजी साहित्य में एम.ए. और पी-एच.डी. हैं लेकिन आपका लेखन कर्म हिंदी में है। जुलाई १९८१ से स्वतंत्र तथा नियमित लेखन कर रही हैं। अब तक अखिल भारतीय स्तर के पत्र-पत्रिकाओं में तीन सौ से अधिक व्यंग्य/ कहानियाँ/ लेख तथा कविताएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। धर्मयुग में प्रकाशित कहानी प्रतिबिम्ब के सहारे- पर पाँच अंकी टीवी श्रृंखला का मार्च १९९० में दोपहरकालीन सभा में प्रसारण हो चुका है। इसकी पटकथा तथा संवाद सूरज सनीम ने लिखे थे। इस धारावाहिकमें प्रीति सप्रू/ सतीश कौल/ जावेद खान/ माधुरी/ चित्रा देशमुख ने अभिनय किया था। डॉ. शास्त्री की व्यंग्य वार्ताएँ तथा नाटक आकाशवाणी से प्रसारित एवं पुरस्कृत हो चुकी हैं। नवसाक्षरों के लिए आपने उत्तर साक्षरता साहित्य के अंतर्गत १८ पुस्तिकाएँ लिखी हैं, जिन्हें म.प्र. के राज्य संसाधन केंद्र प्रौढ़ शिक्षा ने प्रकाशित किया है। □



अनंत महादेवन : मोहन गोखले

कृतिका देसाई

एक गुजराती लड़की गुजराती नाटकों में काम करने के बाद बंबई दूरदर्शन पर लोकप्रिय हो गई। उसका नाम है **कृतिका देसाई।** सबसे पहले विनोद पांडे ने उसे अपने सीरियल 'एअर होस्टेस' में एक रोल दिया। इसके बाद जासूसी श्रृंखला 'करमचंद' के चार अंकों में उसने काम किया। मंजू सिंह की 'एक कहानी' की कुछ कहानियों में वह प्रस्तुत हुई है। वह फिल्मों में काम करना चाहती है लेकिन अपनी भूमिकाओं का चयन बहुत सोच



समझ कर करने में विश्वास रखती है। दयाल निहलानी की फिल्म गुरुदक्षिणा में उसने छोटा रोल किया है। दरअसल कृतिका देसाई से दर्शकों को बहुत उम्मीदें थीं। लेकिन अमजद खान के भाई इम्तियाज के साथ शादी से सारी संभावनाओं के दरवाजे बंद हो गए लगते हैं। □

◆ ◆ ◆

धर्मेश तिवारी

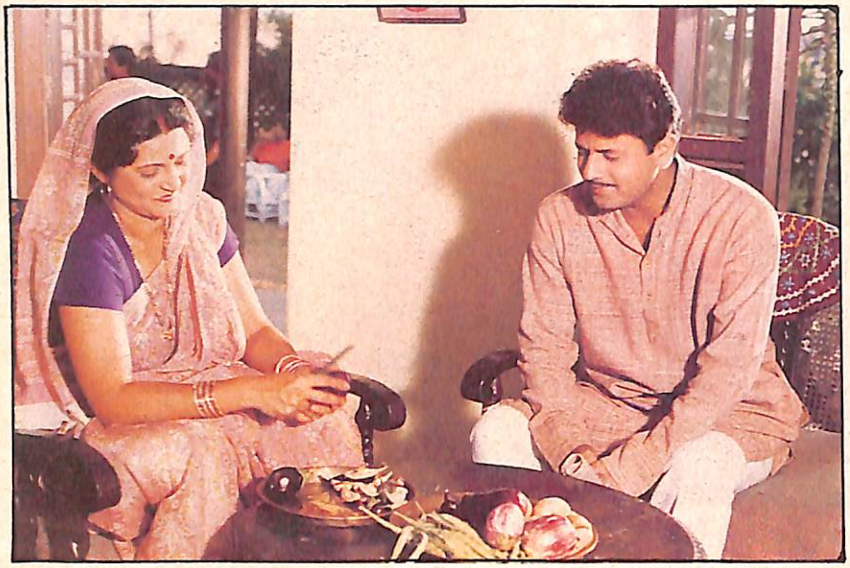
'महाभारत' सीरियल की लोकप्रियता के साथ ही उसमें काम करने वाले कई प्रमुख कलाकार एकाएक मशहूर हो गए। इनमें से एक थे गुरु कृपाचार्य का रोल निभाने वाले **धर्मेश तिवारी**। मेहनती व जिंदादिल इंसान।

गुरु कृपाचार्य की भूमिका सीरियल में इतनी प्रमुख तो नहीं थी कि लोग अभिनय की वजह से उसे पहचानते। मगर करीब सत्तर एपिसोड में लगातार पर्दे पर आते रहने के साथ ही अन्य सीरियल 'विश्वामित्र' में नारद मुनि व 'दरार' में एक हिंदू परिवार के बड़े बेटे ओम की भूमिका मिलने से धर्मेश तिवारी की अलग पहचान बन गई।

नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से अभिनय की शिक्षा प्राप्त कर धर्मेश ने दिल्ली में गीत एवं नाटक प्रभाग में काम किया। अपने ग्रुप के साथ देश की सीमाओं पर प्रोग्राम पेश किए। बाद में बंबई आने पर एक स्टेज ग्रुप बनाया, जिसमें सभी कलाकार एक दूसरे की मदद करते थे। हिंदी की जानी-मानी अभिनेत्री नीलम को संवाद बोलने की कला सिखाने का श्रेय धर्मेश को ही है।

दूरदर्शन के करीब अस्सी नाटिकाओं, नाटक व सीरियलों में उन्होंने काम किया है। दूरदर्शन पर प्रसारित हुए मुख्य सीरियल जिनमें उनकी अलग-अलग भूमिका थी वे हैं- महाभारत/ दरार/ विश्वामित्र/ अपराधी कौन/ पेइंग गेस्ट/ तृष्णा/ करमचंद/ नुक्कड़/ कहाँ गए वो लोग/ अदालत/ भारत एक खोज/ गुणीराम/ लहू के फूल/ फोर्ट्स ऑफ इंडिया/ चुन्नी/ वैशाली की नगर वधू।

वैशाली की नगर वधू के आप प्रोडक्शन डिजाइनर भी रहे हैं। इनके अलावा उन्होंने एक कॉमेडी सीरियल 'खिड़कियाँ' का निर्माण किया तथा एक मराठी सीरियल जो एक साइंस फिक्शन है, का निर्देशन भी किया है। फिल्मों के क्षेत्र में भी उनका योगदान रहा। जवानी/ जवाब/ लव मेरेज/ बदनसीब/ नासमझ/ हम इंतजार करेंगे/ अब मेरी बारी/ नाम व जीवन संघर्ष में जैसा भी रोल मिला सहर्ष स्वीकार किया। आपका पूरा परिवार फिल्मों में कार्यरत है। □



शृंखला मशाल : अरुण गोविल-लेखा गोविल

लेखा गोविल

मध्यप्रदेश के ग्वालियर में जन्मी **लेखा** ने कभी सोचा भी नहीं था कि वह किसी दिन एक मशहूर अभिनेता की पत्नी बनकर अभिनय के क्षेत्र में पहुँच जाएगी। आम लड़कियों की तरह लेखा ने भी ग्वालियर में रहकर बी.ए. किया। अकेली संतान होने से घर में बोर होने लगी तो फ्रेंच भाषा का कोर्स कर लिया। पेंटिंग में रुचि थी इसलिए बंबई आ गई। एयर होस्टेस के लिए चुनाव हो गया, लेकिन पिताजी ने जाने नहीं दिया। बाद में सेंचुरी मिल्स में टेक्सटाइल डिजाइनर बन गई।

बंबई में नौकरी करते समय उस कंपनी ने उन्हें मॉडलिंग का ऑफर दिया और यहीं से लेखा के एक्टिंग कैरियर की शुरूआत हुई। स्टेज पर काम करने के दौरान **अरुण गोविल** से मुलाकात हुई। अरुण के सरल एवं सौहार्दपूर्ण स्वभाव ने लेखा का मन जीत लिया। लेखा के साथ गोविल नाम जुड़ गया।

शादी के समय अरुण के पास न कोई फिल्म थी न ही फिल्म इंडस्ट्री में कोई उसे जानते थे फिर भी लेखा ने अपनी जिद से घर वालों को मनाया और शादी हो गई। शादी के बाद कुछ वर्षों तक लेखा अपने घर व बेटे अमल में व्यस्त रही और रंगमंच की ओर ध्यान ही न गया। जब अरुण फिल्मों में व्यस्त रहने लगे, तो लेखा ने भी स्वयं को व्यस्त रखने हेतु सीरियलों के निर्माण की योजना बनाई। जिस समय अरुण रामायण की शूटिंग में व्यस्त थे लेखा ने भूमिका आर्ट्स के नाम से एक संस्था बनाई। भरत नाट्यम तो वह जानती ही थीं, बेले करना शुरू कर दिया। उसने गुजराती में 'परिवर्तन' के नाम से एक बेले तैयार किया, जो काफी चर्चित हुआ। इसके अलावा रामायण के कलाकारों के साथ एक बेले भी तैयार किया जिसके ३६ शो भारत में एवं १६ विदेशों में हुए हैं।

एक्टिंग के अलावा लेखा को पेंटिंग, डांस व ड्राइविंग का शौक है। गाने का शौक नियति ने छीन लिया, क्योंकि टांसिल के ऑपरेशन में उनकी वोकल कॉड डेमेज हो गई। वह लता मंगेशकर या आशा भोंसले के समान एक गायिका बनना चाहती थीं। अरुण गोविल के साथ धारावाहिक 'मशाल' में उसने परदे के पीछे रहकर सहयोग किया है। □

◆ ◆ ◆

रजत कपूर

रजत कपूर दूरदर्शन के दर्शकों के लिए अब अपरिचित नहीं हैं। बासु चटर्जी के लोकप्रिय धारावाहिक 'व्योमकेश बक्षी' में जासूस 'व्योमकेश बक्षी' का किरदार उन्होंने बड़े सरल एवं सहज ढंग से निभाया था।



व्योमकेश रजत कपूर और सुकन्या कुलकर्णी

इसके पूर्व भी वे कई धारावाहिकों में काम कर चुके थे, परंतु उनकी पहचान दर्शकों में 'व्योमकेश बक्षी' से ही हुई। शुरू में वे बच्चों के लोकप्रिय धारावाहिक 'खेल खिलौने' में दिखाई दिए थे। धारावाहिक 'घर जमाई' में आपने अनंत महादेवन के साले की भूमिका की थी। 'युगांतर' में मधुसूदन दत्त की भूमिका में थे। इसके अलावा वे दूरदर्शन के कई कार्यक्रमों में भी भाग ले चुके हैं और कई वीडियो फिल्मों में भी बतौर काम्पीयर रह चुके हैं।

कॉलेज समय से ही आपकी अभिनय में रुचि रही है। १९८२ में रजत कपूर प्रोफेशनल थिएटर से जुड़ गए। इस दौरान

कामिनी कौशल के पिता राय बहादुर एम.आर. कश्यप प्रख्यात वनस्पति शास्त्री थे। वे अक्सर अनुसंधान के सिलसिले में भूटान जाया करते थे। उनके दोनों पुत्र

□ कामिनी कौशल

बच्चों के

स्थिर एवं फिल्म छायांकन के लिए साथ जाते थे। इन्हीं भाइयों ने एक शौकिया लघुकथा फिल्म का निर्माण किया, जिसमें मात्र सात वर्ष की उम्र में कामिनी कौशल ने पहली बार फिल्म कैमरे का सामना किया। कामिनी कौशल का बचपन लाहौर में बीता। वहीं से उन्होंने बी.ए. (ऑनर्स) अँगरेजी में विशेष योग्यता के साथ किया।

कामिनी कौशल का फिल्मों में प्रवेश निर्माता-निर्देशक चेतन आनंद की फिल्म **'नीचा नगर'** से हुआ। नीचा नगर को टिकट खिड़की पर खास सफलता नहीं मिली, लेकिन १९४७ के कान फिल्म फेस्टिवल में ग्राँ-प्री पुरस्कार प्राप्त कर इसने भारत का सम्मान बढ़ाया। इसके बाद निर्देशक गजानंद जागीरदार ने कामिनी कौशल को 'जेल यात्रा' में राजकपूर की नायिका बनाया। बस इसके बाद उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। ७५ से अधिक फिल्मों में नायिका और इतनी ही फिल्मों में चरित्र भूमिका निभाई। कामिनी कौशल ने जब फिल्मों में प्रवेश किया उस समय नर्गिस/ निम्मी/ गीताबाली/ मीना कुमारी/ चोटी की नायिकाएँ थीं, लेकिन उन्होंने इन सब से परे अपने सहज, स्वाभाविक और भाव प्रणव अभिनय द्वारा दर्शकों का मन मोह लिया। बहुमुखी प्रतिभा की धनी कामिनी कौशल ने हर रंग में डूबी हुई भूमिकाओं को पर्दे पर जीवंत किया है। एक ओर उन्होंने साहित्यिक कृतियों पर आधारित 'बिराज बहू' और 'गोदान' में श्रेष्ठ अभिनय किया, वहीं दूसरी ओर शबनम/ झांझर/ चालीस बाबा एक चोर जैसी हल्की-फुल्की कॉमेडी फिल्में भी की। सामाजिक-पारिवारिक परिवेश की रोमांटिक भूमिकाओं के लिए कामिनी कौशल अपनी समकालीन नायिकाओं में सबसे ज्यादा पसंद की जाती रहीं। जिद्दी/ नदिया के पार/ पूनम/ आस/ आँसू और आँचल का फूल जैसी अनेक फिल्मों में यादगार भूमिकाएँ निभाने वाली कामिनी कौशल को बिराज बहू के लिए फिल्म फेयर पुरस्कार मिला था।

छोटे पर्दे पर कामिनी कौशल का प्रवेश दूरदर्शन के भारत में आगमन के साथ ही हो गया। वे प्रति सप्ताह टेलीकास्ट होने वाले बच्चों के धारावाहिक **'खेल खिलौने'** का लेखन, निर्देशन और प्रस्तुतिकरण नन्हे-मुन्ने बच्चों के साथ किया करती थीं। दूरदर्शन के

लिए चाँद-सितारों के साथ 'चाट-पानी' भी

प्रारंभिक दौर में लोकप्रिय रहे इस कार्यक्रम के अतिरिक्त उन्होंने बच्चों के लिए जानकारी और शिक्षा पर आधारित अनेक कार्यक्रमों का संचालन भी किया।

बच्चों में आत्मविश्वास जागृत करने का संदेश देने वाली परी कथा पर आधारित लघु फिल्म 'मेरी परी मेरी शक्ति' का निर्माण एवं निर्देशन कामिनी कौशल ने फिल्म प्रभाग के लिए किया। पराग में खुद की छपी कहानियों पर आधारित बच्चों का तेरह किस्तों का धारावाहिक **'चाँद-सितारे'** भी बच्चों में बेहद लोकप्रिय रहा।



चाट-पानी पपेट के साथ कामिनी कौशल

बच्चों से उन्हें बेहद लगाव है। उनकी छोटी-छोटी समस्याओं का गहन अध्ययन और उनका मनोवैज्ञानिक हल उन्हीं की बाल सुलभ भाषा में प्रस्तुत करने वाला उनका धारावाहिक था 'चाट पानी' जिसमें उन्होंने कठपुतलियों को पात्र बनाया। पाँच-पाँच किस्तों में दो बार में प्रसारित इस धारावाहिक में उन्होंने बच्चों को कठपुतलियाँ बनाना और संचालित करना भी सिखलाया।

फिल्मों में हर स्तर पर परिवर्तन आए हैं और आप इस परिवर्तन की पिछले ४८ वर्षों से साक्षी हैं। तब की श्वेत-श्याम फिल्में और अब की चकाचौंध वाली तेज रफ्तार फिल्मों के दौर में आप क्या अंतर महसूस करती हैं?

यह पूछे जाने पर कामिनी कौशल कुछ क्षण शून्य में निहारती हैं और कहती हैं- फिल्मों ने तकनीकी दृष्टि से निश्चय ही प्रगति की है। फिल्म उद्योग इस वैज्ञानिक प्रगति से लाभान्वित भी हुआ और आगे भी बढ़ा है। लेकिन जहाँ तक विषयवस्तु और उसके निर्वाह का प्रश्न है, हमारे दायरे कम हुए हैं। पहले की फिल्मों में भावनाएँ, आत्मीयता और समर्पण के साथ काम करने की लगन होती थी। फिल्म का निर्माण एक महत्वाकांक्षी मिशन होता था। जिसे यूनिट का हर सदस्य मनोयोग से निभाता था। अब तो फिल्म निर्माण एक व्यावसायिक प्रस्ताव होता है जो चर्चित कलाकारों के उतरने-चढ़ने पर निर्भर करता है। पहले फिल्म की कहानी सर्वाधिक महत्व रखती थी अब वह अंतिम आवश्यकता बन गई है। सब कुछ बदल गया है।

फिल्म के बड़े पर्दे पर छोटा पर्दा निरंतर हावी होता जा रहा है। क्या इससे हम सार्थक भविष्य की आशा रख सकते हैं?

दूरदर्शन निश्चय ही चमत्कारिक माध्यम है विचार सम्प्रेषण का। इसका प्रभाव क्षेत्र फिल्म से कई गुना ज्यादा और सस्ता है। लेकिन इसे फिल्म के विकल्प के रूप में अपनाया जाना गलत है। इसे तो सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। मैंने अब तक जितने भी कार्यक्रम बनाए हैं वह इसी दिशा में ठोस कदम हैं।

क्या आपको लगता है कि उपदेशात्मक कार्यक्रमों से हम पाश्चात्य देशों के सैटेलाइट चैनलों का सामना कर सकेंगे?

फिल्मी तर्ज पर बने धारावाहिक और फिल्मों को दिखाकर सैटेलाइट चैनल ज्यादा दिन जीवित नहीं रह पाएँगे। उन्हें भी सार्थक और मनोरंजक कार्यक्रम बनाने होंगे। हमारा देश सांस्कृतिक विविधता का देश है। यहाँ न तो प्रतिभाओं की कमी है और न ही विषयों की। यदि दर्शकों को उन्हीं की भाषा में उनकी मिट्टी की गंध लिए कार्यक्रम दिखाए जाएँ तो वह अपनापन महसूस करेगा और इस विदेशी सांस्कृतिक हमले से हमारा मुकाबला आसान हो जाएगा।

आपने फिल्म और दूरदर्शन दोनों माध्यमों पर काम किया है, क्या अंतर महसूस करती हैं आप इन दोनों माध्यमों में?

जहाँ तक अभिनय का सवाल है, फिल्मों में उसके लिए ज्यादा गुंजाइश होती है, क्योंकि भव्यता और विशालता के कारण हम किरदार के भीतर तक जा सकते हैं, जबकि दूरदर्शन का छोटा पर्दा इसकी इजाजत नहीं देता। फिल्मों में किसी भी चरित्र को सीमित समय में ही उभारना होता है, इसलिए अभिनय, संवाद सब कसे हुए होते हैं और निखरकर सामने आते हैं।

आप भारत की बाल चलचित्र समिति की अध्यक्षा रह चुकी हैं। उन्होंने बताया कि अंतरराष्ट्रीय बाल फिल्म समारोह भारत में मनाए जाने की योजना उन्हीं के कार्यकाल में बनी थी।

माँ का उधार के अलावा कामिनी कौशल ने न्याय मिला, मच्छली क्यों फँसी, बुद्धिमान साथी नामक तीन लघु फिल्मों का निर्माण पपेटरी स्टाइल में किया है जो मंडी हाउस में प्रदर्शन का इंतजार कर रही है।

● **प्रस्तुति : संतोष जैन**

उन्होंने नाटकों में काम करने के साथ-साथ कुछ नाटकों का निर्माण भी किया। आप अँगरेजी नाटकों में ज्यादा सक्रिय रहे हैं। उन्होंने डायरी ऑफ एन यूथ/ लारेंस साहब/ नट्स/ लव लेटर आदि कई अँगरेजी नाटकों में काम किया है। अभिनय क्षेत्र से जुड़े होने के बावजूद अपने पैतृक कारोबार को आप ही संभालते हैं। अपने पिता की कंपनी 'ज्योति एंब्रायडरी' का अधिकांश कार्य वे ही संभालते हैं।

रजत कपूर अब फिल्मों में भी आ रहे हैं। श्याम बेनेगल की फिल्म 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में वे हैं। गोविन्द निहलानी की टेली फिल्म 'दहेज' में भी उनकी भूमिका है।

● **आदर्श गर्ग**

मालविका तिवारी



मालविका तिवारी मॉडलिंग की दुनिया से जब पहले-पहल छोटे परदे पर आई, तो इसके पीछे महज तफरीह या स्वाद बदलने का उद्देश्य जान पड़ा। उसकी भर्राई हुई आवाज और मूर्तिवत अभिनय को देखकर एक खीजभरी झुंझलाहट के सिवा दर्शकों की कोई प्रतिक्रिया नहीं हो सकती थी। अपने आरंभिक धारावाहिक 'मंजिल' की नकचढ़ी लड़की और 'टीपू सुल्तान' की रुपैया बेगम के रूप में मालविका ने अभिनय से ज्यादा 'पोज' देने का काम किया। लेकिन धीरे-धीरे वह एक्टिंग की बारहखड़ी से परिचित होती गई। जल्दी ही उसने अपने सौंदर्य को अभिव्यक्ति की संवेदना के साथ जोड़ना सीख लिया। पिछले दिनों प्रसारित सीरियल 'कशिश' में वह बिलकुल बदली हुई लड़की थी। दर्शकों ने महसूस किया कि मालविका की मुस्कुराहट महज किसी कंपनी का प्रॉडक्ट बेचने वाली व्यावसायिक अदा नहीं, बल्कि वह अभिनय के नैसर्गिक परिवेश को भी समेट सकती है।

टीवी की लोकप्रियता से पहले मालविका मॉडलिंग जगत में शीर्ष पर रहने का स्वाद चख चुकी है। कैमरे के लिहाज से उसका चेहरा अत्यंत 'फोटोजेनिक' होने के कारण वह एक विख्यात मॉडल बनने में सफल रही। बनारस में जन्मी और बंबई में पली-बढ़ी मालविका ने दिल्ली के जवाहर लाल नेहरू वि. वि. से फ्रेंच भाषा में स्नातक की उपाधि ली है। वह इस भाषा के उच्च अध्ययन के सिलसिले में एक वर्ष तक अमेरिका में भी रही। वह जब अमेरिका में थी, तब उसके भाई राजीव (जो एक पत्रकार हैं) ने 'सोसायटी' पत्रिका में उसके कुछ चित्र छपवा दिए। इन चित्रों को विज्ञापन एजेंसियों ने काफी पसंद किया। लिहाजा भारत लौटते ही मालविका मॉडलिंग के लिए अनुबंधित कर ली गई। अमेरिका में मालविका शादी रचाकर भारत आई थी, लेकिन यह विवाह अधिक दिनों तक टिक नहीं सका। वह आत्मनिर्भर होने के लिए मॉडलिंग व्यवसाय की तरफ मुड़ गई।

दूरदर्शन पर पहला रोल मालविका को धारावाहिक 'इसी बहाने' में मिला। लेकिन इसमें उसकी भूमिका काफी छोटी थी। दर्शकों के बीच उसकी पहचान 'मंजिल' और 'टीपू सुल्तान' से बनी। वैसे अभिनय के लिहाज से उसने दोनों सीरियलों में अधिक प्रभावित नहीं किया। 'टीपू सुल्तान' को लेकर तो वह काफी विवाद में भी घिर गई। सीरियल के निर्माता संजय खान से मतभेदों के कारण उसे धारावाहिक से निकाल कर दूसरी अभिनेत्री का चुनाव कर लिया गया। इस दुर्भाग्यपूर्ण आघात के बाद मालविका को काफी समय तक खाली बैठना पड़ा। फिर वह 'चाणक्य' के कुछ अंकों में नजर आई। राजा पोरस की पुत्री के रूप में उसका रोल महत्वपूर्ण था। लेकिन पहली बार किसी धारावाहिक की केंद्रीय भूमिका उसे 'कशिश' में मिली। आठ कड़ियों वाले इस धारावाहिक में मालविका की भूमिका एक स्वाभिमानी और आत्मनिर्भर लड़की की थी, जो बंबई में अपनी सहेली के साथ अकेली रहती है। मालविका के निजी जीवन से यह चरित्र काफी हद तक मेल खाता था। सीरियल में उसके आत्मविश्वास भरे अभिनय की काफी तारीफ हुई। मालविका ने इसके अलावा मोहन राकेश की कहानियों पर आधारित धारावाहिक 'मिट्टी के रंग' में भी प्रभावशाली अभिनय किया था। □

दीप्ति नवल

हिंदी फिल्मों को एक बेहद शालीन और संवेदनशील अभिनेत्री १९८० में मिली। फिल्म थी **'एक बार फिर'**। विनोद पांडे ने लंदन में इस फिल्म को बनाया था और सीधे बंगलोर फिल्म समारोह में **दीप्ति** को लेकर फिल्म के साथ आए थे। दीप्ति नवल का जन्म पंजाब में हुआ था। अमृतसर में अपने जीवन के १६ बसंत पूरे कर वह अमेरिका चली गई थी। फिल्मों में काम करने की इच्छा उसे फिल्मों में ले आई। कथा/ चश्मेबद्दूर/ कमला/ हिप हिप हुर्रे/ दामुल/ मिर्च मसाला और पंचवटी उसकी उल्लेखनीय फिल्में हैं। दीप्ति के साथ सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह रही कि उसका कैरियर स्मिता पाटिल और शबाना आजमी जैसी सक्षम अभिनेत्रियों के बीच उभर नहीं सका।

बड़े परदे पर अपना दबदबा बनाए रखते हुए दीप्ति नवल ने छोटे परदे पर भी ख्याति अर्जित की है।भगवती चरण वर्मा ने अपने उपन्यास **'आखिरी दाव'** में जिस चमेली की कल्पना की थी दीप्ति ने उसे साकार बनाया। बी.आर. चोपड़ा के 'सौदा' सीरियल में भी वह आ चुकी है। 'दामुल' के दौरान वह प्रकाश झा के इतने नजदीक पहुँच गई कि दोस्ती शादी में बदल गई। लेकिन वैवाहिक जीवन अधिक दिनों तक सुखी नहीं बन सका और वह घर की दहलीज उलाँघ कर सड़क पर आ गई। इन दिनों वह स्वयं एक सीरियल बनाना चाहती है जिसका नाम है 'थोड़ा सा आसमान'। 'लम्हे' नाम से उसका एक कविता संग्रह भी छपा है। इन दिनों यह खूबसूरत सी महिला निपट अकेली है। □

दीप्ति नवल : थोड़े से आसमान की चाह



पंकज कपूर

(करमचंद/ फटीचर और सुखराम)

धारावाहिक करमचंद में तेजतर्रार फिल्मी जासूस की स्थापित छवि को तोड़ते हुए एक सीधे-साधे व्यक्तित्व वाले प्रायवेट जासूस की भूमिका को अपने सहज और सशक्त अभिनय से जीवंत करने वाले **पंकज कपूर** ने इसके विपरीत रांगेय राघव की साहित्यिक कृति पर बने धारावाहिक **'कब तक पुकारूँ'** में खानाबदोश कवीले के युवक सुखराम की भूमिका को भी पूरे आत्मविश्वास से पर्दे पर जीवंत किया। धारावाहिक **फटीचर** में पंकज कपूर ने एक ऐसा चुनौतीपूर्ण किरदार निभाया जो किताब के पन्नों से भागकर यथार्थ जिन्दगी में प्रवेश करता है। एक डॉक्टर की मौत फिल्म में पंकज कपूर ने एक ऐसे डॉक्टर की भूमिका निभाई जो समाज की विसंगतियों से संघर्षरत है। आघात में एक अपाहिज मजदूर की संवेदनाओं को चेहरे से व्यक्त करने वाले पंकज कपूर ने फिल्म और दूरदर्शन पर अपनी सशक्त उपस्थिति का जल्दी ही आभास करा दिया।

कलात्मक सिनेमा और दूरदर्शन पर समान रूप से सक्रिय पंकज कपूर का जन्म २९ मई १९५४ को लुधियाना में हुआ। स्कूल -कॉलेज में पढ़ाई के साथ-साथ रंगमंच पर अभिनय का क्रम चलता रहा। अभिनय के प्रति पैदा हुए इसी आकर्षण से प्रेरित हो पंकज कपूर लुधियाना से प्री-इंजीनियरिंग की उपाधि हासिल कर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में अभिनय की विधिवत शिक्षा ग्रहण करने दिल्ली आ गए। बस यहीं से प्रारंभ हो गया अभिनय का सफर जो निरंतर बढ़ता ही चला गया। १९७६ में अभिनय में विशेष योग्यता के साथ डिप्लोमा प्राप्त कर वे स्कूल की रंगशाला में वैतनिक अभिनेता बन गए। पंकज कपूर ने उन दिनों ''मिट्टी की गाड़ी'' निर्देशक अलकाजी, मुख्यमंत्री और विच्छु निर्देशक रंजीत कपूर, एक रुका हुआ फैसला जिस पर बाद में इसी नाम से बासु चटर्जी ने टेलीफिल्म बनाई, में अभिनय कर अपार लोकप्रियता और सम्मान हासिल किया। पाँच वर्ष की सक्रियता के बाद पंकज कपूर १९८१ में बंबई आ गए। बंबई के खट्टे मीठे अनुभवों पर हमने पंकज कपूर से बातचीत की।

नाटकों के बाद फिल्मों का सिलसिला कैसे प्रारंभ हुआ?

फिल्मों में मेरा प्रवेश रंगशाला में अभिनय के दौरान दिल्ली में ही हो गया था जब 'गाँधी' फिल्म बन रही थी। इस फिल्म में मैंने महात्मा गाँधी के सचिव प्यारेलाल की भूमिका निभाई और गाँधी फिल्म के हिंदी संस्करण में गाँधी की डबिंग भी मैंने ही की थी। इसके बाद श्याम बेनेगल ने मुझे 'आरोहण' की एक महत्वपूर्ण भूमिका के लिए चुना। दूरदर्शन पर मेरी पहचान पंकज पाराशर के धारावाहिक करमचंद से बनी। फिर तो सिलसिला चल पड़ा।

फिल्म-दूरदर्शन पर आपने काफी काम किया है। इन दोनों माध्यमों में आप क्या अंतर महसूस करते हैं?

मेरे ख्याल में अभिनय के स्तर पर दोनों माध्यमों में कोई अंतर नहीं है। दोनों के लिए एक सी तैयारी करनी पड़ती है।

क्या कारण है कि फिल्म के अभिनेता की अपनी एक छवि, स्थापित नाम होता है, जबकि दूरदर्शन पर लोकप्रिय कलाकार भी अपने नाम से कम किरदार के नाम से ज्यादा पहचाना जाता है। आप करमचंद के नाम से जाने जाते हैं?

मेरा ऐसा सोचना है कि फिल्म एक



पंकज कपूर-सुप्रिया पाठक

सुप्रिया पाठक

सुप्रिया पाठक को देखकर एक जहीन पढ़ाकू और संजीदा लड़की का आभास मिलता है। पढ़ने-लिखने की बेहद शौकीन सुप्रिया को अभिनय का परिवेश विरासत में मिला। उनकी माँ दीना पाठक फिल्मों की जानी-मानी अभिनेत्री रह चुकी हैं, जबकि बड़ी बहन रत्ना (नसीरुद्दीन शाह की पत्नी) ने रंगमंच की दुनिया में अपना नाम स्थापित किया। सुप्रिया के पिताजी भी फिल्म जगत में कैरियर बनाने के उद्देश्य से बंबई आए थे, मगर उन्हें सफलता नहीं मिली। सुप्रिया ने एक्टिंग के इस धुआँधार पारिवारिक माहौल में थिएटर की शुरूआत की। उनकी माँ दीना एक गुजराती नाटक 'मैना गुजरी' का मंचन कर रही थीं, उन्होंने एक भूमिका में सुप्रिया को भी स्टेज पर खड़ा कर दिया। इसके बाद दिनेश ठाकुर के नाटक 'बीवियों का मदरसा' से सुप्रिया ने थिएटर का सिलसिला जारी रखा। इस नाटक में उन्हें देखकर शशि कपूर उनके पास अपनी फिल्म 'कलयुग' का प्रस्ताव लेकर आ गए। 'कलयुग' के बाद सुप्रिया ने विजेता/ बाजार/ कोख/ मिर्च मसाला आदि फिल्मों में काम किया।

दूरदर्शन पर सुप्रिया की उपस्थिति फिल्मों की अपेक्षा विरल रही है। उनका पहला सीरियल 'इधर-उधर' १९८५ में प्रसारित हुआ था। आनंद महेन्द्रू द्वारा निर्देशित इस हास्य धारावाहिक में उनके साथ रवि वासवानी, रत्ना पाठक और अजीत पाल आदि प्रमुख कलाकार थे। सुप्रिया ने इसमें एक पढ़ाकू-ऐनकधारी लड़की की भूमिका निभाई थी, जिसे इश्क -मोहब्बत जैसी चीजों से सख्त नफरत है। 'इधर-उधर' रविवार के प्रसारण में काफी लोकप्रिय रहा था। इसके बाद सुप्रिया ने 'छोटे बाबू' और 'कथा सागर' के कुछ अंकों में काम किया। 'जिंदगी' सुप्रिया का अगला महत्वपूर्ण धारावाहिक था। 'वेद राही' इसके निर्देशक थे। शर्मिला टैगोर, बेंजामिन गिलानी जैसे स्थापित कलाकारों के साथ सुप्रिया ने महिला पत्रकार 'कमल गुप्ता' के रूप में गहरी छाप छोड़ी। जिंदगी के बाद सुप्रिया छोटे परदे पर नजर नहीं आईं। इस बीच उन्होंने पंकज कपूर के साथ ब्याह कर घर बसा लिया। सुप्रिया के प्रशंसकों की कमी नहीं है। फिल्म 'विजेता' के बाद उन्हें 'योर वेल्फेयर' नामक प्रशंसकों की एक संस्था ने अपनी तरफ से डाक द्वारा एक्टिंग का मानद प्रमाणपत्र भेजा था। इसके अलावा एक हजरत उन्हें नियमित रूप से फूल पहुँचाते हैं।

● राहुल शर्मा

व्यापक और प्रभावशाली माध्यम होने के साथ ही दर्शक को उसके परिवेश से काटकर ढाई-तीन घंटे तक बाँधे रखता है। फिल्म में भूमिका निभा रहे कलाकारों की छवि प्रभावी ढंग से उभर कर आती है। जबकि दूरदर्शन के छोटे पर्दे पर भूमिका निभा रहा कलाकार बिना आमंत्रण के एक से किरदार में आपके घर हर सप्ताह कई महीनों तक आता है। दर्शक के मन में किरदार के रूप में छवि स्थापित कर लेता है। जबकि फिल्मों में कलाकार की आवर्ती कम और लंबे अंतराल के बाद होती है।

तो क्या इसीलिए आपका रुझान फिल्मों में ज्यादा है?

हाँ, आप ऐसा कह सकते हैं। लेकिन एक अभिनेता के रूप में मैं अच्छे किरदार करना चाहता हूँ। इसके लिए हमारे फिल्मी सेटअप में ज्यादा गुंजाइश नहीं होती है। मैं बेमतलब के किरदार नहीं करना चाहता। यही कारण है कि मुझे छोटे पर्दे का माध्यम ज्यादा प्रेरित करता है। मुझे संपूर्ण चरित्र निभाने में रचनात्मक संतुष्टि प्राप्त होती है। फिर मैं मध्यमवर्गीय जिन्दगी ही जीना चाहता हूँ।

अब थोड़ा फिल्मों के बारे में बताइए।

अब तक के कैरियर में मैंने लगभग तीस फिल्मों में अभिनय किया है। पिछले दिनों प्रदर्शित फिल्म 'एक डॉक्टर की मौत' में मैंने एक ऐसे डॉक्टर का किरदार निभाया है जो इंग्लैंड से पढ़कर आया है और अव्यवस्थापूर्ण अस्पताल उसे सौंप दिया जाता है। आदित्य भट्टाचार्य निर्देशित फिल्म 'राख' में इन्स्पेक्टर की भूमिका निभाई जिसके लिए मुझे राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुआ। केतन मेहता की टेली फिल्म 'एक फूल का नाम लो', बासु चटर्जी की एक रुका हुआ फैसला, जाने भी दो यारों, मैं जिंदा हूँ, आकांक्षा, षड्यंत्र, फिल्मों की भूमिका करने में मजा आया। पिछले दिनों एक केनेडियन फिल्म 'बर्निंग सीजन' में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

● प्रस्तुति : संतोष जैन

◆ ◆ ◆

रामेश्वरी

आंध्रप्रदेश से आने वाली लोकप्रिय नायिका **रामेश्वरी** का जीवन उतार-चढ़ाव की एक दर्दभरी कहानी बनकर रह गया है। शुरू में जब इन्होंने फिल्मी दुनिया में प्रवेश किया तो इनकी पहली फिल्म **दुल्हन वही जो पिया मन भाए** ने इन्हें फिल्म जगत में खूब लोकप्रियता प्रदान की। दर्शकों ने भोले-भाले चेहरे और बोलती आँखों वाली रामेश्वरी के अभिनय को पसंद किया। किंतु 'सुनयना' फिल्म की शूटिंग के दौरान एक ऐसी दर्दनाक घटना घटी कि जिससे न केवल उसकी आँखों को नुकसान पहुँचा अपितु सफलता की ओर बढ़ता उसका कैरियर भी प्रभावित हुआ। तब से लेकर अब तक वह निरंतर फिल्म व



दूरदर्शन की दुनिया में अपना सफल कैरियर तलाश रही है। बंगाली भाव लिए चेहरे के कारण उसे बंगाली फिल्मों में भी काम मिला है। जब वह अपने सफल कैरियर के सपने बुन रही थी तभी उसका रोमांस दीपक नामक व्यक्ति से हो गया। उस रोमांस का असर उसके कैरियर पर पड़ा। कई निर्माता उसे इस प्रकरण के कारण अपनी फिल्मों में लेने से कतराने लगे। इस उतार-चढ़ाव के दौरान उसने दीपक से शादी भी कर ली।

रामेश्वरी आजकल फिल्मों के अलावा दूरदर्शन के विभिन्न धारावाहिकों में काम कर रही है। इनके कुछ धारावाहिक लोकप्रिय भी हुए हैं। 'प्रथम प्रतिश्रुति' धारावाहिक में इनकी भूमिका को दर्शकों एवं निर्माताओं ने काफी सराहा था। रामेश्वरी की इच्छा है कि दूरदर्शन पर अपने कुछ कार्यक्रम पेश करें। आजकल वे दूरदर्शन के दोपहर के कार्यक्रमों का सफल संचालन भी कर रही हैं। संकल्प धारावाहिक ने भी इन्हें लोकप्रियता प्रदान की। अभिनय के क्षेत्र में प्रतिभासंपन्न रामेश्वरी फिल्म जगत में इसलिए भी सफल नहीं हो पाई कि वह शुरू से ही अंग प्रदर्शन की घोर विरोधी रही हैं।

● विट्ठल त्रिवेदी

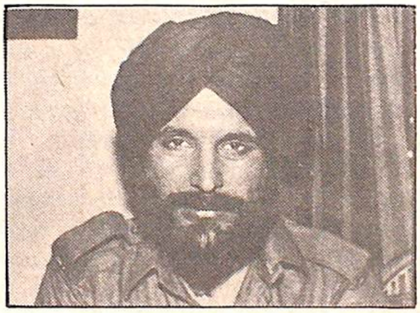
◆ ◆ ◆

मंगल ढिल्लो

कद्दावर डील-डौल वाले **मंगल ढिल्लो** को देखकर किसी साहसिक फौजी की झलक मिलती है। उनका नाम भी दबंग स्वतंत्रता सेनानी मंगल पांडे से साम्य रखता है। सौभाग्यवश दूरदर्शन पर उन्हें आजादी के महान शिल्पी 'मौलाना आजाद' की भूमिका निभाने का अवसर मिला। लिहाजा वे पूरी तरह देशप्रेम की आँच में दमक गए। अबुल कलाम आजाद की भूमिका में निश्चित रूप से मंगल ने जीवंत अभिनय किया। यह भूमिका उनके जीवन की उत्कृष्टतम भूमिकाओं में गिनी जाएगी।

मौलाना आजाद की भूमिका मंगल ढिल्लो को किस्मत से मिली। सीरियल के निर्माता मजाहिर रहीम ने इस चरित्र के लिए पाकिस्तानी अभिनेता महबूब आलम का चुनाव किया था। वे भारत आए, और कुछ अंकों की शूटिंग में हिस्सा भी लिया। लेकिन व्यक्तिगत कारणों से उन्होंने इस रोल के लिए बाद में दिलचस्पी नहीं दिखाई। उनके अलावा 'मौलाना आजाद' की भूमिका निभाने वाले कलाकार के रूप में ऋषभ शुक्ला और नसीरुद्दीन शाह के नाम पर भी विचार किया गया। मगर बात नहीं जमी। अंततः इस रोल के लिए मंगल ढिल्लो ही चुने गए। इतनी अजीम शख्सियत के बहुआयामी चरित्र को निभाने की जिम्मेदारी से मंगल काफी घबराए हुए थे। मौलाना आजाद के बारे में न उन्हें कुछ खास मालूम था, न उर्दू ही ठीक-ठाक आती थी। मगर एक बार जब उन्होंने काम शुरू किया, तो चरित्र में डूबते चले गए। परदे पर उनका अभिनय बेहद प्रभावशाली रहा। हालाँकि सीरियल मौलाना आजाद के केवल ६ अंक ही दूरदर्शन पर प्रसारित हुए, लेकिन इस दौरान पारखी नजरों में मंगल ढिल्लो ने अपनी कला की धाक जमा ली।

पंजाब के एक किसान परिवार में जन्मे मंगल ढिल्लो पारिवारिक मतभेद के कारण युवावस्था में घर छोड़कर नाटकों में काम करने लगे थे। इस दौरान उन्होंने कहानी-कविताएँ भी प्रचुरता से लिखीं। फिर जालंधर दूरदर्शन पर समाचार वाचक बन गए। उनके व्यक्तित्व को देखकर किसी ने उन्हें टीवी सीरियल में काम करने की सलाह दी। किस्मत से मंगल को बगैर ज्यादा कोशिश किए 'आस्माँ कैसे-कैसे' में काम मिल गया। जिसके बाद शुरू हुई धारावाहिकों की एक लंबी शृंखला। इनमें कश्मकश/ कथासागर/ अपने-पराए/ पुलिस फाइल से/ राज से स्वराज तक/ बुनियाद/ मुजरिम हाजिर/ सुनहरे सपने/ लहू के फूल/ गुल गुलशन



गुलफाम और रिश्ते के नाम प्रमुख हैं। सुनहरे सपने में उन्होंने सूफी शायर वली दक्कनी का चरित्र निभाया था, जबकि रिश्ते में उनकी भूमिका युद्ध में अपंग हुए एक फौजी की थी। इन दोनों संजीदा भूमिकाओं के अलावा 'गुल गुलशन गुलफाम' में भी उनका काम बेहद पसंद किया गया। जिसमें उन्होंने तेज तर्रार और धूर्त ससुर की भूमिका निभाई थी।

फिल्मों में मंगल ढिल्लो को उल्लेखनीय भूमिकाएँ अब तक नहीं मिली हैं। मगर महत्वहीन रोल के बावजूद वे बड़े परदे की ओर लालायित जान पड़ते हैं। अगर उन्होंने यह मोह नहीं छोड़ा, तो बहुत संभव है कि वे फिल्मों में ज्यादा से ज्यादा विलेन की छाया में पलने वाले कुकरमुत्तों की श्रेणी में रख दिए जाएँगे। जबकि छोटे परदे पर वे अपनी छवि एक बड़े दरख्त की बना सकते हैं। □

रवि चोपड़ा

दूरदर्शन के छोटे पर्दे पर जब रामानंद सागर द्वारा निर्मित रामायण लोकप्रियता की चरम सीमा पर थी तब प्रसिद्ध फिल्म निर्माता बी.आर. चोपड़ा और उनके पुत्र रवि चोपड़ा ने महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित महाभारत पर धारावाहिक बनाने का निश्चय किया। उस वक्त किसी को यह आशा नहीं थी कि रामायण की तरह महाभारत धारावाहिक भी लोकप्रिय हो पाएगा। रामायण की कथा एक सहज कथा है जबकि महाभारत कथाओं एवं उपकथाओं का संग्रह है। 'महाभारत' धारावाहिक को सर्वाधिक लोकप्रिय बनाने का श्रेय बी.आर. चोपड़ा के साथ उनके बेटे **रवि चोपड़ा** को जाता है। इस धारावाहिक में निर्देशक के रूप में नाम तो बी.आर. चोपड़ा का है किंतु हकीकत यह है कि कुछ पायलट एपिसोड को छोड़कर सभी का सफल निर्देशन रवि चोपड़ा ने किया है। रवि चोपड़ा स्वयं अपनी सफलता का श्रेय अपने पर न लेकर सभी कलाकारों को देते हैं। उनका कहना है कि यह एक टीम वर्क था जिसमें सभी कलाकारों ने मिलजुल कर निष्ठापूर्वक महाभारत धारावाहिक को सफल बनाने में सहयोग दिया। शूटिंग के रोमांचक अनुभव रवि चोपड़ा के लिए एक यादगार धरोहर है। महाभारत धारावाहिक से हमारे समाज को धर्म और संस्कृति की शिक्षा मिलती है।

महाभारत धारावाहिक पूर्ण होने के पश्चात रवि चोपड़ा एक खालीपन महसूस करने लगे थे लेकिन विभिन्न फीचर फिल्मों और **सौदा** धारावाहिक ने उन्हें पुनः अपनी प्रतिभा का परिचय देने का अवसर दिया। वे आज भी ऐसी फीचर फिल्म और धारावाहिक बनाने को उत्सुक हैं जो न केवल उनकी प्रतिभा का परिचय दे अपितु समाज, धर्म और संस्कृति के विकास में सहायक हो, तथा राष्ट्र की भावनात्मक एकता स्थापित करने में सहायक हो।

◆ ◆ ◆

राधा सेठ

कलकत्ते में जन्मी राधा सेठ ने देहरादून में छात्रावास में रहते हुए अपनी स्कूली शिक्षा पूरी की और फिर बंबई आ गई। बंबई के सोफिया कॉलेज में पढ़ने के बाद होटल मैनेजमेंट का पाठ्यक्रम पूरा किया। मॉडलिंग की। एक विज्ञापन कंपनी में कॉपी राइटर के रूप में कार्य किया। विमान परिचारिका भी बनीं। विमान परिचारिका के काम से ऊबकर वे फिर विज्ञापन फिल्मों का निर्माण करने लगीं।

इसी दौरान उन्हें 'क्विज टाइम' में अवसर मिला तथा साथ ही विज्ञापनों में मॉडल के रूप में काम भी जारी रहा। ऐसी ही एक विज्ञापन फिल्म को श्रीधर क्षीरसागर ने देखा तथा प्रस्ताव किया कि वे उनके धारावाहिक 'स्त्री' के 'आधा सच आधा झूठ' नामक अंक में काम करें। राधा सेठ को पहले तो हिचकिचाहट हुई क्योंकि उनके हिन्दी उच्चारण ठीक नहीं थे। धीरे- धीरे काफी परिश्रम करके उन्होंने अपनी हिन्दी सुधारी और फिर जुगलबंदी नामक धारावाहिक में एक शहरी शिक्षित आजाद किस्म की महिला की भूमिका की।

'मिस्टर योगी' नामक धारावाहिक के एक अंक में मध्यमवर्गीय गुजराती परिवार की कन्या की भूमिका को उन्होंने जीवन्त बना दिया।

अशोक वैष्णवी के निर्देशन में 'मंजिल अपनी-अपनी' में रईस बाप की बेटी के रूप में उनकी भूमिका को काफी सराहा गया। 'गुल-गुलशन-गुलफाम' में राधा सेठ ने जिस जीवन्त अभिनय शैली का परिचय दिया है वह अपने आप में एक मील का पत्थर है। भरी जवानी में एक वृद्धा की भूमिका करते हुए जिस सशक्त अभिनय शैली का उन्होंने परिचय दिया है वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वे एक जन्मजात अभिनेत्री हैं। राधा सेठ का कहना यह है कि वे स्वयं को किसी विशेष छवि में बाँधना नहीं चाहती तथा हर किस्म की भूमिकाएँ करना चाहती हैं। खास तौर पर हास्य भूमिकाएँ करने की उनकी विशेष इच्छा है। सार्थक और चुनौती-पूर्ण भूमिकाएँ मुझे पसंद हैं। निरर्थक तथा नीरस रोल मुझे रास नहीं आते। सुंदर गुड़िया, पति की दासी जैसी भूमिकाओं से मुझे परहेज है। स्वतंत्र, जागरूक, जुझारू तथा अपने व्यक्तित्व के प्रति संवेदनशील महिलाओं की भूमिका करना मुझे प्रिय है।



राधा सेठ

● सरला चतुर्वेदी

तबस्सुम

*कहकहों, चुटकुलों और शेरो-शायरी की महारानी **तबस्सुम** के खाते में कई सौ फिल्में, हजारों रेडियो और स्टेज-शो दर्ज हैं। पिछले पच्चीस सालों से 'तबस्सुम हिट परेड' बदस्तूर जारी है। तीन घंटों तक हँसी से लोट-पोट कर देने वाला यह स्टेज-शो भारत में ही नहीं, बल्कि विदेश में भी चलता रहता है। 'फूल खिले हैं गुलशन-गुलशन' तो पूरे इक्कीस साल तक चलता रहा, जो कि दूरदर्शन पर एक कीर्तिमान है।*

बात-बात पर कभी समाप्त न होने वाले तरकश से चुटकुलों के बाण छोड़ने वाली तबस्सुम से उनके घर पर बातचीत हुई। उन्हें मैट्रो चैनल पर दिखाए जा रहे धारावाहिक फिल्मी अदालत की शूटिंग पर जाना था। इसके बावजूद जब एक बार बात शुरू हुई, तो बदस्तूर ढ़ाई घंटों तक जारी रही। उसी बात के संक्षिप्त अंश-

अक्सर आपके हिंदू या मुसलमान होने पर बहस चलती रहती है, आखिर इसमें सच्चाई क्या है?

जन्म से मैं हिन्दू हूँ। शादी मैंने विजय गोविल (अरुण गोविल के बड़े भाई) से की है। इसलिए भी हिंदू हूँ। मेरा नाम तबस्सुम है। उर्दू जबान बोलती हूँ। इसलिए लोग मुसलमान समझते हैं। लेकिन मैं हिन्दू या मुसलमान होने के पहले इंसान हूँ। मेरी माँ बचपन में मुसलमान थीं। मेरे नाना पाँच वक्त के नमाजी मुसलमान पठान थे। नाम था उनका ताज मोहम्मद खान। उन्होंने अपनी बेटी यानी मेरी माँ को बारह साल की उम्र में उर्दू, फारसी और अरबी की तालीम दे दी थी। मेरी माँ कुरान पढ़ लेती थीं। उसकी ढेर सारी आयतें उन्हें मुँह जबानी याद थीं। मेरी माँ को एकाएक हिन्दू धर्म के वेद-पुराण पढ़ने की जिज्ञासा हुई। यह नामुमकिन था। जिस घर में लड़कियों के कोई नाखून न देख सकता हो, वह लड़की बाहर कैसे जा सकती थी। मेरी माँ जिद पर अड़ी रहीं। इस पर मेरे नानाजी ने सख्त पहरा बिठा दिया। उन दिनों मेरी माँ ने स्वामी श्रद्धानंद के शुद्धिकरण के कार्यक्रम के बारे में सुना। एक रोज वह घर से भाग कर स्वामीजी की शरण में चली गई। स्वामीजी ने उन्हें अपनी धर्मपुत्री बनाकर अजगरी बेगम से शांति देवी बना दिया। इधर हिंदू धर्म का अध्ययन शुरू हुआ, उधर खूब हो हल्ला मचा। स्वामीजी पर दबाव बढ़ा दिया गया। उन्होंने सबसे साफ-साफ कह दिया, आपकी बेटी जाती हो तो ले जाओ। मैं अपने आश्रम से जबरदस्ती निकालूँगा नहीं। आखिर शांति देवी तो आश्रम में ही रह गईं लेकिन

कहकहों की मलिका

स्वामीजी की हत्या कर दी गई। मेरी माँ का रुख अब अधिक साफ हो गया। वे दोनों धर्मों पर खुल कर बोलने लगीं। इसके बावजूद दोनों संप्रदायों में उनका विरोध जारी रहा। एक अयोध्यानाथ नाम के नौजवान एक रोज मेरी माँ को 'शूट' करने गए और खुद घायल हो कर आ गए। बाद में दोनों की शादी कर दी गई और बंबई भेज दिया गया। यहाँ उन्होंने 'तनवीर' मैगजीन निकाली। उसमें राजेंद्रसिंह बेदी, कृष्ण चंद्र, मंटो, अब्बास जैसे लोग लिखते थे।

आपका फिल्मों में आना कैसे हुआ?

उस समय मैं ढाई तीन साल की थी। ऐसी उम्र में काम करने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। मेरे घर पर राजेन्द्र कृष्ण आया करते थे। उन्हें मेरा चटर-पटर खूब बोलना अच्छा लगता था। शायद वह 'नर्गिस' फिल्म लिख रहे थे। यह नर्गिसजी की तीसरी फिल्म थी। उसमें एक लड़की की जरूरत थी, जिसे कि नर्गिस की छोटी बहन का रोल करना था। इस रोल के लिए उन्होंने मुझे बड़ा फिट समझा। पिताजी से बात की, तो उन्होंने साफ इनकार कर दिया। दूसरे रोज पिताजी के सामने पाँच हजार रुपए रख दिए गए। उन्हें समझाया गया कि 'तनवीर' की खस्ताहाली में ये रुपए बड़े काम आएँगे। एक फिल्म की बात थी। पिताजी मान गए। वह फिल्म खूब चली और मेरी डिमांड बढ़ गई। सोहराब मोदी ने मेरी बात चलाई। पिताजी अड़ गए। बात सुनने को तैयार नहीं। आखिर उन्हें समझाया गया कि सोहराब मोदी जैसे आदमी को इनकार करना अच्छा नहीं होगा। बेहतर है, पैसे ज्यादा बता दिए जाएँ। वे खुद ब खुद भाग जाएँगे। पहली फिल्म में पाँच हजार रुपए मिले थे। पिताजी ने दस हजार रुपए माँग लिए। सोचा था, दस हजार क्या देंगे। लेकिन सोहराब मोदी मान गए। इस तरह मेरा फिल्मों में काम करने का सिलसिला शुरू हुआ तो कई सालों तक चलता रहा।

और पढ़ाई-लिखाई?

वही तो रोना था। घर पर जो पढ़ लिया था, बस। आगे पढ़ ही न सकी। पढ़ने का मौका उस समय मिला, जब न मैं बच्ची रही और न जवान। फिल्मों में काम मिलना बंद हो गया। एक तरह से यह मेरे लिए अच्छा ही हुआ। इस दौर में मैंने अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से बी.ए. किया।

तबस्सुम का परिवार



एक बार फिल्मों में आने के बाद उससे दूर होना मुश्किल होता है। आप तो हिट बाल कलाकार थीं ग्रेज्युएशन के बाद क्या किया?

मैंने लीड रोल वाली कई फिल्में कीं। इनमें से कई अधूरी भी रह गईं। इसके अलावा मैंने निहायत बेहूदे किस्म के रोल किए। और बात बिगड़ गई। बाद में करेक्टर रोल करने लगी। इसी दौरान शादी कर ली। पत्नी बनकर घर-बार देखती रही।

रेडियो का सिलसिला कैसे शुरू हुआ?

एक रोज अमीन (सयानी) भाई का फोन आया। उन्हें 'सेरीडॉन के साथी' के लिए फिमेल वाइस की जरूरत थी। मैं गई। वे जवाब लिखने के लिए बैठ गए। मैंने कहा अमीन भाई अन्य सवाल पूछिए, मैं जवाब खुद दे लूँगी। ऐसा ही हुआ। पंद्रह मिनट का कार्यक्रम। ठीक पंद्रह मिनट में रिकॉर्ड हो गया। तब से कई कार्यक्रमों में मैं हिस्सा लेने लगी। इसी के साथ-साथ स्टेज पर कम्पेअरिंग का भी काम शुरू हो गया।

और टेलीविजन?

१९७२ में बंबई दूरदर्शन शुरू हुआ था। उसमें दूसरे सप्ताह से मैंने **'फूल खिले हैं गुलशन-गुलशन'** कार्यक्रम शुरू किया। इसे बहुत पसंद किया गया। मेरा ख्याल है, यह दूरदर्शन पर चलने वाला सबसे बड़ा कार्यक्रम साबित हुआ। पहले यह हर सप्ताह आता था। बाद में पंद्रह दिन पर कर दिया गया। अंत में यह महीने में एक बार आने लगा और बंद हो गया।

'तबस्सुम हिट परेड' की शुरूआत कैसे हुई?

ऐसे ही बैठे ठाले। सोचा, जब लोग चुटकुले सुनकर अपने गम भूल जाते हैं तो इसे बाकायदे स्टेज पर शो के रूप में करना चाहिए। धीरे-धीरे लोग जुड़ने लगे। कुल पैंतीस लोग जमा हो गए। इससे कोई आर्थिक लाभ तो नहीं होता लेकिन पैंतीस घरों में सुबह-शाम चूल्हा जरूर अच्छी तरह जल जाता है। हम ज्यादातर स्कूलों, कॉलेजों और दूसरी सामाजिक संस्थाओं के लिए शो करते हैं। यह लगातार सालों से चल रहा है। उम्मीद है, कुछ सालों तक और चलेगा।

इसके अलावा दूरदर्शन पर क्या कर रही हैं?

हाल ही में बी.आर. इशारा का सीरियल 'फिल्म अदालत' मेट्रो चैनल पर शुरू हुआ है। उसमें बचाव पक्ष के वकील की भूमिका कर रही हूँ। अब तक मैंने लोगों पर आरोप ही लगाए हैं। 'फूल खिले हैं गुलशन-गुलशन' के वक्त लोग यही आरोप लगाया करते थे। अब लोगों का आरोप किसी हद तक न रहेगा। इस सीरियल के अलावा लूसी-शो के अंदाज पर एक प्रोग्राम बनाने की बात चल रही है।

● **साक्षात्कार : अनिल त्रिपाठी**



रेणुका शहाणे

क्या कोई हमेशा मुस्कराता रह सकता है? इसके जवाब में हम आपको **रेणुका शहाणे** का नाम बताएँगे। जिन दर्शकों ने सिद्धार्थ काक का कार्यक्रम सुरभि देखा है वे रेणुका शहाणे के साथ कई बार मुस्कराए होंगे। तेजी से चटपटे सवाल जवाब करने वाली यह लड़की सुरभि के पहली 'पी. सी. और मौसी' तथा 'लाइफ लाइन' सीरियल में आ चुकी है। लेकिन रेणुका का नाम सुरभि ने घर- घर में पहुँचाया। रेणुका की माँ शांता गोखले लेखिका और पत्रकार हैं। सौतेले पिता अरुण खोपकर हिंदी और अँगरेजी में फिल्में बनाते हैं और पूना फिल्म इंस्टीट्यूट में पढ़ाते हैं। रेणुका ने सेन्ट जेवियर कॉलेज से मनोविज्ञान में एम. ए. किया है। वह हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत अच्छी तरह जानती है।

रेणुका के घर रंगकर्मी सत्यदेव दुबे अक्सर आया करते थे। उनका एक नाटक 'बंबई के कौए' मंचित हो रहा था उसमें कोई महिला पात्र नहीं थी। दुबेजी ने रेणुका को उस नाटक में नृत्य करने का मौका दिया था। जब रेणुका मराठी सीरियल 'दिनमान' में काम कर रही थी, उसी समय 'सर्कस' के अजीज मिर्जा ने अपने सीरियल के लिए न्यौता दिया। सर्कस के वह १६ एपीसोड में प्रस्तुत हुई है। इसके बाद सिद्धार्थ काक ने जब सुरभि बनाई तो चटर-पटर करने वाली, बोलती आँखों की इस लड़की को अपने साथ ले लिया। रेणुका को कई फिल्मों के ऑफर भी मिले हैं।

◆ ◆ ◆

सिद्धार्थ काक

(सुरभि वाला)

***दूरदर्शन** की पहली सांस्कृतिक पत्रिका 'सुरभि' के लेखक, निर्देशक **सिद्धार्थ काक** दृश्य माध्यम के चर्चित पत्रकारों में से एक हैं। हिन्दी में सांस्कृतिक चेतना का अहसास दूरदराज के शहरों, कस्बों तक रोचक ढंग से प्रामाणिक जानकारी के साथ आपने पहुँचाया है। हाथ में माइक और कंधे पर वीडियो कैमरा थामे सुरभि की रचनात्मक टोली हमारी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत को तथ्य परक ढंग से छोटे पर्दे पर जीवंत करने में अनवरत जुटी रहती है। लुप्त होती हुई लोक कलाएँ, रोचक लोक परंपराएँ, ऐतिहासिक इमारतें और देश की विविधता को दर्शाते सांस्कृतिक उत्सवों को उद्घाटित करने वाली सांस्कृतिक पत्रिका 'सुरभि' के सूत्रधार सिद्धार्थ काक से हुई बातचीत-*

धारावाहिक 'सुरभि' ने अपने नियमित प्रसारण का पहला वर्ष पूर्ण कर लिया है, कैसा रहा आपका अनुभव?

मेरी समझ से यह पहला सूचनात्मक व्यावसायिक कार्यक्रम है जो पूरी तैयारी और प्रोफेशनल टच के साथ दर्शकों तक पहुँचा। इससे पहले इस तरह के जानकारी-परक कार्यक्रम प्रचार तंत्र की उबाऊ शैली में ही दर्शकों तक पहुँचते थे, जो रोचकता के अभाव में प्रामाणिक होने के बावजूद लोकप्रिय नहीं हो सके। देश के कोने-कोने से आने वाली लाखों चिट्ठियाँ जो दर्शक की रुचि और भागीदारी का प्रमाण हैं।

लेकिन दर्शकों में लोकप्रियता आँकने वाली एजेन्सी का निष्कर्ष तो इसके विपरीत है?

आप सही कह रहे हैं। यही कारण है कि सुरभि को पहले साल कोई प्रायोजक नहीं मिल सका। यदि दूरदर्शन द्वारा कमीशन्ड नहीं होता, तो सुरभि कभी का बंद हो गया होता। दरअसल मेरी यह धारणा है कि यह कार्यक्रम

दूरदर्शन के पहले धारावाहिक

□ प्रमोद बाला

दूरदर्शन द्वारा राष्ट्रीय कार्यक्रमों में जब धारावाहिकों का सिलसिला प्रारंभ किया गया था, तो उन्हीं दिनों एक धारावाहिक **'बीवी नातियों वाली'** का प्रसारण हुआ करता था। दूरदर्शन पर 'बीवी नातियों वाली' पहला धारावाहिक है। इसके प्रसारण के पश्चात धारावाहिकों का सिलसिला चल निकला। इस धारावाहिक का निर्माण लखनऊ दूरदर्शन ने ही किया था। व्यंग्यकार के.पी. सक्सेना ने इसे लिखा था।

'बीवी नातियों वाली' धारावाहिक एक ऐसा धारावाहिक था जो कम लागत में बना और सबसे ज्यादा लोकप्रिय हुआ। इसे जापान दूरदर्शन ने भी अपने यहाँ दिखाया।

इस की शीर्ष भूमिका को निभाया था प्रमोद बाला ने। वही प्रमोद बाला जिसने परमेन्द्र सिंह द्वारा मुंशी प्रेमचंद की कृति पर निर्मित 'निर्मला' में तोताराम की बहन 'रुक्मिणी' की भूमिका को निभाया था।

लखनऊ की सरजमीं से संबंध रखने वाली प्रमोद बाला अपनी उम्र के चार दशक तो पार कर ही चुकी हैं। उनमें जो कला के प्रति जीवटता है, वह निःसंदेह उन्हें एक बार पुनः अपार ख्याति दिलाएगी।



पिछले दिनों एक फिल्म की शूटिंग के दौरान उनसे मुलाकात हुई। इतने समय से आई रिक्तता के बारे में पूछने पर बताया कि 'दरअसल मुझे ज्यादा काम न मिलने का कारण लखनऊ में रहना है। अब मैं काम के लिए बार-बार बंबई तो भाग नहीं सकती,

मूलतया छोटे शहर और कस्बों के मध्यमवर्गीय दर्शकों का धारावाहिक है, जिसे संस्कृति और सूचना परक कार्यक्रमों में रुचि है। जबकि हमारा दर्शकों में लोकप्रियता का बेरोमीटर शहर तक सीमित है। हमारी एजेन्सियाँ जिन दर्शकों में जनमत संग्रह करती हैं, उसके लिए 'सुरभि' में कोई नयापन नहीं है। अँगरेजी की समझ के कारण वह पाश्चात्य इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों से तरह-तरह के कार्यक्रमों का आनंद उठा लेता है। सी.एन.एन., बी.बी.सी. और स्टार निश्चय ही साधनों के मामले में हमसे आगे हैं। फिर भी मैं जोर देकर यह कहना चाहूँगा कि भारत में सुरभि, परख ज्यादा असरदार और लोकप्रिय हैं। आँकड़े चाहे कुछ भी कहें।

सुरभि का जन्म कैसे हुआ?

मैं इस तरह के कार्यक्रम के कई प्रस्ताव वर्षों पहले दूरदर्शन को देता रहा हूँ। लेकिन अँगरेजी मानसिकता की अफसरशाही के कारण कामयाबी नहीं मिल सकी। १९९० में जंद शासन के वक्त इस तरह के तीन कार्यक्रमों की रूपरेखा बनी। राजनीतिक घटनाक्रम की पत्रिका 'इंद्रधनुष', विश्व घटनाक्रम के लिए विश्व दर्पण; सांस्कृतिक गतिविधियों पर केन्द्रित सुरभि। दूरदर्शन अधिकारियों ने मुझसे कहा और बस मैं तो तैयार था। सात दिन में पूरी रूपरेखा स्क्रिप्ट के साथ दे दी और मंजूर हो गई। जल्दी ही सरकार के चले जाने से बाकी पत्रिका तो शुरू नहीं हो सकी इत्तफाक की बात है कि 'सुरभि' प्रारंभ हो गई।

आज आप जिस मुकाम पर खड़े हैं, वहाँ तक पहुँचने के अनुभवों के बारे में कुछ बताइए?

मैं मूलतया पत्रकार हूँ। मेरी स्कूली शिक्षा शिमला के पब्लिक स्कूल में और दिल्ली के सेण्ट स्टीफन्स कॉलेज से मैंने प्रथम श्रेणी में एम.ए. (इतिहास) किया है। कैरियर की शुरूआत इंडियन एक्सप्रेस में पत्रकारिता से हुई। फिर टाटा में एक्जक्यूटिव आफीसर पद पर नियुक्ति के कारण बंबई आ गया। स्कूल-कॉलेज के दिनों में अभिनय के प्रति रुचि थी और अँगरेजी नाटकों में काम भी करता रहा हूँ। बंबई में 'इप्टा' से जुड़ाव के बाद सही मायने में हिंदी रंगमंच की शिक्षा प्रारंभ हुई। एम.एस.सथ्यू के निर्देशन में 'मिट्टी की गाड़ी' नाटक में ब्राह्मण चारुदत्त की भूमिका से नाट्य जगत में मेरी पहचान बनना प्रारंभ हुई। इसी नाटक में गीता ने भी भूमिका निभाई थी, जो आज गीता सिद्धार्थ बनकर मेरी हमसफर है।

१९७० में बंबई दूरदर्शन पर अँगरेजी समाचार वाचक से छोटे पर्दे पर प्रवेश हुआ, जो नेशनल नेटवर्क बनने तक जारी रहा। फिल्मों में रुचि के कारण वृत्तचित्र निर्माण निर्देशन प्रारंभ किया। काश्मीर के लोक नाट्य पर पहला वृत्तचित्र 'भांड जश्न' बनाया जिसे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय सम्मान मिले। मैंने राजकपूर पर वृत्तचित्र बनाया, जिसे उनके निधन पर दिखाया गया। बाबा आमटे के भारत जोड़ो आंदोलन पर 'मानव यात्रा' नाम से वृत्तचित्र बनाया। संभवतया पहली और अंतिम बार नूरजहाँ और लता मंगेशकर पर मॉरटल मैन इम्मॉरटल मेलोडीज् नामक यादगार वृत्तचित्र बनाया।

बाबाजी का बायस्कोप नाम से तेरह किस्तों के धारावाहिक से राष्ट्रीय दूरदर्शन पर प्रवेश हुआ। फिर लोकप्रिय गीतों के सफर पर गाता जाए बंजारा, मेरा दूसरा धारावाहिक था।

आपने फिल्मों में अभिनय भी किया है?

फिल्मों में अभिनय की शुरूआत जगमोहन मूँदड़ा की फिल्म 'सुराग' में निभाई भूमिका से हुई। 'अर्थ'/'सौ दिन सास के' आदि फिल्मों में छोटी-बड़ी भूमिका निभाई। लेकिन इन निभाई गई भूमिका से लगा कि इस क्षेत्र में ज्यादा कुछ नहीं कर पाऊँगा।

आपका नया कार्यक्रम?

पर्यावरण की समस्या को रेखांकित करने वाला नया धारावाहिक **'भूमि'** जल्दी ही बनाने जा रहा हूँ। यह भी सुरभि की तरह पत्रिका स्टाइल में ही होगा जिसमें विश्व स्तर पर पर्यावरण के प्रति चेतना जागृत करने के लक्ष्य को सामने रखकर इसे डिजाइन किया है। यह खोजपूर्ण कार्यक्रम होगा।

श्रीनगर में ९ जुलाई १९४७ को जन्मे सिद्धार्थ काक दूरदर्शन को एक रचनात्मक माध्यम मानते हैं। उनका कहना है कि संस्कृति का जन्म और विकास आम आदमी के मध्य ही होता है। यह एक जिंदगी जीने की कला है।

● **संतोष जैन**

पारिवारिक जिम्मेदारी होने के कारण बंबई में शिफ्ट भी नहीं कर सकती हूँ।

लेकिन आपका अभिनय भी तो कुछ बोलता है?

भला आजकल अभिनय की चिन्ता कौन करता है। सभी लोग अपने बजट के हिसाब से चलते हैं। प्रमोद बाला ने लंबी साँस लेते हुए

की नायिका

कहा।

आपने तो रंगमंच पर अपना पूरा जीवन लगा दिया?

ठीक कहते हो। रंगमंच मेरे लिए वरदान साबित हुआ। मैंने रंगमंच के लिए काफी कुछ किया। काफी कुछ पाया भी। रंगमंच में काम करने से दिली तसल्ली मिलती है।

आपने पहला थिएटर कब किया था?

जब मैं कलकत्ता में अपने पिता के पास रहती थी, तो बचपन में स्कूल में कई ड्रामों में भाग लिया करती थी। लेकिन जब शादी होने के बाद लखनऊ आ गई, तो सन् १९५६ में 'गोदान' नाटक में धनिया की भूमिका निभाई थी।

मुझे लखनऊ रंगमंच में उसी नाटक से सुप्रसिद्ध साहित्यकार अमृतलाल नागर लाए थे। तब रंगमंच एक तपस्या थी और मैंने हिन्दुस्तान की उन महान हस्तियों के साथ थिएटर किया है, जिनके नाम आदर से लिए जाते हैं। जैसे अमृतलाल नागर/ डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल/ यशपाल/ रामपाल ठाकुर और इलाचंद्र जोशी।

दूरदर्शन पर आपका पदार्पण कब हुआ?

करीब नौ-दस साल पहले। उस समय दूरदर्शन का इतना प्रचलन नहीं था। तब मेरे द्वारा 'एक पाखी अकेला', 'बर्फ की मीनार' तथा जयशंकर प्रसाद लिखित 'गुंडा' आदि नाटकों का प्रसारण लखनऊ दूरदर्शन से हुआ करता था। उन दिनों सीरियल भी नहीं चलते थे। दूरदर्शन पर तब मैंने एक धारावाहिक में काम किया था उसका नाम था - 'सुबह होती है शाम होती है' जो धारावाहिक १८ महीने तक प्रसारित हुआ, लेकिन तब महीने में सिर्फ एक एपिसोड दिखाया जाता था।

धारावाहिकों के अलावा किन-किन फिल्मों में काम किया है आपने?

मुजफ्फर अली की उमराव जान/ अंजुमन/ जमुना किनारे (ब्रजभाषा)/ तोहफा मुहब्बत का/ जय करोली माँ/ प्यार का सावन/ तांडव/ टेली फिल्म मृत्युदंड/ मरीचिका। इसके अलावा मेरा एक धारावाहिक दिखाया गया था बानो बेगम जिसमें मैं ही बानो बेगम बनी थी।

● **निशा श्रीवास्तव**

◆ ◆ ◆

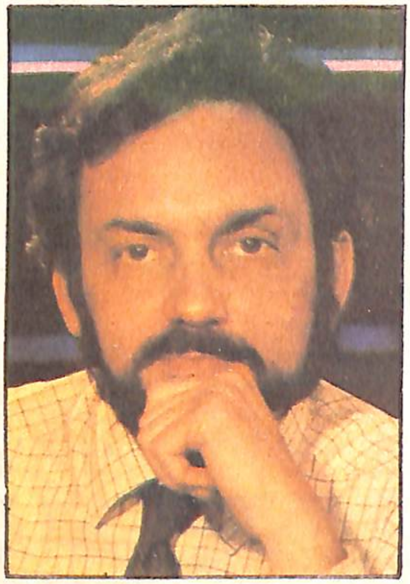
प्रणव रॉय

(द वर्ल्ड दिस वीक)

शुक्रवार की देर रात को जब 'वर्ल्ड दिस वीक' नामक कार्यक्रम का प्रसारण दूरदर्शन से शुरू हुआ तब पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय दर्शकों को लगा कि **'बुद्धू बक्से'** से निकला ताजी हवा का झोंका दुनिया भर की खुशबू लिए उनके सामने से गुजर रहा है। दूरदर्शन तथा न्यू देहली टेलीविजन द्वारा निर्मित यह कार्यक्रम लगभग चार वर्ष पूर्व शुरू हुआ था। एन.डी.टी.वी. की राधिका रॉय इस कार्यक्रम की निर्देशिका एवं निर्मात्री हैं। चुनाव विशेष बुलेटिन, लेकर दर्शकों के सामने आने वाले **प्रणव रॉय** द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला यह कार्यक्रम विदेशी समाचारों पर आधारित था। अधिकांश हिस्से रॉयटर तथा एसोसिएटेड प्रेस द्वारा संकलित समाचार शृंखलाओं से लिए जाते थे। प्रारंभिक दिनों का जिक्र करते हुए प्रणव रॉय बताते हैं कि दूरदर्शन ने शुरू में

केवल १३ अंकों की स्वीकृति प्रदान की थी। प्रति अंक मात्र दो लाख रुपए का पारिश्रमिक देना तय किया था। सामयिक घटनाओं के इस विश्वव्यापी कार्यक्रम को सामान्य सोप ऑपेराओं की श्रेणी में रखा जाना उन्हें अटपटा लगा। सांख्यिकीय एवं अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ के रूप में विख्यात ४६ वर्षीय प्रणव रॉय का कहना है कि उन्होंने एक दर्शक के तौर पर पाया कि दूरदर्शन में विदेशी





समाचारों को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। सिर्फ दूरदर्शन ही नहीं बल्कि समाचार पत्र भी विदेशी समाचारों के साथ सौतेला व्यवहार करते हैं। अधिकांश दर्शक विदेशी समाचार तथा उनकी पृष्ठभूमि के बारे में जानकारी चाहते हैं। बी.बी.सी. द्वारा प्रति सप्ताह विदेशी समाचारों पर आधारित ऐसा ही कार्यक्रम एक घंटे की अवधि के लिए प्रसारित किया जाता है। अमेरिका में तो कई न्यूज एजेंसियाँ स्वतंत्र रूप से ऐसे साप्ताहिक कार्यक्रम तैयार करती हैं। इन कार्यक्रमों के लिए खासतौर पर इन कंपनियों द्वारा विभिन्न देशों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त किए गए हैं।

वर्ल्ड दिस वीक के छोटे बजट में ऐसा सब करना संभव नहीं रहता। विभिन्न देशों द्वारा प्रसारित समाचार बुलेटिनों, साक्षात्कारों एवं समाचार समीक्षाओं से ऐसे टुकड़े छाँटे जाते हैं, जो भारतवासियों को उपयोगी एवं दिलचस्प प्रतीत हों। इसके बाद इनका सम्पादन कर पृष्ठभूमि कथा के साथ पृथक समीक्षा एवं कमेन्ट्री तैयार की जाती है। इस छोटे से कार्यक्रम को तैयार करने के लिए यूएनआई/ पीटीआई/ रायटर/ एसोसिएटेड प्रेस/ 'बिजनेस' 'वर्ल्ड टीवी- न्यूज' आदि संस्थाओं की संयुक्त सेवाएँ ली जाती हैं। शोध टीम प्रतिदिन कम से कम दो घंटे टीवी के सामने बैठकर अपने मतलब के टुकड़े छाँटती है।

यद्यपि इस कार्यक्रम में ज्यादातर अंश अन्य प्रतिष्ठानों द्वारा तैयार की गई सामग्री से लिए जाते हैं, मगर कुछ हिस्से एन.डी.टीवी भी तैयार करता है। 'एन.डी.टीवी.'द्वारातैयार की गई पहली समाचार कथा पाकिस्तान के बारे में थी। इसे तवलीनसिंह ने तैयार किया था। इसके पश्चात अराफात एवं शामीर के साक्षात्कार प्रसारित किए गए।

'एन.डी.टीवी'अपनी सफलता के प्रति शुरू से ही आश्वस्त था इसीलिए राधिका रॉय ने 'इंडिया टुडे' की जमी-जमाई नौकरी छोड़कर वीडियो में प्रशिक्षण प्राप्त किया तथा वर्ल्ड दिस वीक से जुड़ी। इस कार्यक्रम में खेल एवं चिकित्सा को खासा कवरेज दिया जाता है। इसलिए हर वर्ग के दर्शक इसे देखना पसंद करते हैं। कार्यक्रम की कमेन्ट्री कुछ सप्ताहों तक हिन्दी में भी करने का प्रयोग किया गया किन्तु यह ज्यादा सफल नहीं रहा। □

◆ ◆ ◆

शेखर कपूर

(फाइव स्टार अभिनेता)

शेखर कपूर का पहनावा, व्यक्तित्व, चाल-ढाल और अभिनय : सबमें एक तरह की अभिजात्य झलक मिलती है। कई बार उनके भीतर का अभिजात्य काफी हद तक पाश्चात्य मुलम्मे में लिपटा हुआ भी नजर आता है। यह बात उनके हिंदुस्तानी प्रशंसकों को शायद थोड़ी खलने वाली लगती हो। पश्चिम के अतिरिक्त प्रभाव के कारण शेखर अक्सर अभारतीय हो जाते हैं। लेकिन बावजूद इसके वे एक प्यारे अभिनेता हैं, बेहद प्यारे से। जिनका अपना एक अलग अंदाज है, अलग मिजाज है और अलग अल्फाज है।

शेखर का पाश्चात्य रुझान भी बेवजह नहीं कहा जा सकता। वे काफी अरसे तक योरप में रहे हैं। चार्टर्ड अकाउंटेंसी में उपाधि लेने के बाद वे लंदन चले गए थे जहाँ उन्होंने ७ साल तक काम किया। लेकिन भारत लौटने पर शेखर ने अपना मूल पेशा जारी रखने में रुचि नहीं ली और वे रचनात्मकता की तलाश में सिनेमा से जुड़ गए। कलाप्रेम उनमें सदा से मौजूद था। फिल्म जगत में आज शेखर को किसी परिचय की जरूरत नहीं है। दूरदर्शन पर भी उन्होंने अपने अभिनय के तेवर जोरदार ढंग से दिखाए। छोटे परदे के दर्शकों को अभी तक उनकी निर्देशकीय क्षमताओं का जायजा लेने का अवसर नहीं मिला है। धारावाहिकों में वे सिर्फ बतौर अभिनेता ही काम करते रहे हैं जबकि फिल्म इंडस्ट्री में उनकी छवि एक अत्यंत प्रतिभावान फिल्मकार की है।

शेखर कपूर का सर्वाधिक चर्चित धारावाहिक महानगर था। इसे संभ्रांत दर्शक वर्ग के बीच खासतौर पर पसंद किया गया। महानगरीय जीवन की जद्दोजहद, उसकी विषमताओं, उसके रेगिस्तानी सच के बीच जीते व्यक्ति का अंतर्द्वंद्व शेखर के अभिनय में बेहद असरदार ढंग से चित्रित हुआ था। मनोज कुमार ने भी उनके काम की तारीफ की। 'महानगर' मनोज का प्रिय धारावाहिक था। इसके पहले शेखर के दो अन्य सीरियल 'खानदान' और 'स्वयंसिद्ध' प्रसारित हुए थे, लेकिन 'महानगर' जैसी ख्याति उन्हें किसी धारावाहिक से नहीं मिली। कविता चौधरी के बहुचर्चित सीरियल 'उड़ान' में शेखर कुछ हद तक अंडर-प्ले का शिकार लगे। उनके चेहरे पर थकान और उदासीनता साफ पढ़ी जा सकती थी। हालाँकि एक कलेक्टर की भूमिका में उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व हर तरह से आकर्षित करता नजर आया। दरअसल 'उड़ान' की शूटिंग के दौरान वे फिल्म निर्माण और अन्य कामों में काफी व्यस्त थे, इसका प्रभाव उनके अभिनय पर पड़ा। सीरियल की निर्मात्री कविता के साथ इसी कारण उनकी थोड़ी तनातनी भी हो गई थी। वैसे शेखर को आमतौर पर एक मूडी कलाकार माना जाता है। वे अपनी शर्तों पर काम करते हैं। 'उड़ान'

और 'महानगर' की ही श्रेणी में एक अन्य अच्छी भूमिका शेखर को धारावाहिक 'उपन्यास' में मिली। एक नौजवान इतिहासविद् जो प्राचीन खंडहरों की तलाश में 'मॉरीशस' जाता है, वहाँ उसे एक अनजान संन्यासी के घर में अपनी माँ की तस्वीर मिलती है। इस अनपेक्षित स्थिति से वह गहरे तनाव में घिर जाता है। शेखर ने उसकी कश्मकश को अत्यंत खूबसूरती से अभिव्यक्त किया। अपनी 'दिग्जाम मार्का' दाढ़ी पर चिंतक की मुद्रा में हाथ फिराते शेखर 'उपन्यास' में हर वक्त ध्यान आकृष्ट करते नजर आए। दरअसल, बौद्धिक सीरियलों में उन्हें फाइव स्टार अभिनेता की तरह इस्तेमाल किया जाता है और वे अपनी उपस्थिति से सीरियल को वजनदार बना देते हैं।

फिल्मों और धारावाहिकों में काम करने के अलावा शेखर विज्ञापन फिल्में भी बनाते हैं। उनकी विज्ञापन कंपनी 'क्वासर' ने कई उत्पादों के लिए फिल्में बनाईं। मिजाजदान शेखर के दाम्पत्य जीवन में खड़खड़ाहट की खबरें कुछ दिनों पहले उड़ी थीं, लेकिन अब वे अपनी पत्नी के साथ सुलह और शांति का जीवन बिता रहे हैं। शेखर कपूर की बहन सोहेला कपूर (लिमये) भी एक कलाकार हैं। सीरियल 'प्रोफेसर वासन' में उन्होंने छोटी सी भूमिका निभाई थी।

● **राहुल शर्मा**

◆ ◆ ◆

रेणुका इसरानी

(गांधारी और ऊषा रानी)

रेणुका इसरानी ने अभिनय को नित नए आयाम दिए। रंगमंच पर 'राशोमन', टीवी सीरियल 'हम लोग', फिल्मों में 'एक आसमाँ कई दिशाएँ' से प्रारंभ उनके अभिनय के सफर तथा अभिनय के वैविध्य को कब और कहाँ जाकर विराम लगेगा, कोई नहीं जानता। रेणुका ने 'हम लोग' में ऊषा रानी का किरदार निभाया हो या 'हम हिंदुस्तानी' में सिंधी महिला मोहिनी या 'महाभारत' में 'गांधारी' या 'चाणक्य' में मैत्रेयी अथवा 'सौदा' में डॉ. सुरेखा अग्रवाल की भूमिका की हो, उनकी अभिनय क्षमता बेजोड़ है। इतने उत्कृष्ट अभिनय के बाद उन्हें कई अच्छे अवसर मिलने चाहिए थे किंतु कुछ खास नजर नहीं हुआ।

अभिनय को ही कैरियर बनाने की कोई खास वजह रही?

इस सवाल का जवाब बड़ा कठिन है। वैसे मेरा मानना है कि मानव को उसके हालात ही उसे किसी भी प्रोफेशन में ले जाते हैं। मेरे परिवार के किसी भी सदस्य का अभिनय से कोई नाता नहीं। पिताजी जज हैं। उनकी दिली तमन्ना थी कि मैं वकालत के पेशे को अपनाऊँ। मैंने स्वयं कभी भी अभिनय के बारे में नहीं सोचा था। मैं तो सिर्फ मन लगाकर पढ़ाई कर रही थी। बी.कॉम. किया। अभिनय का शौक बचपन से ही मेरे साथ चस्पा था। पाँच साल की उम्र से ही स्टेज करती आ रही थी। पढ़ाई पूरी होते-होते मेरे मन में आया कि एन.एस.डी. ज्वॉइन करना चाहिए। बस! एक्टिंग की ट्रेनिंग पूरी होते-होते मैं दिल्ली रंगमंच पर व्यस्त हो गई। दिल्ली रंगमंच पर मैंने 'अंधा युग/ राशोमन/ गैलेलियो/ कांचन रंग/ मंकी स्पॉट/ देवियानी का कहना है/ सहित पचास से अधिक नाटकों में अभिनय किया।

रंगमंच पर व्यस्तता के दौरान ही दूरदर्शन पर 'सोप ऑपेरा' संस्कृति की शुरूआत होने जा रही थी। 'हम लोग' की चर्चा गर्म थी। हर कोई इस नई विधा से जुड़कर अनुभव लेना चाहता था। एक दिन मेरे सामने भी इस सीरियल में काम करने का ऑफर आया, तो मैं इंकार न कर सकी। 'हम लोग' में ऊषा रानी की भूमिका निभाने से मुझे काफी शोहरत मिली। मुझे काफी कुछ सीखने का मौका भी मिला। फिर तो एक सिलसिला ही चल पड़ा। 'हम हिंदुस्तानी/ अधिकार/ लोक लोक की बात/ महाभारत/ हम पंछी एक डाल के/ रिश्ते/ चाणक्य/ सौदा सहित कई सीरियल आ चुके हैं। मेरी एक फिल्म 'मीरा के गिरधर' भी देश के कुछ भागों में प्रदर्शित हो चुकी है।

'हम लोग' तथा 'महाभारत' में अभिनय कर आपने काफी शोहरत बटोरी। लोगों को लगा था कि अब आप स्टार बन जाएँगी, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ?



पिछले दिनों मेरे कैरियर में थोड़ा ठहराव आ गया था। उसकी भी कुछ वजहें थीं। मेरे पास जो ऑफर आ रहे थे, वे सभी ऊषा रानी या गांधारी की इमेज वाले ही थे। ऐसे ऑफरों को मैं स्वीकार न कर पाई। क्योंकि मैं अपने आपको किसी भी इमेज में कैद नहीं करना चाहती थी।

यदि आपके कैरियर पर नजर दौड़ाई जाए, तो पता चलता है कि आपने अभी तक जितने भी किरदार निभाए हैं, वे सभी ग्लैमर से दूर परिपक्व महिला के हैं, ऐसा क्यों?

मैंने अब तक जितने भी किरदार निभाए, सभी एक-दूसरे से भिन्न रहे हैं। सतही तौर पर आपको मेरे अभिनीत चरित्र एक जैसे लगेंगे। हर किरदार में फर्क है। जिस तरह के किरदार मुझे मिले, मैंने उन्हें अपने अभिनय से जीवंत करने का प्रयास किया और हर बार अपनी इमेज को तोड़ने की पुरजोर कोशिश भी की।

● **सुषमा त्रिपाठी**

◆ ◆ ◆

विजय कश्यप

विजय कश्यप की पहचान टीवी सीरियल 'ये जो है जिन्दगी' से बंगाली बाबू के रूप में हुई थी। इस सीरियल के बाद उन्होंने और भी हैं राहें, राग-दरबारी, किले का रहस्य तथा श्याम बेनेगल के चर्चित सीरियल भारत एक खोज में रोल अदा किए। परंतु सबसे अधिक लोकप्रियता तेनालीराम के रूप में सीरियल 'तेनालीराम' द्वारा मिली। उनके अनुसार बचपन में उन्होंने तेनालीराम के किस्से पढ़े थे। उसके चरित्र से वे तभी से प्रभावित थे। जब इस किरदार को अभिनीत करने का मौका आया, तो उन्होंने फौरन हाँ कर दी तथा लगन से कार्य किया। उनका कहना है एक्टिंग कोई सीखने की चीज नहीं है।

विजय कश्यप ने डिजाइनिंग में ग्रेजुएशन किया है। पंजाब ड्रामा कंपनी से जुड़कर उन्होंने बलवंत गार्गी के चर्चित नाटक 'केसरो' में काम किया। फिर उन्हीं की सलाह पर 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' में गए। निर्देशक अल्काजी जैसे मंजे हुए निर्देशक के साथ छः साल गुजारे। उनके साथ मिलकर बेगम का तकिया, सैंया भए कोतवाल, अंधा युग तथा महाभोज जैसे सफल नाटकों में काम किया। यही नहीं बल्कि सेट डिजाइन भी संभाला। आजकल वे थिएटर ग्रुप सुरनय के नाटकों की सेट डिजाइनिंग तैयार करते हैं।

थिएटर के अलावा विजय कश्यप फिल्मों से भी जुड़े हुए हैं। उन्होंने आधारशिला, गाँधी, मोहन जोशी हाजिर हो, अर्द्ध सत्य, पार्टी, न्यू दिल्ली टाइम्स, सारांश जैसी उच्च स्तरीय फिल्मों में काम किया है। अभी तक उन्होंने कमर्शियल फिल्मों से अपने को दूर रखा है। उनका कहना है कि सच्चे एक्टर को कला फिल्मों और थिएटर से ही संतुष्टि मिलती है, क्योंकि इनके द्वारा वह अपनी प्रतिभा का खुलकर प्रदर्शन कर सकता है। □

किसानों के लिए, फसल की खुशी के बाद अब खुशी की फसल

प्रदेश के किसान गेहूं के समर्थन मूल्य पर सरकारी खरीद द्वारा अपनी फसल के सही दाम पाएं -

- 355 रुपये प्रति क्विंटल की दर पर 30.6.93 तक खरीदी। इसमें मध्यप्रदेश सरकार की ओर से 25 रुपये प्रति क्विंटल का बोनस शामिल है।
- 355 रुपयों से कम पर कतई न बेचें गेहूं।
- हर जिले में खरीद के पूरे इंतजाम।
- सरकारी एलान, सही तौल, तुरंत भुगतान।
- एक जुलाई के बाद भी 305 रुपयों के समर्थन मूल्य पर खरीदी।



किसानों की खुशियों में हिस्सेदार

मध्यप्रदेश सरकार

जनसम्पर्क म.प्र. माध्यम/93

राजेन्द्र गुप्ता

*धारावाहिक बनवारीलाल का बुरा सपना में **राजेन्द्र गुप्ता** बनवारी लाल की भूमिका निभा रहे हैं। वे चर्चित धारावाहिक 'हमराही' में वकील पुस्करनाथ और 'तलाश' में चौकीदार 'फकरू' की भूमिका निभा चुके हैं। अपने सशक्त अभिनय के कारण दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित किया है। इसके अलावा 'कब तक पुकारूँ', 'बूँद-बूँद सागर', 'इंतजार', 'कबीर' आदि धारावाहिकों में अभिनय कर राजेन्द्र गुप्ता ने अपनी पहचान बना ली है।*

आपने अभिनय की दुनिया में कैसे कदम रखा?

बचपन से ही मुझे नाटकों का बहुत शौक था। हमारा परिवार काफी बड़ा है। पाँच भाई और एक बहन। इनके बीच में मैं ही अकेला नाटकों का शौकीन था। हरियाणा के पानीपत कस्बे में हमारा अच्छा व्यवसाय है। जब घर वालों को पता चला कि मैं नाटकों का शौकीन हूँ तो उन्होंने मुझे समझाया कि मैं बेकार ही अभिनय की ओर जा रहा हूँ। तब मैंने उनकी बातों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। कुरुक्षेत्र के विश्वविद्यालय में पढ़ाई के दौरान नाटकों में भाग लेकर खूब काम किया। बी.एस-सी. करने के बाद मुझे ऐसा महसूस हुआ कि आगे चलना मुश्किल हो जाएगा। मैंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रवेश ले लिया। और वहीं से मैंने अभिनय और निर्देशन की शिक्षा प्राप्त कर ली।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने के बाद क्या आप बंबई आ गए या वहीं रहे?

१९७२ में मैंने नाट्य विद्यालय की शिक्षा समाप्त की। उसके बाद १९८२ तक कई शहरों में घूम-घूमकर नाटक किए। उसी दौरान मेरा एक नाटक 'देवयानी का कहना है' खूब प्रसिद्ध हुआ। लगभग मैंने ७० नाटकों में काम किया है। साथ ही निर्देशन भी। एक अँगरेजी नाटक 'डियर चिल्ड्रन' भी काफी सफल हुआ था। उस नाटक में नसीरुद्दीन शाह और रवि वासवानी ने भी भूमिका निभाई थी।

क्या इसी सफलता के कारण रंगमंच से फिल्मों की दुनिया में बंबई चले आए?

नहीं, ऐसी कोई बात नहीं थी। नाटकों में अभिनय करते रहने पर कभी-कभी ऐसा महसूस होता कि हमारा भविष्य क्या है। इसके लिए बंबई ही एकमात्र ऐसी जगह है जो शौक के साथ-साथ व्यावसायिक भी है। इसलिए मैं १९८५ में बंबई चला आया।

काम की तलाश में क्या आपने चक्कर लगाए हैं?

ऐसी तो कोई बात नहीं है। आज तक मैं कभी किसी के पास काम माँगने नहीं गया। मेरा मानना यह है कि काम माँगने से नहीं मिलता। बल्कि अपने अंदर एक अभिनय क्षमता होती है जिसकी बिना पर काम खुद चलकर आता है। मुझे सबसे पहले 'एक कहानी' की एक कड़ी में काम मिला था। उसके बाद बासु चटर्जी ने 'रजनी' में काम दिया। बासुदा मेरे उस काम से बहुत खुश हुए और उन्होंने 'रजनी' की दूसरी कड़ी में भी काम दिया। 'दर्पण' की १३ कड़ियों में प्रमुख भूमिका निभाने का अवसर मिला।

धारावाहिक 'दर्पण' को भले ही लोकप्रियता न मिली हो लेकिन राजेन्द्र गुप्ता के अभिनय ने उसे लोकप्रिय बना दिया। उसके बाद वह हर प्रकार की भूमिकाएँ करने लगे। नुक्कड़/ कबीर/ इंतजार/ जुगलबंदी/ अदालत/ काला जल/ कब तक पुकारूँ, 'बूँद-बूँद' और 'मंजिल अपनी-अपनी'।



आपकी अधिकतर भूमिकाएँ खलनायकी की रहीं?

राजेन्द्र गुप्ता समझाते हुए कहते हैं कि ऐसा कौन कलाकार होगा जो यह नहीं चाहता कि वह नायक प्रधान भूमिकाएँ ही करे। मैं भी यही चाहता था और अब भी यही चाहता हूँ कि मैं भी नायक बन जाऊँ। लेकिन सिर्फ चाहने से ही कुछ नहीं होता। □

◆ ◆ ◆

शाहरुख खान

(बन गए जेंटलमेन)

आमतौर पर टीवी कलाकारों के फिल्मी पदार्पण को चौबे से दुबे बनने की प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। छोटे परदे के महारथी कलाकार भी अब तक फिल्मों में उल्लेखनीय उपलब्धि दर्ज नहीं करा पाए। लेकिन **शाहरुख खान** इसके एकमात्र अपवाद हैं। टीवी ने उन्हें जिस कामयाबी की मशाल थमाई थी, उसे उन्होंने पलक झपकते ही सिने जगत के शिखर पर पहुँचा दिया। **फौजी** और **सर्कस** जैसे धारावाहिकों से मिली लोकप्रियता के बाद शाहरुख ने जब फिल्मों का रुख करने की घोषणा की थी तो उनके ज्यादातर प्रशंसकों को लगा कि ये महाशय तो गए काम से। भला



पंकज कपूर, सतीश शाह, आलोकनाथ जैसे वरिष्ठ टीवी कलाकारों की जब बड़े परदे पर दाल नहीं गली तो जुम्मा-जुम्मा चार दिन के शाहरुख क्या गुल खिला पाएँगे? मगर युवा रंगरूट शाहरुख खान ने तमाम मान्यताओं को गलत साबित कर दिया। अब वे टीवी कलाकारों के लिए उम्मीद का साकार प्रतिरूप बन गए हैं।

शाहरुख खान कर्नल कपूर के धारावाहिक फौजी से पहली बार छोटे परदे पर आए थे। उनकी शुरूआत काफी धमाकेदार रही। एक कमांडो की भूमिका में दर्शकों को खासा प्रभावित किया। महिला प्रशंसकों की तो उन्होंने बाकायदा फौज तैयार कर ली थी। जिस वक्त उन्हें फौजी सीरियल में काम मिला, वे पत्रकारिता एवं जनसंपर्क संस्थान के छात्र थे। दिल्ली निवासी शाहरुख ने अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की है। एक्टिंग के साथ उनका आरंभिक संपर्क अँगरेजी थिएटर के जरिए हुआ। जमे-जमाए पारिवारिक व्यवसाय की बजाए उन्होंने कला जगत में अधिक दिलचस्पी ली। दूरदर्शन पर एक ही धारावाहिक फौजी ने उन्हें स्टार बना दिया। आत्मविश्वास में सराबोर शाहरुख पर सबकी निगाहें जमीं।

फौजी के बाद 'उम्मीद' और 'दिल दरिया' शाहरुख खान के अगले धारावाहिक थे। अजीज मिर्जा के 'सर्कस' में एक बार फिर वे अपने तेवरों के साथ नजर आए। लड़कियों के बीच उनकी लोकप्रियता इस कदर बढ़ चुकी थी कि सर्कस के सेट पर रोज उनसे मिलने महिला प्रशंसकों की भीड़ लगी रहती थी। एक दिन एक लड़की तो वहाँ धरना देकर बैठ गई कि जब तक शाहरुख उसके साथ शादी नहीं करते, वो हटने का नाम नहीं लेगी। अजीज मिर्जा तो शाहरुख की प्रशंसिकाओं से तंग आ गए थे। शाहरुख का एक महत्वपूर्ण सीरियल अहमक जल्दी ही दूरदर्शन पर प्रसारित होगा। मणि कौल द्वारा निर्देशित इस धारावाहिक में शाहरुख की निगेटिव भूमिका है। फिल्मों में शानदार कामयाबी के बाद छोटे परदे को वे शायद ही महत्व दें। □

सतीश शाह

(हा-हा/ही-ही/हू-हू)

ऊपर वाला अपनी तूलिका से हर इंसान के मिजाज को एक अलग रंग देता है। किसी को लाल, किसी को हरा, किसी को नीला। मगर **सतीश शाह** के वक्त उसके रंगों की शीशियाँ उलट गईं। सारे रंग एक-दूसरे में मिल गए। लिहाजा सतीश को जो छवि मिली, उसमें तमाम रंगों का समावेश था। दूरदर्शन पर इतने विविध चरित्रों में हमने उन्हें देखा है कि यकीन नहीं होता इन्हें निभाने वाला एक ही कलाकार है। चराचर जगत में शायद ही कोई ऐसा चरित्र हो जिसे सतीश शाह मजाकिया रंग में हूबहू अभिनीत न कर सकें। धारावाहिक 'ये जो है जिंदगी' में उन्होंने ६५ तरह की भूमिकाओं में आकर कीर्तिमान बना डाला था। मजाल है, इनमें से किसी को भी देखने के बाद दोहराव का अनुभव हुआ हो। भगवान जाने, सतीश आदमी हैं या गिरगिट। कब और किस तरह वे हजार चेहरों में बदल जाते हैं, पता ही नहीं चलता।

'ये जो है जिंदगी' १९८३ में प्रसारित हुआ था। हास्य धारावाहिकों में आज भी कोई इसकी बराबरी नहीं कर सका है। न लोकप्रियता में, और न गुणवत्ता में। इसे सही अर्थों में उत्कृष्टतम मजाकिया सीरियल बनाने वाला एक ही कलाकार था- सतीश शाह। हर एपिसोड में उनकी एन्ट्री नए रूप में होती थी। दर्शकों को बस इसी का इंतजार रहता था, कि कब सतीश आए और कहकहों की बारिश शुरू हो। सतीश तो माशा अल्लाह, जैसे लीलाधर प्रभु की ही बराबरी पर तुले थे, जिसके सैकड़ों रूप हैं। उन्होंने किसी को नहीं बख्शा। कभी दूधवाले, कभी बदमाश, कभी सिंधी व्यवसायी, कभी ज्ञानी, कभी दानी, कभी आम, कभी खास, कभी फलानाँ कभी ढिकाना- न जाने कितनी ही भूमिकाओं में उन्होंने छोटे परदे को आबाद कर दिया। वो आते, तो लगता जैसे व्यक्ति नहीं पूरी सृष्टि (आकार के लिहाज से भी) चली आ रही है और फिर उनके चुटीले तकिया कलाम। मसलन- 'वो क्या है न कि...', 'थट्टी इयर का एक्स्पीरियन्स है...', 'अपुन को भंकस नहीं होना...' वगैरा... वगैरा...। एक लंबी वाक्य शृंखला है,जिसने दर्शकों को सम्मोहित करके रखा। खासतौर से 'थट्टी इयर' वाला संवाद तो घर-घर में उच्चारित होता सुना जा सकता था। तकियाकलाम का उपयोग अन्य हास्य कलाकारों ने भी खूब किया है। मगर सतीश ने जिस सहज और 'कॉमिक' अंदाज में इसे ढाला, उसका जोड़ नहीं ढूँढा जा सकता। 'ये जो है जिंदगी' सतीश के लिए बहुत बड़ी चुनौती थी, जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक निभाया। बदले में उन्हें जो लोकप्रियता मिली, वो चौंधियाने वाली थी। टीवी सुपर स्टार की परिभाषा में वे एक मानक बिंदु की तरह स्थापित हो गए।

सतीश शाह ने एक्टिंग तभी से शुरू कर दी थी, जब वे 'न्यू इरा हाईस्कूल' (बंबई) के छात्र थे। मोतीलाल और दिलीप कुमार जैसे अभिनेताओं की फिल्में देखकर उन्होंने मन में ठान ली कि बड़े होकर एक्टर बनेंगे। इस दिशा में तैयारी के बतौर वे अपने शिक्षकों और पड़ोसियों की नकल उतारने लगे। जिसके कारण उन्हें सबकी डाँट फटकार भी सुननी पड़ी। लेकिन आगे चलकर सतीश को अपनी नकलनवीस कला का काफी फायदा मिला। वे माइम/ पेन्टोमाइम और मिमिक्री के विशेषज्ञ हो गए। बंबई के सेंट जेवियर्स कॉलेज से बी.कॉम. करने के बाद सतीश शाह ने फिल्म/ टेलीविजन संस्थान (पूना) में प्रवेश लिया। उनके कई सहपाठी आज फिल्मों और दूरदर्शन के स्थापित कलाकार हैं। फिल्म संस्थान से निकलते ही सतीश को एन.एफ.डी.सी. (राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम) की फिल्मों 'अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है' (निर्देशक सईद मिर्जा) और 'जाने भी दो यारों' (निर्देशक कुंदन शाह) में काम मिल गया। 'जाने भी दो यारों' में उनकी भूमिका एक लाश की थी। लेकिन मुर्दे के रूप में भी उन्होंने फिल्म में जान डाल दी। मजे की बात है कि सतीश ने अपने कैरियर की शुरूआत विलेन नुमा रोल से की थी।

दूरदर्शन पर सतीश शाह ने कई धारावाहिकों में काम किया, लेकिन 'ये जो है जिंदगी' की सफलता को वे दोहरा नहीं सके। इसके प्रसारण के काफी अरसे बाद तक वह छोटे परदे से नदारद रहे थे। फिर श्रीधर क्षीरसागर के सीरियल 'घरजमाई' में सतीश नजर आए। मगर इसमें उनकी भूमिका ज्यादा जोरदार नहीं थी। सीरियल शीतलीकरण की प्रक्रिया में जमकर रह गया। इसके आने और जाने की हलचल किसी ने महसूस नहीं की। सतीश ने 'घरजमाई' की दुर्दशा के बाद खुद चुटकुलों पर आधारित एक हास्य धारावाहिक बनाया 'धमाल'। सुबह के प्रसारण में इस कार्यक्रम ने अच्छी कामयाबी हासिल की। दरअसल, 'ये जो है जिंदगी' के बाद सतीश शाह दोहराव के डर से अधिक धारावाहिकों में काम करने के उत्सुक नहीं थे। और फिर वैसे भी एक ही सीरियल ने लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचा दिया था।

'ये जो है जिंदगी' के बाद सतीश लोगों के बीच किस कदर पसंद किए जाने लगे थे, इसका एक मजेदार वाकया है। हुआ यों कि सतीश दिल्ली के पालिका बाजार में चहल-कदमी कर रहे थे। उन्होंने देखा कि कुछ लोगों की भीड़ उन्हें घूर रही है। वे उनसे नजर बचाकर सँकरी गली में खिसके। मगर उन्हें महसूस हुआ कि भीड़ उनका पीछा कर रही है। अब सतीश को थोड़ी घबराहट हुई और वे तेजी से उस क्रिया को संपन्न करने लगे, जिसे साधारण बोलचाल की भाषा में दौड़ना कहा जाता है। लेकिन भीड़ ने उनका पीछा करना नहीं छोड़ा। आखिर सतीश दिल कड़ा कर उनसे सामना करने रुक गए। भीड़ हाँफते-हाँफते उन तक पहुँची और उनमें से किसी ने सतीश से कहा- 'आप इस तरह भाग क्यों रहे थे? हम लोग तो आपसे हाथ मिलाना चाहते हैं।'



● **राहुल शर्मा**

◆ ◆ ◆

सुषमा सेठ

प्रेमचंद ने अपनी कहानी बूढ़ी काकी में लिखा था, कि बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन होता है। दूरदर्शन सोप ऑपेरा 'हमलोग' की हँसती-खेलती दादी को देखने के बाद दर्शकों को इस कथ्य की सत्यता पर यकीन हो गया। घर के एक कमरे में खाट पर पड़ी वृद्धा, जिसकी स्वाद कलिकाएँ सुस्वादु भोजन के लिए हमेशा तत्पर रहती हैं और छोटे बच्चों की तरह रंगबिरंगे कपड़े पहनकर इठलाने में जिसे मजा आता है। 'हमलोग' के कलाकारों की भीड़ में जिस चरित्र को दर्शकों का सबसे ज्यादा प्यार मिला वो थी 'दादी'। सुषमा सेठ ने अपने बेहतरीन अभिनय के

द्वारा इस चरित्र को जीवंत अभिव्यक्ति दी। 'हमलोग' में अनपढ़ देहातन दादी की भूमिका निभाने वाली सुषमा सेठ वास्तविक जिंदगी में एक पढ़ी-लिखी और अत्याधुनिक महिला हैं।

दिल्ली निवासी सुषमा सेठ के पास अभिनय जगत का बेहद लंबा अनुभव है। थिएटर के लिए उन्होंने काफी सक्रियता से काम किया, जो उनका सबसे बड़ा शौक था। १९५९ से सुषमा ने अभिनय की शुरूआत की। उनके प्रमुख नाटक थे सखाराम बाइंडर/ टेमिंग ऑफ दि श्रू और रुस्तम सोहराब। इनमें



से सखाराम बाइंडर की 'चम्पा' के रोल में सुषमा इतनी पसंद की गई कि दर्शक सिर्फ उनकी झलक पाने के लिए थिएटर हॉल में उमड़े आते थे। सुषमा बाद में अँगरेजी नाटकों को अधिक प्राथमिकता देने लगीं। इसी बीच विदेश जाने का मौका आया। अमेरिका में उन्होंने एक वास्तुविद् से शादी भी कर ली। लेकिन कुछ समय बाद उनके पति का निधन हो गया। बाद में उन्होंने दूसरी बार विवाह किया।

सुषमा कई फिल्मों में भी काम कर चुकी हैं। उनकी पहली फिल्म थी 'जुनून'। श्याम बेनेगल सुषमा के पाश्चात्य रंग-रूप को देखते हुए उन्हें अँगरेज महिला का रोल देना चाहते थे, मगर सुषमा ने इसकी जगह दूसरी भूमिका पसंद की। बाद में उन्हें दी जाने वाली भूमिका को शशिकपूर की पत्नी जेनिफर केंडल ने निभाया था। 'जुनून' के बाद 'सिलसिला' और 'प्रेमरोग' सुषमा की प्रमुख व्यावसायिक फिल्में थीं। सिनेमा के लिए काम करते हुए भी सुषमा ने रंगमंच से मुँह नहीं मोड़ा। रंग समूह 'यात्रिक' के साथ वे निरंतर जुड़ी रहीं। फिल्मों में सुषमा ने ज्यादातर दबंग महिला की भूमिकाएँ ही अभिनीत की हैं। 'हमलोग' सीरियल में दादी की भूमिका निभाने के बाद लोग उनसे मिलने के लिए घर तक आ पहुँचते थे। इनमें से कई की इच्छा थी कि वे उनके बच्चों की शादी पर चलकर आशीर्वाद दें। मगर सुषमा को एक सजावटी वस्तु बनना पसंद नहीं। वे अपने बच्चों और पति ध्रुव के साथ दिल्ली में रहती हैं। उनकी बड़ी बेटी 'दिव्या' भी उनकी तरह रंगमंच और टीवी की प्रसिद्ध अभिनेत्री हैं। 'हमलोग' में उसने मँझली की भूमिका निभाई थी। □

◆ ◆ ◆

हरीश पटेल

(आ बैल, मुझे मार)

भीड़-भाड़ से भरे रेलवे स्टेशन पर सीने से सूटकेस चिपकाए एक गोल मटोल-सा कुली अवतरित होता है सूटकेस को नीचे रखकर वह इत्मीनान से उस पर पसर जाता है। लोगों की साँस अटकने लगती हैं, कि सूटकेस अब टूटा, तब टूटा। मगर आश्चर्य, इतने भीमकाय आघात के बाद भी उसके प्राण-पखेरू नहीं उड़ते। कुली महाशय इस दिव्य सूटकेस को हाथों में उठाकर उसका गुणगान करने लग जाते हैं। लेकिन इसकी जरूरत नहीं बच रहती। क्योंकि उनके द्वारा जिस ऐतिहासिक क्षण में सूटकेस की सवारी की गई थी, उसी पल सबको उसकी मजबूती पर शाश्वत यकीन हो जाता है।

टीवी के इस विज्ञापन में कुली बनने वाले **हरीश पटेल** को देखने के बाद भी कोई अगर मुँह लटकाए रहे, तो उसकी हास्य चेतना पर पाला पड़ा हुआ समझना चाहिए। वरना ऐसा हो ही नहीं सकता कि हरीश परदे पर आए और दर्शकों के पेट में गुदगुदी न होने लगे। हरीश पटेल का शारीरिक फैलाव, जिसकी त्रिज्या मापने की बजाए शायद पृथ्वी की परिक्रमा करना अधिक आसान लगे, हर वक्त हँसी के ज्वार-भाटों से कंपायमान रहता है। एक जिंदादिल मुस्कान सदा उनके गुलगुलाए चेहरे पर मौजूद मिलेगी। बच्चों के तो वे पसंदीदा कलाकार हैं क्योंकि हरीश का हास्य बच्चों की ही तरह निश्छल और साहजिक होता है। फिर प्रकृति प्रदत्त आकार-प्रकार के रहते उन्हें अपनी भूमिका में हास्य को झोंकने की जरूरत भी नहीं पड़ती, वह स्वतः उनके चारों ओर बिखरने लगता है। दर्शक उसमें सराबोर हो जाते हैं। हरीश ने अब तक 'आ बैल मुझे मार'/ एक कहानी/ खरी-खरी/ कथा सागर/ खजाना/ यात्रा/ धमाल/ हम हिंदुस्तानी/ हमारे मैनेजर/ तमस/ एयर होस्टेस आदि कितने ही धारावाहिकों में काम किया और इन सबमें कहीं न कहीं हास्य का पुट जरूर था क्योंकि उनकी शख्सियत इसके बगैर अधूरी है।

दूरदर्शन से पहले हरीश काफी अरसे तक रंगमंच पर काम कर चुके हैं। बंबई के मारवाड़ी विद्यालय में पढ़ने के बाद उन्होंने वाणिज्य में स्नातक उपाधि ली। प्रसिद्ध रंगकर्मी सत्यदेव दुबे के साथ नाटकों में काम करने लगे। दुबे के चर्चित नाटक 'संभोग से संन्यास तक' में हरीश ने भी भूमिका निभाई थी। इसके बाद उन्होंने 'अरे मायावी सरोवर/ अबे बेवकूफ और अब तोता बोला' में काम किया। इन सभी नाटकों के निर्देशक सत्यदेव दुबे ही थे। सत्यदेव के साथ काम कर हरीश को अनुभव तो काफी मिला, मगर ख्याति नहीं। क्योंकि दुबे भारी-भरकम विषयों वाले नाटक मंचित करते हैं, जिन्हें देखने के लिए दर्शकों की भीड़ नहीं जुटती। शफी इनामदार के कहने पर हरीश ने पहली बार एक हास्य नाटक 'अदा' में काम किया। इसके पहले वे अपने चरित्र के विपरीत अत्यंत गंभीर किस्म के रोल कर रहे थे। 'अदा' के बाद हरीश हास्य नाटकों के चिरस्थाई कलाकार बन गए। अँगरेजी थिएटर पर उन्हें काफी पसंद किया गया। इट्स आल योर जनाब/ बटम्स अप/ कैरी ऑन पापा आदि उनके इतने सफल नाटक हैं कि इनके प्रदर्शन पर हर बार दर्शकों



की भीड़ लगी रहती है।

हरीश का पहला दूरदर्शन धारावाहिक था-'आ बैल मुझे मार'। इस हास्य सीरियल को काफी पसंद किया गया। इसके बाद खरी-खरी/ यात्रा और एयर होस्टेस आदि हरीश के अन्य सीरियल आए, जिन्होंने बाल दर्शकों के बीच तो उन्हें हीरो बना दिया। सीरियल 'हम हिंदुस्तानी' के एक दृश्य में हरीश को फुलझड़ी से एक साथ ढेर सारे पटाखे जलाने थे। लेकिन निर्देशक को लगा कि हरीश जिस कदर बच्चों के प्रिय कलाकार हैं, उसे देखते हुए वे उनकी नकल करने से नहीं चूकेंगे। बाल दर्शकों की सुरक्षा को देखते हुए सीरियल में से वह दृश्य हटा लिया गया। हरीश की लोकप्रियता को देखते हुए कई विज्ञापन कंपनियों ने उनकी सेवाएँ लीं। उन्होंने उत्सव/ मंडी/ आघात/ मिर्च मसाला/ मि. इंडिया आदि फिल्मों में भी भूमिकाएँ निभाई हैं। □

सुलभा आर्य

सुलभा आर्य ने अब तक अनेक धारावाहिकों में काम किया है। कथा सागर/ ये जो है जिंदगी/ स्वयं सिद्धा/ जीवन रेखा जैसे धारावाहिकों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लेकिन इसके बावजूद वह अब तक फिल्मों में नहीं दिखाई दी? क्या उन्हें फिल्मों में काम करना पसंद नहीं? इस बारे में सुलभा कहती हैं- 'ऐसी कोई बात नहीं है। मेरे ही पास इतना समय नहीं है कि मैं एक ही समय में दोनों जगहों पर काम कर सकूँ। एक गृहणी होने के नाते घर के काम भी देखने पड़ते हैं। वैसे तो मुझे अक्सर फिल्मों के ऑफर मिलते रहते हैं, लेकिन मैं ही समय नहीं निकाल पाती हूँ'। इन सभी बातों को लेकर उनसे मुलाकात की।

धारावाहिकों में काम करने के लिए आप कैसे समय निकाल लेती हैं?

धारावाहिकों में काम करने के लिए अधिक



समय की जरूरत नहीं होती है। फिल्मों के लिए लंबे समय की जरूरत होती है। पूरा समय वहीं बिताना पड़ता है। इसलिए फिल्मों के मुकाबले धारावाहिकों में अधिक दिखाई देती हूँ।

आपका झुकाव अभिनय की ओर कैसे हुआ?

बचपन से ही मुझे अभिनय का बहुत शौक था। पहले तो मैंने इसे शौक के तौर पर अपनाया था। लेकिन अब व्यवसाय बन गया है। स्कूल और कॉलेज के जमाने से ही मैं प्रोग्राम में भाग लिया करती थी। सत्रह साल से मैं इप्टा से जुड़ी हुई हूँ। इसलिए मुझे वहाँ पर बहुत कुछ सीखने का अवसर मिला।

अब तक आपने माँ-पत्नी की ही भूमिकाएँ निभाई हैं। क्या आप इससे संतुष्ट हैं?

इस उम्र में पहुँचकर मैं रोमांटिक भूमिका तो नहीं कर सकती। मैं सिर्फ माँ या पत्नी की ही भूमिकाएँ कर सकती हूँ।

'हमराही' में आपने बहुत ही दयनीय भूमिका निभाई है?

'हमराही' में मैंने जिस औरत की भूमिका निभाई है वह आजकल की औरत से बिल्कुल अलग है। मैं उस पीढ़ी की औरत बनी हूँ जहाँ औरत को अपने पति के सामने और बड़ों के सामने अपने विचारों को प्रकट करने की इजाजत नहीं। इस तरह की चेलेंजिग भूमिका करके मैं बहुत खुश हूँ।

अब तक आपने कौन-कौन से धारावाहिकों में काम किया है?

बहुत से धारावाहिकों में अभिनय कर चुकी हूँ। उनके नाम इस प्रकार हैं- ये जो है जिंदगी। इसमें मैं मंदिरा की भूमिका में थी। इसके बाद कथा सागर/ जिंदगी/ स्वयं सिद्धा/ जीवन रेखा/ धूप छाँव/ खेल-खेल में/ आदि कई।

हमें अपनी पृष्ठभूमि के बारे में कुछ बताएँगी?

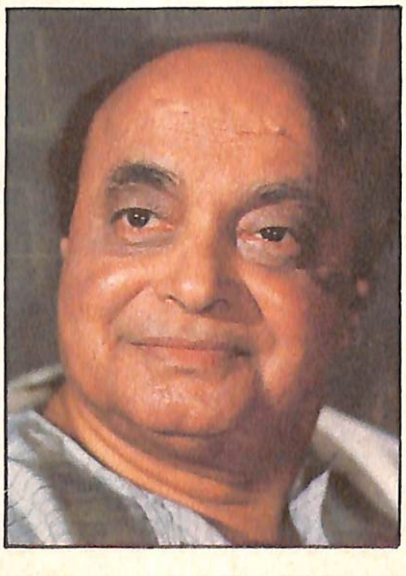
मैं एक महाराष्ट्रीयन हूँ। मेरे पति मुस्लिम हैं। हमने आर्य समाजी ढंग से शादी की है। मेरे पति कैमरामैन हैं। दो बच्चे हैं। बड़ा बेटा असिस्टेंट कैमरामैन है। छोटा बेटा अभी पढ़ रहा है। मैं स्कूल में पढ़ाती हूँ। यही मेरा छोटा सा परिवार है।

● **के.एम. श्रीवास्तव**

◆ ◆ ◆

राममय रामानंद सागर

रामानंद सागर का नाम लेते ही कई बिंब उभरते हैं। साहित्यकार/ पत्रकार/ पटकथाकार/ संवाद लेखक/ निर्देशक/ निर्माता आदि कई-



कई गुण एकसाथ। देखने में बुजुर्ग लेकिन फुर्ती इतनी कि नौजवानों को भी मात दे दें। हर काम में सक्रिय। क्या मजाल कि शूटिंग के समय कोई चीज उनकी नजर से बच जाए। सेट के कलर स्कीम से लेकर कास्ट्यूम की बारीकियों तक उनकी पैनी नजर पहुँचती है।

वैसे तो रामानंद सागर लेखक, निर्देशक और निर्माता के रूप में बहुत पहले प्रसिद्ध हो चुके थे। लेकिन रामायण ने उन्हें अपार लोकप्रियता और प्रसिद्धि दिलाई। नटराज स्टूडियो स्थित उनके ऑफिस में मुलाकात होने पर सबसे पहला प्रश्न मैं 'रामायण' से ही संबंधित करता हूँ।

'रामायण' पर काम करने की प्रेरणा आपको कैसे मिली?

प्रेरणा तो प्रभु की कृपा से बहुत पहले मिल गई थी। लेकिन इसके निर्माण की आज्ञा नहीं मिली। इसीलिए इसमें बहुत विलंब हो गया। दरअसल पिछले पचास सालों से रामायण का रिहर्सल चल रहा था।

आपका प्रारंभिक जीवन कैसा रहा?

बड़ा ही संघर्षमय। मेरे पितामह तो बड़े धनाढ्य थे। लेकिन पिता के समय तक धन छिन गया। मेरे पिता ने किसी को वचन दिया था, इसलिए मुझे एक अमीर आदमी को सौंप दिया। उन्हीं के घर मेरी पढ़ाई-लिखाई हुई। वे मेरी शादी एक अमीर घर में करना चाहते थे। लेकिन मुझे एक गरीब घर की लड़की पसंद थी। इस बात पर मैंने उनका घर छोड़ दिया। शादी के लिए मेरे एक मित्र थे, जो कि अभी हॉल तक मेरे यहाँ प्रोडक्शन मैनेजर रहे हैं, उनसे साढ़े पाँच आने लिए। शादी हो गई। एक तरफ पढ़ाई चलती रही और दूसरी तरफ संघर्ष। हम पति-पत्नी मिल कर साबुन बनाते। मैं उसे सर पर लाद कर बेचने निकलता। बाद में छोटी-छोटी कई नौकरियाँ कीं। इससे पहले, मैंने लिखना शुरू कर दिया था। मेरी लिखी कहानी कॉलेज मैगजिन में छपी तो प्रिंसिपल को विश्वास न हुआ कि मैंने लिखी है। पंजाब यूनिवर्सिटी से ग्रेज्युएशन किया। मेरा विषय था संस्कृत, उर्दू और फारसी। अव्वल नंबर आया था। इसके बाद पत्रकारिता, संपादन, कहानी, लेखन और एक फिल्म में सहायक निर्देशक का काम किया। फिल्म का नाम था 'राइडर्स आफ द रेल रोड'। यह मूक फिल्म थी। १९४२ में टी.बी. का शिकार हो गया। सेनिटोरियम में मुझे स्वास्थ्य लाभ के लिए भेज दिया गया। जिंदगी और मौत के बीच जूझते हुए मैंने अपनी डायरी लिखनी शुरू की और उसे 'अब्दे मशरीक' में भेजता रहा। डायरी के पन्ने छपने लगे। इससे जहाँ साहित्य में थोड़ी-सी जगह मिली, वहीं पर मौत से जीत भी। इस तरह कहानियाँ-उपन्यास लिखने में जिंदगी कटती रही। तब तक बँटवारे का वक्त आ गया। किसी तरह लाहौर से दिल्ली और दिल्ली से बंबई आ गया। स्वर्गीय पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थिएटर में काम दिया। कुछ पैसे मिले। इन पैसों से बच्चों को भरपेट खाना खिलाया। यहाँ दो नाटक लिखे 'गौरा' और 'कलाकार'।

बंबइया फिल्मों में आपका प्रवेश कैसे हुआ?

उन दिनों पूना में कई स्टूडियो थे। हिंदी

फिल्में भी खूब बनती थीं। पहली फिल्म 'बरसात' लिखी। इसके दूसरे साल 'मेहमान' का लेखन-निर्देशन किया। इसी दौरान 'बड़ी बहू' लिखी। एक बार फिर 'बाजूबंद' फिल्म के लिए लेखन-निर्देशन का मौका मिला। यह फिल्म ऐसी फ्लॉप हुई कि कई सालों तक फिल्म निर्देशन का मौका नहीं मिला। लेकिन एक बात हुई। हर रविवार को पंडित चंद्रशेखर पांडे आने लगे। वे बहुत अच्छी रामायण कहते थे। उनकी रामायण सुनकर बड़ी शांति मिलती थी।

इसके बाद निर्देशक बनने का अवसर कब आया?

लगभग दस वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस दौरान 'पूनम'/ 'जान पहचान'/ 'शगूफा'/ 'संगदिल'/ 'दीदी'/ 'इल्जाम'/ 'इंसानियत'/ 'रुखसाना'/ 'राजतिलक'/ 'पैगाम'/ 'राजकुमार'/ 'कोहिनूर' आदि फिल्मों में कहानी, संवाद लिखे। निर्देशक और निर्माता बनने का मौका एक साथ आया, लेकिन मैंने फिल्में बनाकर जेमिनी को दे दी। ये फिल्में थीं 'घूँघट' और 'जिंदगी'। दोनों हिट हुईं।

आपने सागर आर्ट्स की शुरुआत किस फिल्म से की?

'आरजू' से।

सागर साहब, पहले आप अपना सरनेम चोपड़ा और बेदी लगाते थे, यह सागर नाम आपको कहाँ से मिल गया?

इसका भी एक दिलचस्प वाकिया है। जब मैं पहली बार बंबई आया तो सागर देखने की बड़ी इच्छा थी। इसके पहले सागर देखा नहीं था। देखता भी कैसे। उत्तर में समुंद्र है भी कहाँ? एक रोज बड़े करीब से सागर का दर्शन करने गया। वरुण देवता को नमस्कार करके सागर की असीमता निहारता रहा। इसी दौरान एक साधु आया। उसने आशीर्वाद दिया। 'बेटा तेरा कल्याण होगा'। संयोग की बात कि साधु के जाते ही समंदर में तेज लहर आई। उसमें मैं नहा उठा। वरुण देवता को फिर नमस्कार किया और आभार भी प्रकट किया कि उन्होंने साधु के आशीर्वाद पर अपनी मुहर लगा दी थी।

'रामायण' पर काम करने का कब निर्णय किया?

इस विषय पर काम करने का निर्णय तो बार-बार करता था। लेकिन ग्रह मिलते ही न थे। १९७५ में 'योगेश्वर कृष्ण' की योजना जरूर बन गई। इसमें फिल्मी दुनिया के मशहूर लोग काम करने वाले थे। मोरारजी भाई देसाई ने स्क्रिप्ट लिखी थी। लेकिन बात न बन सकी। शायद प्रभु अब तक रिहर्सल ही करवा रहे थे। जब प्रभु की कृपा हुई तो शुभारंभ हो गया।

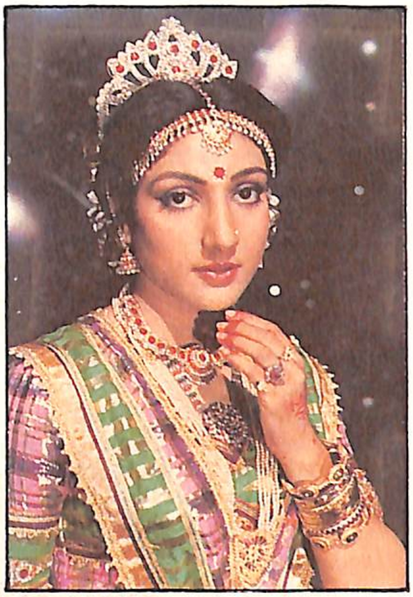
क्या आपको पता था कि 'रामायण' इतनी सफल होगी?

जी हाँ, मैंने रामायण का कार्य बड़े पवित्र मन से प्रारंभ किया था। इसमें पैसे या नाम कमाने की बात तो मैंने सोची भी न थी। भक्तिभाव से प्रेरित होकर काम कर रहा था।

'रामायण' की सफलता का श्रेय आप किसे देते हैं- अपने आप को, कलाकारों को या स्वयं रामायण के अत्यंत लोकप्रिय विषय को?

जहाँ तक लोकप्रियता की बात है, उसे तो अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता। लेकिन श्रेय देने की बात आप करते हैं तो मैं कहूँगा कि यह भगवान श्रीराम की कृपा से संभव हुआ। इसमें मैं तो एक बहाना मात्र हूँ।

● साक्षात्कार : अनिल त्रिपाठी



रेशमा सिंह

(अनुराधा से राधा)

रामानंद सागर ने रामायण के माध्यम से दीपिका चिखलिया को रातों रात सीता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। उसी तर्ज पर उन्होंने अनुराधा को अपने धारावाहिक **'कृष्णा'** में राधा बनाकर लोकप्रिय बनाया। दरअसल अनुराधा बचपन का नाम है। बड़ी होकर वह रेशमा सिंह कहलाई। मध्यप्रदेश के रायगढ़ स्टेट के महाराजा विजयेन्द्रसिंह की वह पोती है। उसके पिता बलवीर सिंह कृष्ण के उपासक हैं। वह चाहते थे अनुराधा अभिनय करे। इसके लिए उसे लंदन के ब्रिटिश थिएटर एसोसिएशन में भर्ती कराया। यहाँ से सर्टिफिकेट लेकर अनुराधा अभिनय के क्षेत्र में आ गई। फिल्म 'जॉनी मेरा नाम' में उसने हेमामालिनी के बचपन का रोल किया था। इसके बाद एक बंगला और एक तेलुगु फिल्म में भी उसने अभिनय किया है। धारावाहिकों से उसका परिचय 'गुल-गुलशन-गुलफाम' से हुआ। इसमें वह चुलबुली काश्मीरी युवती परवीन बनी है। जब रामानंद सागर ने उसे देखा तो कृष्णा में 'राधा' का रोल दे दिया। 'कृष्णा' को दूरदर्शन ने प्रसारित करने से इंकार कर दिया, तो रामानंद सागर ने वीडियो बाजार और केबल टीवी के जरिए घर-घर पहुँचाया। अप्रैल १९९३ से कृष्णा को मैट्रो चैनल पर दिखाया गया। अनुराधा के पिता की एक सलाहकार सेवा है। मम्मी डॉक्टर है और एक छोटा भाई है।

◆ ◆ ◆

रघुवीर यादव

(बेचारा मुंगेरीलाल!)

सड़क किनारे निरीह सा दिखने वाला एक नाटा आदमी अपनी पंचर सायकल के साथ उदास मुद्रा में उकड़ूँ बैठा हो। पास से गुजरती एक तन्वंगी को देखते ही उसकी बाईं आँख मिचमिचाने लगती है। सिर धड़ से ३० डिग्री का कोण बनाता हुआ क्षितिज की तरफ उठ जाता है। हाथ चेहरे पर गहन विचार का भाव दर्शाते टिक जाते हैं। वह पूरी तरह स्वप्निल संसार में प्रक्षेपित हो पड़ता है। उसे महसूस होता है जैसे सुंदर तरुणी उसके गले में वरमाला डाल रही है, और वह उसे अपने आलीशान बंगले में ले जाने को उन्मुख है। मगर तभी किसी लौकिक धमाके से उनकी तंद्रा टूटती है। वे खुद को वापस उसी दुनिया में पाते हैं। जहाँ उनकी प्रागैतिहासिक सायकल है, वे हैं और पैरों के नीचे कड़वा यथार्थ है। आपका परिचय? **मुंगेरीलाल उर्फ रघुवीर यादव।**

मुंगेरीलाल की आँखें हर आम आदमी के मन में कसमसाती ख्वाहिशों का प्रतीक हैं। जो एक अलभ्य ऊँचाई की तलाश में ऊपर उठती हैं। मगर जिंदगी की खुरदुरी सतह से टकरा कर उन्हीं आँखों में उनकी कब्र बन जाती हैं। मुंगेरीलाल 'ट्रिपुल एम.ए.' सपने देखता है। मीठे और सुखप्रद सपने। उनमें वो ढेर सारी कल्पनाएँ करता है। कभी अपने बॉस को चपरासी बना कर नाक रगड़वाना चाहता है, तो कभी मुच्छड़ ससुर को 'लखना डाकू' की भूमिका में रख खुद बहादुर पुलिस अफसर बन जाता है। वो तमाम ताकतें जो शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक धरातल पर उससे काफी मजबूत हैं, सपनों में उसके इशारों पर नाचने लग जाती हैं। बेचारे मुंगेरी के पास एक ही राहत है उसके सपने। जिनके आस्वाद के लिए वह बार-बार 'ट्रांस' में चला जाता है। रघुवीर यादव ने इस रोचक किरदार को इतने बेहतर ढंग से निभाया कि मुंगेरी की संपूर्ण दुनिया छोटे परदे पर जीवंत हो उठी।

रघुवीर यादव ने निजी जिंदगी में मुंगेरी की तरह काफी कड़वे यथार्थ का सामना किया है। जबलपुर के पास एक ग्रामीण किसान परिवार में जन्मे रघुवीर ने तरह-तरह के पापड़ बेले। मवेशी चराए, बैलगाड़ी चलाई, पान-बीड़ी की दुकान लगाई। गाय-बैल चराते वक्त उन्हें राग लेकर गाने का बेहद शौक था। जिससे उनके पिता सख्त चिढ़ते थे। माँ ने उन्हें इसके लिए प्रोत्साहित किया। १३ वर्ष की आयु में उनकी माँ चल बसी। पिता ने उन्हें जबरदस्ती स्कूल में

विज्ञान विषय दिला रखा था। जब पढ़ाई से उकताहट हुई तो रघुवीर अपने एक दोस्त के साथ घर छोड़कर 'ललितपुर' भाग आए! थे मित्र महाशय घर छोड़ कर भागने में विशेषज्ञ थे, और उन्होंने अपनी इस प्रतिभा का परिचय एक-दो नहीं बल्कि अनेक बार दिया। बहरहाल ललितपुर में रघुवीर आजीविका कमाने के लिए एक नौटंकी में भरती हो गए। स्टेज से यह उनका पहला परिचय था। उन्हें अक्सर नौटंकी के अन्य कलाकारों की तरह अपने जमाने की मशहूर फिल्म 'नागिन' की धुन पर सड़क किनारे लहरा-लहरा कर नाचना-गाना पड़ता था। रघुवीर ने कुछ समय बाद एक भ्रमणशील नाटक कंपनी 'भोपाल थिएटर्स' में २५ रु. प्रतिदिन की तनख्वाह पर नौकरी कर ली। यहाँ उन्होंने असली अर्थों में अभिनय सीखा। तब वे 'लैला-मजनू' और



'शीरी -फरहाद' जैसे नाटकों में काम किया करते थे। इन्हीं दिनों किसी ने नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से जुड़ने की सलाह दी। रघुवीर के पास प्रवेश के लिए आवश्यक योग्यता नहीं थी। लेकिन जब उन्होंने प्रवेश समिति के सदस्य इब्राहिम अलकाजी, रघुवीर सहाय और फ्रैंक ठाकुरदास को अपने अभिनय की झलक दिखाई, तो उन्हें दाखिला मिल गया। वे छात्रवृत्ति लेकर पढ़ने लगे। एन.एस.डी. में रह कर रघुवीर ने काफी कुछ सीखा। प्रदीप कृष्ण ने जब 'मैसी साहब' की रूपरेखा बनाई, तो केंद्रीय भूमिका में उन्होंने रघुवीर यादव को ही चुना। फिल्म बनने में हालाँकि काफी समय लगा, लेकिन जब १९८६ में यह प्रदर्शित हुई, तो रघुवीर रातों-रात स्टार बन गए। 'मैसी साहब' के लिए उन्हें प्रतिष्ठित रजत मयूर पुरस्कार मिला। इसके बाद एक और धमाकेदार फिल्म आई 'सलाम-बाम्बे।' रघुवीर एक बार फिर चर्चा के केंद्र में आ गए।

दूरदर्शन धारावाहिक 'मुंगेरीलाल के हसीन सपने' में रघुवीर यादव की भूमिका 'मैसी साहब' के दफ्तरी बाबू से काफी मिलती-जुलती थी। जो टूटी-फूटी अँगरेजी बोलता है, और जिसकी बेवकूफाना लेकिन मासूम हरकतों को देख कर हँसी भी आती है और हमदर्दी का भाव भी। टेली फिल्म 'टूटू' में रघुवीर ने मानसिक रूप से अल्प विकसित एक युवक की भूमिका में बेहद भाव-प्रवण अभिनय किया था। यह उनकी सर्वश्रेष्ठ भूमिकाओं में से एक थी। रघुवीर यादव जैसे भोले-भाले और निरापद शक्ल-सूरत वाले व्यक्ति को देखकर कल्पना भी नहीं की जा सकती, कि दुनिया में लम्पट और धूर्त लोगों की भरमार है। हम चाहे मुंगेरीलाल की हँसी उड़ाएँ, लेकिन अगर वो सपनों में खोया रहता है तो इसीलिए क्योंकि दुनिया आँख खोलने लायक है ही नहीं। मुल्ला नसरुद्दीन भी रघुवीर यादव का एक यादगार सीरियल है।

● राहुल शर्मा

◆ ◆ ◆

रूपा गांगुली

रूपा गांगुली में अन्य नायिकाओं जैसी अद्भुत सुंदरता तो नहीं है लेकिन उसकी बातचीत, हावभाव और चाल-चलन में एक आकर्षण है। बंगला, हिंदी और दक्षिण भारतीय फिल्मों को मिलाकर रूपा ने लगभग १५ फिल्मों में काम किया है पर इनमें से हिट की तालिका में एक भी फिल्म नहीं है। फिर भी रूपा स्टार है। कई उल्लेखनीय भूमिका में वह अभिनय कर चुकी हैं जैसे- महाभारत में द्रोपदी, गणदेवता में दुर्गा, पद्मा नदीर माँझी की कपिला, बंगला फिल्म जननी में भी उसने बहुत अच्छी भूमिका निभाई है। शुरू में जब रूपा बंगला फिल्मों में आई तो बहुतों ने सोचा कि वह फिल्म इंडस्ट्री में तहलका मचा देगी। लेकिन वैसा कुछ नहीं हुआ।

इस समय रूपा अपने घर-परिवार को लेकर व्यस्त है। नई फिल्मों का काम उसके पास नहीं के बराबर है। पुरानी कई फिल्मों का काम वह खत्म कर रही है। ज्यादा काम न होने का रूपा को कोई अफसोस नहीं है। शादी के बाद से रूपा का मन घर की तरफ ज्यादा लगा है। हफ्ते में शनि और रविवार दो दिन वह बिल्कुल काम नहीं करती है। उसने नाटकों में भी काम छोड़ दिया है। रूपा के मुताबिक नाटकों में काम करने में वैसी स्वतंत्रता नहीं है जो फिल्मों में होती है। फिल्मों में आर्टिस्ट से डेट लेने के बाद शूटिंग का काम शुरू होता है, लेकिन नाटकों में ये सब नहीं चलता है।

रूपा ने व्यावसायिक और गंभीर दोनों तरह की फिल्मों में काम किया है लेकिन उसके मुताबिक इसकी वजह से उन्हें अपने अभिनय में कोई बदलाव नहीं लाना पड़ता है। मैं समझती हूँ व्यावसायिक और सीरियस फिल्म में कोई अंतर नहीं है। मीना बाजार जैसी निम्न स्तर की फिल्म में उसने कैसे काम किया। वह तो कोई गंभीर फिल्म नहीं थी। हो सकता है उसने ऐसा पैसे के लिए किया हो। लेकिन इस फिल्म के बारे में रूपा का कहना है- दरअसल, इस फिल्म के स्तर को खराब करने के मूल में फिल्म की दूसरी नायिका पूनम दासगुप्ता है। वह अपनी पोशाक खुद लाई थी। हर दृश्य में उसने ऐसा ड्रेस पहना कि फिल्म ही निम्न श्रेणी की मानी जाने लगी।

श्यामानंद जालान के नेटवर्क सीरियल कृष्णकांत के वसीयतनामा में रूपा रोहिणी जैसे उल्लेखनीय चरित्र में अभिनय कर रही है। व्यावसायिक फिल्मों की दुनिया छोड़कर अब वह सीरियस फिल्मों में प्रवेश कर रही हैं।

● सी. अमृत



पल्लवी जोशी

पल्लवी जोशी मूल रूप से गुजराती हैं तथा उनका कैरियर गुजराती फिल्मों की बाल कलाकार के रूप में हुआ। पंद्रह साल की उम्र तक वे गुजराती फिल्मों में बाल कलाकार के रूप में कार्य करती रहीं। 'खम्मा मारा वीरा' नामक गुजराती फिल्म में पहली बार पर्दे पर आकर जब उन्होंने सर्वश्रेष्ठ बाल अभिनेत्री का अवार्ड जीता तब यह सिद्ध हो गया कि उनमें अभिनय की जन्मजात प्रतिभा है। स्वर्गीय जुगलकिशोर की फिल्म 'दादा' में अंधी लड़की की भूमिका पल्लवी ने इतनी गहराई से आत्मसात होकर अदा की कि उसे देखकर ही मंजू सिंह ने उनके सामने अपने सीरियल में काम करने का प्रस्ताव रखा। इस तरह 'एक कहानी' नामक धारावाहिक में **जंगली बूटी** नामक कहानी में वे अंधी लड़की के रूप में आईं। 'कथासागर' के कुछ अंकों में भी वे आईं। पल्लवी को रंग-मंच, छोटे पर्दे और बड़े पर्दे सभी से प्यार है। अमोल पालेकर के साथ उन्होंने मराठी नाटकों में भी काम किया है। श्याम बेनेगल की फिल्म **'सुस्मन' में वे बुनकर परिवार की एक शोषित लड़की बनीं। 'कालाजल'** नामक धारावाहिक से ही पल्लवी का प्रौढ़ अभिनय सामने आने लगा। एक युवती के रूप में पल्लवी का चेहरा बहुत आकर्षक नहीं है। देहयष्टि भी बहुत संतुलित नहीं है किंतु फिर भी उनके पास काम की कमी नहीं रहती। बड़े पर्दे की फिल्मों में वे अब तक हिंदी, मराठी, गुजराती, मलयालम तथा कन्नड़ फिल्मों में काम कर चुकी हैं। हिंदी फिल्मों में 'अमृत', 'गुरुदक्षिणा', 'इंसान की आवाज', 'मुजरिम', 'तृषाग्नि' आदि फिल्मों में उन्होंने विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ की हैं। बड़े बैनर की फिल्मों में वे चरित्र अभिनेत्री के रूप में काफी सफल रहीं। दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले धारावाहिकों में वे 'एक कहानी', 'कथासागर', 'लेना-देना', 'किस्से मियाँ बीवी के', 'और भी हैं राहें', 'भारत एक खोज', 'कालाजल', 'हम हिंदुस्तानी', 'खरी-खरी', 'खजाना', 'चेहरे', 'अदालत', 'बुनियाद', 'मिस्टर योगी', 'कब तक पुकारूँ' तथा 'मृगनयनी' आदि में काम किया है। 'मृगनयनी' में 'निन्नी' भी भूमिका में पहले तो एक अल्हड़ वीर, बेबाक, बिंदास, बहादुर देहाती लड़की के रूप में वे आईं तथा बाद के अंकों में ग्वालियर नरेश की ब्याहता के रूप में रानी के गंभीर पात्र को भी उन्होंने खूबी से निभाया। पल्लवी एक निदेशक के रूप में श्याम बेनेगल से बहुत अधिक प्रभावित हैं। उनका कहना है कि 'सुस्मन' एवं 'भारत एक खोज' में उन्होंने जो भी कुछ सीखा उसी की बुनियाद पर उनकी अभिनय की इमारत खड़ी हुई है। 'मृगनयनी' के साथ-साथ धारावाहिक 'कब तक पुकारूँ' की 'कजरी' के रूप में की गई भूमिका को वे उत्कृष्ट मानती हैं। पल्लवी की तमन्ना थी कि आर्किटेक्ट बने लेकिन



अभिनय ने उन्हें अपनी ओर ऐसा खींचा कि तमन्नाएँ पृष्ठभूमि में चली गईं। अब तो वे रंगमंच और फिल्मों से इतनी अधिक जुड़ गईं है कि एक मराठी फिल्म के निर्माण की योजना बना रही हैं। इस फिल्म की पटकथा उन्होंने स्वयं लिखी है। 'तृषाग्नि' को लेकर पल्लवी पर कुछ आरोप भी लगे। लेकिन एक निर्माणाधीन फिल्म 'वंचित' विवादास्पद भी हुई किंतु सारे विवादों से अप्रभावित रहकर छोटे कद की दुबली-पतली मीठी मुस्कान वाली यह लड़की छोटे पर्दे की बड़ी हस्ती बनती चली जा रही है।

ताजी सूचना यह है कि अमोल पालेकर के अगले धारावाहिक **'कचनार'** की नायिका भी पल्लवी है। पल्लवी और छोटा परदा एक-दूसरे के पर्याय बन गए हैं। □

◆ ◆ ◆

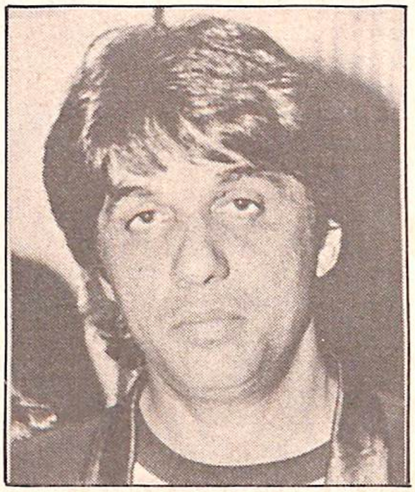
मुकेश खन्ना

(भीष्म पितामह की छाया)

मुकेश खन्ना ने फिल्म और दूरदर्शन की दुनिया में प्रवेश करने के पहले बंबई के सेंट जेवियर कॉलेज से बी.एस-सी. कर, एल.एल.बी. की डिग्री भी प्राप्त की थी। अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने पूना के फिल्म एवं टी.वी. संस्थान में प्रवेश लिया। जिस समय इन्होंने इस संस्थान में प्रवेश लिया उस वक्त इनके साथ नसरुद्दीन शाह, मिथुन चक्रवर्ती, शक्ति कपूर और रामेश्वरी जैसे लोकप्रिय कलाकार भी अभिनय का प्रशिक्षण ले रहे थे। अभिनय प्रशिक्षण के पूर्व भी पंद्रह वर्ष की आयु में नरेन्द्र बेदी की फिल्म 'खूनी' में काम किया था, जो अभी तक प्रदर्शित नहीं हो पाई है। अपने कैरियर की पहली पारी में इन्होंने पंद्रह फिल्मों में काम किया। जिनमें राजश्री प्रो. की दर्दे दिल, केप्टन बेरी रुही, वक्त के शहजादे उल्लेखनीय हैं।

मुकेश खन्ना का कहना है कि सन् १९८४ से १९८८ का समय उनके लिए काफी संघर्षपूर्ण रहा। वे अपनी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण किसी भी निर्माता-निर्देशक के आगे-पीछे नहीं मँडराए। मुकेश खन्ना ने अपने कैरियर की दूसरी पारी की शुरूआत दूरदर्शन के लोकप्रिय धारावाहिक 'महाभारत' से की। इस धारावाहिक में अपनी भीष्म पितामह की भूमिका को सफल कैरियर के रूप में स्वीकार करते हैं। इस धारावाहिक में इनकी सफल एवं लोकप्रिय भूमिका से प्रभावित होकर सुभाष घई, अनिल शर्मा, फिरोज खान जैसे प्रसिद्ध निर्माताओं ने उन्हें अपनी फिल्मों में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ दी हैं।

दूरदर्शन के धारावाहिकों के सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप में आपको 'युग श्री ८९' का पुरस्कार भीष्म पितामह की भूमिका के लिए मिला था। इसके अलावा दिल्ली में आयोजित अपट्रान अवार्ड समारोह में दूरदर्शन के



सर्वश्रेष्ठ चरित्र अभिनेता के रूप में भी सम्मानित किया गया। कुछ फिल्मों में इन्हें नायक की भूमिका भी मिली किन्तु ये फिल्में फ्लॉप हो गईं। अब निर्माता भी भूमिका देने में कतराने लगे। वे अपनी असफलताओं के लिए निर्माताओं को दोष न देकर भीष्म पितामह की भूमिका को जिम्मेदार मानते हैं। जिस भूमिका ने उन्हें सफलता की चरम सीमा पर पहुँचाया उसकी इमेज ही उनके भविष्य के लिए घातक सिद्ध हुई। इस इमेज से मुक्त होने के लिए इन्होंने संजय खान के धारावाहिक टीपू सुल्तान में एक चुनौतीपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अलावा महर्षि विश्वामित्र में विश्वामित्र की भूमिका की। वर्तमान में इनके भाई वेद खन्ना एक सौ चार शृंखलाओं का धारावाहिक 'छत्रपति शिवाजी महाराज' बना रहे हैं। उसमें वे शिवाजी की मुख्य भूमिका निभाएँगे। मुकेश खन्ना की इच्छा है कि स्वामी विवेकानंद, महाराणा प्रताप जैसी विभूतियों की भूमिका करने को मिले। वे किसी भी कीमत पर हल्की-फुल्की भूमिका स्वीकार नहीं करना चाहते।

● विट्ठल त्रिवेदी

स्वरूप संपत

(तारिका से गृहिणी भली)

दूरदर्शन के परदे पर हास्य व्यंग्य के सीरियल कम ही देखने को मिलते हैं। कुछ वर्षों पूर्व **'ये जो है जिन्दगी'** सीरियल आया था जिसमें हास्य का पुट लेकर आई थी एक गुजराती **अभिनेत्री स्वरूप संपत।** इस अभिनेत्री ने अपने सहनायक शफी इनामदार के साथ दर्शकों को खूब हँसाया। यही अभिनेत्री एक बार फिर दोपहर के प्रसारण में 'देवीजी' (शरद जोशी लिखित) के रूप में परदे पर आई एवं हँसाती रहीं। एक हास्य नायिका होने के बावजूद भी स्वरूप संपत न ही फिल्मों में उभरी न ही दूरदर्शन के परदे पर ज्यादा देर तक चमकीं। इसका कारण यह है कि वे निर्माता निर्देशक के अनुसार काम करना नहीं चाहतीं। उनके अनुसार हिंदी फिल्मों के लिए अभिनय की परिभाषा कुछ और ही है। परदे पर दिखाए जाने वाले बनावटीपन से ईमानदारी से काम करने वालों के मन में पीड़ा होती है। फिल्मों में सेक्स को जिस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है उसे देखकर हिंदी फिल्मकारों की बुद्धि पर तरस आता है।

वे इस बात को मानती हैं कि थिएटर में एक कलाकार को बेसिक नॉलेज मिलता है, दूरदर्शन द्वारा विशाल दर्शक समूह व फिल्म के द्वारा कलाकार की सही पहचान होती है। जो स्कोप फिल्मों में है वह दूरदर्शन व थिएटर में कहाँ? फिर भी वे अपने कैरियर के लिए कला की बलि नहीं दे सकतीं।

जिंदादिल स्वरूप का छोटा सा परिवार है पति परेश रावल व बेटा अनिरुद्ध। फिल्मों में खलनायक के रूप में दर्शकों के मन में दहशत फैलाने वाले परेश रावल स्वरूप को गुजराती रंगमंच पर उस समय मिले जब वह सोलह वर्ष की थी।

स्वरूप के पिता बच्चू भाई संपत गुजराती रंगमंच से जुड़े थे। एक बार वे एक नाटक कर रहे थे, जिसमें एक लेडी मजिस्ट्रेट का रोल था। परेश के आग्रह करने पर स्वरूप ने वह रोल किया। बस तभी से दोस्ती का अंकुर फूटा, जिसने पनपकर विवाह का स्वरूप ले लिया।

◆ ◆ ◆

सुस्मिता मुखर्जी

(हैलो किटी!)

__पंकज पाराशर__ द्वारा निर्देशित धारावाहिक __करमचंद__ का प्राइवेट जासूस करमचंद और उसकी शोख चुलबुली सेक्रेटरी __किटी__ आपको याद होगी। करमचंद और किटी के इस बहुआयामी किरदार ने पंकज कपूर और सुस्मिता मुखर्जी को दूरदर्शन के छोटे पर्दे पर स्थापित कर दिया। इसके बिल्कुल विपरीत परिवेश, वेषभूषा और काल के खानाबदोश चरित्र को इसी जोड़ी ने सुधांशु मिश्र के दूरदर्शन धारावाहिक कब तक पुकारूँ में निभाकर अपने अभिनय कौशल की गहराई और विविधता का अहसास दर्शकों को करा दिया। फिल्म और दूरदर्शन पर अनेक रंगों की भूमिकाओं को जीवंत करने वाली कलाकार __सुस्मिता मुखर्जी__ से उनके निवास पर हुई बातचीत के कुछ रोचक अंश-

सुस्मिताजी, अपने अतीत और उपलब्धियों के बारे में कुछ बताएँगी?

अभिनय के प्रति बचपन से ही मेरे मन में लगाव था। जब मेरी उम्र मात्र तीन वर्ष की थी, तभी मैंने दुर्गा पूजा उत्सव के नाटक में अभिनय किया था। उम्र के साथ-साथ अभिनय के प्रति लगाव और गंभीरता बढ़ती गई। स्कूल और कॉलेज के दिनों में मैंने कई नाटकों में अभिनय कर मान-सम्मान हासिल किया। अभिनय को कैरियर बनाने की इच्छा के कारण ही मिरान्डा हाउस से एम.ए. करने के बाद अभिनय की शिक्षा हेतु राष्ट्रीय नाट्य स्कूल में प्रवेश लिया। तीन वर्ष के प्रशिक्षण ने आत्मविश्वास और अभिनय की गहराई प्रदान की। जल्दी ही दिल्ली के नाट्य जगत में मेरी पहचान स्थापित हो गई। उन दिनों मैंने अनेक ख्याति प्राप्त निर्देशकों के साथ नाटकों में भूमिकाएँ निभाईं। फिल्म के प्रति आकर्षण से प्रेरित होकर मैं बंबई आ गई। नादिरा बब्बर के नाट्य ग्रुप में शामिल होकर अभिनय करने लगी। मंच पर मिली सफलता और लोकप्रियता से प्रेरित हो मैंने कुछ रंगकर्मी सहयोगियों के साथ अपने नाट्य ग्रुप 'नाटक कंपनी' की स्थापना कर ली। इसके अंतर्गत मैंने 'एक अकेली सुबह', 'जस्मा ओडन' 'नटी', ट्रोजन वूमन (अँगरेजी) नाटकों का मंचन कर बंबई रंगमंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।

रंगमंच से दूरदर्शन और फिल्मों में प्रवेश कैसे हुआ?

पंकज पाराशर किटी की भूमिका के लिए नई लड़की की तलाश में थे। उन्हें नाटक आक्रांत में मेरे द्वारा निभाई गई भूमिका पसंद आई। मैं करमचंद की किटी बनकर जल्दी ही दूरदर्शन के छोटे पर्दे पर छा गई। ठीक इसी तरह बासु चटर्जी ने मुझे एक नाटक में देखा और जेवर फिल्म से मेरा फिल्मों में प्रवेश हो गया। इसके बाद मैंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। इसी बहाने/हक्के बक्के/कब तक पुकारूँ/इकाई दहाई सैकड़ा/तलाश/दर्पण/नई कहानी जैसे धारावाहिकों में काम किया। प्रतिकार/ये वो मंजिल तो नहीं/मैं जिंदा हूँ/रुदाली/घर जमाई/किंग अंकल में पहली बार नकारात्मक भूमिका निभाई।

आप किटी की छवि से मुक्त नहीं हो पाईं...क्या कारण मानती हैं?

यह तो दर्शकों का प्यार है जो मुश्किल से मिलता है। करमचंद मेरा पहला धारावाहिक था जिसने अपार लोकप्रियता हासिल की। इसे थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद दो एक्सटेंशन प्राप्त हुए। दूरदर्शन अंतरंग माध्यम है जिसमें दर्शक प्रति सप्ताह आपसे रूबरू होता है। दूरदर्शन धारावाहिक का फिल्मों की तरह व्यापक विज्ञापन नहीं होता। यही कारण है कि दर्शक काफी समय तक भूमिका निभा रहे कलाकार के नाम से परिचित नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप दर्शक अपने प्रिय कलाकार को उसकी भूमिका के नाम से पहचानने लगता है। यही कारण है कि अनेक किरदार निभाने के बावजूद दर्शक प्यार से मुझे किटी के नाम से ही पुकारना पसंद करते हैं।

कलाकार के सामाजिक एवं सांस्कृतिक दायित्व क्या होने चाहिए?

कलाकार का सबसे पहला दायित्व है कि वह अपने काम के प्रति पूरा ईमानदार रहे।



आज वह जिस मुकाम पर खड़ा है, वह उसकी अभिनय की देन है। उसे ग्लेमर और ऐश्वर्य के मद में समाज विरोधी बातें नहीं कहना चाहिए। न करना चाहिए। उसका आचरण निष्काम योगी की तरह होना चाहिए। समाज उसका अनुसरण करता है।

आने वाली फिल्में और धारावाहिक के बारे में कुछ बताएँ?

इस वर्ष मेरी लगभग एक दर्जन फिल्में प्रदर्शित होने वाली हैं जिनमें खलनायक/आदमी खिलौना है/कसम तेरी कसम/प्रदर्शन के लिए तैयार हैं। दुनिया झुकती है, दिल ने इकरार किया, चाल पे चाल, पराक्रमी, सर, राजकुमार आदि में मेरी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ हैं। जी.टी.वी. पर धारावाहिक 'तारा' में भूमिका कर रही हूँ। फन टी.वी. और दूरदर्शन धारावाहिक साहिब बीवी और अजनबी दूरदर्शन पर जल्दी ही दिखाए जाने वाले हैं।

● **संतोष जैन**

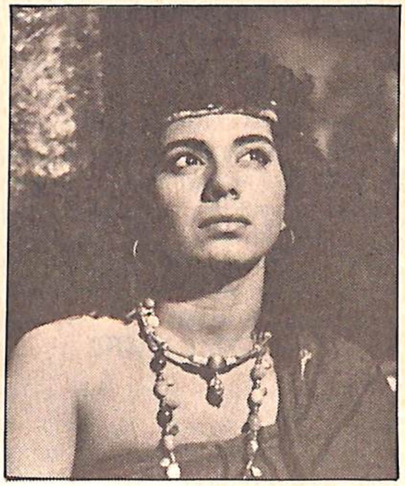
संगीता नाईक

संगीता नाईक मूल रूप से कर्नाटक की हैं लेकिन उनकी पढ़ाई-लिखाई और लालन-पालन बंबई में हुआ। वे डॉक्टर बनना चाहती थीं लेकिन कॉमर्स की ग्रेजुएट होकर रह गईं। सतीश रूइया नामक एक युवक से उनका विवाह हुआ लेकिन दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं रहा। अभिनय के प्रति उनका लगाव बचपन से ही रहा और वे कॉलेज जीवन के दौरान ही मलयालम भाषा की फिल्म' द मिस्ट' की नायिका बन गईं। उन्होंने मलयालम की एक फिल्म और की। 'द मिस्ट' के लिए एम.टी. वासुदेव नायर को नेशनल अवार्ड मिला। इसी फिल्म को देखकर कुंदन शाह तथा सईद मिर्जा ने उन्हें अपने धारावाहिक 'नुक्कड़' में **राधा** की भूमिका के लिए चुना। राधा की बिंदास भूमिका में वे देश भर में लोकप्रिय हो गईं। इसके बाद 'इंतजार' में उन्होंने एक गंभीर लड़की 'पारो' को प्रतिभाशाली ढंग से निभाया। रघुनाथ झालानी के धारावाहिक 'ये पैसा, ये पैसा' में उन्होंने प्रमुख भूमिका की है।

संगीता रंगमंच से अभी भी जुड़ी हैं। स्कूलों में अध्यापन का कार्य भी कर रही हैं तथा बड़े पर्दे की बजाए छोटे पर्दे को ही अपनी मंजिल तक पहुँचने का रास्ता मानती हैं। संगीता ने कई फिल्मों में भी काम किया है। इनमें से 'खुदगर्ज' में उनकी भूमिका काफी सराही गई। 'नुक्कड़' के बाद संगीता ने 'काला जल' नामक धारावाहिक में भी काम किया। अत्यंत भावुक किस्म की संगीता दो बार आत्महत्या की कोशिश भी कर चुकी है। □



कहाँ गए वो लोग : धीरज कुमार-संगीता नाईक



मीता वशिष्ठ

मीता वशिष्ठ ने बहुत कम अरसे में दूरदर्शन पर अपनी पहचान बना ली है। गंभीर और 'इंटेंस' किस्म की भूमिकाओं के लिए निर्माता उन्हें ही याद करते हैं। साधारण शक्ल-सूरत और पूर्णतः मध्यमवर्गीय परिवार की लड़की का सादगी भरा आभास देने वाली मीता अपनी एक अलग अभिनय शैली के लिए जानी जाती हैं। संवाद अदायगी के वक्त उनका चेहरा ज्यादा मुद्राएँ नहीं बनाता और उस पर बाँछें खिली देखने के लिए तो दर्शकों को दिग-दिगांतर तक इंतजार करना पड़ता है। पिछले दिनों प्रसारित सीरियल 'पचपन खम्बे लाल दीवार' में वह पूरी तरह समतोष्ण बनी रहीं। मगर कहानी के लिहाज से उन्होंने अपना चरित्र बखूबी निभाया। शायद वह स्वयं इस तरह के परिवेश की अभ्यस्त हैं।

मीता का अभिनय जीवन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से शुरू हुआ था। अँगरेजी साहित्य में एम.ए. करने के बाद उन्होंने एक कलाकार बनने का निश्चय कर लिया। मीता के पिता सेना में रह चुके हैं। उन्होंने अपनी बेटी को कला जगत की ओर जाने के लिए प्रोत्साहित किया। 'एन.एस.डी.' से निकलने के बाद मीता को दो सीरियलों 'सिग्मा' और 'जमीन' के प्रस्ताव मिले। विज्ञान धारावाहिक 'सिग्मा' में उन्हें दर्शकों ने पहली बार देखा। इस सीरियल की लोकप्रियता से वह जल्दी ही चर्चित हो गई। उनका दूसरा धारावाहिक 'जमीन' दर्शकों को ज्यादा आकर्षित नहीं कर सका। सिग्मा और 'जमीन' के अलावा मीता ने कब तक पुकारूँ/ भारत एक खोज और मि. योगी के भी कुछ अंकों में काम किया था। कला फिल्मों में वह प्रभावी उपस्थिति दर्ज करा चुकी हैं। कुमार शाहनी कृत 'कस्बा' में उन्होंने सबका ध्यान खींचा। रूसी लेखक अंतोन चेखव की कहानी पर आधारित इस फिल्म में मीता की केंद्रीय भूमिका थी। मणि कौल की 'सिद्धेश्वरी' भी मीता के कैरियर की एक प्रमुख फिल्म है। उत्साहवर्धक फिल्मी उपलब्धियों के बावजूद मीता दूरदर्शन से नाता नहीं तोड़ना चाहतीं। □

शफी इनामदार

तेईस अक्टूबर १९४९ को बंबई में जन्मे ***शफी इनामदार*** *ने के.सी.कॉलेज से विज्ञान स्नातक की उपाधि प्राप्त की है। नाटकों में अभिनय के प्रति रुचि बचपन से ही थी, जो उम्र के साथ पल्लवित होती गई। हिंदी, गुजराती और अँगरेजी नाटकों में सक्रियता ने फिल्मों के प्रति आकर्षण पैदा कर दिया। शफी इनामदार ने नाटकों के साथ-साथ फिल्मों में भी अपनी पहचान स्थापित कर ली है। शफी इनामदार ने फिल्मों में प्रवेश गोविन्द निहलानी द्वारा निर्देशित फिल्म* ***'विजेता'*** *से किया। गोविन्द निहलानी ने अपनी अगली फिल्म 'अर्द्ध सत्य' में भी शफी इनामदार को एक सशक्त भूमिका निभाने का मौका दिया। १४ फिल्मों में सफलतापूर्वक भूमिका निभाने के बाद शफी इनामदार का प्रवेश छोटे पर्दे पर ये जो है जिंदगी धारावाहिक से हुआ। लेकिन शफी इनामदार को छोटे पर्दे की जिंदगी रास नहीं आई। कुटिल चरित्र हो या हास्य भूमिका शफी इनामदार अपने आपको भूमिका में डुबो देने में माहिर हैं। हर फिल्म उनके लिए एक नया अनुभव होती है। कैरियर के लिए चुनौती महसूस करते हैं।*

लोकप्रिय धारावाहिक ये जो है जिंदगी में सशक्त भूमिका निभाने के बाद आपने दूरदर्शन को अलविदा कह दिया?

नहीं ऐसी कोई बात नहीं है। बस कोई अच्छा प्रस्ताव आया नहीं। मैंने अपनी तरफ से कोई पहल की नहीं। सिलसिला टूट गया। वैसे फिल्मों के मुकाबले दूरदर्शन पर अभिनेता के लिए ज्यादा मौका होता है। अभिनेता दर्शक के ज्यादा निकट होता है। भूमिका का पूरा विस्तार होता है दूरदर्शन धारावाहिक में, जबकि फिल्म में नपी-तुली भूमिका होती है, चरित्र अभिनेता के हिस्से में ज्यादा कुछ नहीं होता।

आपने दोनों माध्यमों पर काम किया है। क्या आपको लगता है कि भविष्य छोटे पर्दे का होगा?

नहीं, यह फिल्मों की जगह कभी नहीं ले सकता। फिल्म, फिल्म होती है। पूरे भव्यता के साथ फिल्म का स्थायी प्रभाव होता है। लेकिन विज्ञान के चमत्कार इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रभाव और भविष्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता। सही मायने में यह सूचना और शिक्षा का माध्यम है। हल्का-फुल्का मनोरंजन का साधन है। विश्व में घटित घटनाओं को पल भर में दुनिया के कोने-कोने में हूबहू पहुँचाने में इसकी बराबरी नहीं की जा सकती। अभी इस मीडिया का सही उपयोग नहीं हो रहा है।

आपके विचार से क्या दिखाया जाना चाहिए, छोटे पर्दे पर?

यह एक प्रभावी और सशक्त माध्यम है। इससे हम देश के कोने-कोने में बसे लोगों तक विज्ञान की प्रगति, सामाजिक चेतना का संदेश, शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम पहुँचा सकते हैं। दूरदर्शन को ज्ञानवर्द्धक और रोचक कार्यक्रम बनाने के लिए आगे आना चाहिए।

अब आप फिल्म निर्देशक बनने जा रहे हैं?

फिल्म निर्देशन का माध्यम ही होता है। इसलिए इस क्षेत्र में प्रवेश का मन तो बहुत समय से था। अब बात बनी है। मैं दो फिल्में निर्देशित करने जा रहा हूँ। मेरा एक लोकप्रिय गुजराती नाटक है 'बा रिटायर थई छै' जिसके अब तक ५०० से अधिक प्रदर्शन हो चुके हैं। इसका हिन्दी अर्थ है माँ रिटायर हो रही है। इस फिल्म में केंद्रीय भूमिका के लिए जया बच्चन से बात की है, उन्हें भूमिका पसंद भी है। इस फिल्म का निर्माण सुधाकर बोकाड़े कर रहे हैं।

● **संतोष जैन**

◆ ◆ ◆

नम्रता साहनी

धारावाहिक 'कर्मभूमि' की भोली-भाली लड़की को एक लंबे समय के बाद धारावाहिक 'चाणक्य' में घोड़े पर सवार देखा गया। लेकिन हमराही की **सुमन** की पहचान होकर भी वह अनजान ही रही। सुमन की भूमिका में अभिनेत्री **नम्रता साहनी** ने एक चंचल और



नारी अधिकारों से सतर्क लड़की की भूमिका को साकार किया है। 'चाणक्य' में राजसी ठाट-बाट में पली राजकन्या की भूमिका को साकार किया था। हमराही में अपनी भूमिका के बारे में वह बताती है कि- 'कर्मभूमि' एवं 'एक कहानी' में मुझे ज्योतिजी ने देखा था और उसी समय उन्होंने सोच लिया था कि इस लड़की को अपने धारावाहिक में काम दूँगी। जब कुँवर सिन्हा ने 'हमराही' का निर्देशन संभाला तो उन्होंने फोन कर मुझे बुलाया और यह खुशखबरी दी कि मुझे 'सुमन' की भूमिका के लिए चुन लिया गया है।

'हमराही' में कुँवर सिन्हा जैसे निर्देशक के साथ काम करते कैसा महसूस हुआ?

कुँवर सिन्हा के निर्देशन में काम करना बहुत अच्छा रहा। शूटिंग के दौरान तो ऐसा लगता जैसे एक पूरा परिवार है और मैं एक परिवार के बीच काम कर रही हूँ।

'कर्मभूमि' के बाद इतने समय की गुमनामी का क्या कारण था?

हुआ यूँ कि 'कर्मभूमि' के बाद मेरे पास जितने भी निर्माता-निर्देशक आए सभी वही कर्मभूमि टाइप की भूमिका लेकर। तब मैंने उन सभी के ऑफर को ठुकरा दिया। मैं बार-बार अपनी पिछली भूमिका को दोहराना नहीं चाहती थी। उस समय मेरी पढ़ाई भी चल रही थी।

चाणक्य में आपने घुड़सवारी भी की है?

जी हाँ, मैंने बकायदा घुड़सवारी की ट्रेनिंग ली है। 'चाणक्य' में मैंने बिना जीन के घुड़सवारी की है। शुरू-शुरू में परेशानी का सामना करना पड़ा। फिर मैंने धीरे-धीरे एडजस्ट कर लिया।

क्या आपने एक्टिंग का कोर्स किया है?

मुझे एक्टिंग का शौक बचपन से ही था। मैंने कोई एक्टिंग का कोर्स नहीं किया। रेडियो एनाउंसर थी। मेरी रुचि नृत्य में है। मैंने पढ़ाई के साथ भरत नाट्यम नृत्य भी सीखा है।

आप किस अभिनेता और अभिनेत्री से अधिक प्रभावित हैं?

वैसे तो मुझे सभी कलाकार अच्छे लगते हैं, लेकिन जिनकी मैं जबरदस्त फैन हूँ वे हैं स्मिता पाटिल, श्रीदेवी और कमल हासन। कभी कमल हासन के साथ काम करने का मौका मिला तो मारे घबराहट और नर्वसनेस के कारण मैं उनके सामने काम ही नहीं कर पाऊँगी।

नम्रता का जन्म पंजाब के पटियाला जिले में हुआ। उसका पूरा परिवार पिछले २० वर्षों से बंबई में बस गया है। नम्रता की मम्मी गायिका रह चुकी हैं।

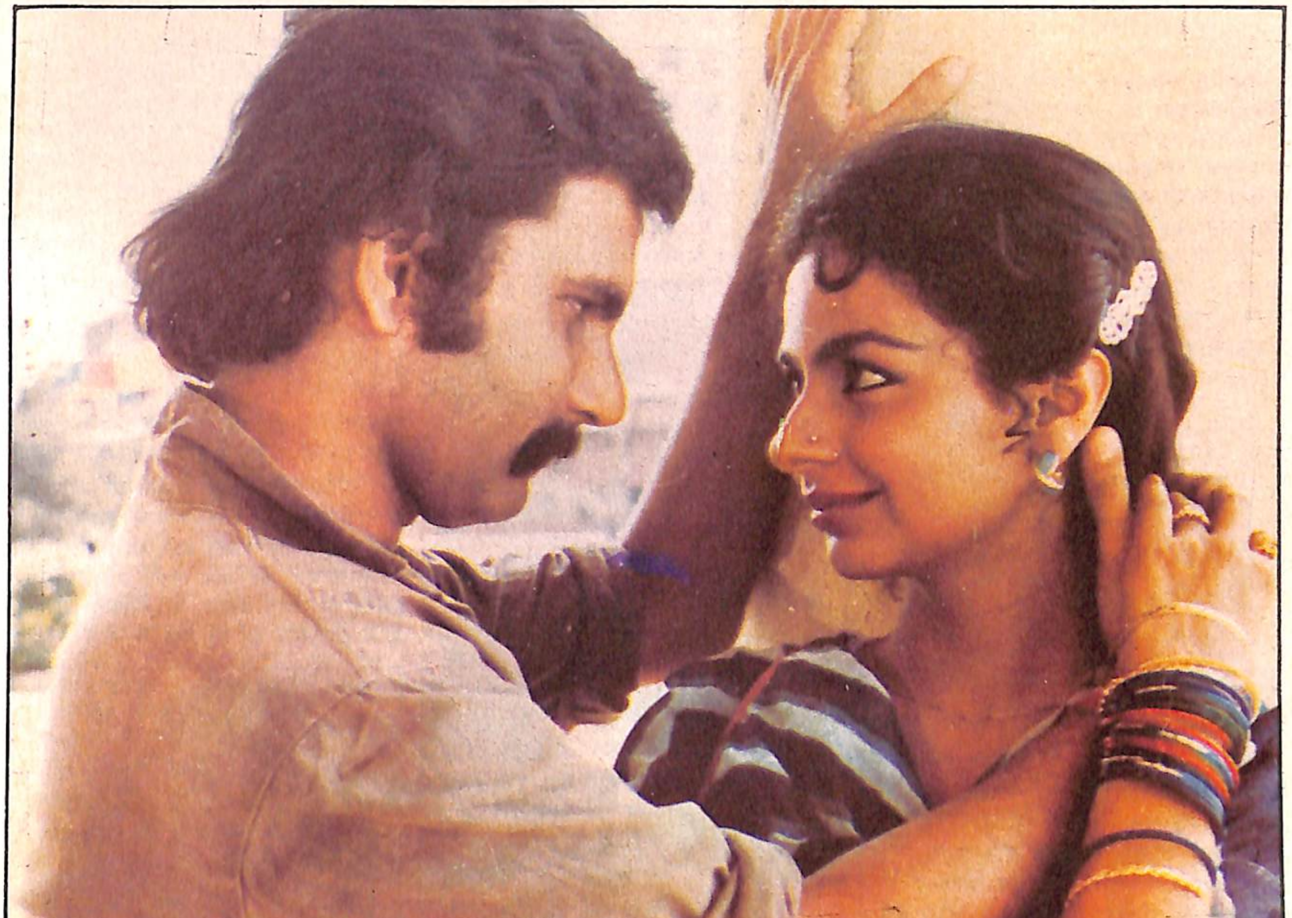
● **बानो अली**

◆ ◆ ◆

नीलिमा अजीम

नीलिमा अजीम को तितली जैसी तारिका सहजता के साथ कहा जा सकता है। रंग-बिरंगी पोशाकों में सजी-धजी छरहरी काया। बड़ी-बड़ी बोलती चंचल एवं शोख आँखें। हमेशा हँसता चेहरा। कभी एक पल के लिए भी शांत नहीं बैठने वाली नीलिमा ने धारावाहिक 'फिर वही तलाश' के चरित्र शहनाज को घर-घर का प्रिय पात्र बना दिया था।

अलीगढ़ की मूल निवासी नीलिमा की आधी शिक्षा दिल्ली में और आधी नैनीताल में हुई। बचपन से रेडियो पर किसी गाने को



सुनकर वह थिरकने लगती थी। दिल्ली के राष्ट्रीय नृत्य केंद्र से नृत्य का प्रशिक्षण लेकर बिरजू महाराज की शिष्या बन गई। इस वजह से स्कूली शिक्षा ग्यारह सीढ़ियों तक जाकर अटक गई। नृत्य के स्टेज- शो का सिलसिला नीलिमा के जीवन में तेरह साल की उम्र से आरंभ हुआ है, जो पूरी दुनिया का चक्कर लगाने के बाद भी थमा नहीं है। रूस में आयोजित भारत महोत्सव में वह अवार्ड लेकर लौटी। नृत्य से जब फुरसत मिलती, तो वह थिएटर करने लग जाती। सलीम-अनारकली (पंकज कपूर), नादिरशाह (राज बब्बर) में ख्याति मिली और परिचय का दायरा भी बढ़ा।

नीलिमा के पिता अनवर अजीम स्वयं लेखक थे। ख्वाजा अहमद अब्बास उसके नाना थे। रिश्ते में बहन सबा जैदी एक टेली फिल्म 'तितली' नाम से बना रही थी। आलोकनाथ तथा एम.के.रैना के साथ नीलिमा को भी काम मिला। इसके बाद सलीम लंगड़े पे मत रो (सईद मिर्जा) फिल्म ने नीलिमा को नीले गगन की ऊँचाइयों पर खड़ा कर दिया। 'फिर वही तलाश' उसी का परिणाम है। लहू के फूल/कर्म योद्धा/सड़क-इन सब में नीलिमा ने दर्शकों के मन में अपनी जगह बनाई है। वह छोटे और बड़े परदे पर एक उजली संभावना के समान है। □

पवन मल्होत्रा

एक फिल्म आई थी 'बाघ बहादुर।' फिल्म का नायक एक लोकनर्तक था, जो कि शेर का स्वांग रचकर गाँव के लोगों को अपना खेल दिखाता था। उन्हीं दिनों कुछ शहरी लोग एक शेर को पिंजरे में बंद कर लाए और गाँव वालों को बंद पिंजरे के असली शेर का कर्तब दिखाने लगे। दर्शक असली शेर की ओर भागने लगे एवं नकली शेर के पेट पर लात पड़ गई। वह असली शेर से लड़ने पिंजरे में चला गया। बहादुर बनने वाले इस नायक पवन मल्होत्रा ने अपनी असली जिंदगी में यही किया।

सईद मिर्जा के नुक्कड़ में वे लोकप्रिय हुए। अपने आपको तीसमार खाँ समझने लगे इसी शेखी में कई छोटे रोल भी ठुकरा दिए। अपनी गलती का एहसास उन्हें भी है। वे कहते हैं कि नुक्कड़ की लोकप्रियता के बाद मैं अपने को स्टार समझने लगा था। कई छोटे-छोटे ऑफ़र आए, लेकिन मैंने उन्हें सिर्फ इसीलिए ठुकरा दिया कि अब तो मैं टीवी स्टार हूँ। छोटे रोल क्यों करूँ? इसका नतीजा यह हुआ कि बड़े रोल तो मिले नहीं छोटे रोल से भी हाथ धोना पड़ा। बंबई में अकड़ कर एक्टर बनना मुश्किल है। पवन मल्होत्रा नुक्कड़ के बाद छोटे पर्दे पर 'इंतजार' सीरियल में भी

तितली जैसी तारिका नीलिमा अजीम और पवन मल्होत्रा

असिस्टेंट स्टेशन मास्टर की भूमिका में दिखाई दिए थे। एक सहमे हुए शर्मीले युवक के रूप में वे अच्छे लगे। इसके बाद गुणीराम व सर्कस सीरियल में भी उन्हें छोटे रोल मिले। 'गुणीराम' के हर एपिसोड में दिखाई न देने का कारण पवन मल्होत्रा स्वयं हैं। निर्देशक की फूहड़ कॉमेडी को देखकर उन्होंने बाकी के एपिसोड छोड़ दिए थे।

'इंतजार' का रोल पवन को सबसे अधिक पसंद आया, क्योंकि उस धारावाहिक में उन्हें अपने व्यक्तित्व को तीन अलग-अलग रूपों में पेश करना था। एक बॉस के सामने, दूसरा बॉस की लड़की के सामने, तीसरा सहायक स्टेशन मास्टर के रूप में। इन सीरियलों के अलावा पवन ने 'लहू के फूल' एवं हिम्मत में भी काफी अच्छी भूमिका की है। दूरदर्शन के छोटे पर्दे पर सीधी-सादी भूमिका करते-करते वे फिल्म 'सलीम लंगड़े पे मत रो' में गुंडा बन गए व 'बाघ बहादुर' फिल्म में बाघ से लड़ने उसके पिंजरे में पहुँच गए। इन सभी विभिन्न चरित्रों को निभाते हुए पवन मल्होत्रा का आत्मविश्वास बढ़ा है और उन्हें संतोष है कि जितना व जो कुछ उन्हें मिल रहा है, शायद वही मुकद्दर में है।

● **शशि शर्मा**

विनीता नंदा

विनीता नंदा कैमरे के पीछे का वह नाम है जिसकी प्रतिभा को अब पहचाना जाने लगा है। अपने कार्यक्षेत्र में रचनात्मकता के साथ-साथ जनहित को भी ध्यान में रखकर काम करने का नाम है विनीता। मूलतः पंजाब की रहने वाली विनीता को लेखन और नाटकों का बड़ा शौक था। एक दिन उनकी मुलाकात प्रसिद्ध टीवी धारावाहिक म्यजिक महल वाले रमन कुमार से हुई। विनीता को लगा कि जिस तरह से काम का वह विचार कर रही है उसमें उसे सही रास्ता और ट्रेक दिलाने में रमन कुमार सहायक हो सकते हैं। इस तरह सोचकर और रमन कुमार के स्वयं के आग्रह पर वह उनके साथ काम करने लगी। रमन कुमार 'प्रोजेक्ट स्मिता' के प्रमुख हैं। पाठकों को बतला दें कि 'प्रोजेक्ट स्मिता' प्रख्यात फिल्म अभिनेत्री स्मिता पाटिल के नाम पर स्थापित की गई एक संस्था है, जो सामाजिक कुरीतियों और टीकाकरण पर फिल्में बनाया करती है। इस प्रोजेक्ट में विनीता की प्रतिभा खूब निखरी और उसे पहले स्क्रिप्ट लेखन और फिर निर्देशन के अवसर मिलने लगे। हमने ऐसी बहुत सी लघु फिल्मों को हिंदी समाचारों के बाद टीवी में देखा होगा जो बाल विवाह, टीकाकरण, लड़की से भेदभाव आदि पर दिखाई गईं। ये फिल्में विनीता की मेहनत का प्रतिफल थीं। ऐसी ही एक फिल्म उन्होंने भोपाल में भी बनाई थी। इस समय विनीता नंदा ने एक बड़ा काम किया है। वह काम है जी-टीवी पर प्रसारित धारावाहिक 'तारा' के लेखन का। इसकी कहानी और पटकथा विनीता नंदा ने ही लिखी है और इसको निर्देशित किया है रमन कुमार ने। विनीता नंदा सहज, आसान और पेशेंस वाली महिला हैं। सामाजिक कुरीतियों पर ही निरंतर काम करते हुए 'प्रोजेक्ट स्मिता' को ऊँचाई पर ले जाना उनका लक्ष्य है।

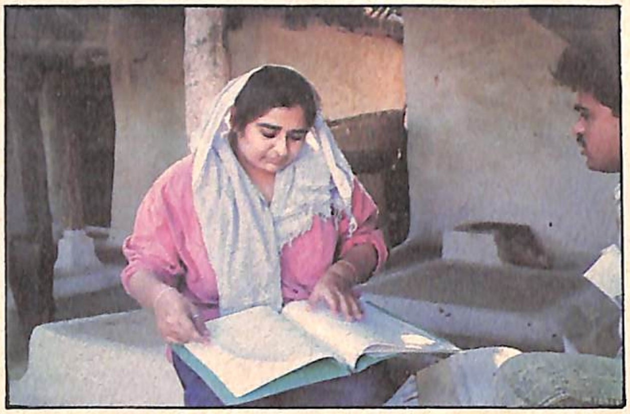
● **सुनील मिश्र**

◆ ◆ ◆

सरिता सेठी

(कल-कल बहती आवाज की नदी)

आपने माधुरी दीक्षित, श्रीदेवी, हेमा मालिनी जैसी खूबसूरत अभिनेत्रियों को लक्स की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करते हुए या खूबसूरत मॉडलों को 'जरा सा रिन' या 'सर्फ की खरीददारी में ही समझदारी है' कहते हुए जरूर देखा होगा। इन विज्ञापनों में सिर्फ चेहरा ही उन मॉडलों का होता है, दिल को छूने वाली लरजती हुई आवाज **सरिता सेठी** की होती है। उम्र की साढ़े चार दशक लंबी सीढ़ियाँ पार करने के बावजूद न तो सरिता सेठी की खूबसूरती में कोई कमी आई है और न ही उनकी आवाज की मधुरता में। यह आवाज आज भी किसी कोकिलकंठी षोडशी की तरह दिल के तारों को झनझना देती है और यह साबित कर देती है कि आवाज की



मधुरता में उम्र आड़े हाथ नहीं आती। मजे की बात यह कि सरिता कोई खास परहेज भी नहीं करती। दिल आने पर पानी-पूरी और आइस्क्रीम तक खा लेती हैं।

यह पूछने पर कि दूरदर्शन पर समाचार वाचिका बनने के लिए क्या प्रशिक्षण लिया था, सरिता मुस्कराकर कहती हैं- 'कुछ नहीं। हाँ, इतना जरूर था कि इलाहाबाद, जयपुर और अंबाला में पढ़ाई के दौरान स्कूल-कॉलेज में खूब भाषणबाजी की और इनाम बँटोरे। मेरा ख्याल है कि उस समय की भाषणबाजी काम आ गई। मेरी १९६३ में शादी हो गई थी। ७२ में बंबई में दूरदर्शन शुरू हुआ। मैंने ऑडिशन टेस्ट दिया और चुन ली गई। उसके बाद लगातार दस सालों तक सप्ताह में तीन-चार बार समाचार पढ़ती रही। ८२ में नेटवर्क शुरू हो गया और तमाम लोगों के काम छिन गए। फ्री लांसरों के प्रति यह सरकारी रवैया बड़ा खराब रहा। बाद में दिल्ली जाने पर कभी-कभार समाचार पढ़ देती थी। धीरे-धीरे दूरदर्शन से दूर हो गई।'

और दूरदर्शन के बाद? पूछने पर सरिता कहती हैं- 'पति का कारोबार था। इसलिए मेरे सामने ऐसी कोई मजबूरी न थी कि काम करना ही चाहिए। मैं तो शौकिया जुड़ी थी दूरदर्शन से। वैसे इसका फायदा दूसरे ढंग से हुआ। प्रोग्राम कम्पेयरिंग करने लगी और यदाकदा मॉडलिंग भी। बाद में फिल्मों के रेडियो प्रोग्राम भी बनाने लगी। डेढ़ साल पहले 'लम्हे' फिल्म के रेडियो प्रोग्राम के लिए रापा अवार्ड भी मिला, जो कि अपने आप में बड़ी खास जगह रखता है।'

अभी हाल ही में दूरदर्शन पर दिखाया जा रहा धारावाहिक 'फिल्म टाइम' समाप्त हुआ है। इसमें फिल्मी लोगों से बातचीत में सरिता सेठी की आवाज इस्तेमाल की गई थी। एच.एम.वी. के सितारे पिछले एक दशक से बदस्तूर चल रहा है रेडियो पर। सरिता सेठी कहती हैं- 'बहुत काम है लेकिन मैं बहुत ज्यादा भागदौड़ नहीं करती। घर पर ही अपना छोटा सा ऑफिस है। यहीं से अपने स्टाफ के साथ सारे काम ऑर्गेनाइज कर लेती हूँ। कम्पेयरिंग के काम बहुत आते हैं। काम बहुत कम करती हूँ। लेकिन काम हाथ में लेने पर उसे पूरा करती हूँ।'

अभिनय की बात चलने पर सरिता कहती हैं- 'मुझे चूना पोतकर घंटों इंतजार करना अच्छा नहीं लगता। हीरोइन वाले रोल तो मैं कर नहीं सकती। जाहिर है कि किसी की माँ, बहन या बीवी का रोल मिलेगा। बुनियाद में मेरा पॉजिटिव रोल था लेकिन धीरे-धीरे वह इतना निगेटिव हो गया कि मुझे उसे करने में शर्म आने लगी। लेकिन फिर भी करना पड़ा। मैं कमिटमेंट को तोड़ नहीं सकती। एयर होस्टेस में उससे बेहतर था। लेकिन अभिनय से मैं धीरे-धीरे दूर हो गई। मैं स्टेज, रेडियो



और टीवी पर कम्पेयरिंग में ही अपने को इजी महसूस करती हूँ। कुछ सीरियल बनाए हैं। कुछ दूरदर्शन में जमा भी कराए हैं।'

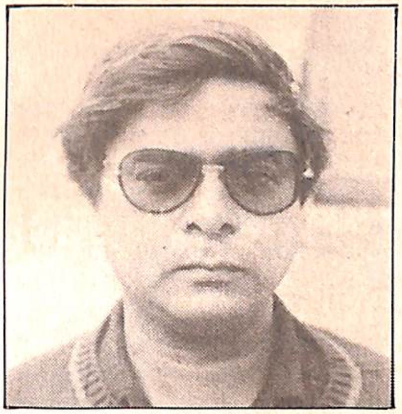
सफलता का जहाँ तक प्रश्न है, सरिता सेठी संतुष्ट हैं लेकिन इस सफलता का श्रेय ईश्वर को देती हैं। खुद को ही नहीं। वे कहती हैं- 'मेरा जीवन बड़ा नियमित है। साल में एक बार शिर्डी के साईबाबा के दर्शन करती हूँ और प्रतिदिन स्नान के बाद १५ मिनटों तक ईश्वर का ध्यान करती हूँ। बहुत दिनों से वैष्णोदेवी जाने की इच्छा है। शायद इस साल पूरी हो जाए। बेटा अमेरिका से आ रहा है। बेटी की शादी हो चुकी है।

● **प्रतिभा त्रिपाठी**

◆ ◆ ◆

ओम गुप्ता

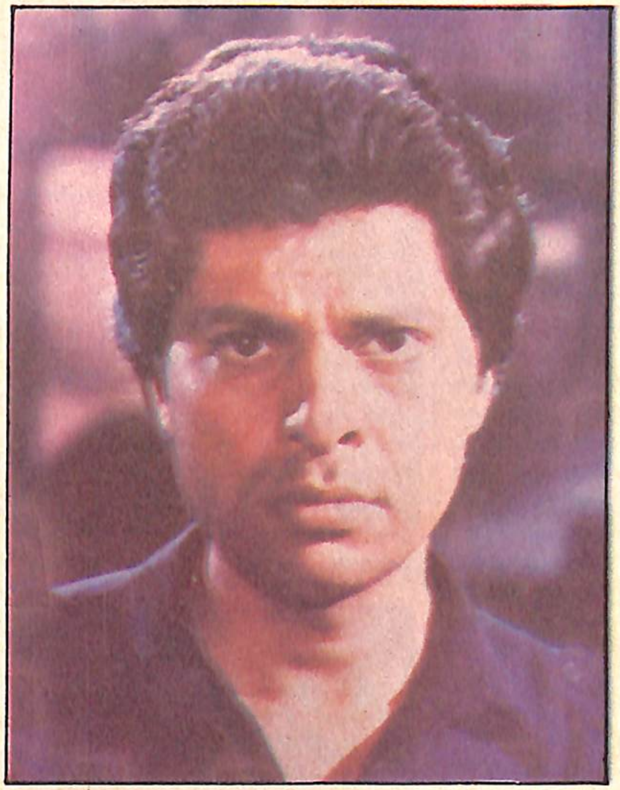
ओम गुप्ता पिछले २४ वर्षों से पत्रकार हैं। इंडिया टुडे/ समाचार/ ऑनलूकर/ मिड-डे



तथा दिनमान टाइम्स से जुड़े रहे। शौकिया तौर पर नाटक भी लिखते हैं। 'बहादुरशाह जफर' नामक नाटक काफी चर्चित और विवादास्पद भी रहा। इसके अलावा पुरवाई, बसंती और हम लोग टेलीविजन सीरियल कार्यक्रमों से निर्माता के रूप में संबद्ध थे। दूरदर्शन और कई राज्य सरकारों एवं सरकारी निगमों के लिए वृत्तचित्रों का निर्माण किया। मध्यप्रदेश सरकार के लिए कागज और कब्जा नामक फिल्म का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है। यह फिल्म तत्कालीन मुख्यमंत्री अर्जुनसिंह ने भूमिहीन लोगों को उनकी जमीन का पट्टा और मिल्कियत दिलवाने के बाद बनवाई थी। इन दिनों 'स्वतंत्र भारत' में दिल्ली ब्यूरो प्रमुख के अलावा, लैटिन अमेरिका पर एक विशेष रुचि के रूप में अध्ययन और लेखन कर रहे हैं। □

◆ ◆ ◆

विजयेन्द्र घाटगे



विजयेन्द्र घाटगे का व्यक्तित्व हर कोण से ग्लेमर जगत के लिए माकूल है। सुडौल कद-काठी। आत्मविश्वास से भरा चेहरा। असरदार आवाज। विलक्षण न सही मगर यथोचित अभिनय प्रतिभा। लेकिन इसके बावजूद उनका ज्यादातर कैरियर 'फेड आउट' में गुजरा, क्योंकि किस्मत का निर्देशक उन पर मेहरबान नहीं था। फिल्मों में या तो वे निगेटिव भूमिकाएँ निभाते रहे या फिर उन्हें मल्टीस्टार फिल्मों के नायक झुंड में धुँधली उपस्थिति दर्ज करानी पड़ी। आखिर किस्मत के मारे अन्य फिल्मी कलाकारों की तरह उन्होंने 'दूरदर्शन शरणम् गच्छामि' का योगसूत्र अपनाया, यहाँ आकर उन्हें शांति भी मिली और काम भी। फिल्म इंडस्ट्री में १०-१५ सालों तक खाक छानने के बावजूद वे जिस पहचान को गढ़ने में असफल रहे थे, छोटे परदे पर वह उन्हें सहज ही उपलब्ध हो गई। 'तलाश' के गुमशुदा नौजवान के रूप में इतने लोकप्रिय हुए, कि दर्शक उनके बारे में जानने के लिए अधीर हो उठे थे। सीरियल 'तलाश' दरअसल विजयेन्द्र के लिए गुमनामी की भूलभुलैया से निकलने का जरिया बना।

विजयेन्द्र का सिर्फ नाम और व्यक्तित्व ही किसी राजकुमार का आभास नहीं देता, बल्कि उनका पारिवारिक इतिहास सूत्र भी इंदौर के होल्कर राजवंश से जुड़ा है। वे इंदौर में पैदा हुए और यहीं उन्होंने आरंभिक शिक्षा ली। बचपन से फिल्म एक्टर बनने का फितूर सवार था, लिहाजा बंबई चले आए। साथियों के कहने पर उन्होंने पुणे फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान में प्रवेश ले लिया। मिथुन चक्रवर्ती और रंजीता संस्थान में उनके सहपाठी थे। इन दोनों को तो प्रशिक्षण प्राप्त करते ही फिल्मों में काम मिल गया, मगर विजयेन्द्र दुर्भाग्यशाली रहे। उन्हें फिल्मों की जगह मॉडलिंग की शरण लेनी पड़ी। मॉडल तो वे ठीक-ठाक रहे, लेकिन हीरो बनने की कसक मन में दबी हुई थी। काफी दिनों तक खाक छानने के बाद उनको एक विज्ञापन फिल्म में देखकर बासु चटर्जी ने 'चितचोर' के लिए बतौर नायक चुन लिया। फिल्म तो हिट हुई। मगर विजयेन्द्र स्टार नहीं बन पाए। बहरहाल इसके बाद १०-१२ फिल्मों में उन्होंने हीरो के रोल किए। फिर कुछ निगेटिव भूमिकाएँ भी निभाई। 'कस्मे वादे' में उनकी इस तरह की भूमिका काफी पसंद की गई थी। इन सबके बावजूद वे फिल्मों में अभिनेताओं की कतार में आगे नहीं बढ़ पाए।

दूरदर्शन के लिए जब रमेश सिप्पी ने 'बुनियाद' का निर्माण किया, तो उसमें विजयेन्द्र को भी उन्होंने एक भूमिका दी। सीरियल की अपार लोकप्रियता का धरातल बनने में कई अन्य कलाकारों की भूमिका उनसे महत्वपूर्ण थी, लेकिन विजयेन्द्र के लिए कैरियर का यह एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। वे फिल्मों का मोह छोड़कर छोटे परदे पर बड़ी संभावनाओं की तलाश में जुट गए। धीरे-धीरे गुरुतर भूमिकाएँ उन्हें मिलने लगीं। दूरदर्शन पर विजयेन्द्र का बदला हुआ स्वरूप नजर आया। वे कहीं ज्यादा संजीदा और परिपक्व अभिनेता जान पड़े।

'उपन्यास' और 'तलाश' आदि सीरियलों में उन्होंने खासा प्रभावित किया। विशेष रूप से 'तलाश' में उनकी भूमिका काफी चुनौतीपूर्ण थी। दूरदर्शन धारावाहिकों के अलावा विजयेन्द्र ने वीडियो पत्रिका 'मनोरंजन' के लिए प्रस्तोता का काम भी किया है। □

◆ ◆ ◆

मिश्र बंधु सुधांशु और सुधीर

निर्देशक सुधांशु मिश्र भोपाल के रहने वाले हैं। उनके द्वारा निर्देशित किया गया टीवी धारावाहिक 'कब तक पुकारूँ' बड़ा लोकप्रिय और चर्चित टीवी सीरियल था। जिसमें पंकज कपूर, हबीब तनवीर, पल्लवी जोशी, सुष्मिता मुखर्जी आदि ने काम किया था। पहले सागर में रहे सुधांशु ने कई वृत्त चित्रों का निर्माण भी किया है। जिनमें 'भीम बैठका' और 'निशान' प्रमुख हैं। ये फिल्में उन्होंने मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम के लिए बनाई हैं।

सुधीर मिश्र, सुधांशु के बड़े भाई हैं। फिल्में बनाते हैं। फिल्मों के लिए कथ्य और समय की परख उनकी खूबी है। यह उल्लेखनीय है कि उनकी हर फिल्म चर्चित होती है और बुद्धिजीवी वर्ग में सराही जाती है। वर्तमान में उनकी फिल्म 'धारावी' चर्चा में है, जिसने अनेक पुरस्कार जीते हैं। इस फिल्म में उन्होंने महानगरीय सभ्यता में तिल-तिल मरते जीवन और मूल्यों को रेखांकित किया है। सुधीर ने अपना फिल्मी कैरियर विनोद चौपड़ा, कुंदन शाह और सईद अख्तर मिर्जा के साथ सहायक निर्देशकी करते हुए प्रारंभ किया था। बाद में उसी ट्रेक पर बनाई फिल्में 'ये वो मंजिल तो नहीं' और 'मैं जिंदा हूँ' ने भरपूर सराहना पाई। सुधीर पहचाने जाने वाले निर्देशकों में अपनी पीढ़ी के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व हैं।

● **सुनील मिश्र**

डॉ. राही मासूम रजा

डॉ. राही मासूम रजा ने अपना कैरियर एक अध्यापक के रूप में प्रारंभ किया था। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में व्याख्याता के रूप में कार्य करते हुए उन्होंने आठ उपन्यास तथा उर्दू कविताओं के तीन संग्रह प्रकाशित करवाए। फिल्मों में वे एक संवाद लेखक के रूप में आए तथा दो सौ से भी अधिक फिल्मों के संवाद उन्होंने लिखे हैं। उर्दू भाषी होते हुए भी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी पर उनका पूर्ण अधिकार रहा। इसी अधिकार के कारण उन्होंने दूरदर्शन पर प्रसारित 'महाभारत' के संवाद लिखकर दर्शकों और श्रोताओं को चमत्कृत कर दिया। 'महाभारत' के संवाद लेखक के रूप में तो सभी लोग उनसे परिचित हैं। किन्तु बहुत कम को मालूम है कि दसारी नारायण राव द्वारा निर्मित धारावाहिक 'विश्वामित्र' के संवाद भी उन्होंने ही लिखे थे। दूरदर्शन पर प्रसारित किया गया यह धारावाहिक अपने शक्तिशाली संवादों के कारण काफी चर्चित हुआ था।

डॉ. रजा प्रतिदिन अठारह घंटे काम करते थे। डॉ. रजा का कहना था कि फिल्मों की बजाए दूरदर्शन के धारावाहिकों के लिए संवाद लिखना अपेक्षाकृत कठिन है। क्योंकि छोटे पर्दे के दर्शकों में हर वर्ग के लोग रहते हैं तथा सरकारी मीडिया होने के कारण कई बार न चाहते हुए भी कलम को नियंत्रित रखना पड़ता है। डॉ. रजा ने अपनी कलम से फिल्म तथा टीवी माध्यम को समृद्ध किया है। मूलतः वे प्रतिष्ठित साहित्यकार थे। उनका उपन्यास 'आधा गाँव' अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में चलता है। उनके आठ उपन्यास तथा छः कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पॉप गायिका पार्वती खान उनकी पुत्र-वधू है।

◆ ◆ ◆

शैलेंद्र गोयल

शैलेंद्र गोयल रंगमंच के कलाकार हैं। फिल्मी माहौल से उनका संबंध बहुत नया नहीं है। वे पिछले बारह वर्षों से फिल्मी दुनिया से जुड़े हैं। शैलेंद्र मूलतः गाजियाबाद (उत्तरप्रदेश) के रहने वाले हैं। इनकी प्रारंभिक शिक्षा वहीं हुई। उसके बाद दिल्ली में रहने लगे। अपनी माता पिता की इकलौती संतान हैं। इनके पिताजी अखबार की दुनिया से जुड़े हुए हैं।

शैलेंद्र गोयल को बचपन से ही अभिनय में रुचि थी। नाटकों में काम करने के साथ ही साथ पढ़ाई का सिलसिला भी चलता रहा। इन्होंने एम.कॉम. तक शिक्षा हासिल की है। सन् १९७२-७३ से थियेटर करने लगे थे। अब तक शैलेंद्र ने 'जाति न पूछो साधु की' और 'तोता बोला, 'उर्ध्वस्त धर्मशाला', 'पगला घोड़ा' और आसमान से गिरा सहित सौ से अधिक नाटकों में अभिनय किया है।

फिल्म गाँधी के निर्माण के दौरान इन्हें 'कॉस्टिंग' की जिम्मेदारी निभाने का मौका मिला। इस दौरान शैलेंद्र गोयल ने एक फिल्म 'कहाँ तक आसमाँ' बनाई। इस फिल्म का बिजनेस अच्छा नहीं हुआ और शैलेंद्र पुनः दिल्ली आ गए। यहाँ आकर इन्होंने एड फिल्में बनाना और एक्टिंग प्रारंभ किया। दूरदर्शन के धारावाहिक 'वाह जनाब'/ 'पी.सी. १००८'/ चार चतुर/ तथा दाने अनारे के में भूमिकाएँ निभाई।

खालिद सुल्तान के धारावाहिक खाली हाथ में इन्होंने मजदूर की भूमिका निभाई। वाह जनाब से शैलेंद्र गोयल को काफी शोहरत मिली। दाने अनार के में सरस्वती उपासक, फक्कड़ और मस्त किस्म की भूमिका निभाने वाले शैलेंद्र गोयल वास्तविक जीवन में भी पढ़ने के शौकीन हैं। इनकी स्वयं की लायब्रेरी में तीन-चार हजार पुस्तकें हैं। □



सिद्धार्थ बसु

(क्विज मास्टर)

'क्विज टाइम' तथा 'इंडिया क्विज' जैसे कार्यक्रमों के लोकप्रिय क्विज मास्टर **सिद्धार्थ बसु** का कैरियर बहुमुखी रहा है। दिल्ली के सेन्ट स्टीफेन्स कॉलेज के छात्र जीवन के दिनों में वे अँगरेजी रंगमंच से जुड़े। 'हेमलेट', 'एक्वास' तथा 'एमाडियस' जैसे नाटकों में उत्कृष्ट अभिनय कर वे लोकप्रियता की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। फिल्मों में अभिनेता के रूप में कैरियर बनाने की तमन्ना ने उन्हें टीवीएनएफ से जोड़ा। इस तरह वे दूरदर्शन पर शैक्षणिक फिल्मों का निर्माण करने लगे। इसी दौरान 'इंडिया टुडे' की पत्रकार अनिता से उनका प्रणय हुआ। जो शीघ्र ही परिणय में बदल गया। जीविका अर्जन के लिए 'ताज ग्रुप' में सांस्कृतिक प्रबंधक की हैसियत से नौकरी भी की।

इंडिपेंडेण्ट टीवी द्वारा एक क्विज कार्यक्रम के सिलसिले में उन्हें पायलेट अंक के लिए आमंत्रित किया गया। दूरदर्शन अधिकारियों ने उनकी प्रतिभा-क्षमता एवं संचालन योग्यता को देखकर 'क्विज टाइम' के कम्पीयर के तौर पर काम करने का प्रस्ताव किया। बसु की धाराप्रवाह अँगरेजी, उच्चारण, बोलने का लहजा, शैली, फुर्ती एवं आत्मविश्वास को दर्शकों की काफी सराहना मिली। 'क्विज टाइम' के बाद उन्होंने कुछ धारावाहिकों का निर्माण भी किया मगर लोकप्रियता के शिखर पर उन्हें पहुँचाने का श्रेय 'इंडिया क्विज' कार्यक्रम को है।

'क्विज' के जरिए लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचे बसु की हमेशा तमन्ना रही कि वे एक अभिनेता के रूप में स्वयं को स्थापित कर सकें। इसलिए उन्होंने 'पुरवाई' नामक धारावाहिक में अभिनय भी किया मगर हिंदी के अच्छे उच्चारण न कर पाने के कारण वे सफल अभिनेता न बन सके। निर्देशक के रूप में उन्होंने १९८६ में दूरदर्शन नाटक 'सैंया भए कोतवाल, से प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसके बाद 'अल्फा प्लस' ने उन्हें निर्देशक के रूप में स्थापित कर दिया। धीरे-धीरे वे फिल्म एवं टेलीविजन क्षेत्रों में निर्माता के रूप में पहचाने जाने लगे। फुर्ती, परिश्रम, पूर्व तैयारी तथा तत्क्षण उत्तर दे सकने की क्षमता को वे अपनी सफलता का श्रेय देते हैं। कठिन से कठिन सवाल पूछकर 'क्विज' को दिलचस्प बनाने वाले इस युवक का कहना है कि वे जिन सवालों को पूछते हैं उनमें से ९० प्रतिशत का जवाब उन्हें कार्ड देखने के बाद ही पता चलता है। □

◆ ◆ ◆

सिमी ग्रेवाल

भारतीय फिल्मों में अभिनेत्री के रूप में प्रवेश करने वाली **सिमी ग्रेवाल** ने अभिनय के क्षेत्र में तो कोई खास उपलब्धियाँ नहीं पाई मगर छोटे परदे के लिए फिल्मों का निर्माण कर अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। दूरदर्शन में उनका प्रवेश 'वुमन्स वर्ल्ड' नामक धारावाहिक से हुआ। इस धारावाहिक की काफी आलोचनाएँ हुई तथा इसका प्रसारण कुछ अंकों तक ही सीमित रहा। इस धारावाहिक की असफलता का कारण पर्याप्त आर्थिक आधार न होना है। **राजकपूर** पर उनके द्वारा निर्मित वृत्त चित्र सभी पहलुओं से सफल रहा। राजीव गाँधी पर निर्मित फिल्म भी काफी सराही गई।

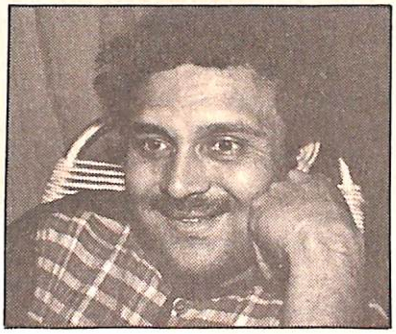
राजीव गाँधी पर फिल्म बनाने का विचार उन्हें इसलिए आया क्योंकि यह एक अंतरराष्ट्रीय दिलचस्पी का विषय था। सबसे पहले उन्होंने राजीवजी की अनुमति प्राप्त की



इसके बाद उनके भाषणों, साक्षात्कारों तथा विदेशी नेताओं के साथ उनकी वार्ताओं पर शोध कार्य प्रारंभ किया। सिमी के अनुसार उनका उद्देश्य था कि दशक पुरुष के रूप में उस सहज, ईमानदार, विश्वस्त एवं निष्ठावान नेता पर स्थाई सामग्री तैयार करे जिसने भारत की नई पीढ़ी को प्रभावित किया है।

जब वे इस फिल्म का निर्माण कर रही थीं तब घटनाक्रम तेजी से बदला, राजीवजी प्रधानमंत्री पद से हट गए। इसके बावजूद फिल्म का कार्य जारी रहा। कई समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं ने आरोप लगाया कि फिल्म का निर्माण मात्र राजीव गाँधी की छवि को चमकाने के लिए किया जा रहा है।

सिमी ग्रेवाल इन सारी आलोचनाओं को नकारती गईं। अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए उन्होंने यह कहा कि फिल्म निश्चित ही गुणों पर अधिक प्रकाश डालने वाली होगी। क्योंकि व्यक्ति विशेष के गुणों से ही प्रभावित होकर इसका निर्माण किया जा रहा है। फिल्म का प्रदर्शन होने पर उसे एक संतुलित एवं सूचनात्मक वृत्त चित्र कहा गया। □



सुशील जौहरी

घुँघराले बाल तथा गौर वर्ण वाले इंदौर के **सुशील जौहरी** ने जब कक्षा दसवीं के छात्र थे, तब स्कूल में नाटक खेला था। नील आर्मस्ट्रांग ने जब चंद्रमा पर पहली बार कदम रखा था, इसी थीम पर ड्रामा खेला गया था।

१९७६ में इंदौर की नाट्य संस्था प्रयोग के साथ जुड़े और अंधों का हाथी, जुलूस , दुलारी बाई, बकरी, इन चार नाटकों में काम किया।

१९७८ में स्वयं ने एक नाट्य संस्था 'अरंक' की नींव रखी। इसके बैनर तले सुशील जौहरी ने 'एक था गधा' (शरद जोशी) के लगभग सौ शो किए। जंगीराम की हवेली, दुलारी बाई, मिस अहलूवालिया, बाप रे बाप, किस्सो सालो जान को, थेंक्यू मि. ग्लाड, ओ मायावी सरोवर जैसे नाटकों को निर्देशित कर इनमें केंद्रीय भूमिका निभाई। इनके साथ ही आखिरी सवाल, बाँझ रात, एक और एक दो, सड़क गूँगी है, भोलाशंकर बम में अभिनय किया।

शरद जोशी के निवास पर इत्तफाक से 'ये जो है जिंदगी' के डायरेक्टर मंजुल सिन्हा से मुलाकात हुई और सुशील जौहरी को धारावाहिक 'ये जो है जिंदगी' में काम मिला

धारावाहिक 'अजीब मुसीबत है' (अप्रसारित) में उन्होंने केंद्रीय भूमिका निभाई है। 'हम पंछी एक डाल के', में आप मंजुल सिन्हा के साथ सहायक निर्देशक रहे हैं। वागले की दुनिया, कहाँ गए वो लोग, अधिकार आदि धारावाहिकों में भी अभिनय किया है। हिबा प्रोडक्शन की वीडियो फिल्मों में सहायक निर्देशन के साथ ही भूमिकाएँ भी निभाई हैं। ये फिल्में हैं खतरनाक इरादे, जंजाल, स्कैंडल।

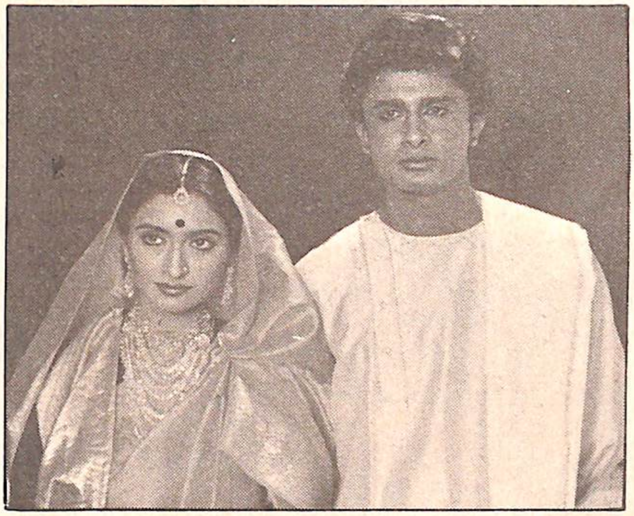
● **श्रद्धा बोस**

वीरेन्द्रसिंह

(म.प्र. के पहले टीवी नायक)

वीरेन्द्रसिंह को मध्यप्रदेश का पहला ऐसा नायक कहा जा सकता है, जिन्होंने कम उम्र में फिल्म से लेकर दूरदर्शन तक अपने खाते में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ दर्ज कराई हैं। उन्होंने थियेटर से लेकर फिल्म तक का एक सफल सफर किया है। उनका कैरियर उज्जैन से प्रारंभ हुआ और बंबई में अब वे एक ऊँची छलाँग लगाने के लिए तैयार खड़े हैं। इसके पहले उन्होंने दोनों माध्यमों में अपनी पहचान बना ली है।

टी.वी. के उस सीरियल, जिसमें 'कालीगंज की बहू' का जिक्र होता है, इसके जरिए वीरेन्द्र को सब अच्छे अभिनेता के रूप में जानने लगे। इसी बीच अंबरीश संगल ने राजेश खन्ना को लेकर फिल्म 'दर्द' बनाई, जिसमें वीरेन्द्र पहली बार संगल के सहायक निर्देशक बने। इसके माध्यम से भी वीरेन्द्र सिंह ने फिल्म में कदम रखा और हाल ही में एक फीचर फिल्म उनकी आई है- तुलसीदास। इसमें वीरेन्द्र ने तुलसीदास की केंद्रीय भूमिका निभाई है। नायक के रूप में उनका फिल्म में पहला पदार्पण था। वीरेन्द्र की बहन अरुणा संगल भी बंबई में टी.वी. की कलाकार हैं।



वीरेन्द्रसिंह का ध्यान अब न सिर्फ टी.वी. बल्कि फिल्म पर भी तेजी से एकाग्र होता जा रहा है और अब उनकी रंगमंचीय गतिविधियाँ कम हो गई हैं। एक जमाना था, जब उन्होंने उज्जैन से लेकर बंबई तक नाटकों में अभिनय की धूम मचाई, तब उस जमाने में उज्जैन के रंगमंच पर भगवती शर्मा, नवीन डेविड, हरीश पाठक, प्रतीश पाठक, धीरेन्द्र कुमार, परवेज अहमद, हिमांशु रथ, अरुण कोचर, नलिनी गुप्ते, निशा भाँगड़े, राजीव पाहवा, राजकुमार मेहता, राजकुमुद, राजेन्द्र गौतम, ज्योति स्वरूप, संजीव दीक्षित, अजय अवस्थी, राकेश परमार, अश्विनी शास्त्री,

हफीज खान, रमेश चौहान व लोकेन्द्र त्रिवेदी तथा इन पंक्तियों के लेखक की टीम कार्यरत थी।

उस दौर में वीरेन्द्र ने अभिनय और निर्देशन से लेकर मंच व्यवस्था और मंच निर्माण तक के व्यावसायिक और शिल्प कौशल के कार्य भी किए। उन्होंने न सिर्फ नाटकों के गीत लिखे, बल्कि संगीत भी दिया। उन्होंने एक ओर जहाँ ध्वनि मुद्रण किया, वहीं दूसरी तरफ रूप विन्यास तक का कार्य भी कुशलतापूर्वक संपन्न किया है। उन्होंने मुख्यतः अभिनय पर जोर दिया, लेकिन उनकी निर्देशन शैली भी कम नहीं है। उस दौर में उन्होंने मलबे का मालिक, कंजूस, तिरियाचरित्तर जैसे उत्कृष्ट नाटकों में कार्य किया। कुछ नाटकों को लेकर उन्होंने म.प्र. का दौरा किया और उनकी यही रंग-गतिविधियाँ सन् १९७९ के बाद बंबई में प्रारंभ हो गईं। उज्जैन में उनका टोटल थियेटर का कार्य सन् १९७३ से लेकर सन् १९७८ तक जारी रहा।

वीरेन्द्र के अभिनय की विशेषता है उनका हास्य, लेकिन गंभीर अभिनय भी उन्होंने किए हैं। म.प्र. को वीरेन्द्र के काम से बहुत उम्मीद है। आज के इस दौर में जबकि अच्छे नायकों का टोटा पड़ा है, वीरेन्द्र आशा की एक अच्छी किरण है।

वीरेन्द्रसिंह के साथ एक और नया नाम है जो म.प्र. को छोटे परदे पर ले जाता है। वह है **नवनी परिहार**। इंदौर-उज्जैन की यह बिटिया 'मुजरिम हाजिर' धारावाहिक के माध्यम से घर-घर में लोकप्रिय हुई थी। भारतीय नारी के परंपरागत राग-विराग का आत्मीय तथा माधुर्य भरा चित्रण नवनी के अभिनय में देखने को मिलता है। अभिनय के अलावा नवनी ने मॉडलिंग भी किया है।

● **पंकज पाठक**

◆ ◆ ◆

विक्रम गोखले

रंगकर्म या थियेटर का जीवन छलावों से भरा है। जहाँ कलाकार को एक ओर लोगों से बेतहाशा प्यार और तारीफ मिलती है, वहीं आर्थिक धरातल पर उसे जिंदगी की दमघोटू जद्दोजहद का शिकार होना पड़ता है। **विक्रम गोखले** ने जिस घर में आँख खोली, उसकी दीवारों के उखड़े हुए पलस्तर में किसी रंगशाला के सतरंगी अक्स भी झिलमिला रहे थे। विक्रम के पिता चंद्रकांत गोखले मराठी रंगमंच के प्रसिद्ध अभिनेता रह चुके हैं। लिहाजा बचपन से विक्रम ने अभिनय की हवा में साँस ली। मगर पिता चंद्रकांत नहीं चाहते थे कि विक्रम बड़े होकर थियेटर का जीवन अपनाएँ। घर की आर्थिक स्थिति इसके जरिए सुधारी नहीं जा सकती थी। विक्रम ने पारिवारिक जरूरतों को देखते हुए कुछ अरसे तक नौकरी की थी। लेकिन कम्बख्त वह चीज जिसे कलात्मक भूख कहते हैं, आदमी का पीछा नहीं छोड़ती। आखिर विक्रम से जब यह कसक सहन नहीं हो पाई, तो उन्होंने एक 'रंग समूह' 'कला वैभव' के लिए काम शुरू कर दिया। बाद में वे विजया मेहता के थियेटर ग्रुप से भी जुड़े। आज विक्रम गोखले मराठी रंगमंच और दूरदर्शन के एक शीर्षस्थ कलाकार बन गए हैं। धारावाहिक 'उड़ान' में कल्याणी के पिता की भूमिका में विक्रम ने जो संवेदनशील अभिनय किया था, उसे दर्शक भुला नहीं सकते। हिंदी के अलावा मराठी धारावाहिकों में विक्रम की ख्याति काफी ऊँचाइयों पर है। उनका गंभीर और संजीदा व्यक्तित्व जिसे अभिजात्य कहना उचित होगा, उन्हें अन्य साधारण अभिनेताओं की भीड़ से अलग खड़ा करता है।

थियेटर जगत में विक्रम गोखले का पहला महत्वपूर्ण नाटक था 'बैरिस्टर'। प्रख्यात मराठी लेखक जयवंत दलवी के उपन्यास पर आधारित इस नाटक का प्रथम प्रदर्शन १९७७ में हुआ। विक्रम इसकी मुख्य भूमिका में थे। काफी कम आयु के बावजूद उन्होंने जिस आत्मविश्वास भरे अभिनय का परिचय दिया, उसने मराठी नाटक जगत में हलचल मचा दी। 'बैरिस्टर' के लिए विक्रम को कई पुरस्कार भी मिले। लेकिन दलवी के इसी उपन्यास पर विजया मेहता ने जब हिंदी में फिल्म 'राव साहब' बनाई, तो उन्होंने विक्रम की जगह अनुपम खेर को चुना। इससे न केवल विक्रम बल्कि उनके प्रशंसक भी चकित हुए। क्योंकि 'बैरिस्टर' और विक्रम गोखले एक दूसरे के पर्याय बन चुके थे। हालाँकि 'राव साहब' में मूल नाटक की अपेक्षा काफी परिवर्तन किया गया, और विक्रम वाली भूमिका घट कर बहुत छोटी रह गई थी। 'बैरिस्टर' विक्रम गोखले के लिए कभी न भूलने वाला अनुभव रहा। वे आज भी इसका जिक्र गर्व के साथ करते हैं।

पाठकों को शायद जानकर आश्चर्य हो, कि विक्रम ने फिल्मों में पहली बार अमिताभ बच्चन के साथ 'परवाना' में काम किया था। यह उनकी पहली फिल्म थी। जिसके काफी दिनों बाद तक उन्हें फिल्मों में कोई काम नहीं मिला। फिर अचानक पिछले दिनों वे कुछ अच्छी 'ऑफ बीट' फिल्मों में नजर आए। 'सलीम लंगड़े पर मत रो' और 'थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ' में उनकी प्रभावी उपस्थिति दर्ज की गई। व्यावसायिक फिल्मों में उन्हें जो गिनी-चुनी भूमिकाएँ मिलीं, उनमें ज्यादातर पुलिसिया वर्दी वाले संभावनाहीन रोल थे। एक जमाने में विक्रम ने आर्मी अफसर बनने का इरादा जरूर किया था, लेकिन फिल्मों में वे 'डी.आई.जी.' की कुर्सी पर गोंद लगाकर बिठा दिए जाएँगे, इसकी कल्पना उन्हें नहीं थी। सिनेमा में विक्रम को मन मसोस कर काम करना पड़ा है। इसकी अपेक्षा दूरदर्शन पर उन्हें बेहतर अवसर मिले। □

◆ ◆ ◆

डॉ. श्रीराम लागू

आप उस अभिनेता की उपस्थिति को नजरअंदाज नहीं कर सकते। भले ही वह परदे पर भीड़ का चेहरा हो। शांत खड़ा हो।



सामने सुपर-सितारा अमिताभ ही क्यों न हो, आपकी नजरें उसके लंबे-चौड़े ललाट, तेज एवं कांति से दमकते चेहरे पर टिक जाएँगी। ऐसे अभिनेता को हम सब **डॉ.श्रीराम लागू** के नाम से जानते हैं। पेशे से डॉक्टर मगर स्वभाव से अभिनेता।

सोलह नवंबर १९२७ को एक कट्टर ब्राह्मण परिवार में जन्मे श्रीराम पिता बालकृष्ण लागू युवावस्था से ही क्रांतिकारी विचारों के समर्थक रहे हैं। वे तब भी नास्तिक थे और आज भी हैं।

सन् १९६९ से उन्होंने बाकायदा डॉक्टरी व्यवसाय को नमस्कार किया और तब से रंगमंच तथा फिल्मों से अपना नाता जोड़ा है।

वी.शांताराम की फिल्म **पिंजरा** हो अथवा भीमसेन की **घरौंदा,** डॉ.लागू की अभिनय प्रतिभा का लोहा दर्शक को मानना ही होता है। कई दर्जन फिल्मों में उन्होंने पिता/ अधिकारी/ बड़े भाई/ समाजसेवी/ अध्यापक की भूमिकाओं को जीवंत बनाया है।

डॉ.लागू १९८० से छोटे परदे से संबद्ध हो गए। प्रसंग था श्रीधर क्षीरसागर का धारावाहिक 'खानदान'। पिछले दिनों 'उपन्यास' सीरियल में एक रचनाधर्मी व्यक्ति के अंतर्द्वन्द्व को मुखर किया था। डॉ.श्रीराम लागू ने सिनेमाई परदे पर चरित्र अभिनेताओं की जो चौखट तय कर दी गई थी, उसे तोड़कर नई 'इमेज' स्थापित करने में सफलता पाई है। उनके अभिनय को सँवारती है, उनकी रौबीली और गहराई ली हुई आवाज।

● **रमेश वैद्य**

◆ ◆ ◆

राजा बुंदेला

दूरदर्शन एवं फिल्मों में अपनी एक अलग पहचान बनाने में कामयाब रहे हैं, **राजा बुंदेला।** राजा उर्फ राजकुमार बुंदेला उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले के जमींदार के बेटे हैं। परिवार की सीमाओं के भीतर



मनोरंजन में फिल्म, नाटक तो क्या गाँव की रामलीला देखना संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में राजा का फिल्मों में काम करना आश्चर्यजनक घटना है।

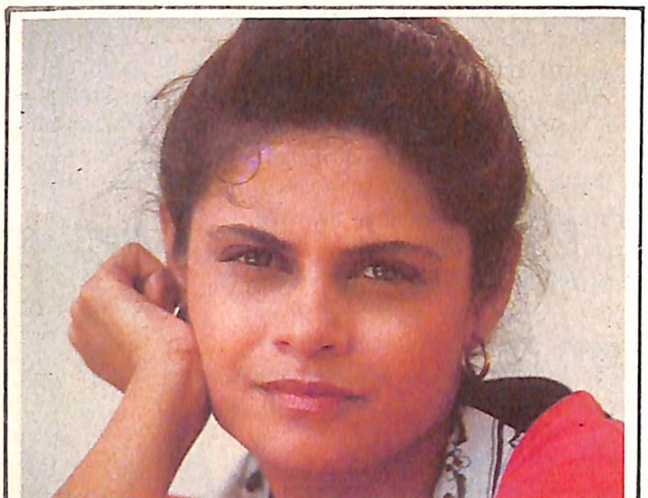
ललितपुर से हाईस्कूल करने के बाद वे कॉलिज की पढ़ाई के लिए ग्वालियर चले गए थे। कॉलेज की पढ़ाई के बीच में ही एक विवाहित तथा उम्र में बड़ी महिला से विवाह करने का वादा कर बैठे। जब शादी की इजाजत लेने पिताजी के पास गए, तो उन्होंने परिवार की मर्यादा भंग करने के जुर्म में घर से निकाल दिया। राजा ने वह शादी भी नहीं की। यहीं से राजा के जीवन में संघर्षों ने कदम रखा। घर से पैसा मिलना बंद हो गया। फटेहाली में मजबूर राजा ने ग्वालियर के एक होटल में रिसेप्शनिस्ट की नौकरी की। राजा का संबंध धीरे-धीरे एक नक्सली छात्रों के ग्रुप से हो गया जो सेठों एवं अमीरों से पैसा ऐंठते थे। इसी कारण से राजा के खिलाफ पुलिस रिपोर्ट भी दर्ज की गई। लेकिन एक नेक दिल पुलिस अफसर की समझाइश को ध्यान में रखते हुए राजा ने एन.एस.डी. में आवेदन पत्र भेजा। उस समय राजा के लिए एन.एस.डी. की स्कॉलरशिप साढ़े तीन सौ रुपए एवं निःशुल्क आवास व्यवस्था सबसे बड़ा आकर्षण था। एन.एस. डी. में चयन तो हो गया, लेकिन उसकी सूचना राजा को तब मिली जबकि नई बेच शुरू हो गई थी। काफी मिन्नतों के बाद एडमिशन तो मिल गया, लेकिन स्कॉलरशिप से हाथ धोना पड़ा।

जबलपुर के रघुवीर यादव और राजा बुंदेला के हालात एक जैसे थे। दोनों दिन के समय कक्षाओं में रहते। खाना खाने के लिए शरणार्थियों के लिए खुले सरकारी केंटीन में जाते और रात को एनएसडी के ओपन थिएटर में सोते वहीं राजा की पहचान राज बब्बर से हुई। उनकी सलाह मानकर राजा बुंदेला ने सारे हालात एनएसडी के सर्वे-सर्वा अल्काजी को बता दिए। राजा को ओपन थियेटर में सोने के जुर्म में पाँच सौ रुपए जुर्माना हुआ था, वह भी माफ कर दिया। अल्काजी ने आर्थिक मदद देने के साथ ही राजा की अंग्रेजी भाषा की समस्या को सुलझाने में मदद की। एन.एस. डी. का कोर्स पूरा करने के बाद राजा मंच से जुड़ गया। राजकुमार बुंदेला अब दिल्ली रंगमंच का एक परिचित राजा बुंदेला बन गया था। राजा ने पूना के फिल्म इंस्टीट्यूट से प्रशिक्षण लेकर बंबई की मायानगरी में कदम रखा। यहाँ भी प्रारंभ में संघर्ष करना पड़ा। पृथ्वी थियेटर से जुड़कर अनेक नाटकों में काम किया। नादिरा बब्बर के ग्रुप 'एकजुट' से भी राजा ने अपने को जोड़ा। बाद में 'हम' से भी जुड़े। इसी दौरान राजा ने संध्या छाया, वल्लभपुर की रूपकथा, राग दरबारी, खूब मिलाई जोड़ी जैसे नाटकों में काम किया। तभी राजा को 'ब्रजभूमि' फिल्म मिली। इस फिल्म को उत्तर भारत में सफलता मिली और राजा को एक नवीन पहचान। 'अब आएगा मजा' के साथ ही राजा की प्रमुख फिल्में हैं काल भैरव/ प्रकोप/ स्वर्ग/ सपनों के आँगन में/ तेजा और वसुंधरा। छोटे पर्दे के लिए राजा ने मझधार सहित करीब दस अन्य धारावाहिकों में काम किया है। □

◆ ◆ ◆

विनी परांजपे

निर्देशिका सई परांजपे की बेटी **विनी परांजपे** अपनी माँ की तरह ही क्रियाशील और अर्थ-पूर्ण जीवन-शैली पसंद करती है। नीलाभ आँखों वाली विनी ने जिंदगी को भी चटकदार रंगों में ढालने का दर्शन अपनाया है। खुले विचारों की पक्षधर विनी छोटे परदे पर अधिकतर हँसती-खिलखिलाती नजर आई। उनका एक सीरियल **'पंछी'** दर्शकों के बीच खासा लोकप्रिय हुआ था। इसमें उसकी भूमिका विदेश में बसे एक भारतीय परिवार



की लड़की की थी। पाश्चात्य रंग-ढंग में ढले होने के कारण जिसे भारतीय परिवेश अच्छा नहीं लगता। लेकिन धीरे- धीरे वह अपने पैतृक देश भारत से प्यार करने लगती है। विनी के व्यक्तित्व को देखते हुए यह चरित्र उसके लिए बिल्कुल उपयुक्त था। विनी ने अपनी शिक्षा मनोविज्ञान विषय में पूरी की है। व्यावसायिक रूप से उसने अभिनय को १९८४ में अपनाया। सई एक मराठी नाटक 'सोयरिक' का निर्देशन कर रहीं थीं जिसकी प्रमुख भूमिका के लिए उन्होंने अपनी बेटी विनी को मौका दिया। नितीश भारद्वाज इस नाटक में विनी के सह कलाकार थे। इसके पहले विनी अपनी माँ सई द्वारा निर्देशित फिल्मों 'चश्मे बद्दूर' और 'कथा' में बाल भूमिकाएँ निभा चुकी थी। थिएटर की ओर विनी का आकर्षण अधिक नहीं रहा। सीरियल 'पंछी' और 'छोटे-बड़े' में मौका मिलते ही वह दूरदर्शन की तरफ मुड़ गई। 'फुटेज' के लिहाज से धारावाहिकों में विनी को अच्छी भूमिकाएँ मिली। 'बाइबिल की कहानियाँ' में उसने जोसेफ की पत्नी की भूमिका निभाई है। □

सुधीर पांडेय

दूरदर्शन के धारावाहिकों के द्वारा दर्शकों में एक अपनी इमेज बनाने में पूर्ण रूप से कामयाब रहे हैं, **सुधीर पांडेय।** आकाशवाणी के न्यूजरीडर देवकीनंदन पांडेय के पुत्र हैं सुधीर पांडेय। कला के लगाव का कारण उनके घर का कलात्मक वातावरण था। इसी वातावरण में पले-बढ़े सुधीर के कदम रंगमंच और अभिनय की ओर बढ़े। अपने पिताजी की इच्छा रखने के लिए विज्ञान में स्नातक की उपाधि ली। कॉलेज के समय से ही सुधीर पांडेय ने रेडियो नाटकों में भाग लेना शुरू किया था। १९६८-६९ में जब दिल्ली दूरदर्शन की शुरूआत हुई तब सुधीर पांडेय ने दूरदर्शन के नाटकों में हिस्सा लेना प्रारंभ किया। दूरदर्शन के बाद मंच पर नाटक खेलना शुरू किया। अभिनय की बढ़ती रुचि ने ही पुणे के फिल्म इंस्टीट्यूट को ज्वाइन करने पर मजबूर किया।

सुधीर पांडेय जब बंबई की ओर मुड़े तब समांतर फिल्मों का निर्माण कम हो गया था। सुधीर पांडेय व्यावसायिक फिल्मों में काम करना नहीं चाहते थे। १९७८ में इप्टा से जुड़ गए। नाटक करने लगे। यहीं से इन्हें दूरदर्शन के धारावाहिकों के लिए बुलावा आया। धारावाहिक के द्वारा ही दुलाल गुहा ने अपनी फिल्म 'धुआँ' में काम दिया। दुर्भाग्यवश फिल्म नहीं चली। परंतु सुधीर पांडेय अपनी पहचान बनाने में सफल हो गए। रमेश सिप्पी ने इन्हें 'बुनियाद' में बढ़िया रोल दिया, जिससे सुधीर घर-घर में पहचाने जाने लगे।

बुनियाद के साथ ही आखिरी दाँव/ संकल्प में सुधीर पांडेय ने जीवंत भूमिकाएँ निभाई हैं। वे अपनी भूमिका के साथ रम जाते हैं। रंगमंच एवं पर्दे पर किरदार निभाने के साथ ही सुधीर पांडेय निर्देशन में भी रुचि रखते हैं।

● **श्रद्धा बोस**

◆ ◆ ◆

मौसमी चटर्जी

तरुण मजूमदार को अपनी फिल्म 'बालिका वधू' के लिए एक लड़की की तलाश थी। एक दिन शूटिंग देखते हुए एक लड़की पर उनकी नजर पड़ी। तुरंत चौकीदार से उन्होंने उस लड़की को बुलाने के लिए कहा, लेकिन लड़की अकड़ गई। उसने खुद आदेश दिया, कौन बुला रहा है उसे मेरे सामने बुलाओ। बस इसी बात ने उस लड़की का कैरियर बदल दिया। तरुण दा झूम उठे। उनकी प्रतिक्रिया थी, मुझे मेरी 'बालिका वधू' मिल गई है। यह लड़की थी **मौसमी चटर्जी** और यह फिल्म थी 'बालिका वधू'। उस समय मौसमी मात्र १२ वर्ष की थी। मौसमी के पिता बिलकुल पुराने ख्यालों के थे। वे अपनी बेटी को फिल्म लाइन में नहीं जाने देना चाहते थे। पर बाद में अभिनेत्री संध्या मुखर्जी (तरुण मजूमदार की पत्नी) के समझाने-बुझाने पर वे राजी हुए।

'बालिका वधू' एक सुपर-हिट फिल्म थी। इस फिल्म के संगीत निर्देशक हेमंत मुखर्जी थे, जो बाद में मौसमी के ससुर बने। इस फिल्म ने रजत/ स्वर्ण तथा प्लेटिनम जुबलियाँ मनाई। उसे रूस फिल्मोत्सव में भी भेजा गया। इस फिल्म को इस कदर सफलता मिली थी कि उन दिनों इस वजह से मौसमी का स्कूल जाना तो दूर उनका घर से निकलना भी मुश्किल हो गया। इसलिए उन्हें प्राइवेट परीक्षा देकर अपनी पढ़ाई पूरी करनी पड़ी। इस फिल्म में उन्होंने कैसे अभिनय किया यह सोच कर आज भी मौसमी को आश्चर्य लगता है। वे कहती हैं, 'खुद मुझे यह पता नहीं था कि मैंने कैसे अभिनय किया? मेरी उम्र उस समय बहुत ही कम थी। जो कुछ किया सब ईश्वर की दया से। तरुण दा जैसा-जैसा करने के लिए कहते थे मैं वैसा ही करती गई। शुक्र है कि सब ठीक हो गया। दरअसल, सच बात तो यह है कि यह सिर्फ निर्देशक का कमाल था। इसमें तरुण मजूमदार की पत्नी संध्या राय का भी बड़ा सहयोग था। वे मुझे संवादों की रिहर्सल करवाती थीं तथा अभिनय की छोटी-छोटी बातें अच्छी तरह से समझा देती थीं।'

'बालिका वधू' के बाद अजय कर की 'परिणीता', तपन सिन्हा की 'एखोनी' तथा हेमंत मुखर्जी की 'अनिंदिता' में उन्होंने काम किया। उस समय बंबई से भी उन्हें कई प्रस्ताव मिले थे। जैसे राजकपूर की 'बॉबी' / हृषिकेश मुखर्जी की गुड्डी/ लेकिन इनके पिता का मौसमी को बंबई भेजना बिल्कुल मंजूर नहीं था।

'बालिका वधू' में काम करने के दौरान ही हेमंत मुखर्जी के परिवार से मौसमी का अच्छा परिचय हो गया। बाद में वे उसी घर की पुत्र-वधू बन गई। शादी के समय वे १६ साल की थीं, उनको हिन्दी फिल्म इंडस्ट्री में प्रतिष्ठित करने में हेमंत मुखर्जी की मुख्य भूमिका थी। शादी के बाद ही उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया, तुम्हारे अंदर बहुत प्रतिभा है तुम आसानी से बहुत पैसा और सम्मान कमा सकती हो। आर्थिक मामले में तुम्हें स्वतंत्र होना होगा। मौसमी अपने ससुर का अत्यंत आदर करती हैं। वे कहती हैं, यदि उस समय उन्होंने मेरा उत्साह नहीं बढ़ाया होता तो शायद मेरी प्रतिभा अंदर ही अंदर दब जाती। हिन्दी फिल्म इंडस्ट्री में तो मैं कभी जम ही नहीं पाती।

शक्ति सामंत की 'अनुराग' तथा राज खोसला की 'कच्चे धागे' में अभिनय करके मौसमी चर्चित हो उठी। ये दोनों फिल्में बॉक्स आफिस पर सफल रहीं। 'अनुराग' में उन्होंने एक अंधी लड़की की भूमिका निभाई थी। मौसमी कहती हैं, यह भूमिका इतनी वास्तविक थी कि मेरी गाड़ी कहीं रुकने पर लोग बोलते थे 'वह अंधी जा रही है।' यह टिप्पणी सुनकर मुझे बहुत गुस्सा आता था।



मौसमी चटर्जी : फिल्मकार ऋषिकेश मुखर्जी

'रोटी कपड़ा और मकान' में भी मौसमी की भूमिका ने दर्शकों को भरपूर आकर्षित किया।

मौसमी अत्यंत सीधी-सादी हैं। वे अपना परिवारिक जीवन सुखी बनाना चाहती हैं। नृत्यप्रधान या शरीर प्रदर्शन करने वाली भूमिकाओं से मौसमी को चिढ़ है। इससे कई बार कई निर्देशकों से खटपट भी हो गई है।

हेमंत मुखर्जी के टीवी धारावाहिक **'तलाश'** में मौसमी ने जोरदार अभिनय किया। इसका निर्देशन ऋषिकेश मुखर्जी ने किया था। इस धारावाहिक में वे काम करना नहीं चाहती थी। इसके मुख्य किरदार उर्मिला के लिए शबाना आजमी को चुन लिया गया था। शबाना भी राजी हो गई थी लेकिन अंत में मौसमी के पति जिद कर बैठे। मौसमी कहती हैं, 'मैं यह काम किसी भी हालत में

नहीं करती लेकिन ऋषि दा ने मुझसे कहा, 'यदि तुम इसमें काम नहीं करोगी तो मैं इसका निर्देशन नहीं करूँगा। ऋषि दा की इस बात पर मुझे यह भूमिका निभानी ही पड़ी। इस धारावाहिक में मेरा अभिनय दर्शकों को काफी पसंद आया लेकिन टीवी में मैंने यह पहली और शायद आखिरी बार काम किया है।

मौसमी की दो लड़की हैं। बड़ी लड़की फिल्मी गतिविधियों से बहुत दूर है लेकिन छोटी लड़की को अभिनय बहुत पसंद है। शीशे के सामने जाकर अभिनय करती रहती है। मौसमी कहती हैं 'यह लड़की मेरे अभिनय को जिंदा रखेगी।'

● **सी. अमृत**

◆ ◆ ◆

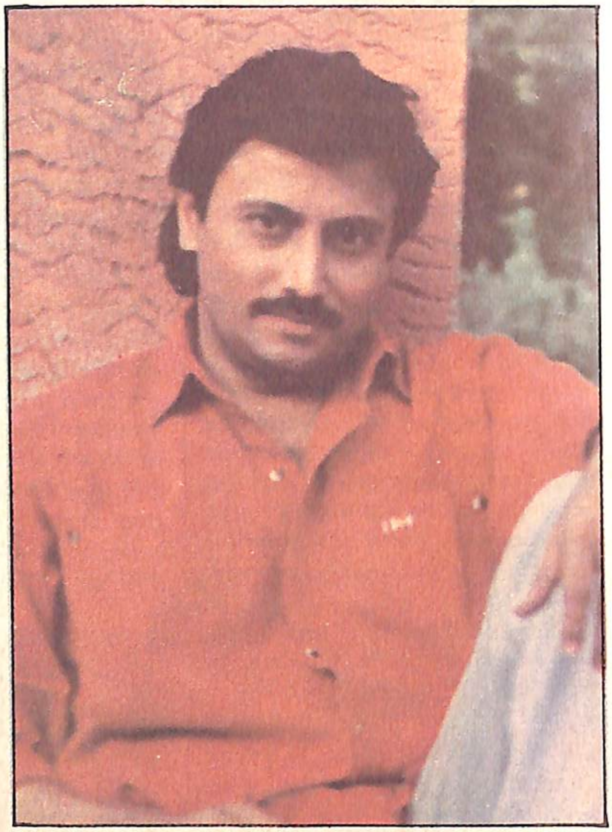
तन्वी आजमी

सौम्य शक्ल-सूरत वाली **तन्वी आजमी** लोकप्रिय टीवी सीरियल 'लाइफ लाइन' के जरिए चर्चित हुई थी। लेकिन इससे भी ज्यादा चर्चा का विषय वे तब बनीं, जब उन्होंने शबाना आजमी के भाई कैमरामेन बाबा आजमी से विवाह किया। एक मराठी परिवार में जन्मी तन्वी का न केवल वैवाहिक जीवन में, बल्कि अधिकांशतः अभिनय के क्षेत्र में भी उर्दू भाषियों से पाला पड़ा। जिस भाषा से वह नितांत अपरिचित थीं। मगर धीरे-धीरे उन्होंने उर्दू में दक्षता हासिल कर ली।



गुलजार के बहुप्रशंसित धारावाहिक 'मिर्जा गालिब' में जब उन्होंने महान शायर 'गालिब' की बेगम के रूप में उर्दू और फारसी के संवाद साधिकार बोले, तो दर्शकों के मुँह से 'वाह' निकल पड़ी। सीरियल पूरी तरह नसीरुद्दीन शाह के प्रभाव क्षेत्र में था, लेकिन तन्वी ने 'छाया-भूमिका' के बावजूद अपने हिस्से की तारीफ बटोर ली।

तन्वी का साहसिक अभिनय और सादगीपूर्ण व्यक्तित्व सहज ही सबको आकर्षित करता है। धारावाहिक लाइफ लाइन' में तन्वी ने एक डॉक्टर के पेशे से जुड़ी संवेदनाओं और कश्मकश को बखूबी अभिव्यक्त किया। २२ कड़ियों वाले इस सीरियल में उनकी केंद्रीय भूमिका थी। शायद इसलिए भी वे अपनी भूमिका को बेहतरी से अंजाम देने में सफल रहीं, क्योंकि चिकित्सा के क्षेत्र से उन्हें गहरा लगाव है। वे स्वयं एक डॉक्टर बनना चाहती थीं। 'लाइफ लाइन' के माध्यम से उन्होंने अपनी यह आकांक्षा महिला चिकित्सक की भूमिका निभाकर पूरी की। इस सीरियल की निर्मात्री प्रख्यात रंगकर्मी विजया मेहता थीं, जिनके साथ तन्वी ने पूर्व में एक फिल्म 'राव साहब' में काम किया था। तन्वी के अभिनय और संवेदनशील स्वभाव को देखते हुए विजया मेहता ने उन्हें अपने सीरियल में प्रमुख भूमिका सौंप दी। तन्वी का एक अन्य महत्वपूर्ण धारावाहिक था 'लोहित किनारे'। कल्पना लाजमी इसकी निर्देशिका थीं। हालाँकि तन्वी ने अब तक बहुत ज्यादा धारावाहिकों में काम नहीं किया है, लेकिन सौभाग्यवश उन्हें सारे अवसर शीर्षस्थ निर्देशकों के साथ मिले। एक भावप्रवण अभिनेत्री के रूप में तन्वी अपनी पहचान बना चुकी हैं। जितना आकर्षक उनका नाम है, उतना ही काम भी। तन्वी की माँ ऊषा किरण अपने जमाने की मशहूर तारिका रही हैं। □



◆ ◆ ◆

मोहन भंडारी

'हम तो चले जा रहे थे सफर में अकेले रास्ता जिधर मिला वहीं चल दिए।' दूरदर्शन के पर्दे पर 'खानदान' सीरियल से प्रवेश पाने वाले **मोहन भंडारी** के जीवन में भी यही हुआ।

जब वे ग्रेजुएट हुए उनके पिता का ट्रांसफर बंबई हो गया। बंबई में किसी मित्र या साथी के अभाव में अपना अकेलापन दूर करने के लिए उन्होंने नाटक देखना शुरू कर दिया। सत्यदेव दुबे के नाटक देखते देखते उनके मन में भी नाटक में काम करने की इच्छा हुई। एक्टिंग का कोई अनुभव नहीं था। साहस बटोरकर सत्यदेव दुबे के पास जाकर अपनी इच्छा व्यक्त की। दुबेजी ने उन्हें एक नाटक की रिहर्सल में बुलाना शुरू कर दिया। कुछ दिनों के बाद मोहन भंडारी ने आना बंद कर दिया, क्योंकि उनके मन में यह धारणा बन गई थी कि नाटक में अभिनय करने का उन्हें मौका नहीं मिलेगा। लेकिन हुआ इसका उल्टा। सत्यदेव दुबे ने उन्हें बुलाकर 'अनुष्ठान' नामक नाटक में भूमिका दी। थियेटर में काम करते समय उन्होंने सोचा भी नहीं था कि एक दिन वे फिल्मी परदे पर भी आ जाएँगे। जिस समय वे नाटक करने में व्यस्त थे श्रीधर क्षीरसागर की नजर उन पर पड़ी और उन्हें 'खानदान' सीरियल के लिए चुन लिया। 'खानदान' सीरियल बुद्धिजीवी दर्शक वर्ग के बीच अधिक चर्चित हुआ और मोहन भंडारी को भी प्रशंसा मिली।

'खानदान' के बाद मोहन भंडारी को सीरियल 'मंजिल अपनी अपनी'/ 'चुनौती'/ 'मुजरिम हाजिर'/ 'लक्ष्मण रेखा' तथा मृगनयनी में अलग-अलग ढंग के चरित्र मिले। उन्होंने सभी पात्रों के रोल को बखूबी निभाया। दर्शकों के बीच अपनी पहचान बना ली। लोकप्रिय होने के बावजूद भी मोहन पूरी तरह अभिनय क्षेत्र में नहीं आना चाहते। वे बैंक की नौकरी के साथ-साथ सीरियल/ नाटक/ फिल्म में काम करते हैं। दूरदर्शन के अलावा वे फिल्म प्रतिघात, फलक, नसीबवाला व बेनाम रिश्ते में काम कर चुके हैं। उनके पास ज्यादा काम नहीं है लेकिन उनमें उत्साह की कमी नहीं है। वे फिल्म दौड़ में खरगोश के बजाए कछुए की चाल को अपनाना चाहते हैं।

● **शशि शर्मा**

विवेक वासवानी

विवेक वासवानी उन दिनों बंबई के सिडेन्हम कॉलेज में पढ़ रहे थे, जब उन्हें पर्ल पद्मसी ने अपने नाटक 'एलीफेंट मैन' में एक छोटे से रोल के लिए याद किया। इस नाटक में विवेक को सिर्फ चार पंक्तियों का एक संवाद बोलना था। लेकिन यह चार सतरें उनकी जिंदगी को चतुर्दिक रूप में अभिनय की ओर खींच लाईं। वे बहुत जल्दी इस विधा में बारहखड़ी सीख गए। अंग्रेजी नाटकों के अलावा उन्होंने कई विज्ञापन फिल्मों का भी निर्माण किया है।

दूरदर्शन से विवेक का नाता श्रीधर क्षीरसागर की बदौलत जुड़ा। जो एक अंग्रेजी हास्य धारावाहिक 'द टीन एज शो' बना रहे थे। इसकी मुख्य भूमिकाओं में उन्होंने आलीशा चिनॉय और विवेक वासवानी को चुना। बाद में प्रायोजक न मिलने के कारण यह सीरियल दूरदर्शन पर प्रसारित नहीं हुआ। मगर श्रीधर ने अपने अगले बहुचर्चित सीरियल **'खानदान'** में विवेक को 'विनय प्रेमचंद' की भूमिका सौंपकर उन्हें छोटे परदे की राह दिखा दी। अवसर मिलते ही विवेक दूरदर्शन पर सक्रिय हो गए। उनका अगला सीरियल था 'देखो मगर प्यार से।' खानदान के साथ यह सीरियल भी अत्यंत लोकप्रिय साबित हुआ. और विवेक का नाम लोग पहचानने लगे।

अपनी रुचियों को सिर्फ अभिनय तक ही सीमित न रखते हुए विवेक ने खुद सीरियल बनाने की दिशा में कदम बढ़ा दिए। उन्होंने 'थियेट्रेमेटिक्स' नाम से अपनी एक सीरियल निर्माण कंपनी तैयार की। विवेक द्वारा निर्मित सबसे महत्वपूर्ण धारावाहिक रहा 'नई दिशाएँ'। दूरदर्शन ने कुछ समय पूर्व मादक द्रव्यों की समस्या पर आधारित कार्यक्रमों का जो सिलसिला शुरू किया था, यह सीरियल भी उसी दौरान प्रसारित हुआ। अंजू महेन्द्रू और नवीन निश्चल जैसे स्थापित टीवी कलाकारों की बदौलत 'नई दिशाएँ' को उत्साहवर्धक कामयाबी मिली। विवेक 'नई दिशाएँ' के अलावा दूरदर्शन के लिए दो अन्य सीरियल 'कवि सम्मेलन' और 'फिर आया सपना' बना चुके हैं, मगर इनका प्रसारण अभी तक नहीं हो पाया। इसके अलावा विवेक ने एक टेली फिल्म 'सुमिरन' भी बनाई है। इन दिनों 'तीन तिगाड़ा और काम बिगाड़ा' कॉमेडी सीरियल बना रहे हैं। □

सर्वदमन बनर्जी

रामानंद सागर के वीडियो धारावाहिक **कृष्णा** में भगवान श्रीकृष्ण बने हैं **सर्वदमन बनर्जी।** अभिनय की दुनिया के हिंदी क्षेत्र में यह नाम अपरिचित है। केवल बाबूभाई मिस्त्री की फिल्म 'बजरंग बली' में राम बने थे सर्वदमन।

गंगा किनारे बसे एक छोटे से शहर उन्नाव में १४ मार्च १९५७ को सर्वदमन का जन्म हुआ था। पैदा होते ही उन्हें मृत समझा गया। किसी की सलाह पर पिता ने बच्चे को काली माँ के चरणों में डाल दिया। इसे चमत्कार ही कहेंगे कि कुछ देर में बच्चे की साँस चलने लगी। पिता ने इसे काली माँ का प्रभाव मानकर सर्वदमन नाम रख दिया।

सर्वदमन बचपन से ही अध्ययनशील रहे। देश-विदेश की लगभग सात हजार पुस्तकों का घर में भंडार था। प्रकृति और अध्यात्म उनके प्रिय विषय थे। खेलकूद में भी उनकी रुचि थी। स्कूल मे खेलकूद विभाग के वे प्रमुख थे। जब वे आठवीं कक्षा के छात्र थे, उन्होंने आठ एम.एम. के कैमरे से 'साइलेंस शाउट्स' नामक एक फिल्म बनाई थी। परिवार में कहीं भी फिल्मों का वातावरण नहीं था। पिता, दो भाई, दो बहनें सभी डॉक्टर थे। जीवनसाथी भी डॉक्टर मिली। पिता तो चाहते थे कि वे स्वयं भी डॉक्टर बनें, लेकिन उन्होंने जीवन में कुछ कर दिखाने के लक्ष्य को पूरा करने हेतु फिल्म क्षेत्र ही चुना व पूना फिल्म इंस्टीट्यूट में दाखिला ले लिया।

पूना में तीन साल रहकर सर्वदमन ने एक्टिंग के अलावा फिल्म के विविध आयामों जैसे ध्वनि/ संपादन/ पटकथा/ निर्देशन का भी अध्ययन किया। दो वर्षों तक बादल सरकार के थिएटर ग्रुप में रहकर कई नाटक खेले व नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से भी संबद्ध रहे।

जिस समय सर्वदमन पूना संस्थान में थे, बंगलोर के फिल्म फेस्टिवल में उनकी मुलाकात जी.वी. अय्यर से हुई। वे संस्कृत में आदि शंकराचार्य फिल्म बनाना चाहते थे। उन्होंने सर्वदमन से शंकराचार्य का रोल करने के लिए कहा और यहीं से सर्वदमन की फिल्मी यात्रा की शुरूआत हो गई।

संस्कृत के अलावा सर्वदमन ने तेलुगु में बनी के. विश्वनाथ की फिल्म में भी काम किया। रामानंद सागर ने सर्वदमन द्वारा अभिनीत तेलुगु फिल्म 'श्री दत्ता दर्शन' देखी थी। इस फिल्म में सर्वदमन ने चौदह अलग-अलग भूमिकाएँ की थीं। इसीलिए करीब चार सौ कलाकारों का इंटरव्यू लेने के पश्चात् 'कृष्ण' की भूमिका के लिए उन्होंने सर्वदमन को ही चुना और 'रामायण' के राम अरुण गोविल की तरह 'कृष्णा' के श्रीकृष्ण का नाम भी हर घर में पहचाना जाने लगा। □



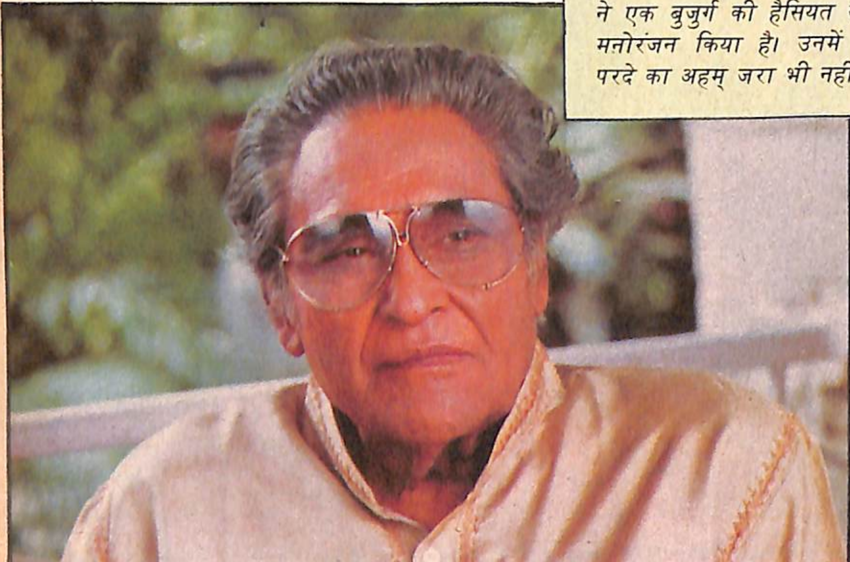
सर्वदमन बनर्जी और रेशमा सिंह : कृष्णा

वेद राही

धरती का स्वर्ग कहे जाने वाले काश्मीर के निवासी **वेद राही** मूल रूप से लेखक हैं। उर्दू और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं के लिए उन्हें जम्मू-काश्मीर साहित्य अकादमी पुरस्कार से दो बार सम्मानित किया जा चुका है। डोंगरी भाषा के इस सशक्त कहानी लेखक को सन् १९८३ में कहानी संग्रह 'आले' के लिए साहित्य अकादमी अवार्ड मिल चुका है।फिल्मों में उनका प्रवेश संवाद लेखक के रूप में हुआ। बाद में उन्होंने पटकथाएँ भी लिखीं। 'पवित्र पापी/संन्यासी/बेईमान/ कठपुतली/दरार/प्रेम पर्वत' उनके द्वारा लिखी गई कुछ प्रसिद्ध फिल्में हैं। दूरदर्शन में उन्होंने निर्देशक के रूप

में प्रवेश किया तथा सबसे पहले धारावाहिक 'जिंदगी' का निर्देशन एवं लेखन किया। 'कथा सागर' के निर्देशन से भी वे जुड़े रहे। 'गुल-गुलशन-गुलफाम' के माध्यम से वेद राही ने काश्मीर के आम लोगों की जिंदगी तथा खानदानी पेशे से जुड़ी समस्याओं को एक परिवार के माध्यम से उजागर किया। इस धारावाहिक की ज्यादातर शूटिंग काश्मीर में हुई तथा उस समय भी वहाँ आतंक का माहौल था। इस धारावाहिक के जरिए राधा सेठ और परीक्षित साहनी की अभिनय प्रतिभा के कई अनछुए पहलू सामने आए। 'गुल-गुलशन-गुलफाम' लोकप्रिय धारावाहिक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और इसके सशक्त निर्देशन के लिए वेद राही को अपट्रान पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

काश्मीर के बाद पंजाब को केंद्र बनाकर 'उन्होंने 'रिश्ता' का निर्देशन किया। अमृता प्रीतम की कहानियों पर आधारित इस धारावाहिक में हिन्दू और सिख धर्म की बुनियादी एकता को दर्शाया गया है साथ ही पंजाब में व्याप्त आतंकवाद की जड़ें खोजने की कोशिश की गई हैं। 'वाह री दुनिया' नामक धारावाहिक के निर्माण से भी वे जुड़े हुए हैं, जो बच्चों के लिए बनाया गया। □



सुरेंद्र पाल

ऊँची कद काठी, गहरी आवाज के धनी **सुरेंद्र पाल** दिल्ली में अपनी पढ़ाई खत्म करने के बाद अभिनय के क्षेत्र में किस्मत आजमाने बंबई आ गए। फिल्म 'शमा' में शबाना आजमी के साथ अपने फिल्मी जीवन की शुरूआत की थी।

दूरदर्शन के धारावाहिक महाभारत में सुरेंद्र पाल को अच्छा ब्रेक मिला। महाभारत के ९३ एपिसोड में से ४८ एपिसोड में सुरेंद्र ने आचार्य द्रोणाचार्य जैसी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

महाभारत के साथ ही उन्होंने अन्य धारावाहिक जैसे तमस (शाहनवाज खान) चाणक्य, टीपू सुल्तान और बाइबल में काम किया। बड़े पर्दे पर भी सुरेंद्र पाल दिखने लगे। उनकी कुछ फिल्में है- खुदा गवाह/ घर की महाभारत/ विषकन्या। आज सुरेंद्र पाल फिल्मों में खलनायक के रूप में जाने जाते हैं।

◆ ◆ ◆

टॉम आल्टर

टॉम आल्टर जैसे आंग्ल भारतीय कलाकार हिंदुस्तानी निर्माताओं के लिए बड़े

दादा मुनि अशोक कुमार बड़े परदे पर सन् १९३६ से अपनी उपस्थिति और प्रतिभा के साथ दर्शकों के दिल-दिमाग में एक पारिवारिक सदस्य की हैसियत से मौजूद हैं। छोटे परदे के प्रचलित होते ही 'हमलोग' के सूत्रधार के रूप में वे बेहद मशहूर हुए। उन्हें हजारों चिट्ठियाँ/ तार/ बधाइयाँ और उपहार मिलते रहते थे। हम हिंदुस्तानी/ भीम भवानी के अलावा उजाले की ओर में दादा मुनि ने एक बुजुर्ग की हैसियत से सबका मनोरंजन किया है। उनमें बड़े-छोटे परदे का अहम् जरा भी नहीं है।

उपयोगी हैं। फिल्मों में विदेशी विलेन को देशी हीरो के साथ पिटवा कर दर्शकों को प्रफुल्लित करना हो, अथवा 'राग देश' अलापने वाले सीरियलों में फिरंगियों की खबर लेनी हो- कहीं भी गोरी चमड़ी वाले इन कलाकारों से कटकटाती हिंदी बुलवाकर स्वतंत्रता पूर्व के इतिहास का द्वार खटखटाया जा सकता है। भले ही बेचारे टॉम आल्टर खुद को सौ फीसदी भारतीय मानते हों, मगर उन्हें ज्यादातर भूमिकाएँ महज अंग्रेजी परफ्यूम छिड़कने के उद्देश्य से दी जाती हैं।

टॉम के पुरखे जरूर अमेरिका से भारत आए थे। मगर स्वयं उनका एवं उनके पिता का जन्म हिंदुस्तान में ही हुआ। मसूरी उनका पैतृक निवास है। जहाँ उनकी पत्नी 'कैरोल' अपने दो बच्चों के साथ रहती है। कला की ओर रुझान होने के कारण टॉम पूना चले आए, तथा फिल्म इंस्टीट्यूट में दाखिला ले लिया। नसीर और बेंजामिन गिलानी उनके सहपाठी थे। जिनकी मदद से आजकल टॉम अपना रंग समूह 'मोटले' चलाते हैं। १९७६ में बनी 'चरस' टॉम आल्टर की पहली हिंदी फिल्म थी, जिसके बाद उन्होंने कई फिल्मों में गोरे अंग्रेज की भूमिकाएँ निभाई। दूरदर्शन की शुरूआत के साथ उन्हें कुछ धारावाहिकों में भी काम मिलने लगा। आनंद महेंद्रू का 'इधर-उधर' और मुजफ्फर अली कृत 'जाने आलम' उनके आरंभिक सीरियल थे। 'भारत एक खोज' की कुछ कड़ियों में उन्होंने काम किया। लेकिन उनके टीवी कैरियर का सबसे महत्वपूर्ण सीरियल रहा- 'जुगलबंदी'। इसमें उन्होंने भारत सरकार के खुफिया विभाग में कार्यरत एक जासूस की भूमिका निभाई थी। हालांकि सीरियल 'जुगलबंदी' लोकप्रियता के तबले पर कोई फड़कती ताल तो नहीं निकाल सका, लेकिन टॉम के लिए इसका महत्व जरूर जिक्र के काबिल था। पहली बार उन्हें आम अंग्रेज भूमिकाओं से हट कर कोई पात्र निभाने का मौका मिला। वैसे सीरियल देख कर कुछ लोगों की आपत्ति थी, कि एक विदेशी, भारतीय जासूस कैसे हो सकता है? वे हिंदी और उर्दू के आशिक हैं, और भारत के भी।

◆ ◆ ◆

ऊषा दीक्षित

पिछले दो दशक में भोपाल से बंबई कुछ कर गुजरने को गए लोगों में कुछ प्रतिभाएँ ही ऐसी हैं जिन्होंने सीरियस होकर कुछ करना चाहा। अन्यथा तमाम लोग ऐसे ही आए, गए, स्ट्रगल करते रहे। **ऊषा दीक्षित** सीरियस होकर कुछ करने वाली प्रतिभाओं में से हैं। वे अभी बंबई में अमित खन्ना (मशहूर गीतकार निर्देशक) के साथ लगातार कई प्रोजेक्ट कर रही हैं। इनमें उनकी वीडियो मेगजीन **बिजनेस प्लस** प्रमुख है।

ऊषा दीक्षित १९७३ में आकाशवाणी भोपाल की सबसे लोकप्रिय और प्रतिभाशाली अनाउंसर रही हैं। भोपाल से बंबई जाने के बाद उन्होंने चर्चित टीवी सीरियल **शो-थीम** के लिए लेखन और निर्देशन सहयोग शुरू किया। बाद में उनके कलम कौशल को **एक कहानी** और **अधिकार** सीरियलों में परखा गया। बाद में जब टीवी की सांस्कृतिक प्रतिभा **सुरभि** शुरू हुई तब वे इसकी प्रतिनिधि बनीं और उन्होंने अनमोल विरासत और बहुमूल्य प्रकृति सम्पदाओं पर कार्यक्रम बनाए। उनके लिए एक यादगार अवसर राज बब्बर की दयाल निहलानी निर्देशित फिल्म **कर्मयोद्धा** थी, जिसमें वे मुख्य सहायक निर्देशक रहीं। निर्देशक विनोद पांडे, भरत रंगाचारी, जाह्नू बरुआ की सहयोगी भी रही हैं। □

रश्मि चन्दवासकर

भोपाल दूरदर्शन की सबसे कुशल और सुदर्शना समाचार वाचिका रश्मि चन्दवासकर सांस्कृतिक परिवार में जन्मी। पिता भानु और माँ नलिनी रंगमंच के वरिष्ठ और सुप्रतिष्ठित कलाकार हैं। रश्मि तीन वर्ष की उम्र से कथक सीखने लगी थीं। शास्त्रीय संगीत में द्वितीय श्रेणी लाने के साथ-साथ रश्मि ने १९८४ में स्काउट गाइड में राष्ट्रपति पुरस्कार जीता। रश्मि थिएटर आर्टिस्ट हैं। बहुत से अच्छे नाटकों में सराहनीय भूमिका निभाने वाली रश्मि ने टीवी नाटकों में भी काम किया है। आकाशवाणी में बी हाई ग्रेड की कलाकार रश्मि चन्दवासकर साफ भाषा, शुद्ध उच्चारण और प्रवाहयुक्त बोली की न्यूजरीडर है। □

अनिल मुंशी

बचपन से ही संस्कृति, साहित्य और समाज सेवा से जुड़े **अनिल मुंशी** की प्रारंभिक शिक्षा केंद्रीय विद्यालय भोपाल में हुई। हमीदिया महाविद्यालय से स्नातक होने तक वे रंगमंच और रेडियो से जुड़ चुके थे। रेडियो के लिए अनिल ने कई कार्यक्रम बनाए और प्रस्तुत किए। इसी बीच दूरदर्शन दिल्ली की समाचार वाचक सलमा सुल्तान ने भोपाल में धारावाहिक 'पंचतंत्र से' बनाया जिसमें काम करने का अवसर अनिल मुंशी को मिला। एक अन्य फिल्म और कई नाटक उन्होंने किए। भोपाल में टीवी आने के बाद अनिल को समाचार पढ़ने का अवसर मिला। एडवरटाइजिंग को अपना कैरियर मानने वाले व वर्तमान में इसी माध्यम से स्ट्रगलर अनिल, समाचार तरीके से पढ़ते हैं। □

अरशद इकबाल

लगभग पंद्रह वर्षों से रंगकर्म में सक्रिय **अरशद** को विरासत में यह कला मिली है। प्रख्यात वरिष्ठ रंगकर्मी इकबाल मजीद के बेटे अरशद दूरदर्शन भोपाल में समाचार वाचक हैं। आकाशवाणी के लगभग ४२ नाटकों में काम करने के अलावा मंचीय नाटकों, गोदान, जुर्म और सजा, चाँदनी का जहर, टुसुरफुसना, पैसा-पैसा-पैसा, दाल में काला, एवं इंद्रजीत में अभिनय। टीवी धारावाहिकों **एक कहानी, पंचतंत्र से** में अभिनय। टेली फिल्म **नजारा दरमियां** (लेखिका कुर्रतुल एन हैदर) में केंद्रीय भूमिका। अरशद इकबाल का अंदाज उन्हें सजग, तेवरयुक्त समाचार वाचक के रूप में पहचान कराता है। □

सुनील वैद्य

सुनील वैद्य वर्तमान में दूरदर्शन केंद्र भोपाल के समाचार वाचक हैं। आकाशवाणी इंदौर में १९८५ में युववाणी कम्पेयरर रहे सुनील को बाद में आकस्मिक उद्घोषक का अवसर भी मिला। १९८८ में वे बंबई चले गए जहाँ वे १९९० तक आकाशवाणी में उद्घोषक रहे। ९० में वापस इंदौर आकाशवाणी से बतौर उद्घोषक वे जुड़ गए। इसी दरम्यान वे नईदुनिया इंदौर के लिए लिखते रहे। भोपाल में टीवी केंद्र चालू होने के बाद वे यहाँ आए जहाँ समाचार वाचक के रूप में उनका चयन हुआ। सुनील तबसे निरंतर यहाँ समाचार पढ़ रहे हैं। वे आकाशवाणी भोपाल में भी बतौर आकस्मिक उद्घोषक जुड़े हुए हैं। यहाँ वे बी उच्च श्रेणी के नाटक कलाकार हैं। सुनील ने कई आकाशवाणी नाटकों में काम किया है। □

विवेक मृदुल

उपनाम के अनुरूप स्वभाव से भी मृदुल विवेक का पूरा नाम **विवेक कुमार सावरीकर** है। दैनिक नईदुनिया भोपाल में सह सम्पादक विवेक दूरदर्शन भोपाल के प्रखर समाचार वाचक हैं। एम.कॉम. के साथ ही पत्रकारिता में डिप्लोमा और रूसी भाषा का कोर्स भी आपने किया है। विवेक थिएटर के आदमी हैं। दिल्ली मंडी हाउस से अभिनय की शुरूआत की।

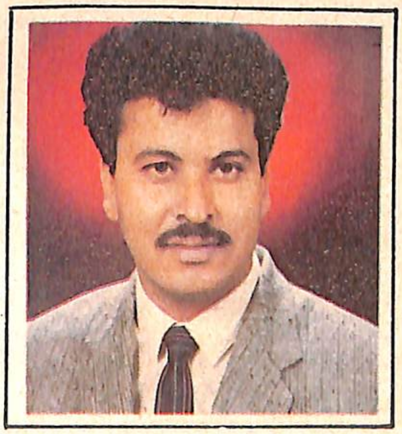
करीब बीस रेडियो नाटकों में काम करते हुए इतने ही थिएटर नाटकों अभी मानुस जिंदा है/ कन्यादान/ लुटेरे/ कालीमाई/ मृत्युंजय/ लहरों के राजहंस/ कालिगुला आदि में अभिनय। मराठी में **मृत्युंजय** नाटक की भूमिका के लिए वृहत महाराष्ट्र परिषद् का प्रमाण पत्र। प्रख्यात संतूरवादक ओमप्रकाश चौरसिया के **मधुकली वृंद** के कलाकार। प्रदेश के कई स्थानों में गायन। भोपाल में वर्तमान पीढ़ी के सक्रिय कला समीक्षक। समाचार वाचन में मृदुलता और संस्कारयुक्त शैली का प्रतिबिम्ब। □

रश्मि चंदवासकर

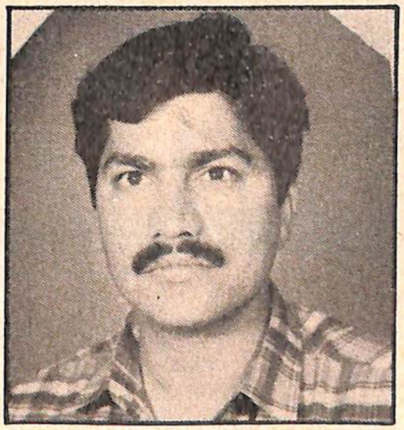


अनिल मुंशी





अरशद इकबाल



सुनील वैद्य



विवेक मृदुल


खल-नायिका
REVENGE HER ONLY DESIRE
SAAWAN KUMAR'S
KHAL-NAAIKAA
MUSIC MAHESH-KISHOR
BOSKEY

द लास्ट एपिसोड

श्रीराम ताम्रकर

हर वर्ष जब 'नईदुनिया' के फिल्म विशेषांक लोकार्पित होकर बाजार में होते हुए पाठकों के हाथों में पहुँचते हैं, प्रतिक्रियाओं का अम्बार लग जाता है। फलाँ कलाकार छूट गया। उस नायक को आपने महानायक क्यों नहीं माना। उस तारिका का परिचय इतना छोटा क्यों दिया? एक सामान्य-पाठक की ही ऐसी प्रतिक्रियाएँ हमारे पास नहीं पहुँचती बल्कि 'नेशनल फिल्म आर्काइव' के संचालक तक ऐसे पत्र लिखते हैं।तमाम शिकायतों का हम निश्चित ही स्वागत तथा सम्मान करते हैं। लेकिन हमारी अपनी सीमाएँ और विवशताएँ होती हैं। दुर्भाग्य से सिनेमा माध्यम का भारत में दस्तावेजीकरण कछुए की चाल से हो रहा है। टीवी पत्रकारिता आज तक अपना ठीक चेहरा नहीं बना सकी है। ऐसे में सबसे पहले कदम रखने का जो साहस दिखाकर खतरा उठाता है, उसे इस प्रकार की आलोचनाओं की बौछार सहना होती है। न हमने कभी बुरा माना और न पीछे हटे। जो काम करता है, वह निश्चित ही गलतियाँ भी करता है। लेकिन सुधार की संभावनाओं के दरवाजे कभी बंद नहीं होते। इसी महाविशेषांक को लीजिए। तमाम सावधानियों और सूचीकरण के बावजूद अनेक 'टीवी-स्टार' आकाश गंगा में शामिल होते रह गए।



सुजाता मेहता

विनोद नागपाल को ही लीजिए। 'हम लोग' के बसेसरराम और 'बुनियाद' का श्यामलाल एक ऐसा पात्र है, जिसे टीवी देखने वाला दर्शक शायद ही कभी भूले। इन दोनों महा-धारावाहिकों में विनोद नागपाल ने बसेसर और श्यामलाल के पात्र को 'लार्जर देन लाइफ' अपनी प्रतिभा के बल पर बनाया था। कुन्दनलाल सहगल के गाने गुनगुनाकर नई पीढ़ी के मन में उन गानों के प्रति रुझान पैदा किया था। भारत से लंदन जाकर और वहाँ से भारत लौटकर **सईद जाफरी** पहले फिल्मों में छाए रहे। सत्यजीत राय ने 'शतरंज के खिलाड़ी' में उन्हें ऐसी ऊँचाई दी कि वे भारत में ही रहने पर आमादा हो गए। फिल्म और टीवी दोनों नाव पर सईद की सवारी सफलता से जारी है। तंदूरी नाइट्स के तंदूर में पका स्वादिष्ट खाना पिछले दिनों ही दर्शकों ने चटखारे लेकर खाया है।

'हमलोग' का ही एक पात्र है नन्हे उर्फ **अभिनव चतुर्वेदी** जिन्होंने पिछले दिनों इंदौर की एक कन्या से ब्याह रचाया है। अभिनय में अभिनव की 'नन्हे ब्रांड' कमजोरी होने से वे बाद में सिनेमा के परदे अथवा टीवी पर कमाल नहीं कर पाए। एक फिल्म में वे नायक बनकर भी आए थे, मगर दर्शकों ने उन्हें 'सीरियसली' नहीं लिया। छुटकी (**लवलीन मिश्र**) और बड़की (**सीमा भार्गव**) के साथ भी यही ट्रेजेडी रही है कि वे सोप ऑपेरा के झाग में झिलमिलाकर रह गई। सुजाता मेहता फिल्म 'प्रतिघात' से दुर्गा बनकर अवतरित हुई थीं। शृंखला श्रीकांत में उन्होंने प्रभावित किया था। इसके बाद एक तेल के विज्ञापन में बाल सँवारती नजर आती हैं।

पान मसाले के साथ अपना रंग जमाने वाले **जलाल आगा** को छोटे परदे पर दर्शकों ने स्वीकार नहीं किया। विज्ञापनों में तो वे आकर्षक लगते हैं, लेकिन फिल्मों से भी 'आउट' कर दिए गए हैं। यही हाल **कँवलजीत** और **शेखर सुमन** का रहा। अच्छी भली 'पर्सनेलिटी' के बावजूद इनका सपाट चेहरा, फीकी संवाद अदायगी और बेमन से निभाते चरित्रों की वजह से इनकी गाड़ी पटरी से उतर गई वरना शेखर सुमन फिल्म 'उत्सव' से चमक सकते थे और कँवलजीत के लिए फिल्म 'शर्त' जीतना आसान था। अब दोपहर के प्रसारण में कम्पीयरर होकर संतोष करना पड़ रहा है।

प्रदीप कुमार की सुन्दर बिटिया **बीना** दोनों ही परदों पर बहन/ भाभी और माँ तक के रोल में भली लगती हैं। उन्होंने अपना भविष्य इन पात्रों में झांककर अच्छा किया है। लेकिन **नवीन निश्चल** फिल्म सावन-भादौ में रेखा की उँगली पकड़कर बहुत दूर तक सिनेमा के साथ चले थे। अपना मोटापा/ बुढ़ापा/ नए छोकरों की फसल ने उन्हें टीवी

तंदूरी नाइट्स : विदेशी सीरियल का आयात



धारावाहिकों में धकेल दिया। कई सीरियलों में काम करने के बावजूद वे टीवी कलाकारों में पहचान नहीं बना पाए हैं। उनसे तो इंदौर के **अच्युत पोत्दार** का दबदबा ज्यादा है, जो परदे पर आते ही दर्शक को अपनी उपस्थिति का अहसास तुरंत करा देते हैं। एक चरित्र अभिनेता के रूप में अच्युत पोत्दार उम्दा अभिनेता हैं। मगर इंदौर के **चंद्रू पारखी** बिजली की तरह चमक कर लुप्त हो गए। 'छोटे-बड़े' और 'लाइफ-लाइन' के बाद उनकी भाग्य रेखा में शादी की रेखा प्रबल थी, वह हो गई। भोपाल के **सुनील लहरी** रामायण धारावाहिक में लक्ष्मण बने। उनकी खींची लक्ष्मण रेखा को वे बाद में स्वयं उलांघ नहीं सके। फिल्मों और टीवी सीरियल में बहुत खोजने पर भी वे दिखाई नहीं देते। एयर होस्टेस **किटू (कौशल्या) गिडवानी** का भी यही हाल है। हर पल अपने बालों को सँवारती और रूप पर अभिमान करती किटू तृष्णा, एयर होस्टेस् के बाद एक सीरियल में जासूसी करने ऐसे गई कि आज तक नहीं लौटी है। महेश भट्ट की फिल्म सारांश से पहचान बनाने वाले **मदन जैन** ने खाली हाथ धारावाहिक के जरिए अपने दोनों हाथों में लड्डू थामे हैं। भविष्य में क्या करेंगे, प्रतीक्षा है। महाभारत के सूत्रधार समय अर्थात् **हरीश भिमाणी** अभिनेता कम और उद्घोषक अधिक हैं। दोपहर के प्रसारण में अपनी पत्नी के साथ एक सीरियल लेकर आए थे, मगर बात बनी नहीं। **आशा शर्मा** बाकायदा ममतामयी माँ के रोल में दोनों ही माध्यमों पर अपनी पकड़ बनाए हुए हैं। गुणीराम उर्फ **राकेश बेदी** सतीश शाह के साथ 'ये जो है जिंदगी' में जितने प्रभावी लगे थे, बाद में उनकी प्रतिभा सिनेमा तथा टीवी पर प्रभाहीन लगी। दादा मुनि के छोटे भाई **अनूप कुमार** छोटे-मोटे रोल में अपनी पत्नी को 'चिड़िया-चिड़िया' कहकर दौड़ते रहते हैं। निर्देशकों में गोविंद निहलानी/ श्याम बेनेगल/ केतन मेहता/ कुंदन शाह/ सईद मिर्जा/ ऋषिकेश मुखर्जी/ गुलजार/ सई परांजपे/ शंकर नाग/ कल्पना लाजिमी/ रमेश सिप्पी ने छोटे परदे पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की है उसी तरह कमर्शियल सिनेमा के चंद हस्ताक्षर भी छोटे परदे के मोह में उलझकर रह गए हैं- रामानंद सागर/ बी.आर. चोपड़ा/ वेद राही/ लेख टंडन के नाम गिनाए जा सकते हैं। रंगमंच के अनेक नामी सितारे भी बुद्धू बक्से की ओर खिंचे चले आ रहे हैं। उनमें नया नाम है 'फातिमा बुआ' याने **जौहरा सहगल** का......अरे...अरे...यह क्या हो रहा है...

रुकावट के लिए खेद है... ■

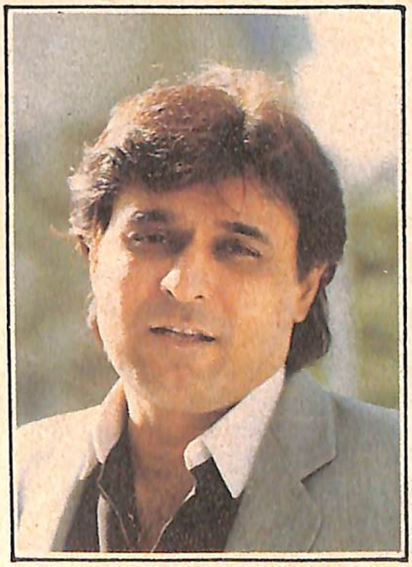


किटू गिडवानी

आशा शर्मा



हरीश भिमाणी : समय



रुकावट के लिए खेद है

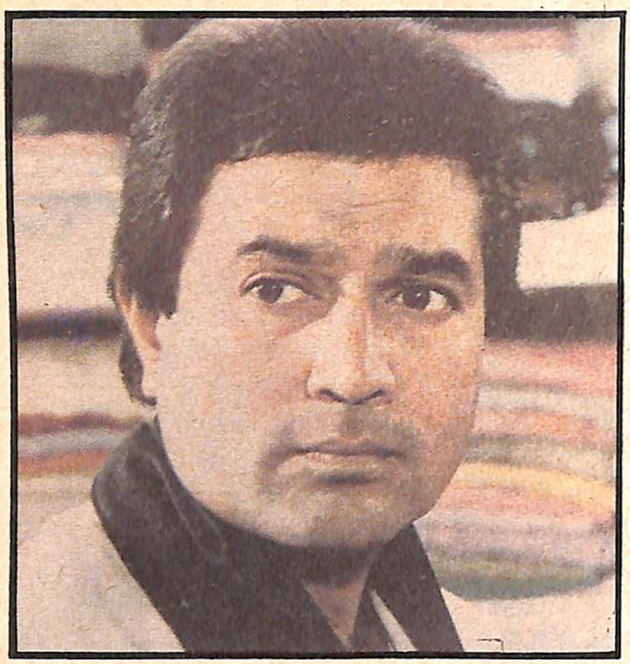
मशीन जरा रूठ गई है
फिल्म कहीं टूट गई है
अफसर जरा नया है
पुराना विश्वस्त है
वो चाय को गया है।
रेडियो जो होता
श्रोता कभी न झुँझलाते,
दर्शक और श्रोता में
यही तो भेद है
रुकावट के लिए खेद है
बाँध ढहे, पुल बहे
टकराई रेल
खेद नहीं, माफी नहीं
लुटी तिहाड़ जेल
वो तो हम हैं
नाव में बिठाकर
साफ बता देते हैं
कि इसमें छेद है
रुकावट के लिए खेद है।

◆ ◆ ◆

सपनों का धंधा

सिनेमा मन भावन है
उसमें जैसी सुंदरी है, वैसी
मेरी बगल में नहीं है।
उसमें जैसा रोमांस है
मेरे जीवन में नहीं है।
उसमें जैसे गाने हैं
मेरे कंठ में नहीं हैं।
उसमें जैसा संसार है
मेरा ही सपना है
उसी में समाने को आता हूँ
परदे पर
मैं ही इतराता हूँ।
सिनेमा वालो!
तुम मुझे
और और मुगालते दो
मैं तुम्हें
और और धंधा दूँगा।

● **सरोज कुमार**



पहले सुपर-स्टार राजेश खन्ना

हिन्दी सिनेमा के आकाश में पहले सुपर स्टार बनकर जगमगाने वाले अभिनेता हैं **राजेश खन्ना।** लोकप्रियता का कोई शिखर नहीं होता। यदि होता है, तो उस शिखर पर राजेश खन्ना एक दशक तक अकेले खड़े रहे और अपना परचम फहराते रहे। बाद में यही लोकप्रियता और यही परचम अमिताभ बच्चन को मिले। अमिताभ और राजेश खन्ना दोनों हिन्दी सिनेमा के परदे पर समकालीन अभिनेता रहे हैं। ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपनी फिल्म 'सात हिन्दुस्तानी' और चेतन आनंद ने 'आखिरी खत' के माध्यम से क्रमशः अमिताभ और राजेश खन्ना को 'लाइम-लाइट' में पेश किया था। दोनों की आरंभिक फिल्में फ्लॉप रहीं।

राजकपूर, देव आनंद और दिलीप कुमार त्रयी के बाद हिन्दी सिनेमा के परदे पर कई अभिनेता आए और गए। लेकिन राजेश खन्ना जैसी ताजगी, अभिनय में मौलिकता, अपना अलग मैनरिज्म, पोशाक में सादगी, संवाद बोलने का निराला ढंग-जैसी बातों ने उन्हें देखते-देखते एक ऐसी पहचान दी कि 'राजेश' एक घरेलू नाम हो गया।

मेरे सपनों की रानी कब आएगी तू-फिल्म 'आराधना' का यह गीत भारत की उस तरुणाई की आवाज बन गई, जो चाहे-अनचाहे अपनी उम्र के मोड़ पर सपनों के राजकुमार या राजकुमारी के इंतजार में खड़ी रहती है। किशोर-वय में जो 'हीरो-वर्शिप ' होती है, उस रूप में राजेश खन्ना देश की तरुणाई को एक रोमांटिक हीरो के रूप में सहजता के साथ मिले। उन्होंने अपने चरित्रों और फिल्मों के माध्यम से नायक-नायिका के रोमांस को एक सामाजिक सार्थकता प्रदान की। उनका किरदार एक जोखिम उठाकर समाज को एक दिशा देता था। इसके पहले अर्थात पचास और साठ के दशक का नायक या नायिका अपनी पूरी उम्र और ताकत नायिका या नायक को पाने में खपा देते थे। या फिर निराश होकर अंत में किसी ट्रेजेडी को अपना बना लेते थे। यही वजह रही कि राजेश खन्ना ने एक नायक के रूप में आजादी के बाद जन्मी, जवान होकर समझदार हुई पीढ़ी को अपनी ओर आकर्षित किया।

अभिनेत्री गीताबाली की भविष्यवाणी - 'देखना एक दिन यह लड़का बहुत बड़ा कलाकार बनेगा' सच साबित हुई। राजेश का बंगला रोजाना सैकड़ों चिट्ठियों से भर जाता, जिनमें लड़कियों के अधिकांश प्रेम-पत्र होते। राजेश खन्ना के पहले भी शशि कपूर की तस्वीरें तकिए के नीचे दबाकर लड़कियाँ रात को मीठे सपने देखती थीं। लेकिन गले में राजेश का लॉकेट, उँगली में अँगूठियाँ तथा हाथ पर राजेश का नाम गुदवाने जैसी दीवानगी पहली बार देखने में आई। उनका गुरु कुर्ता तो उस दौर में फैशन बन गया था।

२९ दिसंबर १९४२ को अमृतसर में जन्मे जतीन खन्ना की शिक्षा बंबई में हुई। उनके पिता ठेकेदार थे। वे परिवार में इकलौती संतान हैं। डिम्पल से उनका जब विवाह हुआ तब पूरे देश में ऐसा माहौल बना था, जैसे सारा देश बाराती बन गया हो। स्वभाव से जिंदादिल राजेश व्यक्तिगत जीवन में सादगी पसंद हैं। पार्टियों और भीड़भाड़ से दूर रहते हैं। अब वे अभिनेता से नेता बन गए हैं और नई दिल्ली सीट से वर्तमान सांसद हैं। पहले परदे से जन-रंजन करते थे अब जनसेवा करना चाहते हैं। ■

किसी एक माधुरी

सातवें दशक में हिंदी फिल्मों में दो प्रकार की अभिनेत्रियों ने प्रवेश किया-जीनत अमान, परवीन बॉबी और टीना मुनीम की तरह सौंदर्य प्रतियोगिता से आई हुई लड़कियाँ जिन्हें इन्सटेन्ट कॉफी की तरह तुरंत लोकप्रियता मिली। दूसरे प्रकार में शबाना आजमी तथा स्मिता पाटिल की तरह गैर पारंपरिक चेहरे-मोहरे वाली प्रतिभाशाली अभिनेत्रियाँ, जो कला फिल्मों के रास्ते व्यावसायिक सिनेमा में प्रवेश कर गईं। परियों के सौंदर्य के जो मानदंड मधुबाला, नरगिस, मीनाकुमारी, सुचित्रा सेन और नूतन ने स्थापित किए थे, वह अब विगत जन्म में देखे हुए सपने की तरह काल्पनिक लगते थे। गुजरे हुए स्वर्णकाल की याद दिलाने के लिए राखी मौजूद थीं।

आठवें दशक में जयाप्रदा, रति अग्निहोत्री और श्रीदेवी ने प्रवेश किया। श्रीदेवी को 'हिम्मतवाला' जैसी स्टंट फिल्म से लोकप्रियता मिली। दरअसल इस कालखंड में

आवरण-कथा

जयप्रकाश चौकसे

हिंसा की फिल्मों का जोर इस कदर बढ़ चुका था कि नायिका की भूमिका मात्र सजावट की चीज बनकर रह गई थी। टारजन के कंधे पर सवार होकर किमी काटकर जैसी लड़की न केवल लोकप्रिय सिद्ध हुई वरन उसे सुपर सितारा अमिताभ की नायिका बनने का 'गौरव' भी मिला। नायिकाओं के लिए इससे बुरा दशक शायद ही कभी आया हो! इस दशक में श्रीदेवी ने बहुत हिट फिल्मों में काम किया परंतु इन फिल्मों ने श्रीदेवी को अभिनय के खास अवसर नहीं दिए। उनकी सितारा छवि दिन-ब-दिन उजली होती गई परंतु उन्हें अभिनय के महान अवसर नहीं मिले। १९८५ में प्रदर्शित 'नगीना' बहुत बड़ी हिट थी।

श्रीदेवी ने नंबर एक होने का गौरव रेखा से लिया परंतु उसके पास एक अदद **'उमराव जान'** नहीं थी और न ही कोई 'खूबसूरत' थी। १९८४ में जब श्रीदेवी की नगीना बन रही थी तब १२वीं कक्षा की छात्रा माधुरी की अबोध बन रही थी। अबोध इस बुरी तरह असफल रही मानो कभी प्रदर्शित ही नहीं हुई हो। कुछ समय तक उद्योग ने माधुरी को अनदेखा कर

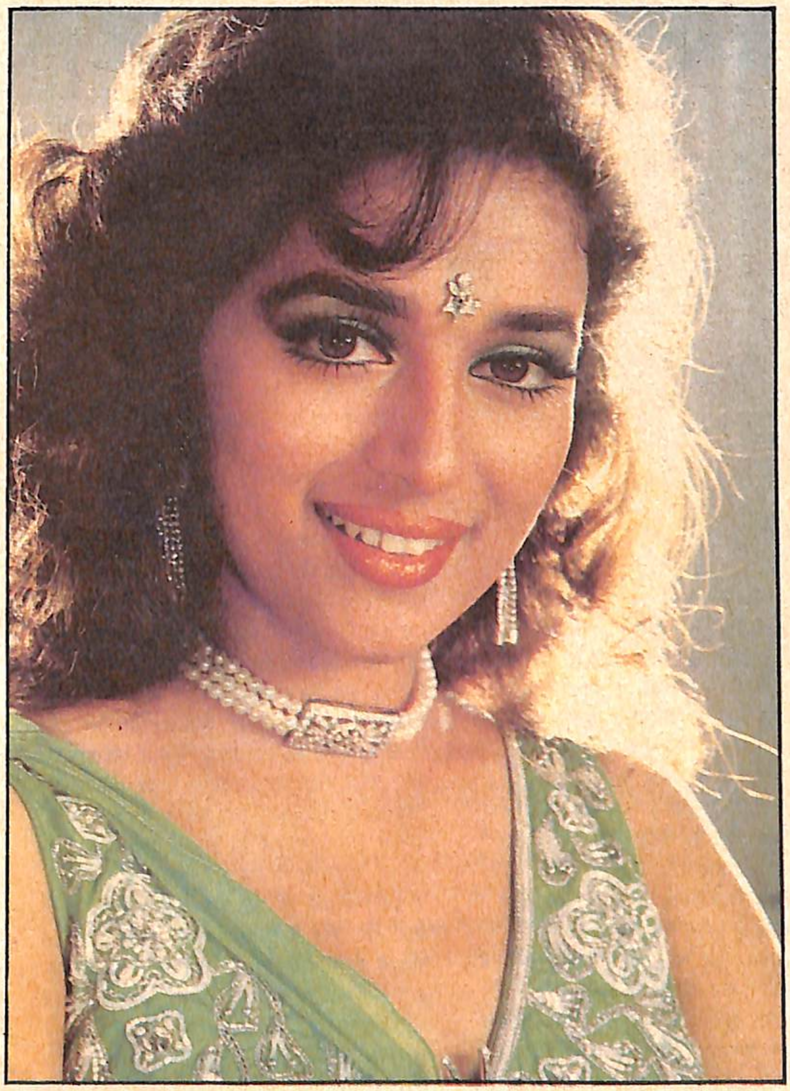
अभिनेत्री का नाम लो...

दीक्षित

खण्ड : छः

दिया। सुभाष घई श्रीदेवी के साथ 'कर्मा' जैसी सफल फिल्म बना चुके थे परंतु २५ लाख रुपए और केवल ४० शिफ्ट देने वाली नायिका को दोहराने के बदले वे नई तारिका की तलाश में थे। जैकी श्राफ के रूप में उनके पास एक घरू नायक था। रंजीता की निवृत्ति के बाद चतुर सचिव राकेशनाथ ने माधुरी को कार्य दिलाने की जवाबदारी ली थी। सुभाष घई पहले निदेशक थे, जिन्हें माधुरी की प्रतिभा पर यकीन था और उन्होंने माधुरी के आगमन के एक दर्जन विज्ञापन उद्योग की पत्रिकाओं में जारी किए। 'आवारा बाप/ स्वाती/ मोहरे और हिफाजत' जैसी चार असफल फिल्मों की नायिका का इतना विज्ञापन देखकर उद्योग के लोगों को सुभाष घई पर हँसी आने लगी। इसी दौर में श्रीदेवी एक के बाद एक सफल फिल्में देती रहीं। स्वयं सुभाष घई की 'उत्तर-दक्षिण' असफल रही। इस तरह माधुरी की पहली आधा दर्जन फिल्में असफल हो चुकी थीं और सितारा बनने का स्वप्न धूमिल हो गया था।

माधुरी के जीवन में इस मोड़ पर एक ऐसी घटना हुई, जिससे उसका सीधा संबंध नहीं था परंतु परोक्ष में इसी घटना के कारण उसका स्वप्न साकार हुआ। सुभाष घई ने अमिताभ के साथ **'देवा'** नामक भव्य फिल्म की शुरूआत की परंतु कुछ दिन की शूटिंग के बाद अहं के टकराव के कारण सुभाष ने 'देवा' को रद्द कर दिया। सुभाष को यह सिद्ध करना था कि निर्देशक बड़ा सितारा है और नए लोगों के साथ भी वह सुपरहिट बना सकता है। सुभाष ने अनिल, जैकी और माधुरी के साथ **'राम लखन'** बनाई, जिसने माधुरी को सितारे की हैसियत दिलाई। इसमें माधुरी पर छायांकित गीत 'रामजी बड़ा दुःख दीन्हा तेरे लखन ने' बहुत लोकप्रिय हुआ। एन. चंद्रा की फिल्म **'तेजाब'** में माधुरी ने एक दो तीन नाच-गाकर युवावर्ग के दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया। इस फिल्म में माधुरी का अभिनेत्री स्वरूप निखरकर सामने आया। कॉलेज के दृश्यों मे हल्का-फुल्का रोमांस था, तो बाद में स्वार्थी पिता के साथ असमान द्वंद्व के दृश्य थे, जिसमें माधुरी ने अनुभूति की तीव्रता को बड़ी कशिश के साथ प्रस्तुत किया। इन दो फिल्मों ने माधुरी को प्रथम श्रेणी की सितारा बना दिया परंतु तब भी श्रीदेवी का स्थान उसकी पहुँच के बाहर था क्योंकि 'चाँदनी' में श्रीदेवी ने भारी सफलता अर्जित की थी।



माधुरी की कुंडली में सुभाष घई सुयोग की तरह बैठे थे। स्वयं माधुरी ने स्वीकार किया है कि अभिनय और सिने तकनीक के महत्वपूर्ण पहलू उन्हें सुभाष ने सिखाए हैं। माधुरी उन लड़कियों में से नहीं हैं, जिन्हें बचपन से सिने तारिका होने का शौक होता है। उनके परिवार में किसी का भी झुकाव हिंदी फिल्मों की ओर नहीं था। उनके पिता इंजीनियर हैं और माता ने संगीत में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की है। भाई-बहन सभी शिक्षित हैं और अमेरिका में अच्छी नौकरियों में लगे हैं। इस पारिवारिक पृष्ठभूमि से हिंदी फिल्मों के सितारे के आने की उम्मीद नहीं होती है। यह महज संयोग है कि राजश्री से जुड़े उनके पारिवारिक मित्र गोविंद मुनिस ने उन्हें 'अबोध' की नायिका बनने के सुयोग पैदा किए परंतु फिल्म की असफलता के कारण माधुरी हताश नहीं हुई। उसने निश्चय किया कि इस क्षेत्र में सफलता अर्जित करने के लिए वह कड़ा परिश्रम करेगी। माधुरी कत्थक शैली में पारंगत थी और इसी अभ्यास ने उसे परदे


नया जोश नई उमंग
पूर्ति के संग
GOOD FOR HEALTH
PURTI
बिना सुपारी
खजूर से निर्मित
'पूर्ति' - बिना सुपारी के निर्मित अपने किस्म का अनोखा ताजगी मसाला! सुपारी के कारण स्वास्थ्य पर होने वाले कुप्रभाव से पूरी तरह मुक्त!
'पूर्ति' - स्वास्थ्यवर्धक एवम् गुणकारी खजूर से निर्मित! विटामिन एवम् प्राकृतिक लौह तत्व युक्त! खजूर के अलावा पूर्ति में हैं - इलायची, सौंफ, मुलेठी, पुदीना, कत्था, चन्दन इत्यादि; जो ताज़गीदायक होने के साथ ही स्वास्थ्य के लिए लाभदायक भी हैं।
ताजगी से भरपूर 'पूर्ति' आपको दे - चुस्ती, स्फूर्ति और बेहतरीन स्वाद ! आप रहें हरदम ताज़ा, और उत्साह से भरपूर!
'पूर्ति' - खाइये, खिलाइये, घर या दफ्तर में, शादी या पार्टी में, पिकनिक या खेल में, और पाइये - स्वाद का खज़ाना, ताज़गी का तूफान हर उम्र के लिए, हर मौसम में, हर समय!
पूर्ति
ताज़गी मसाला
पेनजॉन लिमिटेड का उत्कृष्ट उत्पादन
Ad-Venture